चिन्तामणि

[चतुर्थ भाग]



ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज

का प्रसाद

टीकाकारः पं. भद्रनारायण पाठकः

G.3

॥ ॐ ॥

चिन्तामणिः

[चतुर्थ भागः]

संकलनकर्त्ता :-
ब्रह्मर्षि श्रीलक्ष्येश्वर आश्रम जी महाराज

त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देवदेव।।

व्याख्याकार :-
पं. भद्रनारायण पाठकः
प्रधानाचार्यः, श्रीमहावीर पाठक संस्कृत महाविद्यालयस्य
असवारी-राजातालाब, वाराणस्याम्

प्रकाशक —
राकेश कुमार, विनोद कुमार
४९८/२८ साउथ सिविल लाइन,
मुजफ्फरनगर, उ.प्र. - २५१००१
फोन नं. : 09359984709

□

प्रथम संस्करण – ५०० प्रतियाँ

□

मूल्य – प्रेम-योग्यता च

□

मुद्रक—
श्रीजी प्रिन्टर्स
नाटी इमली, वाराणसी।

अद्वितीय प्रतिभा के धनी हमारे महाराजश्री

नमोऽस्तु गुरवे तस्मै, स्वेष्टदेवस्वरूपिणे।
यस्य वाक्सकलं हन्ति विषं संसारसंज्ञकम्।।

आनादि काल से (पुण्यातिपुण्यमयी सकल ब्रह्माण्ड की संपोषिका) यह भारत भूमि अपनी तप:पूत सन्त सन्तति के द्वारा सम्पूर्ण विश्व में अपनी गरिमा महिमा को अक्षुण्ण रखने में समर्थ रही है। अपने सच्चारित्र्य आलोक से जगत् भर के अज्ञान तिमिर को ध्वस्त करने वाले महापुरुषों में अन्यतम हैं पूज्य श्री स्वामी लक्ष्येश्वराश्रमजी महाराज।

पूज्यश्री का पार्दुभाव जनपद हरदोई के मोहंदीपुर नामक गाँव में सम्वत् १९७३ कार्तिक कृष्ण एकादशी को अग्निहोत्र निरत कान्यकुब्जीय विप्र-प्रवर श्री भोलानाथ जी के पुत्र श्री नन्हा जी के घर पूर्वदिशारूपी इन्द्रायणी की पावनतम कोख से हुआ। इन बालदिवाकर का शैशव नाम हुआ लालविहारी। इन भावी महामनीषी की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव में ही प्राइमरी पाठशाला में कक्षा तीन तक हुई और गाँव में ही प्राईवेट तौर पर आपने कक्षा पाँच पास किया। लेकिन इसी बीच जब आप की अवस्था छ वर्ष थी पिता श्री का शरीर शान्त हो गया। तदुपरान्त माँ आपको लेकर लखनऊ चली आई। वही पर कुछ साधुओं का संग हो गया और साधु भावना से साधु बनने का इनका निश्चय हो गया। उसके बाद लखनऊ में ही योगेश्वर मठ में जाने लगे। महन्त जी ने संस्कृत पढ़ने की व्यवस्था कर दी। वही से प्रथमा पास किया।

फिर माँ को डर सताने लगी कहीं यह साधु न बन जावे। वापस गाँव ले आयी, घर कच्चा था आधा गिर गया था, उसी में गुजर वसर होने लगी। फिर ननीहाल में सीतापुर पढ़ने के लिये इन्हें भेजा। वहाँ आजीवका के लिये आर्युवेद का अध्ययन करने लगे। पढ़ ही रहे थे कि पण्डित मधुसुदन दीक्षित ने अपनी रासायन साला में रख लिया। वहाँ कार्य चल ही रहा था कि माँ का शरीर शान्त हो गया। तब गाँव में अपने मामा जी के साथ आकर माँ का शास्त्रोक विधि से संस्कार सम्पन्न किया। तदुपरान्त माँ के पास जो तीन गायें थी उनको लेकर मामा जी के साथ उनके गाँव आ गये, वहाँ पढ़ने लगे। उसके बाद वैद्य का रजिस्ट्रेशन हो गया। फिर वही मामा जी के गाँव में वैद्यक कर्म करने लगे। वहाँ से फिर गाँव के कुछ बचपन के मित्र गाँव ले आये। वहाँ भी वही आयुर्वेद का काम करने लगे। वहाँ गाँव में मित्र मण्डली के संग आनन्द से रहने लगे। वहीं से अपने कुछ मित्रों के साथ कानपुर में धर्मसम्राट स्वामी करपात्री जी महाराज के यज्ञ के दर्शनार्थ गये। तो रास्ते में योगेश्वर मठ वाले गुरु जी के पास लखनऊ रूके। वहाँ गुरु जी ने प्रश्न किया कि तुम्हारा पहले वाला निश्चय साधु होने का है? या गृहस्थी? तो महाराज श्री ने कहा साधु होने का है। उसके बाद योगेश्वर मठ वाले गुरु जी ने कहा तुम्हारा घर में रहना ठीक नहीं यहाँ आ जाओं। जब गुरुदेव लखनऊ आश्रम पर आ गये और ब्रह्मचारी के वेष में रहने लगे यहाँ कई वर्ष रहकर सम्वत् २००१ माघसुदी पंचमी अर्थात् वसंत पंचमी को सन्यास का संस्कार हो गया। संस्कार होने से पहले आप पण्डित लाल जी को

बुला कर लाये, उन्होंने कहा सन्यास लेते हो तो महन्त नहीं बनना, बस यही गाँठ जीवन में लग गयी और आज तक उसी प्रण को निभा रहे है।

उसके उपरान्त नैमिषारण्य मेले में जब आप गये तो वहाँ स्वामी श्री शान्तबोध आश्रमजी से भेट हो गयी। स्वामी जी संस्कृत बोलते थे, तो आपने निवेदन किया कि, आपके साथ रहना चाहता हूँ, उन्होंने आज्ञा दे दी और होली के दिन दण्ड ले लिया। फिर उनके साथ हरद्वार आ गये, वहाँ पर परमगुरु श्री आनन्दआश्रम जी मिले। उन्होंने कहा कि इनकी आयु कम है इन्हें व्याकरण पढ़ने सिरसा भेज दो। स्वामी जी सिरसा चले गये। वहाँ दो साल में सिद्धान्त कौमदी पास किया। फिर एक साल नौहर में न्याय पढ़कर, उसके बाद ऋषिकेश आ गये। वहाँ पर स्वामी सोमेश्वर आश्रमजी से छान्दोग्य उपनिषद् पढ़ा और उसके बाद हरिद्वार आ गये। तब तक गुरुजी ने छोटा सा आश्रम बना लिया था। उसमें गुरुदेव के साथ रहने लगे। उनके साथ रहकर ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, भागवत, गीता आदि ग्रन्थ श्रवण किया। उसके बाद गुरु जी ने आपको पढ़ने काशी भेज दिया। पढ़ ही रहे थे कि छ वर्ष बाद गुरु जी का शरीर शान्त हो गया। फिर हरिद्वार आ गये एवं तीर्थयात्रा वगैरह किया। भ्रमण काल में भी आपने द्रव्य (रुपया-पैसा) नहीं छुआ और कोई भी यात्रा विना टिकट नहीं किया।

जब भूमा निकेतन बना तब स्वामी भूमानन्द जी के साथ रहने लगे। स्वामी जी को कुरालसी के लूहसाना में सर्वप्रथम श्री लहना सिंह जी व पूर्ण भगत जी ले कर आये। कुरालसी में श्री विश्वम्भर सहाय वैश्य ने कहा हम छोटा सा मन्दिर बनाना चाहते हैं। महाराज श्री ने कहा बनाओ। मन्दिर बनना शुरू हो गया गाँव वाले उसके बाद मन्दिर बनाने के लिए स्वांग ले आये और महाराज श्री को अच्छा नहीं लगा। वहाँ से रात को तीन बजे उठकर पैदल मोहम्मदपुर रायसिंह आ गये और वहाँ पर आकर पता लगा गाँव गढ़ी में कोई अच्छे ब्रह्मचारी रहते हैं, उन्हें देखने गढ़ी चले गये। वहाँ से घूमने कुटी तक जाया करते थे, वह उजड़ चुकी थी, हुसैनपुर में आपको लाला चमल लालजी व पदमसैन भगत जी लेकर आये। इस प्रकार आपका उमरपुर, शाहपुर, बुढ़ाना आदि में भ्रमण होने लगा।

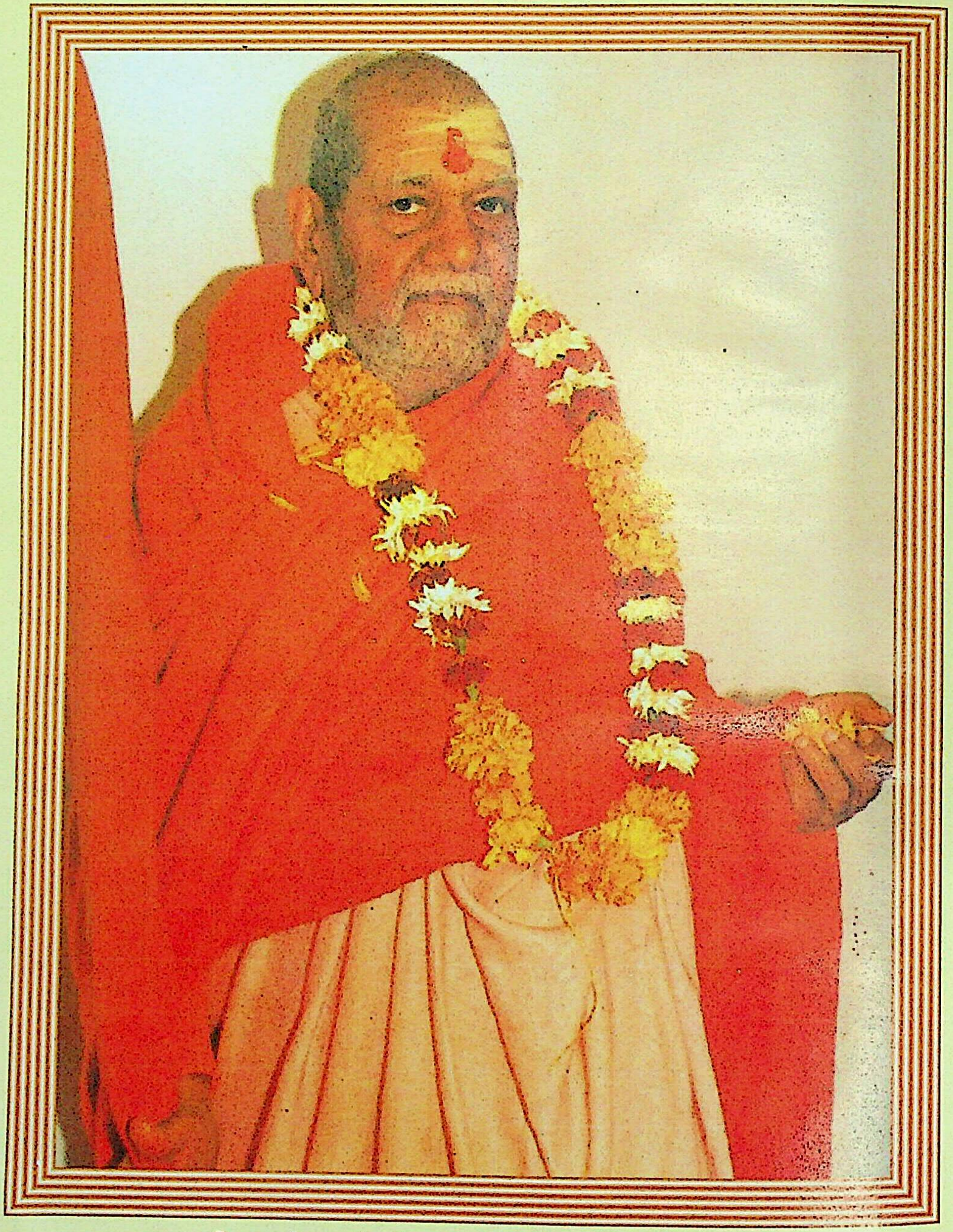
अब ये चिन्तामणि भाग-४ का अनुवाद पं. भद्रनारायण पाठक, प्रधानाचार्य, महाबीर पाठक संस्कृत महाविद्यालय, राजातालाब, वाराणसी द्वारा सम्पन्न हुआ है। आप व्याकरण एवं अद्वैत वेदान्त के आचार्य हैं और बहुत ही सरल रहनी और करनी के व्यक्ति हैं। इस टीका का नाम भी उनके महत्त्व के अनुसार मणिप्रभा है।

इस पुस्तक के प्रकाशन में भी श्री राधेश्याम खेमका (सम्पादक, कल्याण) एवं श्री डॉ. प्रेमप्रकाश जी लक्कड़ (पूर्वचीफ कमिश्नर, आयकर) सहसम्पादक, (कल्याण) एवं श्रीकृष्णकुमार जी खेमका का विशेष योगदान है एवं बहुत से अदृश्य हाथ इसमें लगे है, उन सभी का एवं जिनके तपबल से यह पावन कार्य हो रहा है ऐसे महाराज श्री एवं सभी शुभचिन्तको की एवं महाराज श्री के सभी भक्तों की विशेष कृपा से सम्पन्न हो रहा है। शेष शुभ!

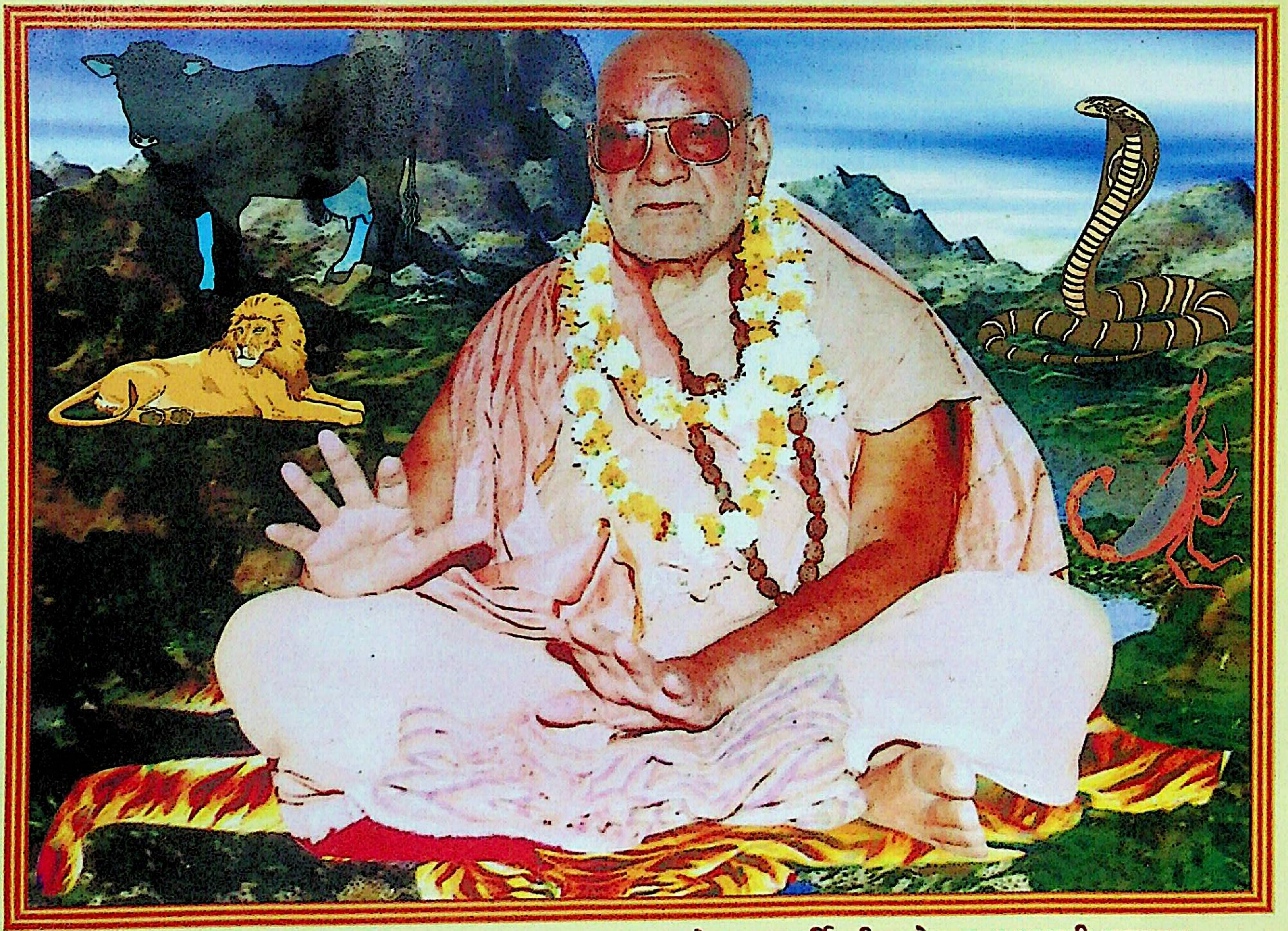
गुरुकृपाधनसम्पन्नः

पवन कुमारः

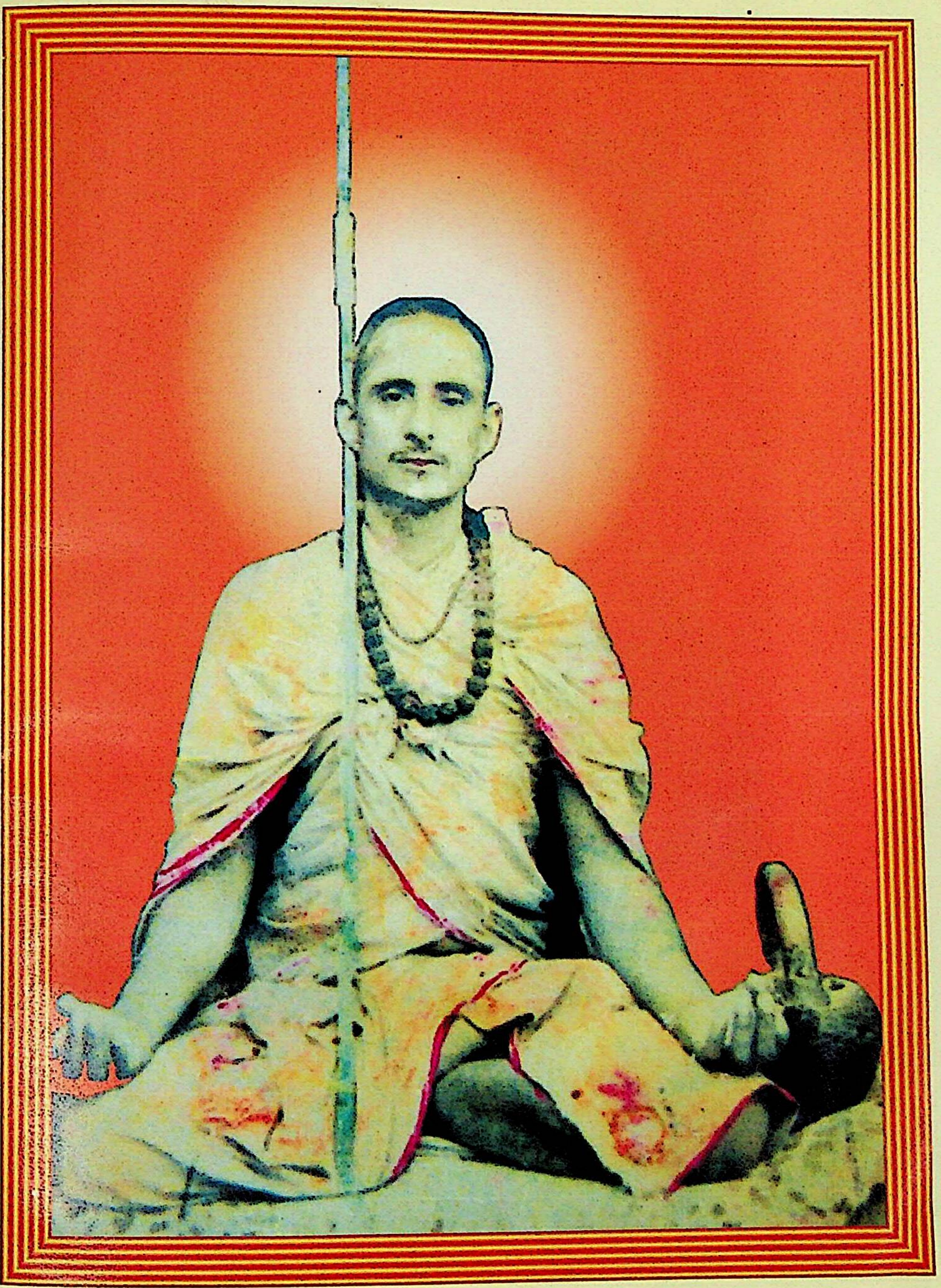
चित्रावली



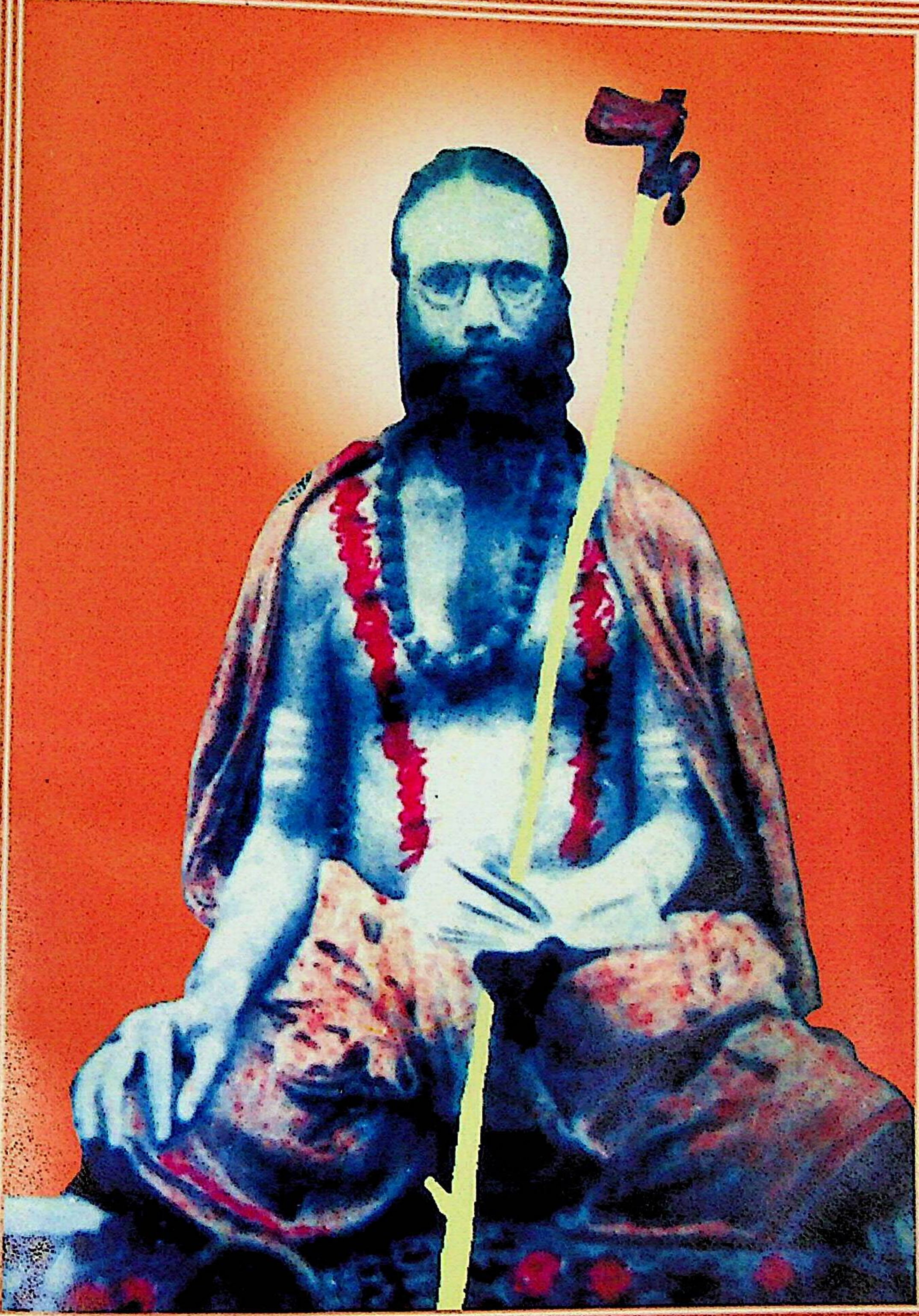
ब्रह्मलीन दण्डी स्वामी श्रीभूमानन्दतीर्थ जी महाराज जिनके साथ
पूज्य सद्गुरुदेव जी ने ३३ वसन्त यापित किया।



अखिल-कोटि-ब्रह्माण्ड-नायक परात्पर परब्रह्म सद्गुरुदेव ब्रह्मऋर्षि श्रीलक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज



ब्रह्मलीन परम सद्गुरु ब्रह्मर्षि श्रीशान्तबोध आश्रमजी महाराज



ब्रह्मलीन परात्पर सद्गुरु ब्रह्मर्षि श्रीआनन्द आश्रमजी महाराज

ॐ

पुत्रत्व की सफलता के लिए ही सारस्वत यज्ञ द्वारा मातृ-पितृतर्पणम्

महाराजश्री जी की कृपामृत सुरसरिता से ही परिपोषित-पल्लवित-पुष्पित-फलित यह वंशवल्लरी—

१. पवन कुमार-कुसुमलता,

२. राजेश कुमार-पूनमरानी,

३. राकेश कुमार-ऊषारानी,

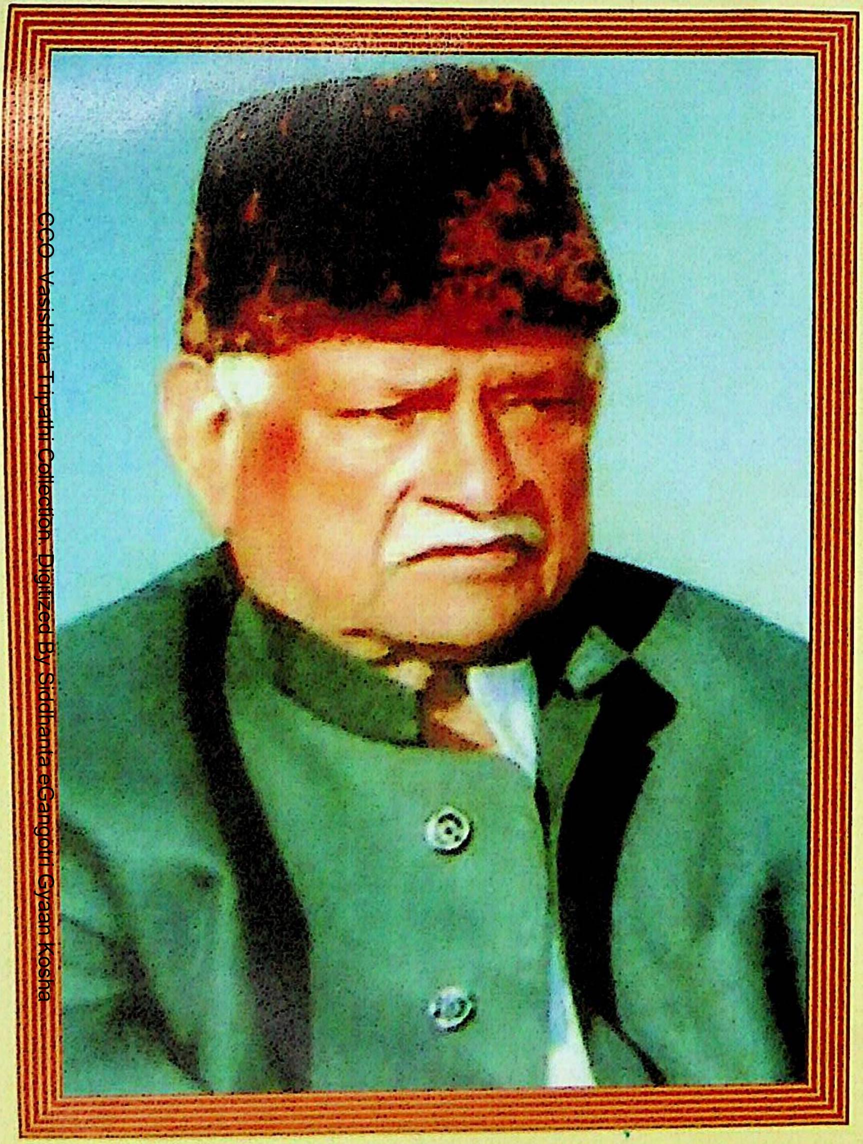
४. प्रदीप कुमार-मंजूरानी,

५. विनोद कुमार-सुधारानी,

६. शिवहरि-संगीतारानी,

७. दिनेश कुमार-कवितारानी

महत्पादरजोभिषिक्त सौभाग्यशाली सुजन



ब्रह्मलीन पिताश्री श्री लाला आनन्द प्रकाश जी



ब्रह्मलीन माताश्री श्रीमति शकुन्तलता देवी

श्रीहरि

परमपूज्य सद्गुरुदेव ही सर्वस्य

परमेश्वर का साक्षात्कार एक मात्र श्रीगुरु कृपा से सम्भव है, श्री गुरु ज्ञान से प्रकाशित परमब्रह्म की ही परम्परा है। ऐसे गुरु की महत्कृपा प्राप्त करनी चाहिए, जब तक श्री गुरु की कृपा से अन्तर्ज्योति नहीं प्रकाशती, अन्दर का दिव्य ज्ञान नेत्र नहीं खुलता, तब तक हमारी जीव दशा नहीं मिटती। जीव दशा के रहते हुए ब्रह्म दशा की दिव्यानुभूति में रमण नहीं हो सकता। जैसे—स्वप्न (निद्रा) में राजा भिखारी बनता है और समझता है कि मैं भिखारी हूँ, वैसे ही अज्ञान निद्रा में यह आत्मा जीव बनकर उस कंगाल अवस्था में अपने को कर्ता, भोक्ता, अल्प और साधारण समझकर दुःख का अनुभव करता रहता है। अतः अन्तः विकास के लिए, दिव्यत्व की प्राप्ति के लिए, परशिव पद पाने के लिए, हमें मार्ग दर्शक की यानी पूर्ण सत्य के ज्ञाता एवं ज्ञानशक्ति सम्पन्न सद्गुरु की अत्यन्त आवश्यकता है। जैसे प्राण के विना जीना सम्भव नहीं होता उसी तरह गुरु के बिना ज्ञान नहीं, अन्धकार का नाश नहीं होता। तीसरे नेत्र का उदय भी नहीं होता। अतः गुरु की जरूरत मित्र से, पुत्र से, बन्धु से और पत्नी से भी अधिक है। गुरु की जरूरत द्रव्य से, कल-कारखानों से, कला से अधिक क्या कहीं गुरु की आवश्यकता आरोग्य और प्राण से भी ज्यादा है। गुरु की महिमा रहस्य तो अतिदिव्य है। वे मानव को नया जन्म देते हैं, ज्ञान की प्रतीति कराते हैं और यह सौभाग्य है हमें कि हमारे ऐसे श्रीगुरु ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज के रूप में प्राप्त हैं।

गुरु की व्याख्या यह है कि जो शिष्य की अन्तःशक्ति जगाकर उसे आत्मानन्द में रमण कराता है, ज्ञान की मस्ती देता है, जीते जी मोक्ष देता है, वह परमगुरु शिव से अभिन्न रूप है। सभी के पूज्यनीय परमगुरु आदि से लेकर आजतक शिष्य की देह में ज्योति को प्रज्ज्वलित करते हुए अनुग्रहरूप से कृपा करते है और लीलाराम होकर रहते है। गुरु के प्रसाद से नर-नारायण होकर आनन्द में मस्त रहता है। सौभाग्य है कि हमें ऐसे गुरु ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रम जी महाराज के रूप में प्राप्त है।

गुरु जी संसार के व्यवहार को भलीभाँति समझते हैं, वे परमात्मा के ज्ञान से पूर्ण परचित हैं, परमार्थ में पूर्णकुशल और व्यवहार में भी कुशल हैं, ऐसे सद्गुरु के आश्रय में रहकर शिष्य महान् संकट को भी सहज में पचा जाता है। उनकी महिमा अनोखी हैं, कृपा मात्र से ज्ञान दृष्टि करा देते है, प्रपंच में ही ब्रह्म दिखाते हैं, वे हमेशा अमनस्क स्थिति से रहते है, मानो उनका मन ही चैतन्य हो गया है, तत्त्वतः आप इस जगत में अन्दर बाहर पूर्ण व्यापक है। जो महापुरुष सर्वात्मा में लीन रहते हैं, वे सर्वव्यापी होते है। साधारणतया गुरुजनों का परिचय पाना उन्हें समझना महाकठिन हैं। गुरु सत्य है, गुरु पूर्ण है, वह शिष्यों के हित चिन्तक है, वें शिष्य का धन नहीं, वरन शिष्य का अज्ञान,

अविद्या लूट लेते है, चिन्ता और पाप को हर लेते है। गुरु जी की यही महिमा है कि वे कठिन तपस्या के विना ही शिष्य को परमात्मा का दर्शन करा देते है। घर में ही गुफ़ा की शान्ति और एकान्त का अनुभव ला देते है। प्रपंच में परमार्थ दिखाते है। सौभाग्य है कि हमें ऐसे सद्‌गुरु ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज के रूप में प्राप्त है।

श्री गुरु जी एक महान् चमत्कारिक दैवत है। साक्षात्कारी गुरु को साधारण समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। गुरु की महानता जब समझ में आती है, जब अपने पर गुरुदेव की पूर्ण कृपा होती है। गुरु जी अपने शिष्य को एक ऊँचे स्तर पर ले जाकर सत्यस्वरूप बताकर शिव में शिव को मिलाकर शिव ही बना देते हैं। गुरु जी में एक ऐसी अनोखी शक्ति है जिससे वे मानव को पूर्णरूप से बदल देते है। जरारहित, दुःखरहित नया जीवन प्रदान करते है। जैसे दिन के सारे व्यवहार उल्लू अपने से नहीं देख पाता, रात्रि में जगत को कौवा नहीं देख पाता, वैसे ही मानव गुरु प्रसाद पाये विना संसार को सर्वमय नहीं देख पाता, दुःख में या शोक में ही देखता है। जो पूज्यनीय परमगुरु आत्मरूप से शिष्य में प्रविष्ट रहते है उन गुरु से हम कैसा व्यवहार करें, कैसे प्रेम करें, उनके उपकार को कैसे चुकावें, हे गुरुदेव आप हमारे मलमय अशुचि, विकारी, भौतिक शरीर में भी भेदाभेद नहीं देखते, शुद्धाशुद्ध नहीं देखते, रोगारोग नहीं देखते, आप कृपामय होकरके उसमें प्रवेश करके, हमारे पापों को, हमारी अशुचि को धो डालते हैं, नाड़ी-नाड़ी में रक्त के कण-कण में शक्तिरूप से प्रविष्ट होकर उन्हें क्रियाशील बनाते है। आपका कितना उपकार है, कितना अनुग्रह है, कितनी दया है, ऐसे कौन मित्र हो सकते हैं जो शरीर के अंग-अंग में अच्छे बुरे स्थानों में व्याप्त होकर दोषों को धोबी के समान साफ करते है। ऐसे गुरु समान कौन मित्र, कौन प्रेमी और कौन देवता है। ऐसे गुरु का हम क्या दासत्व कर सकते है। जिन गुरुदेव ने हमारे कुल, जाति, कर्माकर्म गुणदोष देखे वगैर ही मुझमें प्रविष्ट होकर अपना लिया। उन गुरुदेव की महिमा को कौन नकार सकता है। सौभाग्य है हमें ऐसे सद्‌गुरु ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज के रूप में प्राप्त है।

ॐ नमः शिवाय आप का दिया हुआ मन्त्र है, गुरुदेव यह आपका पूर्ण स्मृति रूप है। आप ही शिव है।

यो गुरुः स शिवः प्रोक्तो, यः शिवः स गुरुः स्मृतः।
उपयोरन्तरं नास्ति, गुरोरपि शिवस्य च।।

आपके द्वारा दिये हुए इस मन्त्र में ज्ञान की सातों भूमिकायें अर्थात् शुभेच्छा से लेकर तुर्यातीत तक निहित है। आपने मुझे अपना बनाया है इसके लिए हे गुरुदेव! आपका सम्मान कैसे करू, आपकी पूजा कैसे करूँ। इतना अवश्य रटता रहूँगा गुरुदेव! जय गुरुदेव! जय गुरुदेव!

ऐसे गुरुदेव को गुरु मानकर उनसे मन्त्र पाना क्या परम सौभाग्य नहीं? उनके लिये शब्द ही चैतन्य मन्त्र है, वे परमगुरु मन्त्र द्वारा, स्पर्श द्वारा या दृष्टि द्वारा शिष्य में प्रवेश

करते है, इसलिए गुरु का साहित्य, गुरु सम्बन्ध, गुरु चरणस्पर्श, गुरु के चरण तीर्थपान, गुरुप्रसाद, गुरुसेवा, गुरुगुणगान, शिष्य को पूर्ण पद प्राप्त करा देने में समर्थ है। मेरे गुरुदेव ऐसे ही एक महान सिद्ध है, उनकी जिस पर दृष्टि पड़ती वह जाग उठता है। उनकी महिमा महान् है इसलिए कहा है—

दुर्लभो विषयत्यागः दुर्लभं तत्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरो करूणां विना।।

यह सहजा अवस्था जो इतनी दुर्लभ है, सद्गुरु की करुणा के विना नहीं मिलती। गुरु साक्षात् परब्रह्मस्वरूप है, तत्त्वतः वे परब्रह्म है। गुरु गीता में जो गुरु का वर्णन है, और ज्ञानेश्वर जी ने जो गुरु महिमा गायी है, उसमें अणुमात्र भी अतिरेक नहीं। जो गुरुपादोदक का सेवन करता है उसके लिये अमृतत्व एक साधारण वस्तु है। गुरु पूजा ही सार्वभौम महापूजा है ऐसा गुरु गीता कहता है।

गुरुरेव जगत्सर्वं ब्रह्माविष्णुशिवात्मकम्।
गुरोः परतरं नास्ति तस्मात्संपूजयेद् गुरूम्।।

आध्यात्म मार्ग में गुरु कृपा ही केवलं और गुरोराज्ञा ही केवलम् है।

पवन सत्य कहता है कि सब विद्याओं में, मोक्ष धर्म में, और स्वस्वरूप विमर्श में गुरु कृपा ही प्रधान है—ज्ञानेश्वर महाराजजी कहते हैं—तुम्हारा परमार्थ, तुम्हारा जप, तप, योग, साधन सब के सब तभी फलीभूत होगा जब गुरु कृपा से लब्धिकाल का उदय होगा।

अपने गुरु को जितना महान्, श्रेष्ठ, पूर्ण, सिद्ध, सामर्थ्यवान् समझते है, श्रीगुरु उतनी ही सामर्थ्य लेकर तुम्हारे साथ खड़े रहते हैं। वस्तुतः तुम में प्रत्यक्ष ईश्वर की नाई गुरु के प्रति जितना प्रवल और जितना तीव्र भाव होगा, उतना शीघ्र तुम सब कुछ पा लोगे। उसमें देर नहीं लगेगी। लेकिन फिर भी धैर्य ही कसौटी है। श्रीगुरु के चरणों में भावपूर्ण विश्वास रखने से सहज में अपने आप विना कष्ट उठाये तत्त्व का बोध हो जाता है। इसलिए गुरु को भजो। इतना ही नहीं अपने ध्यान में लाओ, क्योंकि ईश्वर गुरु के पास रहता है। इतना याद रखना कि गुरु चरणों में महान् आदर्शरूप, पूर्ण विश्वास, अनन्यभाव रखना आवश्यक है। गुरु ध्यान सर्वध्यान प्रक्रियाओं का मूल है, गुरु गीता में कहा है—

ध्यानमूलं गुरोमूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्।
मन्त्र मूलं गुरो र्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा।।

तो मुझे महामन्त्र मिल गया इसको अत्यन्त प्रेम् से अपनाया तुकाराम महाराज सत्य कहते है कि—गुरु में श्रद्धा, भक्ति, प्रेम पूर्णभाव हो जाने पर परमात्मा सहज मिल जाता है। इसलिए गुरु की पूजा करो, गुरु का महाध्यान केरो। सौभाग्य है कि हमें श्रीगुरु के रूप में ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रमजी महाराज प्राप्त है।

श्रीगुरुदेव के सन्तोष मात्र से ही एक क्षण में सिद्धि ही नहीं, बल्कि शास्वत सिद्धि

प्राप्त होती है। आप कितना भी जप करें, तप करें, ध्यान करे, यज्ञ करें, गंगा सागर नहायें, लेकिन गुरु की कृपा के विना पूर्णता प्राप्त नहीं होती। गुरु भवसागर में डूबते हुए को उससे निकालकर अपने जैसा निर्द्वन्द्व कर लेता है। सब संशय मिटाने के लिये शिष्य के अन्दर प्रवेश करके उसके हृदय के अन्दर पूर्ण ब्रह्म के प्रकाश को उद्घाटित करके दिव्य आत्मतेज को जगा देता है। उसको अपने जैसा ही आत्मरति देता है, ऐसे गुरु के प्रति तुमको कैसे चलना चाहिए? यह खुद ही सोचने का विषय है। वस्तुतः श्रीगुरु इस जगत् को शिष्य के लिए ब्रह्ममय बना देने की सामर्थ्य रखता है। मानव इस विस्तृत जगत् क्रीड़ा को देखते हुए चाहे जो करे, परमशान्ति प्राप्त नहीं कर सकेगा। समझ में नहीं आता यह कैसे एक नयी बात पैदा हो गयी कि जगत् एक है, जीव दूसरा है, माया तीसरी है? क्योंकि आत्मा के विना अन्य और किसी का ऐसा सामर्थ्य है? जो जगत् रूप हो सके। परम स्वतन्त्रता से, परम स्वच्छन्दता से प्रकाशमान होने वाले उस आत्मा को कौन मलिन कर सकता है, प्रज्ज्वलित अग्नि के साथ कौन रह सकता है? पावन मात्र जगत् ही आत्मा का विलास है, इस आत्मविलास को समझने के लिए श्रीगुरु के सन्तोष की आवश्यकता है। गुरु कंब सन्तुष्ट होता है? यह मत समझिये कि गुरु के सामने वाह गुरु, वाह गुरु करने से या मुख स्तुति करने से गुरु सन्तुष्ट होगा कदापि नहीं।

गुरु तब सन्तुष्ट होता है जब शिष्य पूर्णत्व प्राप्त करता है। जैसे कोई कलाकार अपने विद्यार्थी की कला पूर्ण होने पर वाह-वाह करके आशीर्वाद देता है। पण्डित का शिष्य पण्डित बन जाने पर आशीर्वाद पाता है, वैसे श्रीगुरु से शक्ति प्राप्त किये हुए शिष्य की पूर्णत्व प्राप्ति से गुरु को सन्तोष प्राप्त होता है। वस्त्र दिया, खिलाया, मुख स्तुति की इसमें गुरु को क्या सन्तोष होगा।

गुरु प्रज्ञा प्रसादेन, मूर्खो वा यदि पण्डितः।
यस्तु सम्बुध्येत् तत्वं विरक्तो भव सागरत्।।

श्रीगुरु तभी सन्तुष्ट होते है जब शिष्य उनमें मिलकर गुरु ही बन जाता है इसलिए पवन कहता है—श्री गुरुं शरणं गच्छामि। सततं गुरुं स्मरामि। मम मति श्रीगुरु, मम गति श्री गुरु, मम रति श्री गुरु इति सत्यं सत्यं वदामि।

ईश्वरो गुरु आत्मेति, मूर्तिभेद विभागतः।
व्योमवत् व्याप्तदेहाय तस्मै श्री गुरुवे नमः।।

यस्य देवो पराभक्तिः, यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः।।

जब गुरुदेव में इष्ट के समान निष्ठा हो तब सूक्ष्म से सूक्ष्म अर्थ भी उस तत्त्व का हृदय में प्रकाशित होने लगता है, वह गुरुदेव की ही कृपा है।

गुरुकृपाधनसम्पन्नः
पवन कुमारः

भूमिका

।। श्री गणपतये नमः ।।

भारतस्य भूभागे, विख्याता मिथिला महिः।।
तत्र पुण्यतमा भूमिः, लोक-शास्त्र-प्रशंसिता।।१।।

धर्मार्थकाममोक्षाणां, सद्विचारसमा सरित्।
धर्ममूलेति नाम्ना हि, प्रथिता लोकपावनी।।२।।

तस्याः पुण्यतटे प्रायो, निवसन्ति वेदविद्जनाः।
पदवाक्यप्रवीणाश्च, धर्म-कर्म-विशारदाः।।३।।

तत्र जातो ह्यग्रगण्यो, मण्डनाचार्यनामतः।
यो हि पुण्यतमो ग्रामः, [१]महिषी विबुध वन्दिता।।४।।

मीमांसा-न्याय तेजोभि,-र्वेदार्थं गूढमसृजत्।
ब्रह्मविद्योपदेष्टृणां, साक्षात्सुरगुरोरिव।।५।।

जगतः क्लेशबीजानां, समुच्छेदनतत्परः।
ब्रह्मवीर्यात् यत्र जातः, कृपामूर्तिरमूर्तिमान्।।६।।

मण्डनाचार्यनाम्ना यो, विद्यावतामाश्रयः।
काशीव शिवनगरी सा, भवानी संगसंगिता।।७।।

उग्र तारा भवानी हि, दयामयस्वरूपिणी।
जीवमोक्षप्रदातुं वै, तारिणीनामधारिणी।।८।।

उग्रतारोपासकास्ते, पितृयोगधराः स्मृताः।।
भक्तिज्ञानप्रवीणा या, माता इन्द्रमुखी मती।।९।।

तस्या व्याख्यां कर्तुं, मणिप्रभां संददर्शनीम्।
चिन्तामणिरिव चित्तस्य, ममान्यं प्रकरोति या।।१०।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन, आत्मोद्धारणाय वै।
चित्तशोधनकामाय, क्रियते मणिप्रभाप्रभा।।११।।

(१. माहिष्मती नगरी एव अधुना महिषी)

यह काशीपति भगवान् शिव की महती अनुकम्पा है कि चिन्तामणि चतुर्थ भाग की मणिप्रभा व्याख्या का प्रकाशन और भगवान् शिव को अर्पण महाशिव रात्रि के पावन पर्व

पर होने ज़ा रहा है। मैं तृतीय भाग की भूमिका में कहा था कि यह चिन्तामणि ग्रन्थ अत्यन्त गूढ़ विषय होने के कारण मेरे जैसे अल्पज्ञ के द्वारा व्याख्यायित करना असम्भव ही था, परन्तु यह भगवान् शिव और महाराज श्री लक्ष्येश्वराश्रम जी के आशीर्वाद से सम्भव हो सका है।' यहाँ पुनः यह कहना संगत होगा कि जो यह अनुपम ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है वह महाराज श्री लक्ष्येश्वराश्रम जी की हस्तपुस्तिका (डायरी) थी, जो उन्होंने अपने अध्ययन-चिन्तन-मनन काल में उपनिषद्, वेद, पुराण, योग, तन्त्र एवं अन्यान्य विभिन्न ग्रन्थों से सूत्र संकेत (नोट बुक) के रूप में अंकित (संग्रह) किया था। उन्हें कोई अपेक्षा नहीं थी कि यह ग्रन्थ रूप में छपे और प्रकाशित हो। परन्तु उनके एक भक्त शिष्य श्री पवन कुमार अग्रवाल जी, मुजफ्फर नगर ने इसकी उपयोगिता को समाज के लिए परम हितकारी समझ कर तथा उक्त ग्रन्थ की व्याख्या करा कर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराने का पवित्र संकल्प लिया। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में जो अर्थ व्यय हो रहा है, वही कर रहे हैं। यहाँ प्रशंसनीय और अनुकरणीय विषय यह है कि ग्रन्थ में धन और श्रम के व्यय से उन्होंने मुनाफा कमाने की कोई इच्छा नहीं रखी, और अधिकारी-विज्ञ-श्रद्धालुओं-भक्तों के लिये निःशुल्क वितरण के उत्तम विचार का आश्रय लिया। भौतिक धन-सम्पदाएँ तो संसार में बहुत अधिक रूप में कईयों के पास है, परन्तु इस तरह के लोकोपकारी कृत्य में व्यय करने का त्याग उनमें नहीं है। इसी भावना को समझ कर और उस विचार को महत्त्वकारी समझकर मैंने इसकी व्याख्या करना उसी रूप में स्वीकार किया कि किसी के पास भौतिक सम्पदा और धार्मिक विचार सम्पदा है और मेरे पास जो भी भगवत् कृपा से विद्या सम्पदा है उसका लोकहित के लिये प्रयोग हो तो उत्तम होगा, क्योंकि 'उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव रक्षणम्' शास्त्रोक्ति है। अस्तु।

इस व्याख्या को लिखने में स्वाभाविक रूप से बहुत विघ्न उपस्थित हुए, परन्तु वे आते और जाते रहे और कार्य चलता रहा। कहा है—'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' पावन कृत्य में बहुत विघ्न आते हैं।

यह चिन्तामणि ग्रन्थ इसलिए उपयोगी और लोकहित से बद्ध है कि वेदान्तादि दर्शन विचारानुसार जगत्प्रपञ्च मिथ्या है और परमात्मा ब्रह्म ही मात्र सद्वस्तु है। परन्तु मानव को जगत् प्रपञ्च इष्ट साधक प्रतीत होता है जबकि इष्ट साधक तो 'मरुमरीचिका' और 'सुक्तौ इदं रजतं' स्थल में भी प्रतीति का विषय होता है। यतः उक्त स्थल में रजत का निष्फलप्रवृत्तिजनक होने के कारण उसकी मिथ्यात्व और हेयोपादेयता सर्वजनीन कालान्तरीय स्वीकार्य विषय होता है। अतः यथार्थ बोध की उपादेयता मात्र ही स्वीकार्य विषय है। इसलिए सामान्य बौद्धिक-धार्मिक-भक्तादिकों को ईश्वर-ब्रह्म-माया-अविद्या-षद्सम्पत्ति आदि से बोध कराकर उसकी हेयोपादेयता के महत्त्व को समझ कर मानव जीवन के परम लक्ष्य को निर्धारित करना आवश्यक है।

इस भौतिक प्रधान युग में जहाँ लोग अपने सुख की खोज में निरन्तर प्रयत्नशील है वहीं वह अन्यथा वस्तु में सुख का अन्वेषण करता हुआ भ्रमित हो रहा है। उसे यह नहीं मालूम कि मरुमरीचिका की ओर दौड़ लगाकर पिपासा को मिटायी नहीं जा सकती। उसे यह भी नहीं मालूम कि जिस सुन्दर फल (जगत्) को वह हस्तगत कर रहा है वह 'विषकुम्भं पयो मुखम्' है। उसमें विष परिणामी स्वभाव है। इसलिए उसे इस ग्रन्थ के माध्यम से यह बताना परम कर्त्तव्य है कि जगत् वस्तु को किस रूप से देखे-समझे और व्यवहार करे कि स्वात्मरक्षण संभव हो। क्योंकि 'पीत्वामोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्' इस पश्चिमी भौतिक आँधी ने भारतवर्ष जैसे प्रज्ञा प्रधान देश को भी उन्मत्त बना दिया है। हम अपने उस दिव्य गुणों से सम्पन्न वैज्ञानिक जीवन शैली को भूलते जा रहे हैं। आज इस राष्ट्र की दशा और दिशा ऐसी है कि कतिपय बौद्धिक वर्ग को भी दबे जुबान यह कहना पड़ रहा है कि 'इससे तो अच्छा हम परतन्त्रता में अनुभव करते थे।' भारतवर्ष की वर्तमान नीति निर्धारक, चिन्तक, धार्मिक, विद्वान् सभी के सभी मैकाले की शिक्षा पद्धति की वायु को पीकर प्राणवन्त हैं। वे इसलिए इस राष्ट्र में हो रहे-भष्ट्राचार देश-द्रोह-शोषण-अत्याचार-धर्माधर्म को जानते हुए भी अपने को असहाय महसूस कर रहे हैं। वस्तुतस्तु पश्चिम परस्त शिक्षा पद्धति-आचरण और आकर्षण ने हमारे स्थापित ऋषि प्रणीत गुरुकुल परम्परा की शिक्षण पद्धति-आचार-विचार-रहन-सहन के जीवन शैली को 'ग्राह ग्रसित' कर लिया है। इसलिए ऋषि प्रणीत परम्परा के ज्ञान-विज्ञान-जीवन शैली-दृष्टि-दृश्य को लोगों तक पहुँचाने के उद्देश्य से इस चिन्तामणि (मणिप्रभा व्याख्या) का प्रकाशन उपयुक्त है।

इस ग्रन्थ में अद्वैत वेदान्त मत की प्रधानता रहते हुए भी भक्तिरस-योग-तन्त्र-साहित्य-पुराणों के विषयों को महत्त्व दिया गया है। पर्यटन और तीर्थाटन एवं धर्मकृत्य करने वाले लोगों के लिए भी यथा स्थल उन-उन देश-स्थान-धर्मस्थल-पर्वत-नदियों के वर्णन हैं जो परमात्मनिष्ठा को ही परिपुष्ट करता है। स्थल विशेष में साहित्य यथा रस सम्प्रदाय, नाट्यशास्त्र, वैद्यकशास्त्र और ज्योतिषशास्त्र के साथ स्थल विशेष पर धर्मशास्त्र के भी समावेश हैं, जिससे व्यावहारिक और पारमार्थिक बोध का उदय सम्भव हो सकेगा।

श्री पवन कुमार जी अग्रवाल, जिन्होंने ग्रन्थ-प्रकाशन में सम्पूर्ण व्यय की भूमिका का निर्वाह किया है धन्यवाद के पात्र हैं और उनके चरित्रसम्पदा सम्पन्न लोग ही नहीं अन्य के लिये भी अनुकरणीय है। मैं काशीपति भगवान् शिव से प्रार्थना करता हूँ कि उन्हें उत्तम-ज्ञान और गति को प्रदान कर यावज्जीवन सत्कार्य के प्रति उन्मुख रख कर स्वस्थ तथा दीर्घायु जीवन प्रदान करें। मैं आचार्य पण्डित श्री चित्त नारायण पाठक, प्रधानाचार्य निर्मल संस्कृत महाविद्यालय, लाहोरी टोला-सरस्वती फाटक, वाराणसी और आचार्य श्री महीनारायण

पाठक, विभागाध्यक्ष, टीकमाणी संस्कृत महाविद्यालय, सकरकन्द गली, वाराणसी जो मेरे अनुज भी हैं, को इस चिन्तामणि ग्रन्थ की मणिप्रभा व्याख्या में अभूत्पूर्व सहयोग के लिये आशीर्वाद और धन्यवाद ज्ञापित करना चाहूँगा, क्योंकि उनके सहयोग के विना यह महत्कार्य सुलभ नहीं हो सकता था। इसी क्रम में मैं डॉ. श्री अमर बहादुर सिंह, कबीरनगर कॉलोनी-वाराणसी को याद किये विना नहीं रह सकता, जिनका महत्त्वपूर्ण योगदान इस कार्य के लिये साथ रहा है। मैं श्रीजी प्रिन्टर के मालिक श्री अनूप कुमार नागर जी के साथ ही इस कार्य से जुड़े श्री राजेश उपाध्याय एवं श्री राजेन्द्र वर्मा तथा अन्य को साधुवाद ज्ञापन करता हूँ, जिनके सहयोग से यह कार्य सम्पन्न हो सका है। अन्त में मैं इस परम पवित्र कार्य के मूल व्यक्ति परमपूज्य श्री लक्ष्येश्वराश्रम जी महाराज के पावन चरण की वन्दना करके इस चिन्तामणि ग्रन्थ की मणिप्रभा व्याख्या को महाशिवरात्रि के पावन पर्व की महापावनवेला में काशीनाथ श्री विश्वनाथ शिव के चरणों में अर्पित कर आनन्द का अनुभव करते हुए उनकी कृपाकांक्षी हो रहा हूँ—

भद्र नारायण पाठक,
प्रधानाचार्य
श्रीमहावीर पाठक संस्कृत महाविद्यालय,
असवारी-राजातालाब-वाराणसी।
मूलग्राम-पत्रालय—महिषी (माहिष्मती)
जनपद—सहर्षा-बिहार
वर्तमाननिवास-महान न.-बी.१/१४८-६, एम,
अस्सी-वाराणसी-उत्तर प्रदेश,
मो.न.-९४१५९९७२८१



श्रीशारदापीठम्
द्वारका, जामनगर, गुजरात
दूरभाष : 02892-234061

अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर एवं द्वारका शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य
स्वामी श्री स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज

श्रीज्योतिर्मठः
तोटकाचार्य गुफा, जोशीमठ, चमोली
गढ़वाल, उत्तराखण्ड
दूरभाष : 01389-222185

क्रमांक..................सञ्चारयात्रास्थल..दिनाङ्क
: ....



मंगलाशंसनम्

चिन्तामणि उस मणिविशेष को कहते हैं जो चिन्तित कामनाओं की पूर्ति में समर्थ हो। लोक में प्रसिद्ध पारसमणि को भी चिन्तामणि कहा जाता है जिसके बारे में प्रसिद्धि है कि लोहा यदि उससे छू जाए तो वह सोना हो जाता है। **'चिन्तामणिर्लोकसुखं सुरद्रुः सर्वसम्पदम्'** कहकर श्रीमद्भागवत के माहात्म्य में इसी मणि का उल्लेख किया गया है।

लोकसुखदायक चिन्तामणि किसी पूर्णकाम, आत्माराम सन्न्यासी की स्पृहा अथवा उपदेश का विषय नहीं हो सकता। अतः चिन्तामणि का ब्रह्मपरक अर्थ ही यहाँ स्वीकार्य है।

तेजोबिन्दूपनिषद् में आत्मा को लक्ष्यात्मा कहकर सम्बोधित किया गया है। आत्मा लक्ष्य है जिसका ऐसे स्वामी लक्ष्येश्वराश्रम जी द्वारा रचित यह चिन्तामणि ग्रन्थ लोकोपकारक बने, पूज्यपाद ज्योतिष्पीठाधीश्वर एवं द्वारका शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज की यही मंगलकामना है।

पूज्य श्रीचरणों की प्रेरणा से—

(स्वामी अविमुक्तेश्वरानन्द सरस्वती)
शिष्य प्रतिनिधि—पूज्यपाद जगद्गुरु शङ्कराचार्य जी महाराज

श्रीमज्जगद्गुरु-शङ्कराचार्य-गोवर्धनमठ-पुरीपीठाधीश्वरका सन्देश

॥ श्रीहरिः ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥



समादरणीय श्रीलक्ष्मेश्वर झा-महाभाग तपस्वी, विद्वान्, तत्त्वपरिशीलनमें दक्ष एवम् तत्त्वनिष्ठ महापुरुष हैं। उन्होंने स्वान्तःसुखाय अध्यात्मविचारसे सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण सामग्रीका सङ्कलन किया है। जिसमें उपासना, ज्ञान एवं कर्म-सम्बन्धी गुह्य तथ्योंका सन्निवेश है। जिसके अनुशीलनसे स्थूल, सूक्ष्म और कारण-संज्ञक त्रिविध शरीर और तदन्तर्गत अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवम् कलात्मक और बीजात्मक आनन्दमय कोशोंका शोधन सुनिश्चित है। तदर्थ श्रौत-स्मार्तप्रस्थानमें निष्णात महानुभावका स्वस्थ मार्गदर्शन अवश्य ही अपेक्षित है।

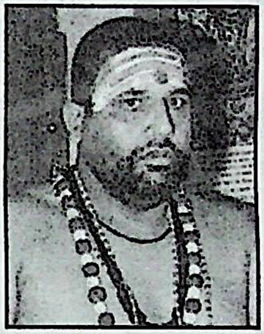
ग्रन्थका नामकरण 'चिन्तामणि' किया गया है। श्री त्र्यम्बकेश्वर चैतन्यजीने कई खण्डोंमें प्रकाशित इस दिव्य सङ्कलनका अनुवाद भी किया है।

इस दिव्यानुस्मृतिका प्रकाशन अद्भुत आस्थापूर्वक श्रीपवनकुमारके सौजन्यसे सम्पन्न हुआ है। श्रीपवनजीने इस अनुपम संरचनाका प्रकाशनकर अद्भुत गुरु-भक्तिको व्यक्त किया है।

भगवत्कृपासे यह दिव्यालोक विचार साधकोंका पथप्रदर्शक सिद्ध हो, ऐसी भावना और श्रीहरिहरसे प्रार्थना है।

निश्चलानन्दसरस्वती
माघ-शुक्ल २, २०६६
२६.१.२०१०
प्रयाग

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः



सर्वकाल अर्चनीय वन्दनीय आचार्य चरण पाञ्चभौतिक शरीर के समस्त विकारों को दूर की लक्ष्य का भेदन कर 'चिन्तामणि ग्रन्थ' का निरूपण करके, विद्वानों सद् गृहस्थों एवं राष्ट्र में आनेवाले बच्चों को इस मणिस्वरूप ज्ञानदीपिका पुस्तक को लोकहित में समर्पित किया है।

कृष्णात् परं किमपितत्त्वमहं न जाने।

पारसमणि तो केवल लोहे को सोना बनाती है। इसके प्रमाण में सन्देह हो सकता है। परन्तु 'चिन्तामणि' रूपी ग्रन्थ को जो लोग (व्यक्ति) मन, बुद्धि एवं चित्त से इसका मनन करेंगे वे व्यक्ति वास्तविक रूप से 'चिन्तामणि' अर्थात् सद् चिन्तित वस्तु को प्राप्त कर लेंगे।

महाराजश्री जो इस पुस्तक के अधिष्ठान है, वेद रूपी कल्पवृक्ष से ज्ञान रूपी दूध को दूहकर विचाररूपी अग्नि पर तपाकर उस दूध को वैराग्य रूपी जामन से जमाकर उस दधि को विवेक एवं वैराग्य रूपी मथानी के द्वारा मथकर त्यागरूपी नित्यतृप्त ज्ञान को लोगों के अनुसन्धान हेतु इस ग्रन्थ का प्रतिपादन किया है। जो जिज्ञासु लोग अनित्य पदार्थों से मन को हटाकर इस अद्वैत वेदान्त सच्चिदानन्द स्वरूप त्रिवेणी में स्नान करेंगे वे अवश्य अपने जीवन को—

'न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्षश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।।'

इस तत्त्व को प्राप्त कर कृतार्थ हो जायेगें। यही इस ग्रन्थ का अलौकिक स्वरूप है।

महाराजश्री हमारे गुरुदेव 'अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्री भूमानन्द तीर्थ जी महाराज के अभिन्न आन्तरिक हृदय के समीप रहे हैं। अपने जीवन के अधिक से अधिक समय को महाराजश्री ने भूमानिकेतन के पवित्रतम पीठ में 'करतलभिक्षा तरुतलवास:' रूप में अवस्थित रखा और आज भी उसी उक्ति को प्रामाणिक करते हुए प्रतिष्ठित हैं इन दोनों महापुरुषों के स्वरूप को 'विवेक चूड़ामणि' की इस उक्ति से समझा जा सकता है—

नारायणोऽहं नरकान्तकोऽहं, पुरान्तकोऽहं पुरुषोऽहमीशः।
अखण्डबोधोऽहम् अशेषसाक्षी, निरीश्वरोऽहं निरहं च निर्मम।।

उस अलौकिक चिन्तामणि के चतुर्थ भाग के सम्पादन का कार्य पं. भद्रनारायण पाठक ने ज्ञानचक्षु एवं विवेक रूपी लेखनी से जगत् हित में जो कार्य किया है। हम उन्हें साधुवाद देते है।

पुस्तक के प्रकाशक पवनकुमार सिंघल ने अपने गुरुजनों के प्रति श्रद्धा विश्वास रूपी गुणों से समर्पित होकर जो कार्य किया है वह वर्तमान समय में अद्वितीय गुरुनिष्ठा का साक्षात् प्रमाण है, ऐसे व्यक्ति वर्तमान समय में कम है जो इस प्रकार के कार्य करने में अग्रसर रहते है।

हम उनके एवं उनके समस्त परिवार के लिए भगवान् विश्वनाथ विश्वम्भर से यही कामना करते है कि इनका जीवन इसी प्रकार समर्पित रहे।

भूमानिकेतन, सप्तसरोवर
हरिद्वार

प्रो. वेम्पटि कुटुम्ब शास्त्री
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००२

दूरलेख : 'श्रुतम्'
दूरभाष { कार्यालय : (०५४२) २२०४०८९
निवास { : (०५४२) २२०४२१३
: (०५४२) २२०६६१७
फैक्स : (०५४२) २२०६६१७

पत्राङ्क : V.C. /28/2010 दिनाङ्क : 10.01.2010



मेरा यह परम सौभाग्य है कि विश्व की आध्यात्मिक राजधानी, बाबा विश्वनाथ एवं माँ अन्नपूर्णा की नगरी काशी में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के माध्यम से प्रवास का पुण्य प्राप्त हुआ, इससे बढ़कर मेरा परम सौभाग्य यह है कि मुझे काशी की धरा पर भारतीय सनातन धर्म के सिद्ध-हस्त साधकों तपस्वियों एवं महात्माओं का आशीर्वाद गुरूकृपा प्राप्त हो रहा है। प्रातःस्मरणीय ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रम जी महाराज के प्रसाद के रूप में चिन्तामणि ग्रन्थ के रूप में गुरू की जो वाणी प्रकाश में लाये जाने का उद्यम पं. भद्रनारायण पाठक द्वारा किया गया है, वह अत्यन्त स्तुत एवं सराहनीय है। चिन्तामणि के तीनों भाग का प्रकाशन संस्कृत जगत की अमूल्य धरोहर है। चिन्तामणि के चतुर्थ भाग का प्रकाशन होने जा रहा है। यह जानकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। ग्रन्थ के तीसरे भाग का अवलोकन कर मैं अपने को अत्यन्त सौभाग्यशाली मानता हूँ। चिन्तामणि ग्रन्थ गुरू का ऐसा महाप्रसाद है, जिसके अध्ययन मनन एवं चिन्तन से आध्यात्मिक सत्ता की सुःखद अनुभूति होती है। इस ग्रन्थ में मनुष्य जीवन के व्यवहार में लाये जाने वाले उन सभी तत्वों का विस्तार से वर्णन किया गया है, जिसके कारण यह ग्रन्थ अत्यन्त सहज हो गया है।

मैं चिन्तामणि ग्रन्थ के चतुर्थ भाग के प्रकाशन के लिये स्वामी लक्ष्येश्वर जी महाराज के श्रीचरणों में अपनी प्रणामांजलि समर्पित करता हूँ कि उन्होंने समाज के समक्ष इस अमूल्य धरोहर को प्रस्तुत किया। ग्रन्थ के टीकाकार के रूप में पं. भद्रनारायण पाठक जी के अथक परिश्रम के रूप में उनका हार्दिक स्वागत एवं वंदन करता हूँ। इस नई कृति के लिये संस्कृत जगत आप सबका आभारी है।

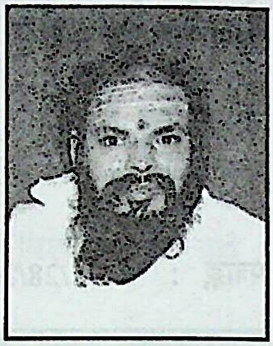
भवदीय

[signature]

ब्रह्मर्षि श्री लक्ष्येश्वर आश्रम
भूमा निकेतन, केदारघाट, वाराणसी

(प्रो. वेम्पटि कुटुम्ब शास्त्री)
कुलपति

नमो ब्रह्मेभ्यो ब्रह्मविद्भ्यो:



पदार्थश्च द्विविध: शक्यो लक्ष्यश्चेति। शास्त्रों में किसी तत्व की वास्तविकता को बताने के लिए मुख्यत: दो पद्धतियों की प्रधानता है। एक शक्ति के माध्यम से शक्य की उपस्थिति करना एवं दूसरी लक्षणावृत्ति के माध्यम से उपस्थित करना। इन दो पद्धतियों शक्ति से लक्ष्य शक्य की उपस्थिति करना यह पद्धति व्यवहार में आमन्द पर्यन्त सुगमता से समझी जा सकती है। जब शक्ति पद्धति से उपस्थित पदार्थ का पदार्थान्तर के साथ अथवा वाक्यार्थ के साथ परस्पर सम्बन्ध बनने की स्थिति नहीं होती तब लक्षणा वृत्ति का सहारा लिया जाता है। अर्थात् शक्ति से उपस्थित पदार्थ का पदार्थान्तर के साथ सम्बन्ध अथवा वक्ता के तात्पर्य के भाव को पोषित करने के लिए लक्षणा वृत्ति उपस्थित होती है और उस लक्षणा वृत्ति से जो पदार्थ अथवा वाक्यार्थ उपस्थित होता है, उसे लक्ष्यार्थ कहते हैं। जैसे—तत्त्वमसि वाक्य में तीन पद हैं प्रथम तत् द्वितीय त्वम् और तृतीय असि तत् पद का अर्थ सर्वज्ञत्वविशिष्ट चैतन्य, त्वं पद का अर्थ अल्पज्ञत्वविशिष्ट चैतन्य, ये दोनों पदार्थ तत् एवं त्वम् पद से उपस्थित हुए तथा असि पद का सत्ता अथवा विभक्ति प्रतिरूपक अन्वय मानकर 'निपाता: अनेकार्थका:' इस सिद्धान्त का अनुसरण कर 'असि' का पदार्थ ऐक्य है। परन्तु सर्वज्ञत्वविशिष्ट चैतन्य अल्पज्ञत्व विशिष्ट चैतन्य इनमें यथाश्रुत शक्यार्थ के स्वीकार करने पर श्रुतिपतिपाद्य ऐक्य का होना असंगता सा प्रतीत हो रहा है। परस्पर विरोध होने के कारण इस विरोध के परिहार के लिए लक्षणावृत्ति को उपस्थापित कर तत् पदार्थ का सर्वज्ञत्वविशिष्ट चैतन्य का चैतन्यमात्र अर्थ करना होगा एवं त्वम् पदार्थ का अल्पज्ञत्वविशिष्ट चैतन्य का चैतन्यमात्र में इस तरह तत् तथा त्वम् इन दोनों पदों का लक्ष्यार्थ चैतन्य मात्र अवशिष्ट रहता है, असि पदार्थ ऐक्य का चैतन्य मात्र वाक्यार्थ निष्पन्न होता है। उसी चैतन्यमात्र लक्ष्यार्थ को लक्ष्येश्वर तत्त्व कहते हैं—उस लक्ष्येश्वर तत्त्ववाले महापुरुष पूज्यश्रीलक्ष्येश्वर आश्रम कहलाते हैं। पूज्य महाराजश्री जैसा की शास्त्रों में लक्ष्यतत्त्व का निरूपण किया गया है उसी में स्थित है।

वेदान्तसार में कहा है—अर्थतोऽप्यद्वयानन्दानतीतद्वैतमानत:। अर्थात् वे केवल शब्दत: लक्ष्येश्वर नहीं हैं अपितु अर्थत: भी लक्ष्येश्वर हैं। वे उद्वयानन्द को प्राप्त नहीं, बल्कि स्वयं अद्वयानन्द हैं।

'प्रणवो धेनु:शरो हि आत्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते' वह श्रुति साक्षात् तत् पद वाच्य ब्रह्म को ही 'लक्ष्य' इस रूप में निर्देश करती है। उस लक्ष्य को प्राप्त कर जो स्वयं लक्ष्य पद का वाच्यार्थ हो चुका है, उसे लक्ष्येश्वर आश्रम कहते हैं। क्योंकि श्रुति 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' ऐसा कहती है।

जीव स्वयं को ब्रह्म से भिन्न अनुभव करता है, क्योंकि वह अविद्या से ग्रस्त है। द्वैतदृष्टि का कारण अविद्या को ही माना जाता है। आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर ही अविद्या की निवृत्ति होती है तथा उसको द्वैतदृष्टि की समाप्ति हो जाती है और अपनी अद्वितीयता का भान हो जाता है, जिसे ब्रह्मबोध कहा जाता है।

वेदान्त का यह सिद्धान्त है, कि जो कोई भी 'त्वं' और 'तत्' का लक्ष्यार्थ समझता है उसको 'तत्त्वमसि' के श्रवण से ही बोध हो जाता है। मनन-निदिध्यासन की प्रवृत्ति मात्र लक्ष्यार्थ को सुस्पष्ट करने में होती है। निर्गुण, निरूपाधिक, निर्विकल्पक, निर्विकार आत्मसता ब्रह्म जो कि जीवों का एकमात्र लक्ष्य है, जिसमें स्थित परमपूज्य श्री लक्ष्येश्वराश्रम महाराज जी का दर्शन, सान्निध्य उनके मुख से निःसृत स्वानुभूत श्रवण-मनन योग्य वेदान्त वचनों का श्रवण करने वाले धन्यातिधन्य हैं ऐसा मेरा विचार है।

भगवान् श्री शंकराचार्य जी ने विवेकचूडामणि में कहा है—

दुर्लभं त्रयमेतद्वै, देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसश्रयः।।

और महापुरुष भी कैसा होना चाहिए। तो मुण्ड श्रुति कहति है, 'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'। गीताचार्य भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं, ज्ञानिनः तत्वदर्शिनः।।
सो महात्मा सुदुर्लभः।

भगवान् वादरायण कहते हैं—

........गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्।।

अर्थात् ज्ञातुमिच्छुः शाब्दे ब्रह्मणि वेदारण्ये न्यायतो निष्णातं तत्त्वज्ञम्। अन्यथा संशयनिरासकत्वायोगात्। परे च ब्रह्मण्यपरोक्षानुभवेन निष्णातमन्यथा बोधसंचारायोगात्। परब्रह्मनिष्णातत्वद्योतकमाह—उपगमाश्रयः।

गुरु शब्द ब्रह्म के साथ परब्रह्म निष्णातपूर्वक उपशमायन भी हो। यदि गुरु श्रोत्रिय होगा और ब्रह्मनिष्ठ नहीं होगा, तो अनुभव नहीं करा सकेगा और केवल ब्रह्मनिष्ठ होगा तो संशय का छेदन नहीं कर सकेगा तथा समस्त सद्गुण दैविकं सम्पत्ति अर्थात् अभयं सत्वसंशुद्धि आदि स्वाभाविक रूप से उसमें हो।

पूज्य लक्ष्येश्वर आश्रम जी महाराज ऐसे ही ब्रह्मनिष्ठ सन्त है, जिनका संश्रय प्राप्त कर कलिकलुषित, त्रितापदग्ध गूढ़ प्राणपोषण परायण जीव भी अद्वैत ज्ञान वारि में स्नात

हो सदा के लिए जन्ममृत्युरूपि महारोग से छूट कर स्वयं भी अगणित व्यक्तियों को अपने ज्ञानवारि से शरीरपात पवित्र करता रहेगा।

हमारे आदरणीय पवन जी अत्यन्त ही भाग्यवान् हैं जिन्हें ऐसे वीतराग-ब्रह्मनिष्ठ-महापुरुष का संसर्ग मिला है। समुद्र में अथाह जल होता है किन्तु व्यक्ति उतना ही ले पाता है जितना बड़ा उसके पास पात्र हो। ऐसे ही ज्ञानसिन्धु के आश्रय पूज्यस्वामी जी के श्रीचरणों में नित्य उपस्थित हो उस सिन्धु में मज्जित हो आप पवित्र होते रहते हैं। जो कि श्रद्धा का ही द्योतक है। कहा भी गया है, 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'।

साथ ही मैं परमादरणीय पं. श्रीभद्रनारायण पाठक जी को साधुवाद देता हूँ कि चतुर्थ भाग का टीकाकार वे श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन जो कि ब्रह्म प्राप्ति का हेतु है अनायास ही सम्पन्न कर रहे हैं।

शास्त्र कहता है—

श्रोत्रेण श्रवणं तस्य वचसा कीर्तनं तथा।
मनसा मननं तस्य महासाधनमुच्यते।।

इस टीका के माध्यम से वे अपने आपको एक महासाधना से जोड़ रहे हैं। मैं सर्वान्त करण से उनके मंगल की कामना करता हूँ।

इति
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्
विदुषांवशंवदः
डॉ. श्रीदिव्यचेतन ब्रह्मचारी
दत्तात्रेयमठ-नारदघाट,
वाराणसी।

पूज्य सद्गुरु देव के एक साधक के नाम तीन पत्र

ॐ

हरिद्वार से
वैशाख शु० ८

स्वस्ति श्री जयगोपाल बोहरा सस्नेह सपरिवार को नारायण स्मरण। पत्र मिला.
मंगल समाचार से प्रसन्नता हुई। यहाँ सब आनन्द है, मैं कल ही आया।
ज्ञान की व्यापकता, एकता और पूर्णता जानना परम पुरुषार्थ है।
इस ज्ञान को अन्दर उतारो अपने में खोल देखो, अन्तर्मुख वृत्ति में यह होगा.
मुख्य भजन यही है सभी मन्त्रों का मुख्य अर्थ यही है, यही आत्मा और परमात्मा है.
भजन में रस-शान्ति आना आवश्यक है, परम श्रद्धा सफाई लगन
जितेन्द्रियता साधन में आवश्यक हैं। जो शिव शिव ज्ञान रूप से गुरु रूप से
सर्वत्र पूर्ण हैं यह दिखना साधन का फल है. राम. कृष्ण. शिव. दुर्गा. गणेश
सब एक ज्ञानानन्द पिण्ड हैं. भेद माया ने किया है. यह चेतन का विलास है.
खेल है, एक समय सब एक हो जाता है. जितना मन भजन, ध्यान से अन्तर-
मुख होगा उतना प्रभु की अनुभूति होगी। मन के शोधन और शान्त करने
में देरी और मन्दता है स्वप्रकाश में न देरी होती है न मन्दता।
अपने को और जगत रचयिता को जानो. पहिचानो वह दूर नहीं है अति निकट है
वह सर्व प्रकाशक सर्व कर्ता है. उसकी सहायता से ही जगत का सर्व कार्य चलता है.
विचार शक्ति आने पर दिखेगा. वही आनन्द सिन्धु है. उसी के आनन्द कण से
सब जीव जी रहे हैं। वह जगत में है और असंग है जीव तत्त्व भी वही है.
वैसा ही है. माया में अपने सत्य स्वरूप को भूल गया है देह गेह में भटक
रहा है सत्य प्रकाश पाकर माया और माया का कार्य जगत झूठा समझेगा.
ज्ञान और सुख में क्या बन्धन है क्या भेद है वह एक अखण्ड ही है.
मनन करो जब तक यह रूप न दिखे तब तक भजन ध्यान करना आवश्यक
है. उस स्तर में पहुँचने पर तो वही परम विश्राम है श्रम नहीं है।
सत्व गुण में ज्ञान और सुख का अनुभव होता है. रजो गुण कर्म है और तमो गुण
अज्ञान है, इन तीनों का द्रष्टा आत्मा सर्व साक्षी है वही हमारा स्वरूप आत्मा है.
उसे पकड़ने का प्रयत्न करो। वही शिव. हम में तुम में सब में है.

गृहस्थाश्रम कर्मयोग का स्थल है, अन्दर ज्ञान ऊपर व्यवहार कर्मयोग का होवे, इसके आदर्श राम, युधिष्ठिर आदि महापुरुष हैं, यह सनातन महापथ है।

इस पर चलने में गिरने का भय नहीं है इसमें जनता सेवा परिवार सेवा भी साधन ही है, मोह को छोड़ कर चलना कर्तव्य का ज्ञान शास्त्र से लेना, शास्त्रों का अर्थ ही रामायण महाभारत आदि में ऋषियों ने चरित्रों में मिलाकर लिखा है उनकी स्वाध्याय इसे पथ प्रदर्शक हैं। श्री हरिः / आत्म समर्पण भक्ति का अन्तिम अंग है जो ज्ञान का विजय है और संन्यास भी यही है।

सभी का

लक्ष्येश्वरानन्द

ॐ

हरद्वार से
श्रावण शु. ४

स्वस्ति श्री चि. डा. विजय गोपाल सस्नेह नारायण, तथा सभी परिवार को उचित नारायण। आपका दूसरा पत्र मिला। प्रसन्नता हुई। यहाँ आनन्द है, आपका प्रेम भाव खूब है।

स्वकर्म ईश्वर पूजा है, स्वकर्म ईश्वर की आज्ञा है, यह गीता आदि शास्त्र बताते हैं- उनका स्वाध्याय, समय और शक्ति के अनुसार करना चाहियें। गीता में आया है- "जिस प्रभु से जगत बना है चलता है जो जगत में पूर्ण रूप से व्याप्त है अपने विहित कर्मों से उसको पूजकर मानव जगत में सफलता पाता है"। पहले हमारे जैसे कर्म थे वैसे साथी, सामग्री, मति, गति राजा राम ने हम को सबको देता है, दिया है, अब हम जैसे कर्म करें गे वैसा ही फल जीवन, साथ सामान आगे मिलेगा। उन्नति और अवनति हमारे कर्म पर निर्भर है। उन्नति देने वाले कार्य को धर्म- स्वधर्म- स्वकर्तव्य कहते हैं, अवनति कारक कर्म पातक- जितने वाले कहे गये हैं। भगवत भक्ति- प्रेम, अर्पण मानव का परम धर्म कहा गया है, प्रेम प्राप्त हो तो बड़े पुण्य का फल है। भगवत् प्रेम से मन के मैल धुल जाते हैं

प्रेम पाने के साधन - नव प्रकार की साधन रूपा भक्ति है। पहली भक्ति- भगवान की महिमा, उनके विशेष गुण- दयालुता, पूर्णता, न्यायकारिता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिता आदि

को सुनना - यह श्रवण भक्ति है, श्रीमद्भागवत, रामायण शिवपुराण, देवी भागवत आदि से व्यासजी ने पूर्ण वर्णन किया है उन्हें सुनना और परिवार को सुनाना चाहिये। इससे श्रद्धा का अवलम्ब पुष्ट हो जाता है मन को साधना का बल मिलता है। प्रसन्न रहो, निर्भय रहो पवित्र रहो। ॐ॥

लेखिका - राजेश्वरी झा

ॐ

हरद्वार से
आषाढ़ कृ. १४

स्वस्ति श्री चिरंजीवी डा. विजयगोपाल बोहरा सस्नेह नारायण पत्र आपका मिला समा-
चार पाकर प्रसन्नता हुई, आपका प्रेम-श्रद्धा बहुत है. मैं भी यहाँ आपका स्मरण
करता हूँ शुद्ध स्नेह कल्याण का हेतु होता है, भक्ति मार्ग मे प्रेम महत्व है. ज्ञान
भी प्रेम की प्रज्वलित होकर बनता है. ईश्वर गुरु और आत्मा ये तीनों सच्चिदानन्द एक
और व्यापक हैं. यह ज्ञान जितना होता रहता है उतना ही जीव शान्ति-मुक्ति को निकट
होता रहता है, भजन-पूजन आदि उसके साधन हैं, सत्शास्त्र और सत्संग साधन
बताते हैं, श्रद्धालु-पुरुषार्थी उससे लाभ पाते हैं, सनातन धर्म सब प्रकार के
अधिकारियों को धर्ममार्ग बताते हैं, पिता-पुत्र, पति पत्नी इनमें भी ईश्वर का
स्वरूप है, वही पिता माता बनकर जन्म देता है पालता है, वही राजा बनकर
रक्षा करता है, सब में भगवान की भावना करना यह ज्ञान का मार्ग है, सुमकर्मों-
का भोग भगवान स्वीकार करता है, वह सबका पास रहता ही है समर्थ है सर्वज्ञ
न्यायकारी है. जीव उसी का अंश है नित्य-चेतन और आनन्द स्वरूप है.
जितना अपना मन शुद्ध भजन-साधनों से होता रहता है उतनी ही उस-
की अनुभूति होती रहती है, भक्त प्रेम बढ़ता रहता है. सत्ता-सुख और
ज्ञान सर्वत्र पूर्ण हैं इनकी पहचान-अन्दर अनुभूति करना साधन है
यही सच्चिदानन्द शिव है यही आनन्द कन्द कृष्ण हैं यही सबमें
रमे राम हैं. यही शक्ति-गणेश-सूर्य आदि के रूप में सर्वत्र ईश्व-
रीय कार्य कर रहे हैं, आपके अन्दर और बाहर वह पूर्ण हैं
साकार सगुण बनकर चेतन ही लीला कर रहा है हमें अपना प्रभाव
दिखाकर ज्ञान करा रहा है वही सत्य है उसका ज्ञान कराना शास्त्र-
सत्संग से हमारा परमधर्म है। श्रद्धा से ईश्वर को जानकर ज्ञान हो जाता
है ईश्वर है यह बोध हो जाता है, ... और सद वचनों से सि-
... है आकांक्षा ज्ञान-ईश्वर की अनुभूति होने लगती है.

भजन-पूजन और ध्यान समयानुसार करते रहना चाहिये
जानकी जी और [illegible] का आदर आप पर रहता है इनकी सेवा भी आवश्यक है,
मेरा आप पर कोई कृपा नहीं है, मैं आपकी सुजनता से ही लिखता हूं:
पत्र प्रेम से लिखा है. आपके माता पिता जी को तथा शिवशंकर और
विजयश्री तथा सौभाग्यवती स्नेह को उचित नारायण और प्यार;
महन्त जी तथा संजय को तरफ से भी उचित नारायण।
और सर्व आनन्द। शिवम्।

आप [illegible] लक्ष्मेश्वर [illegible]



प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
ज्योतिष विभाग
सं.वि.ध.वि. संकाय
का.हि.वि.वि., वाराणसी

बी. १/७१, बी.एच.यू.,
लंका रोड, अस्सी,
वाराणसी-५
मो. : ०९४५२१९७४०६
०५४२-६७०१९९३

शुभाशंसा

चिन्तामणि प्रभा वस्तुतः चिन्ताहरणमणि प्रभा है। योगीप्रवर स्वामी लक्ष्येश्वराश्रम जी ने निगमागमसम्मत समस्त व्यवहारिक सिद्धान्तों के साथ साधनामार्ग के राहियों के लिए जिस तरह क्रमिक विकास सोपान को अपने प्रयोग धरातल पर व्यक्त करते हुए, अपने अनुभवों को संकल्पित किया, यह दिव्य तथा दुर्लभ है। पुरूषार्थचतुष्टय सिद्धि की दृष्टि से यह ग्रन्थ अद्धितीय स्तम्भ है। स्वामीजी ने अपने प्रयोग तथा अनुभव संस्कृत में लिखे थे। सारे सन्दर्भ विखरे हुए थे। डॉ. भद्रनारायण पाठक जी ने उन्हें संकलित कर हिन्दी अनुवाद तथा स्थान-स्थान पर विशेष समीक्षा कर इसे सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय बना दिया है, अतः डॉ. पाठक विशेष धन्यवाद एवं अभिनन्दन के योग्य हैं, जिनके उद्यम से यह चिन्तामणिप्रभा चिन्ताहरणमणिप्रभा के रूप में आपके सामने है। इस सर्वलोकोपकारी विशेष रूप से धर्मपूर्वक जीवन यापन की कामना वाले सुधी पाठकों के लिए यह चतुर्थभाग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। 'आत्मनः प्रतिकूलानि न परेभ्यो समाचरेत्' के सिद्धान्त को जीने वाले स्वामीपाद तथा इस महानग्रन्थ के अनुवादक तथा समीक्षक डॉ. पाठक जी को भूयशः श्रद्धासुमन एवं अभिनन्दन अर्पित करते हुए परमहर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। 'असतो मा सद्गमय' तमसो मा ज्योतिर्गमय' तथा मृत्योर्मामृतं गमयं का यह जीवन्त दस्तावेज लोकोपकारी हो, इसी कामना के साथ विद्वद्वशंकरः—

सच्चिदानन्द मिश्र

प्रशंसा-पत्रम्

इस संसार में प्रायः सभी प्राणी अपना पेट भरने के लिए तथा अनुभूत दुःख नाश के लिए ही अपने-अपने सामर्थ्याऽनुसार प्रयत्न किया करते हैं यह बात लोक में प्रसिद्ध है अतः इस वक्तव्य में प्रमाण देने की कथमपि आवश्यकता नहीं है। किन्तु विचार करने पर इतना ही कर्तव्य प्रत्येक प्राणियों के नहीं होते हैं, अपितु अपनी सामर्थ्य एवं विवेक के तारतम्य के अनुसार सर्वथा इष्ट-इष्टतर-इष्टतम पदार्थों की प्राप्ति के लिए 'अहं सुखीस्याम्' इस आकांक्षा के अनुसार निरन्तरप्रयत्नशील रहा करते हैं, और उपादेय की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले प्रयास के समान प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष स्थूल-सूक्ष्म सर्वदुःखों की पूर्णतया शाश्वत निवृत्तिक के लिए भी निरन्त प्रयास किया ही जाना शिष्टसम्प्रदाय की परम्परा रही है। इन इष्ट के साधनों में से कुछ साधनों तक का परिज्ञान ही सांसारिक प्राणियों को रहा करता है सर्वसाधनों का ज्ञान नहीं, अन्यथा कोई भी प्राणी कभी भी दुःख से समन्वित अथवा सुखिता से विमुख नहीं हो पाएगा। इसी प्रकार जितने भी द्वेष्यविषयदुःख हैं उन सभी दुःखों को पूर्णरूप से तथा सदा के लिए नाश तभी किया जा सकता है जब उन-उन दुःखों और उन-उन-दुःखोत्पादकसाधनों को यथाऽर्थरूप से जाने तथा सकारण उन दुःखों के विनाशक साधनों को वास्तविक रूप से जाने। किन्तु दुःख की बात तो यह है कि जिस प्रकार रोग से व्याकुल हुआ रोगी, रोग प्रयुक्त होने वाले अपने असह्य पीड़ा की निवृत्ति चाहता हुआ भी निवर्तक उपाय के परिज्ञानाऽभाव में किं कर्तव्य होकर जिज्ञासा को जगाए रखता है। उसी प्रकार चित्त में निरन्तर पीड़ा को पहुँचाने वाला या चित्त को सर्वदा सन्तप्त करने वाला दुःख तथा दुःख कारणी भूत आत्माऽनबोधाऽऽत्मिका अविद्या एवं अविद्यामूलक अस्मितास्वरूपचित्त में चैतन्य को अङ्गीकार किया जाना रूप अभिमान-राग-द्वेष और मरणत्रासाऽऽख्य अभिनिवेश है। अविद्या के संसर्ग से दूषित होने के कारण ही प्राणियों के हृदय में उसमें भी विशेष रूप से मनुष्यों में अभिव्यक्तरागद्वेषाऽऽदिकों के पूर्वकाल में नियतरूप से वर्त्तमान देहव्यासना लोकवासना तथा शास्त्र (ज्ञान) वासनाएँ। (वासनाऽऽत्मक संस्कार) होती हैं जो कि प्राणियों के स्वरूपाऽभिव्यक्ति का पूर्णतया प्रतिबन्धक है। इसीलिए योग सूत्र में कहा गया है—'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' इतरत्र आत्मा संसारतादात्म्य दशा में वृत्तिसारूप्यम् = विषयाऽऽकारज्ञानाऽऽत्मिकावृत्ति की तुल्यता = समानता आत्मा में बनी रहती है। अर्थात् जब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप से च्युत होकर विषयाऽऽकाराकारित स्वरूपों में इस प्रकारलीन हो जाता है जिस प्रकार दूध में पानी, एवं जल में लवण, जिसमें वह अपनी स्वरूपसत्ता को इस प्रकार आच्छादित कर लेता है कि जिसके लिए ध्यानयोग समाधि के द्वारा ही पुनः वह स्वरूप विवेच्य हो पाता है। जब अविद्या के कारण बुद्धि और आत्मा में अभेद भ्रम की ग्रन्थि पर जाती है तब पुनः उस ग्रन्थिका आगे बढ़ना जारी रहता है जो अन्नमय

पञ्चकोशों से तादात्म्यापन्न हुआ ज्ञान के बाह्याऽऽभ्यन्तरवर्ति दोनों ज्ञान करणों से अभिन्न होता हुआ स्थूल अन्नमय शरीराऽऽदिकों में वासना की अभिव्यक्ति में निमित्त भाव को भजता है। यद्यपि आत्मवस्तु आकाशतुल्य सर्वथा असंग है। अयस्कान्तमणि के सन्निधान मात्र से जिस प्रकार लोहद्रव्य में क्रिया उत्पन्न होती है और लोहगत उस क्रिया का निमित्त अयस्कान्तमणि (चुम्बक) ही माना जाता है अन्य नहीं उसी प्रकार अविद्या और अविद्याकार्य में उत्पन्न प्रवृत्ति आदि का निमित्त चैतन्यसान्निध्य ही शास्त्र में माना गया है। इस प्रकार साक्षात् अथवा परम्परया आत्मतादात्म्य को प्राप्त करके ही शरीरवासनाऽऽदिकों का प्रादुर्भाव इस दुःखमय संसार में बाधने के लिए हुआ करता है। शरीर वासना के अन्तर्गत सुन्दर से सुन्दर अन्नपानाऽऽदि सेवना तद्द्वाराबलवीर्याऽऽदि सम्पादन शारीरिक अलङ्काराऽऽदिकों के द्वारा शरीर की इन्द्रिय मन आदि के दृढ़ता विषय कामनाएँ अभिव्यक्त हुआ करती है। यह वासना बलवीर्याऽऽदि तथा सौन्दर्य आदि के द्वारा चित्त को अपूर्णता की दशा में क्लेश पहुँचाती रहती है और जब सर्वं खल्विदं ब्रह्म की विरोधी वासना प्रकट होती है तब देह वासना समाप्त हो जाती है उसी प्रकार लोकवासना जो कि द्वैतदशा में चित्त की त्रासिका है अद्वैताऽऽत्मविज्ञान से इसकी भी निवृत्ति हो जाती है, तथा मलिन शास्त्रवासना जो कि द्वैतदशा में व्यक्ति को दुःखित करने वाली हुआ करती है अद्वैतदशा में इन सभी दुःखों एवं दुःख साधनों का व्यपोहन हो जाता है। इस प्रकार अद्वैत आत्मा का अनवबोध ही सर्वदुःखों एवं दुःख साधनों के उदय का मूल है और द्वैताऽऽत्म विज्ञान ही उसका निवर्तक है। पूज्य स्वामी जी ने अपने ग्रन्थ में उसी आत्मविज्ञान के उदय का मार्ग प्रशस्त किया है। प्रकृत ग्रन्थ के व्याख्याकार हमारे अग्रज पूजनीय पं. भद्रनारायण पाठकजी स्वामिचरण के हार्द अभिप्राय को अपनी शास्त्रीय अभिप्राय से संयोजित सर्व साधारण के लिए गंगा के समान उपकारक बना दिये हैं जो कि सर्वथा प्रशंसनीय है।

चित्तनारायण पाठक
प्राचार्य,
श्री निर्मल सं.वि.
लाहोरी टोला, वाराणसी

शुभाशंसा

भारत के अतीत की सभ्यता और सांस्कृति को आत्मसात करने वाली, अपौरुषेय व अक्षुण सारस्वत ज्ञानप्रवाहरूपिणी अदिति की अनन्त अन्त:सलिलाओं की संवाहिनी तथा वर्तमान की भावनात्मक प्रतीकात्मिका भौतिक मूर्तियों की मनस्सरिता में ज्ञान के महाज्योति स्फुरण हेतु विश्ववन्दित आर्य साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ वेद ही वह सर्व जनोपयोगी अजश्र महाश्रोत है जिसके ध्यानधारणात्मक अवगाहन व अनुधाबनोपरान्त गंगोत्री के हिमवाह सदृश वेदोत्तर भावना की मूल ज्योति का दीर्घयुगवाहित, सुनियन्त्रित, परिनिष्ठित दीपन, प्रकटन एवं प्रस्फुटन सकल भुवनमण्डल में प्रतिष्ठित, आलोकित एवं दृष्टिगत हो रहा है।

क्रियात्मक देववाद ही अनन्त सनातन साहित्य का प्रधानतम उपजीव्य परिलक्षित होता है, जिसमें क्रिया और भाव दोनों की समान प्रतिष्ठा है। वहिरावृत्त क्रिया और अन्तरावृत्त भाव में चेतना का असीम अनुगुम्फन है। धी, ध्यान व चित्तता क्रिया का जीवन है। साधना और साध्य का सेतु ध्यान, एकतानता, शक्ति का आलोक, आत्मा, विश्व और भू:, भुव:, स्व: आदि लोकों के सायुज्य में पर्यवसान से आवेष्टित है। देव में शक्ति का स्वरूप एवं विभूति अनुध्येय है। निदिध्यासन धी भावप्रवणता एवं भावनात्मक देवता है। सम्पूर्ण भुवन की रक्षक शक्ति धीर से सम्पन्न धी का कर्म और प्रज्ञा के रूप में प्रस्फुटन सर्वत्र एवं सर्वदृष्टिगोचर है। यही तो प्रज्ञा के उन्मेष की उपलब्धि, विश्व की गोप्त्री शक्ति और दैवत वैभव है। जिसकी अनुशंसा ऋगवेद ने 'इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपा: समाधीर: पाकम् अत्राविवेश, कह कर की है।

आर्षचक्षु सम्पन्न पारम्परिक ऋषियों के सदृश ही प्रस्तुत ग्रन्थ 'चिन्तामणि' जो अद्भुत उपादेय ग्रन्थ है और जिसकी महत्ता को 'इदमित्थं' कर के कहना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि वह वेदप्राय शब्द समूह ग्रन्थ है। जिसके टीकाकार पूज्यप्रवर पं. भद्र नारायण पाठक जी की ज्ञानदृष्टि का भी हेतु आगम ही है। अपूर्व वैदिक निधियों की अनगिनत पारसमणियों की अज्ञानता व मूढ़तावश अवहेलना कर वर्तमान कालिक तकनीकी और वैज्ञानिक उपलब्धियों से ही अपनी स्वयं की पीठ ठोंक कर शूरमा बन जाने वाले युग में टीकाकार की मानसिक वेदना सर्वथा एकांगी व अप्रासंगिक नहीं है। वास्तव में पूरी सृष्टि को ज्ञान के आलोक से दीप्त, उद्दीप्त व प्रदीप्त करने वाली अजश्र श्रोतास्विनियों को सूखते हुए देखना आखिर किसे स्वीकार होगा? लेकिन यथार्थत: 'स्वयंधीरा: पण्डितं मन्यमाना:' और 'अन्धेनैव नीयमान यथान्धा:' के अनुगामियों द्वारा यही तो घटित हो रहा है।

समस्त ज्ञान-विज्ञान और सभ्यताओं की जननी के प्रति उपेक्षा और अनादर के अकल्पनीय दुष्परिणामों से बचने का एकमात्र उपाय अपनी मूल संस्कृति की तरफ लौटना ही है, जिसके परिणामस्वरूप हम न केवल सर्वोन्नति की पराकाष्ठा प्राप्त करेंगे बल्कि अपने सांस्कृतिक वैभव को नैरन्तर्यता प्रदान कर पाने में भी सफल होंगे।

अनगिनत आधुनिक मिथ्याडम्बरों व मिथ्याचारों के घटाटोप से कालकवलित हो रही सांस्कृतिक विरासतों के दुष्परिणामों का परिलक्षण मूल्यह्रास और नैतिक अधोपतन के रूप में प्रतीत होने लगे हैं। श्रीमान् टीकाकार महोदय भर्तृहरि के कथन कि 'समस्त वेद वेदांगों का मूल निहितार्थ आध्यात्मिक समोन्नति ही है' से सहमत होने लगते हैं। लोकमंगल कामना का यह प्रयास सराहनीय ही नहीं स्तुत्य भी है। सर्वेभवन्तु सुखिन: की पुनर्स्थापना का इससे अच्छा प्रयास भला दूसरा क्या हो सकता है?

डॉ. अमर बहादूर सिंह
एम.ए. (अंग्रेजी), पी.एच.डी.
कबीरनगर, वाराणसी

गुरु वंदना

(लक्ष्येश्वरं प्रणाम्यहम्)

लक्ष्यं वरम् लक्ष्यं परमं लक्ष्येश्वरं प्रणाम्यहम्।
श्री सद्गुरुम् मद्गुरुवरम् चिद् गुरुम्-ब्रह्म नमाम्यहम्।
लक्ष्येश्वरं प्रणाम्यहम्।।

योगेश्वरम् ज्ञानेश्वरम् सिद्धेश्वरम् बुद्धेश्वरम्।
ध्यानेश्वरम् यज्ञेश्वरम् करूणेश्वरम् वरदेश्वरम्।
देवेश्वरम् विश्वेश्वरम् सर्वेश्वरम् भजाम्यहम्।
लक्ष्येश्वरं प्रणाम्यहम्।।

गुरुम् तत्वम् परमं तत्त्वम् निराकुलम् निरंजनम्।
नित्यम् सत्यम् परमं तत्वम् ज्ञानं निलयम् तारकम्।
परात्परम् ज्ञानात्परम् अक्षरम् शिवरूपिणम्।
गुणातीतम् कलातीतम् ज्योतिरूपम् नतावयम्।
लक्ष्येश्वरं प्रणाम्यहम्।।

महीपाल सिंह
(कुरालसी/हरिद्वार)

विषय-अनुक्रमणिका

❖❖❖

ॐ

चिन्तामणिः

संवेद्येन हृदाकाशे, मनागपि न लिप्यते।
यस्यासावजडासंवित्, जीवनमुक्तः स उच्यते।।१।।
यदा न भाव्यते किञ्चित्, निर्वासनतयात्मनि।
बालमूकादिविज्ञान, मिव च स्थीयते स्थिरम्।।२।।
तदा जाड्यविनिर्मुक्त, मसंवेदनमाततम्।
आश्रितं भवति प्राज्ञो, यस्मात् भूयो न लिप्यते।।३।।

(अन्नपूर्णोपनिषद् ४)

जब साधक के हृदयाकाश में संवेदनाओं का किञ्चित् (जरा भी) लेप नहीं होता है तब जानना चाहिये कि वह जीवन्मुक्त है। क्योंकि यह संवेदना जो मन का व्यापार है वह जड़रूपा होती है और उस जड़रूपा प्रकृति का जब आत्मा में लय हो जाता है तब हृदयाकाश (आत्मा) अपने यथार्थ स्वरूप में दृष्ट (दर्शन) (शुद्ध चेतन रूप प्रत्यक्ष) हो जाता है, जो साधक के स्वात्मा का स्वरूप होता है॥१॥

जब साधक वासना पर विजय प्राप्त कर लेता है और हृदयाकाश में कोई भी भावना (व्यापार) नहीं होता अर्थात् वह व्यापार रहित हो जाता है जैसे कोई गूंगा छोटा (अबोध) बच्चा हो तब वह 'अहं ब्रह्मास्मि अयमात्मा ब्रह्म' श्रुति वाक्यजन्य लक्षित अर्थ (आत्मा में) स्थित और स्थिर हो जाता है। यथा—किसी व्यक्ति का खोयी वस्तु मिल जाती है तो उसका तद्विषयक (वस्तुविषयक) अन्वेषण रूप व्यापार भी अपने आप शान्त (लय-नष्ट) हो जाता है॥२॥

तब उस साधक के जाड्यता से विमुक्ति हो जाने पर असंवेदनता (व्यापार शून्यता) व्यापक रूप से हृदय में व्याप्त हो जाता है अर्थात् वह सर्वतः व्यापार रहित स्थिति को प्राप्त कर जाता है और किसी भी प्रकार के अन्य वासना जन्य व्यापार में लिप्त नहीं होता है, क्योंकि वह तो सर्वथा निर्लेपभाव को प्राप्त कर लेता है। 'लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' (गीता) वह जैसे कमल के पत्ते जल में रहकर भी जल से लिप्त (भींगता नहीं) नहीं के समान होता। उसी प्रकार वह सभी सांसारिक कार्य-व्यापार करते हुए भी (कर्तृत्व-भोक्तृत्वाभाव के कारण) उसमें आसक्त नहीं होता॥३॥

विशेषं सम्परित्यज्य, सन्मात्रं यदलोपनम्।
एकरूपं-महारूपं, सत्तायास्तत्पदं विदुः।।१।।

कालसत्ता-कलासत्ता, वस्तुसत्तेयमित्यपि।
विभागकलनां त्यक्त्वा, सन्मात्रैकपरो भव।।२।।

यज्जगद्भासकं मानं, नित्यं भाति स्वतः स्फुरत्।
स एव जगतः साक्षी, सर्वत्मा विमलाकृतिः।।३।।



अध्वर्यव यजुभिः-१००, ऋग्भिर्होत्रं-२१, उद्गात्रं सामभिः-१०००, ब्रह्मत्वं-अथर्वभिः-९। (वायुपु.)

विशेषताका परित्याग कर सभी प्रकार से निर्लेप और सभी वस्तुओं के अधिष्ठान सत्ता जो अद्वितीय तथा व्यापक पद है वही ब्रह्म है ऐसा जानो।।१।।

कालसत्ता (भूत-वर्तमान और भविष्यत्), कलासत्ता (षोडश कला) अथवा सभी वस्तुओं की सौन्दर्यादि, ये ब्रह्मवस्तु की सत्ता है। ब्रह्मसत्ता सर्वाधिष्ठान होने के कारण अन्यसत्ता (सांसारिक सत्ता) नहीं है, ऐसा ज्ञान सुदृढ़ करके सकलभेद और संग्रह की बुद्धि का पत्याग कर सत्स्वरूप में तस्थ हो जाओ। क्योंकि वही तुम्हारा स्वात्म स्वरूप है।।२।।

यह जो जगत् की प्रतीति हो रही है और जिसके स्फुरण से यह नित्य रूप से ज्ञात हो रहा है वही जगत् का साक्षी है जिसकी आकृति (स्वरूप) विमल (निरञ्जन) है और वह सभी पदार्थों-वस्तुओं में आत्मा स्वरूप से स्थित है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' श्रुति वाक्य को स्मरण-मनन कर उसे (ब्रह्म को) सर्वात्मा रूप से जानो।।३।।

वेद शब्द 'विद् विज्ञाने' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ क्रमशः-ज्ञान-लाभ (प्राप्ति)-विचार और सत्ता होता है। वेद ज्ञान अर्थ वाला इसलिए है कि वेद के द्वारा कर्म-उपासना और परमार्थ (आत्म) बोध होता है। इसका लाभ इसलिए कि इसके द्वारा अर्थ-धर्म-काम और मोक्ष का लाभ होता है। वेद का विचार अर्थ इसलिए कि

स्मृतयो बहुरूपाश्च, दृष्टाऽदृष्ट प्रयोजनाः।
तमेवाश्रित्य लिङ्गेभ्यः, वेदविद्भिः प्रकल्पिताः।।

(वाक्यपदीय ब्र. १/७)

अङ्गोपाङ्गनिबन्धनाः—

विद्याभेदाः प्रतायन्ते, ज्ञान संस्कारहेतवः।।

(वाक्यपदीय ब्र. १०)

स्मृतयः—

दृष्टार्थाः काश्चित्, यथा–गुरुरनुगम्यः।
अदृष्टार्थाः-अष्टकाः कर्त्तव्याः।।

वेद द्वारा अर्थात् उसके विचार पूर्वक कर्म से ही अभीष्ट फलोदय होता है। चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति विचार से ही प्राप्त होता है। 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्म', नेह नानास्ति किञ्चन' आदि वाक्यों पर विचार से ही लक्ष्यभूत ब्रह्म की प्राप्ति होती है। अतः विचार वेद है। सत्ता अर्थ इसलिए कि 'पुरुषऽएवेदं सर्वं यद्भूतं यच्चभाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानोयदन्नेनारोहति', 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर्जायमानो बहुधा विज्ञायते', 'यदयमात्मा', 'यदिदं खलु सर्वमात्मैव', 'अयमात्मा स्वयं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति', इशावास्यमिदं' इत्यादि बहुत ही श्रुति वाक्यों से परमार्थैक सत्ता का बोध हो पाता है भिन्न सत्ता की निवृत्ति हो पाती है। जिससे भ्रममूलक जगाद्भ्रान्ति की निवृत्ति हो पाती है। यजुर्वेद द्वारा अध्वर्यु की-१०० शाखां बोध, ऋग्वेद के द्वारा होत्र विधिरूप· २१ शाखा बोध, सामवेद द्वारा उद्गातृ १००० शाखा बोध और अथर्ववेद द्वारा ब्रह्मत्व ९ शाखा बोध होता है। इस प्रकार कुल ११३० कुल शाखाएँ हैं।

विद्या (वेद) के जो भेद (शाखाएँ) ऊपर कहे गये हैं वे ज्ञान को संस्कारित करने के हेतु हैं। (वाक्य.प. १०)

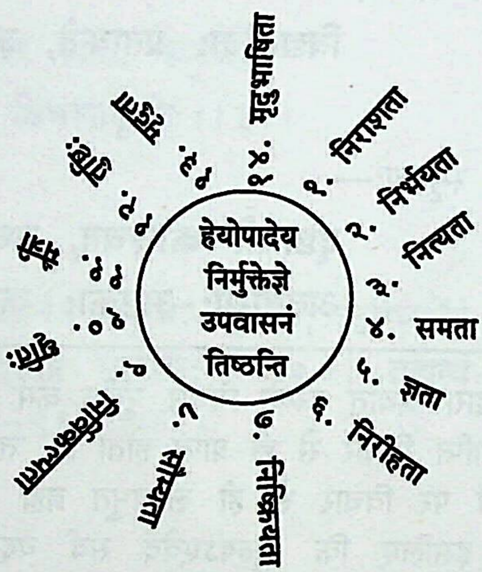
दृष्ट और अदृष्ट फल प्रयोजनवाली स्मृतियों की संख्या बहुत-सी हैं। उस वेद वचन का आश्रय लेकर उनके लिंग वचनों के द्वारा वेदवेत्ताओं ने उन स्मृतियों की प्रकल्पना वितान (विस्तार) किये हैं।

वेद के अंग और उपाङ्गों के निबन्धन दृष्टप्रयोजन वाला है यथा—ज्ञान की प्राप्ति के लिए 'गुरु के पास जाये' यह वेद निर्दिष्ट दृष्ट प्रयोजक वाक्य है। इसी तरह अदृष्ट प्रयोजक भी है यथा—'अष्टका (अन्वष्टका) श्राद्ध करे' यह अदृष्ट प्रयोजक वाक्य है। जिसका फल प्रत्यक्ष दिखाई दे वह दृष्ट प्रयोजक और जिसका फल अदृष्ट (प्रारब्ध) जन्य हो (दिखाई न दें) उसे अदृष्ट प्रयोजन वाला या अदृष्ट प्रयोजक वाक्य कहते हैं।

जयजन्मजराज्वाला, दाहदोषशशिप्रभे।
जय हार्दान्धकारौघ, निवारण[१] शशिप्रभे।।

(योग वासि. ३/१६/३७)

प्रज्ञानं ब्रह्म
अहं ब्रह्मास्मि
तत्त्वमसि
अयमात्मा ब्रह्म
} अस्ति



(महोपनिषद् ६/२९/३०)

हे देवि (सरस्वति) आप जन्म और जरा रूपी अग्नि की ज्वालाओं से उत्पन्न दाहरूपी दोष को शमन करने के लिये चन्द्रमा की प्रभा के समान हैं, आप की जय हो। आज आप हृदय की अज्ञानान्धकार राशि का निवारण करने के लिये सूर्य की प्रभा (प्रकाश) के समान हैं, आपकी जय हो। पक्षान्तर में चन्द्रप्रभा के समान हैं। (यो.वा. ३/१६/३७)

नोट—रविप्रभे पाठ ही संगत प्रतीत होता है।

जीवात्मा 'प्रज्ञानं ब्रह्मं' अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' तथा 'अयमात्मा ब्रह्म' श्रुति वाक्यों के द्वारा लक्षित अर्थ अकल-निरीह-निरञ्जन-निर्विकल्प ब्रह्म ही है। इन श्रुति वाक्यों का अभिप्राय जीवात्मा परमात्मा का आत्मना अभेद बोध कराना ही प्रयोजन है। अत: 'जीवो ब्रह्मैव नापर:' जीवात्मा ब्रह्म ही है न कि उससे भिन्न सत्ता वाला है, क्योंकि ब्रह्म सत्तातिरिक्तसत्ताशून्य जगत् है।

प्रसंग में निदाध के लिये ऋभु का उपदेश आद्याहार अपेक्षित है। हे निदाघ! जीवात्मा को हेय और उपादेय वस्तुओं के ज्ञान हो जाने पर ही निम्नलिखित जीवन्मुक्ति के हेतुभूत गुण में स्थिति होती है वह है—१. निराशयता, २. निर्भयता, ३. नित्यता, ४. समता, ५. ज्ञता,

१. रविप्रभे इति पाठान्तरम्।

पाणिनिः–गुरुः–उपवर्षः

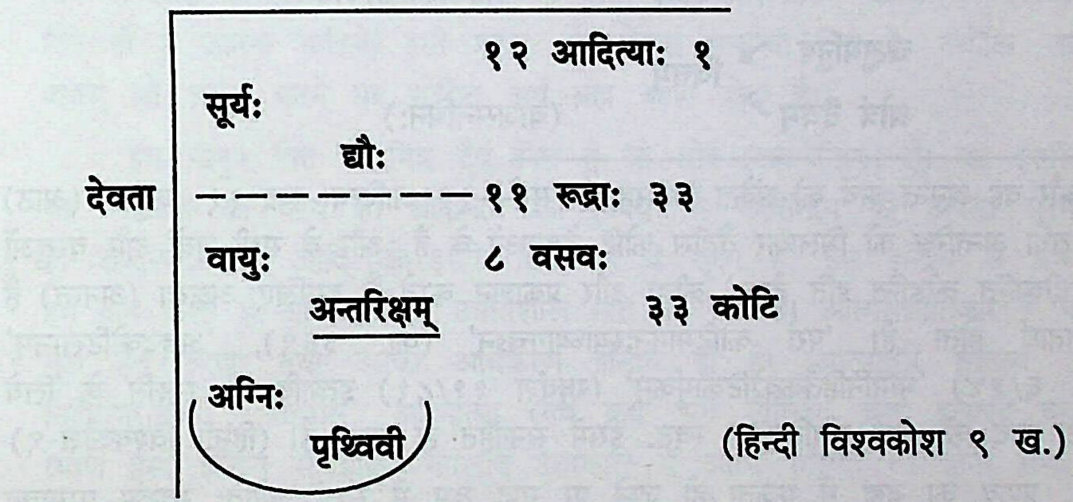
माता-दाक्षी। शलातुरः

जन्मस्थानम्

काबुलनद्याः सिन्धुसंगम निकटे साम्प्रतकाले-लाहुरः।

मुख्यो ग्रन्थः–अष्टाध्यायी–३९९५ सूत्राणि।

धातुपाठः–पृथक्-तत्र धातवः–१९४३। (हिन्दी विश्वकोश)



६. निरीहता, ७. निष्क्रियता, ८. सौम्यता, ९. निर्विकल्पता, १०. धृति, ११. मैत्री, १२. तुष्टि, १३. मृदुता, १४. मृदुभाषिता। अतः हे निदाघ! ये उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न सभी वासनाओं से विहीन तथा हेयोपादेय से मुक्त ज्ञानी पुरुष रहते हैं।

पाणिनि ऋषि के गुरु का नाम उपवर्ष था। इनकी माता का नाम दाक्षी था। इनका जन्म स्थान-शलातुर नामक स्थान था जो कावुल नदी और सिन्धु नदी के संगम तट स्थित था। वर्तमान में उस स्थान का नाम लाहुर (लाहौर) है। पाणिनि के मुख्य ग्रन्थ अध्याध्यायी है, जिसमें ३९९५ (तीन हजार नौ सौ पंचानवे) सूत्र हैं। इन्होंने धातुपाठ नामक ग्रन्थ की रचना अलग से की है, जिसमें—१९४३ (एक हजार नौ सौ तिरालीस) धातुओं का संग्रह है।

देवताओं की कोटि तैंतीस कही गयी है, कोटि शब्द मार्यादा-पराकाष्ठा का वाचक भी है और इसे श्लेष अर्थ में ग्रहण करने पर करोड़ (संख्या) वाचक भी होगा। अन्यत्र 'शतं सहस्रं कोटिश्च सर्वमक्षय्य वाचकाः' कहा है। अतः अनन्त वाचक भी अर्थ उपस्थित होगा। अतः कोटि शब्द का अर्थ-प्रतीक चित्र में दी गयी ३३ (तैंतीस) कोटि का अर्थ श्लेषार्थ पराकाष्ठा-सीमा-मर्यादा तथा अनन्त (अक्षय्य) ही उत्तम है। प्रसंग में देवताओं की कोटि ३३ (तैंतीस)

नादः

ब्रह्मप्रणवसंयानं, नादोज्योतिर्मयः शिवः।
स्वयमाविर्भवेदात्मा मेघापायेऽशुंमानिव।। (नाद वि.उ.)

↗ मर्त्येष्वाविशन्।
अग्निर्देवेषु राजति, अग्निं धीभिः सपर्यत।।
↘ नों हव्यवाहनः, (ऋ. ५/२५/४)

चक्षुर्मानुषं ↘ वित्तम्
श्रोत्रं दैवम् ↗ (वाजसनेयिनः)

है और वह अनन्त अर्थ को संकेत कर रहा है। सूर्य—१२ आदित्य, रूद्र-११, वसु ८ (आठ) द्यौ तथा अन्तरिक्ष को मिलाकर तैंतीस कोटि देवताओं के हैं, और वे सभी भूतों और वस्तुओं में 'दीव्यन्ति क्रीडन्ति इति देवाः' क्रीडा और प्रकाशन करते हैं इसलिए अक्षय्य (अनन्त) हैं फलितार्थ होता है। 'परां कोटिमानन्दस्याध्यागच्छन्' (का. ३६९), 'अङ्गदकोटिलग्नम्' (रघु. ६/१४) 'भूमिनिहितैककोटिकार्मुकम्' (रघुवंश ११/८१) इत्यादि की सङ्गति के लिये कोटि शब्द की अर्थ संगतिकरण स्वतः इसमें समाहित हो जाता है। (हिन्दी विश्वकोश-९)

प्रणव का ब्रह्म में एकता हो जाने पर नाद रूप में स्वयं ज्योतिः स्वरूप परमात्मा शिव का आविर्भाव हो जाता है जैसे आकाश में बादल के छट (हट) जाने पर स्वयं भगवान् सूर्य नारायण प्रकाशित हो उठते हैं। (नाद वि.उ.)

अग्नि मर्त्य (सृष्टि-जगत्) में प्रविष्ट हुए हैं, जो सृष्टि में उष्मा का तथा उदर में पाचन क्रिया सम्पन्न होने का जो अनुभव करते है वह अग्नि की ही उपस्थिति का अनुभव करते हैं। वही अग्नि देवताओं में भी है। देवता इन्द्रियाँ भी है। क्योंकि 'द्योतत्ते प्रकाशते विषयार्थान् यस्मात्तस्मात् ते देवाः' ये इन्द्रियाँ जीवात्मा के विषयरूप अर्थ को प्रकाशित करती हैं इसलिए ये देव है। उसकी (अग्नि की) हम बुद्धि रूप से अनुभव करते है, क्योंकि बुद्धि के द्वारा ही संगृहीत विषयभूत अर्थों को आत्मा (जीवात्मा) के लिए समर्पित करते हैं इसलिए यह बुद्धि हव्यवाहन है। हव्य इन्द्रियों द्वारा बुद्धि के प्रति प्रक्षिप्त (समर्पित) विषयरूप अर्थ है और उसे प्राप्त कर बुद्धि आत्मा को समर्पित करती है इसलिए वे हव्य वाहन है। इन्द्रियाँ और बुद्धि हव्य वाहन है। इसी प्रकार देवता (इन्द्रादि) पक्ष में भी कल्पनीय अर्थ की संगति समझना चाहिये। (ऋ.वे. ५/२५/४)

यह वाजसनेयी शाखा वालों से सम्बन्ध रखता है। चक्षु (नेत्र-आँख) मानवीय (मानव सम्बन्धी) वित्त (सम्पदा) है, क्योंकि चक्षु के व्यापार द्वारा सुन्दर-असुन्दर रूपों का ग्रहण

ब्रह्मँस्त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसवो
वरुणोसि सत्योजा इन्द्रोसि विशौजा रूद्रोसि सुशेवः।

(यजुवे. १०/२८)

होता है। वह सुन्दर रूपों को ग्रहण कर क्रमशः मन-बुद्धि-अहंकार के माध्यम से आत्मा को समर्पित होता है। चक्षु द्वारा समर्पित अर्थ मानुष सांसारिक (सुख) वित्त ही होता है। वित्त से वित्त का अर्जन (संग्रह) होता है अतः चक्षु और उससे अर्जित सुन्दरस्वरूप भी वित्त ही है जानना चाहिये। इसी प्रकार श्रोत्र देवता सम्बन्धी वित्त है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' वाक्य को श्रवण करने पर द्योतित अर्थ ब्रह्म ग्रहण होता है।

इस मानुष वित्त से भिन्न दैव वित्त है जो श्रोत्र (श्रवणेन्द्रिय) है। वह इसलिए कि यह आकाश का कार्य है। श्रोत्रेन्द्रिय का विषय भी चक्ष्वेन्द्रिय की अपेक्षा सूक्ष्म होता है। शब्द-पद-ध्वनि आंदि जो इसके विषय हैं वे सूक्ष्म हैं, इस इन्द्रिय से श्रवण कर हम कर्म करते है और उत्तरोत्तर उन्नतिशील गति को पाते है। आत्मसाक्षात्कार में परम्परया मूल हेतु श्रवण तथा उसका अधिकरण इन्द्रिय ही है। 'आत्मावारे श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासतव्यः', 'तत्त्वसि' 'अयमात्मा स्वयं ब्रह्म' सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य का श्रवण इसी इन्द्रिय से होकर मननादि उत्तरकाल में आत्म साक्षात् का होना सम्भव होता है। इसलिए आत्मदर्शन के मूल में हेतु श्रवणेन्द्रिय के होने के कारण यह दैव वित्त है यह कहना चाहिये। (वाजसनेयी)

हे ब्रह्मन्! तुम ब्रह्मा हो, क्योंकि (ब्रह्मात्मना सर्वं सृजतीति ब्रह्मा) तुम ब्रह्म रूप से सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करते हो। तुम सविता हो, क्योंकि (सर्वान् विश्वान् सवति यस्मात्तस्मात् सविता) तुम सम्पूर्ण विश्व का सवन (प्रसव) करते हो। तुमसे सत्य प्रकट हुआ है या होता है इसलिए तुम सत्य प्रसव (ज्ञान वा आत्म स्वरूप) हो। तुम वरुण हो, क्योंकि (स्वरश्मीनां संवरणात् सायंगतः सूर्यो वरुणः) तुम अपने रश्मियों (किरणों) को संवरण करके सायंकाल में अस्त होते हो इसलिए वरुण—सूर्य है। तुम सत्योजा हो, क्योंकि (सत्यं उन्नतं जायते यस्मात् तस्मात् सत्योजा) सत्य रूप से संसार का वर्धन करते हो। तुम इन्द्र हो, क्योंकि इन्द्र (आत्मा) रूप से सभी का प्रेरण कर्म करते हो। तुम विश्व को उन्नतशील वा वर्धन अथवा विश्व तुम से उन्नतशील—वर्धनशील होता है इसलिए तुम विश्वोजा हो। तुम रुद्र (रौति रोदयति अभक्तान् क्रूरकर्मणः यस्मात् तस्मात् रूद्रः) हो क्योंकि व्यापकर्म करने वाले भक्तिहीन नर को रूलाते हो। तुम मंगल रूप शिव रूप हो। इसलिए हम कल्याण हेतु तुम्हारी उपासना करते हैं यह अध्याहार वाक्य है। (यजुर्वेद १०/१८)

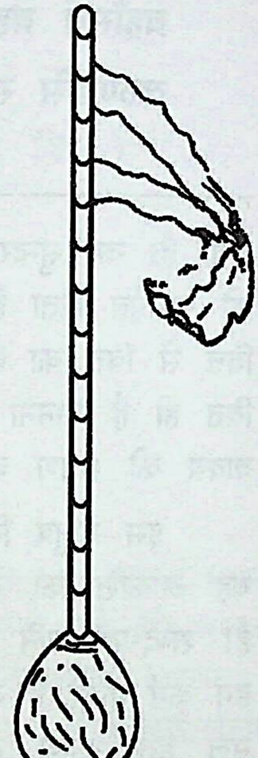
ॐ

आदित्या विष्णुर्मरुतः स्वर्बृहत्,
सोमोरुद्रो अदिति ब्रह्मणस्पतिः।।
अग्निरिन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा,
वायुः पूषा सरस्वती सजोषसः।

।।१८।।

ऋ. १०/६५/१

भक्तेषुप्रीतिमान्



उमा–प्रणव व्यत्यासरूपम्।

केतुं[1] कृण्वन् अकेतवे पेशो[2] मर्त्या अपेशसे।
समु[3] षद्भिरजायथाः।। (ऋ. १/२/६/३)

१. प्रज्ञानम्, २. सुन्दरम्-मधुरम्, ३. दाहकैः।
(सा. १४७०)

हे परमात्मन्! आप आदित्य (आदानात्) विष्णु (व्यापनशीलात्) मरूत (दुःखाभावात्) स्वर्बृहत् (द्यौः रूपविस्तरात्) सोम (सर्वे मयं यान्ति अस्मन्नमृते रूपे उमया सहितो वा) रूद्र (रोदनात् द्रावणात् वा), अदिति (दिति विरोधी) ब्रह्मस्पति (ब्रह्मश्चासौपतिः), अग्नि (अः विष्णुः तं गमयति), इन्द्र (इमान् लोकान् द्रावयति-रक्ष्यते वा), वरुण (स्वरश्मीन् वरयति धारयति), मित्र (मितं प्रियं रातीति), अर्यमा (अः भूर्लोकं यमयतीति), वायु (वातीति), पूषा (पुष्णाति वर्द्धयतीति), सरस्वती (सरतीति सरः तदवत् अतति गच्छतीति नित्या प्रवहमाना इत्यर्थः) सजोषसः (भक्तिमान्) आप भक्तों के भक्ति को हृदयङ्गम् करते हो इसलिये भक्तिमान् हो। (ऋ. १८/१०/६५/१)

उमा प्रणव (ओम्) का व्यत्यास (उलटा) रूप है। यथा—आ+उ=ओ+म्=ओम्। ओम् ही उमा है। अः=ब्रह्मा, उः=विष्णुः, मः=शिवः। अथवा अः=भूर्लोकः, उः=भुवर्लोकः, मः=स्वर्लोकः अथवा अः=ऋग्, उः=यजुः, मः=सामः। उमा ब्रह्मा-विष्णु-महेश हैं। उमा भूर्लोक-भुवर्लोक और स्वर्लोक स्वरूपा है ऐसा जानना चाहिये।

हे परमात्मन्! हम अज्ञानियों को उत्तमज्ञान प्राप्त हो, यह जो असुन्दर (रूक्ष) लोग हम प्राणी हैं उसे सुन्दरता मधुरता प्रदान करो। हम काम-क्रोध-मोह मात्सर्य के ज्वालाओं से व्यथित लोगों की रक्षा करो। इन दाहकता से दूर कर दो, क्योंकि आप प्रज्ञानघन ब्रह्म हो 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (श्रुति)। ब्रह्म प्रज्ञान (प्रकृष्टज्ञान) ही है। (ऋ. १/२/६/३, १४७०)

असंकल्पाज्जयेत्कामं, क्रोधं कामविवर्जनात्।।
अर्थानर्थेक्षया लोभं, भयं तत्त्वविमर्शनात्।।२२।।
अन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया।
योगान्तरायान् मौनेन, हिंसां कायाद्यनीहया।।२३।।
(श्रीमद्भा. ७/१५)

हर्यादयोऽखिला देवाः तथा लोकाश्चराचराः।
नामरूपविभेदन, फलव्या च कलया कृता।।
(शिवपु. रू. सती. १५/५९)

परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्राः। (निरु.दै. ६/३/२)

समाधिभाषा प्रथमा, कौकिकीतिपरामता।
तृतीयापरकीयेति, शास्त्रभाषात्रिधामता।। (भा.सं.)

काम को संकल्पहीनभाव से, क्रोध को काम (वासना) वर्जनभाव से, धन की अनिच्छाभाव से लोभ को, तत्त्व (आत्मा का अजरता-अमरता) विचार से शोक और मोह को अन्विक्षिकीभाव से दम्भ को, अहंकार को शून्यभाव से, योग क्रिया गत विघ्न को मौन भाव से और हिंसा को काय आदि में अनिच्छाभाव से जीतना चाहिये। (श्रीमद्भा. ७/१५/२२-२३)

हरि आदि देवगण तथा चराचर निखिल लोक को नाम और रूप मिथ्या स्वरूप (अपारमार्थिक) अपनी कला के द्वारा उसने रचा और नाम तथा रूप को देकर मिथ्या को सत्य प्रतीति का विषय जीवों के लिये दिया—

अस्ति-भाति-प्रियं रूपं नाम चेत्यशं पंचकम्।
आदि त्रयं ब्रह्म रूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्।।

नाम और रूप मिथ्याभूत जगत् ही है ऐसा जानना चाहिये।

परोक्षस्वरूप को प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) और को परोक्ष करने के सामर्थ्य मन्त्रों में है। उपास्य को उपासक और उपासक को उपास्य रूप में बोध कराने की शक्ति मन्त्रों में निहित है। (निरुक्त दै. ६/३/२)

शास्त्र की भाषा तीन प्रकार की होती हैं। प्रथमा-समाधिभाषा, द्वितीया-कौकिकीभाषा और तृतीया-परकीयाभाषा नाम से जानी जाती है। (भा.सं.)

ॐ इन्द्रं परेऽवरे मध्यमास इन्द्रं,
यान्तो ऽवसिसास इन्द्रम्।
इन्द्रक्षियन्तमुत युद्धयमाना इन्द्रं,
नरो वा जयन्तो हवन्ते।। (ऋ. ३/६/१५/४/३)

ॐ त्वं हि नः पितावसो! त्वं माता शतक्रतो! वभूविथ। अद्याते सुम्न[1]मीमहे। (१-सुखं इमहे)। (ऋ. ८/९८/११, साम. ११७०)

वायु वैं गौतम! तत्सूत्रं वायुना सूत्रेणायं लोकः परश्च लोकः सर्वाणि भूतानि संदृब्धानि भवन्ति। (वृ.उ. ५/७/२)

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्योन्तरो, यं सर्वानि भूतानि न विदुः यस्य सर्वानि भूतानि शरीरं, यः सर्वाणि भूतान्यन्तरोयमत्येषत आत्मान्तर्याम्यमृतः।। (वृ.उ. ३/७/१४)

अदृष्टो द्रष्टा, अश्रुतः श्रोता, अमतो मन्ता, अविज्ञातो ज्ञाता, नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा-श्रोता-मन्ता-विज्ञाता एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः अतोन्यदार्तम्।। (वि.उ. ३/७/२३)

इस सृष्टि में जीवात्मा उत्तम-मध्यम और अधम तीन प्रकार के हैं। प्रथम संसार यात्रा में अवस्थित रह कर तीनों प्रकार के मानव (सतोगुणी-रजोगुणी-तमोगुणी) इन्द्र को ही प्राप्त करते हुए स्थित होते हैं। युद्धरत-जयशील अथवा उपासनारत तीनों उन्हीं इन्द्र में स्थित होते हुए उन्हीं (परमात्मा) को प्राप्त करते हैं। क्योंकि सभी के उपादान परमात्मा ही हैं और परमात्मा के अतिरिक्त अन्य की सत्ता नहीं होती है। (ऋ. ३/६/१५/४/३)

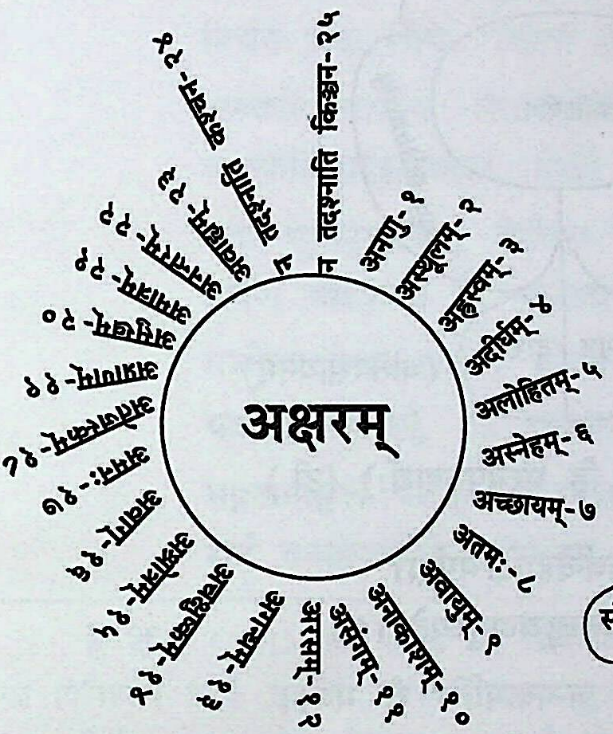
हे वसो! तुम मेरे पिता और हे शतक्रतो! (इन्द्र) तुम मेरी माता हुए हो। इसलिए आज तुम्हे मैं अपने सुख की प्राप्ति के लिए प्रार्थना कर रहा हूँ। (ऋ. ८/९८/११, साम. ११७०)

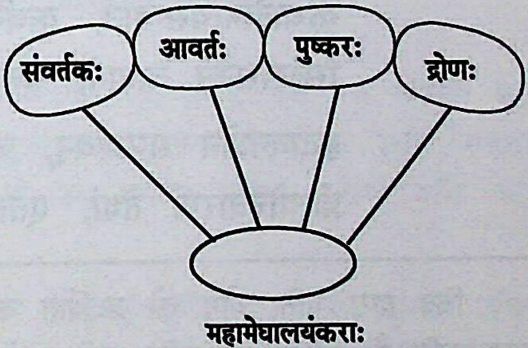
हे गौतम! वायु ही उस परमात्मा का सूत्र है। जिस वायुरूपी सूत्र के द्वारा यह लोक और इससे इतर अन्यलोक एवं सभी भूतसमूह बन्धे (गुम्फित-सूत्रित) हुए है। (वृ.उ. ५/७/२)

जो सभी भूतों में व्याप्त रहता हुआ सभी भूतों के अन्तःभूत वस्तु है, जिसको सभी भूत समूह नहीं जानते, जिसका सभी भूतसमूह शरीर है और जो सभी भूतों के अन्तःकरण को नियन्त्रित (निर्देशित) करता है वही यह अन्तर्यामी अमृत-स्वरूप-आत्मा है। (वृ.उ. ५/७/१४)

हे आरूणि! (उद्दालक!) वह (ब्रह्म) दिखायी देने वाला नहीं, परन्तु वह द्रष्टा है, सुनाई देने वाला नहीं है, परन्तु श्रोता है। वह मन का विषय नहीं है, पर मन्ता है। विशेषतया जानने योग्य न होते हुए भी वह विशेषरूप से जानने वाला है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। वह अन्तर्यामी ही तुम्हारी आत्मा है शेष सभी वस्तुएँ नाशवान् हैं। (वृ.उ. ३/७/२३)

सर्वमाकाशे ओतं प्रोतम्। आकाशः अक्षरे ओतं प्रोतम्।

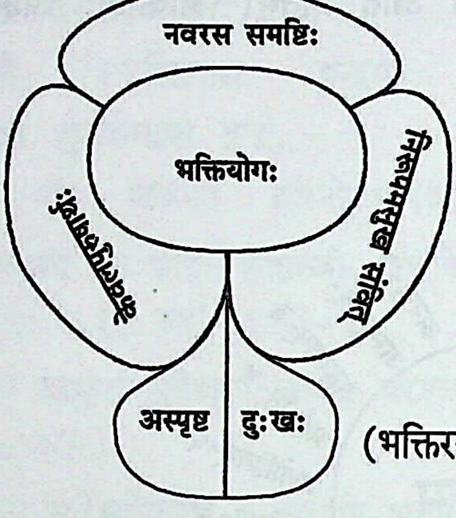




(शि.पु.रू. सती. २०/२४)

वह अक्षर (ब्रह्म) अणु परिमाण नही है, वह स्थूल परिमाण नहीं है, वह अह्रस्व (बौना) परिमाण का नहीं है, वह लम्बा नही है, अलोहित (रक्तभिन्न) वर्ण नहीं है, वह स्नेह हीन नहीं है, अच्छाय (च्छायाहीन) है। वह अनुत्तम है, वायु रहित (प्राणहीन) है, अवकाश रहित है, संग रहित है, रसहीन है, गन्धहीन, विना नेत्रवाला, विना वाणी का वह है। वह विना मन वाला, विना तेज (प्रकाश) वाला, प्राण रहित, मुख रहित, बिना-मात्रा वाला वह है। वह किसी के अन्त में नहीं है, वाह्य (बाहर) भी नहीं है, वह कुछ नहीं खाता और उसे कोई नहीं खाता है। इस प्रकार 'नेति-नेति' श्रुति-सिद्धान्त से सकल विशेष-विशेष उपाधियों से रहित केवल वस्तु वह अक्षब्रह्म है। (वृ.उ. ३/७/२३)

महाप्रलंय काल में भगवान् रूद्ररूप से महामेघ होकर अतिवृष्टि (धारा सम्पात्) कर जगत को लय करते हैं। वे रूद्ररूपधारी मेघों के नाम हैं—१. संवर्तक, २. आवर्त, ३. पुष्कर और ४. द्रोण। (शिव पु.रू.सती. २०/२४)



(भक्तिरसायनम्)

(दुःखासंभिन्नसुखं हि परमपुरुषार्थः) (टी.)

कथादेर्नित्यसन्मानं, कुर्वन्देहादिभिर्मुदा।
स्थिरासनेन तत्पानं, यत्तच्छ्रवणमुच्यते।।१।।
हृदाकाशेन सम्पश्यन्, जन्मकर्माणि वै मम।।
प्रीत्योच्चारणं तेषां, एतत्कीर्तनमुच्यते।।२।।

चित्र द्वारा भक्ति योग को प्रदर्शित कर उसे चतुर्विध रूप से कहा गया है। भक्ति नवरससमष्टि है। नवरस जो भक्ति साहित्य में कहा गया है उसका समष्टिरूप भक्ति है। यह प्रथम लक्षण कहा। निरूपम सुख संवित् रूप ही भक्ति है यह द्वितीय लक्षण से कहा गया। केवल ज्ञान 'रूप जो परम पुरुषार्थ है वही भक्ति है यह तृतीय लक्षण से कहा गया और सभी प्रकार के दुःखों के साथ अपनी आत्मा को अस्पृष्ट (लेप रहित) रखना चौथी भक्ति का लक्षण कहा गया। भक्ति रसायन के टीकाकार का मत है कि दुःख से असंभिन्न जो सुखानुभूति है वही भक्तिमार्ग का परमपुरुषार्थ है। (भक्ति रसायन)

अब नवधा भक्ति रस को कहा जा रहा है—हे देवि! जो सेवक सेव्य (परमात्मा शिव) की कथा में सन्मान रखता हुआ मन-कर्म-वचन से श्रद्धा रख कर रोमाञ्च भाव होकर स्थिर आसनस्थ होकर उस कथा का पान (श्रवण) करता है उसे श्रवण नामक प्रथमा भक्ति कहते हैं।।१।।

अपने हृदयाकाश में ईश्वर (मेरे शिव) का जन्म-कर्म से सम्बन्धित कथा प्रीति पूर्वक संकीर्तन (उच्चारण) करते हैं तो उसे कीर्तन नामक द्वितीया भक्ति कहते हैं।।२।।

व्यापकं देवि मां दृष्ट्वा, नित्यं सर्वत्र सर्वदा।
निर्भयं सदा लोके, स्मरणं तदुदाहृतम्।।३।।

अरूणोदयमारभ्य, सेवाकालोचिताहृदा।
वाक्पाणिपादैस्तस्यार्चा, सेवनं तदुदाहृतम्।।४।।

सदा भूत्यनुकूल्येन, विधिना मे परात्मने।
अर्पणं षोडशानां वै, पाद्यादीनां तदर्चनम्।।५।।

मन्त्रोच्चारणध्यानाभ्यां, मनसा वचसा क्रमात्।
यदष्टाङ्गेनभूस्पर्शं, तद्वै वन्दनमुच्यते।।६।।

मङ्गलामङ्गलं यद्यत्, करोतीहेश्वरो हि मे।
सर्वं तन्मङ्गलायेति, विश्वासः सख्यलक्षणम्।।७।।

हे देवि! (उमा!) जब सेवक मेरे परमात्मा को सदा-सर्वदा एक रस व्यापक ब्रह्म का विनिश्चय करके सब में उपस्थित जानता हुआ और मुझको ही सबका रक्षक समझता हुआ निर्भय होकर लोक निर्वहन करता है तो उसे स्मरण नामक तृतीया भक्ति कहा गया है।।३।।

अरूणोदय काल से सेवा का आरम्भ कर उस-उस उचित काल में उस-उस उचित सेवा को हृदय से श्रद्धा भक्ति से वाणी-पाणि (हाथ) पाद (पैर) के द्वारा जहाँ-जिस सेवा में उपयुक्त हो, से सेवा-अर्चा-पूजनादि सम्पन्न करता है तो उसको चतुर्थी सेवा नामक भक्ति कही जाती है।।४।।

जब सेवक भक्त मेरे विभूति (ऐश्वर्य) के अनुकूल वेद और शास्त्रविधि पूर्वक पाद्यादि षोडशोपचार से पूजा करता है, तो वह पञ्चमी अर्चन नामक भक्ति कहलाती है।।५।।

मनसा-वाचा-कर्मणा के क्रम से मन्त्रोच्चार पूर्वक पूजन कर जब साष्टाङ्ग (आठों अंग) से भूमि को स्पर्श कर दण्डवत् करता है तो वह षष्ठी वन्दन नामक भक्ति है, ऐसा जानना चाहिये।।६।।

हे देवि! जब भक्त का अनन्यभाव से यह विचार सुदृढ़ हो जाय कि मङ्गल-अमङ्गल जो भी उपस्थित हो रहा है वह प्रभु की इच्छा से हो रहा है और ईश्वर जो करते हैं वह मंगल ही है इस प्रकार दृढ़ विश्वास पूर्वक ईश्वर परायणता जीवन निर्वाह को सातवीं सख्य भक्ति कही जाती है।।७।।

कृत्वा देहादिकं तस्य, प्रीत्यै सर्वं तदर्पणम्।
निर्वाहाय च शून्यत्वं, यत्तदात्मसमर्पणम्।।८।।
सदा सेव्यानुकूल्येन, सेवनं तद्धि गोगणैः।
हृदयामृतभोगेन, प्रियं दास्यमुदाहृतम्।।९।।

(शिवपु.रू. सती. २३-२५-३३)

ना विरतो दुश्चरितात्, नाशान्तोनाऽसमाहितः।
नाशान्त मानसो वापि, प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।

(कठोपनि. १/२/२४)

यत्परं परंब्रह्म सर्वात्मा, विश्वस्यायतनं महत्।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं, तत्त्वमेव त्वमेव तत्।।

(कैवल्योपनिषद्-१९)

उस सेव्य ईश्वर की प्रसन्नता प्राप्ति के उद्देश्य से दोहादि सेवा (स्नानादिक) करके भोज्य पदार्थ को अर्पण करता हुआ वह सेवक शून्यभाव (निरहंकारभाव) से उस भोग को प्रसाद (कृपा) समझ कर देहनिर्वाहार्थ मात्र ग्रहण करे। उसमें अमृत भाव रख कर सेवन करे तो वह आठवीं (अष्टमी) समर्पण भक्ति नाम से जानी जाती है।।८।।

निरन्तर सेव्य (परमात्मा) के अनुकूल आचार पूर्वक उनके श्री विग्रहादिको को अपने इन्द्रियों द्वारा ग्रहण कर पुनः अपने हृदयाकाश में स्थापित करे और अमृत रूप परमात्मा का भोग (अनुभव) करता हुआ उनकी प्रियता इसमें हैं इससे यह प्रिय है यह भाव उत्थित कर स्थित रहे (जीव-परमात्म्यैक भाव ही अमृत भाव है और यही जीवात्मा और परमात्मा की प्रियता है)। यही नौवीं (नवमी) दास्य भक्ति है।।९।। (शिव पु.रु.सती. २३/२५/३३)

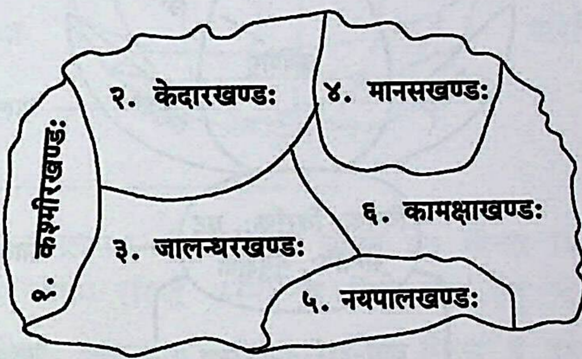
जो व्यक्ति विषयों की आसक्ति से निवृत्त नहीं हुआ है, और पाप कर्म में ही रत है, जिसका चित्त शान्त नहीं है, जो समाहित चित्त नहीं है वह अशान्त-असमाहित चित्त-पापकर्मा इस ब्रह्म को (उपनिषद् विद्या को) सुनकर या पढ़कर प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि चञ्चल चित्त से यह प्राप्त नहीं होता। (कठोपनि. १/२/२४)

जो इस जगत् प्रपञ्च से परे परं ब्रह्म है वह सर्वात्मा है। सभी भूत वस्तु के आत्मभूत ही है। वह सम्पूर्ण जगत् प्रपञ्च का आयतन (आश्रयस्थान) है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अर्थात् सूक्ष्मतर है और नित्य (उपचयापचय से रहित त्रैकालिक एक रस) है। तुम सबके तत्त्वभूत वही हो। (कैवल्योपनि. १९)

त्रिधामसु यद्भोग्यं, भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी, चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः।।११।।

सर्वभूतस्थमात्मानं, सर्वभूतानिचात्मनि।।
सम्पश्यन् ब्रह्मपरमं याति नान्येन हेतुना।।१२।। (कैवल्योपनिषद्)

हिमालयः

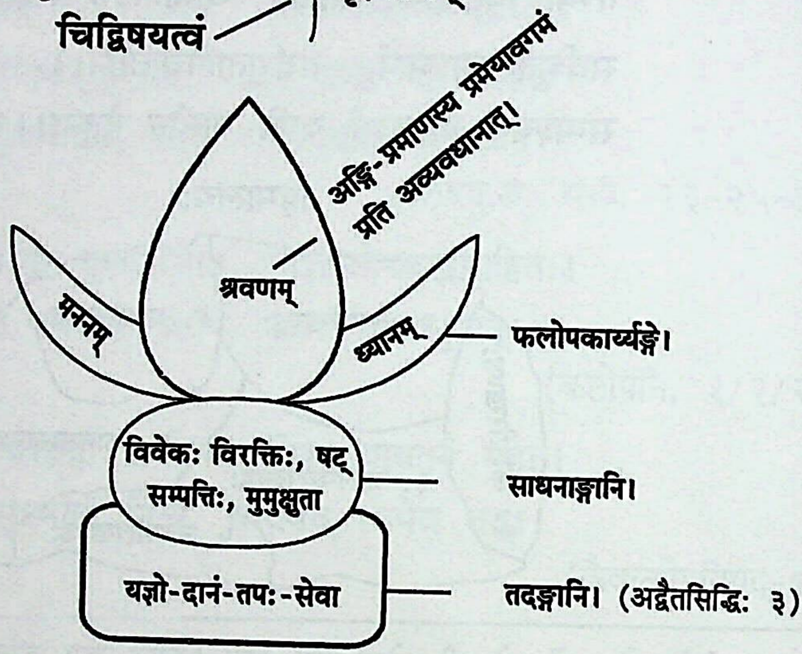


तीनों लोक में जो भी भोग्य-भोग और भोक्ता रूप वस्तुऐं हैं उन सभी से सर्वथा विलक्षण (अनिर्वचनीय स्वरूप वाला) वह आत्मा सबका साक्षी-चिन्मात्र-शिवस्वरूप है। वही मैं हूँ। (कैवल्योपनिषद्-१२)

सभी भूतजात वस्तुओं में आत्मा ही है, सभी भूत आत्मा में ही है, ऐसा विनिश्चित विचार से सभी जगत् प्रपञ्च में परमात्मा को देखता (अनुभव करता) हुआ जो साधक व्यक्ति है वही परम (मोक्ष-अपरोक्षानुभव) पद को प्राप्त करता है। कोई अन्य साधन (युक्ति) इसे प्राप्त करने के लिये समर्थ नहीं है। (कैवल्योपनिषद्-१२)

हिमालय पर्वत के कुल छः खण्ड हैं—१. कश्मीरखण्डः—जालन्धरखण्ड और केदारखण्ड के मध्य का पर्वतीय भू-भाग है। २. केदारखण्डः—कश्मीरखण्ड और मानसखण्ड के मध्य पर्वतीय भू-भाग है। ३. जालन्धरखण्डः—कश्मीरखण्ड और नयपालखण्ड के मध्य का पर्वतीय स्थल है। ४. मानसखण्डः—केदारखण्ड और कामाक्षाखण्ड के मध्य का पर्वत स्थल है। ५. नयपालखण्डः—जालन्धरखण्ड और कामाक्षाखण्ड के मध्य का पर्वत स्थल है। ६. कामाक्षाखण्डः—मानसखण्ड और नयपालखण्ड के मध्यस्थल है। यह छः खण्डों वाला हिमालय भारत का मस्तक भाग षडानन स्वरूप श्रद्धा-भक्ति-निष्ठा से सेवनीय है परन्तु आज भौतिकवादी-भोगी-सूक्ष्म अध्यात्मज्ञान से रहित-रूक्ष-कठोर-क्रूरों ने हिमालय के महत्त्व और उसकी उपादेयता को महत्त्व नहीं दिया। जिसका दुष्परिणाम ही अन्ततः उन्हें हाथ आयेगा। हम भरतवंशियों को हिमालय पर्वत-उनके आश्रित वन्य जीव तथा वनस्पतियों की रक्षा के लिए उचित प्रयास दूरगामी सुपरिणाम दे सकता है।

शब्दाजन्यज्ञान विषयत्वं
सप्रकारकवृत्तिविषयत्वं — दृश्यत्वम्
चिद्विषयत्वं



दृश्य का लक्षण–

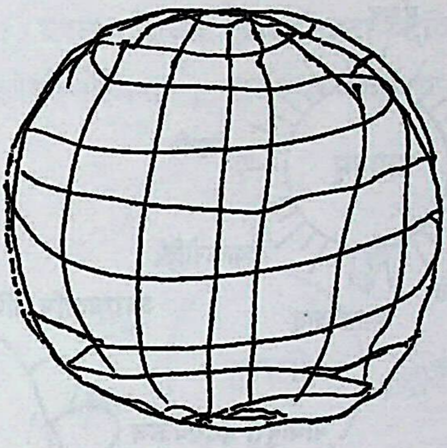
प्रथम लक्षण—जो शब्द से जन्य (उत्पन्न) ज्ञान न होता हुआ ज्ञान का विषय हो उसे दृश्यत्व कहते हैं। यह पहला (प्रथम) लक्षण कहा।

द्वितीय लक्षण—जो चित्तवृत्ति का सप्रकारक विषय हो उसे दृश्यत्व कहते हैं। यह द्वितीय लक्षण कहा।

तृतीय लक्षण—जो चित् का विषय हो वह दृश्यत्व है। यह तीसरा लक्षण कहा। इस प्रकार दृश्यत्व को तीन लक्षणों से निरूपित करने का यह कथन है।

प्रतीक चित्र द्वारा यहाँ आत्मसाक्षात्कार हेतु क्रम को दर्शाया गया है। श्रवण को यहाँ अङ्गी, मनन और ध्यान को फलोपकारी (श्रवण के फल आत्मसाक्षात्कार में उपकारकअङ्ग) कहा गया है। विवेक, विरक्ति, पट्सम्पंत्ति और मुमुक्षुता को फलोपकारी अङ्ग के साधनभूत अङ्ग कहे गये। इसी तरह यज्ञ-तप-दान और सेवा को उपर्युक्त साधनभूत अङ्गों के अङ्ग कहा गया। इसे इस तरह भी सुलभता से समझा जा सकता है—यज्ञ-दान-तप और सेवा आदि उपाङ्गों के द्वारा विवेक-विरक्ति-षड्सम्पत्ति और मुमुक्षुता रूप प्रधानाङ्ग की सम्पुष्टि होती है। इन प्रधानाङ्ग साधनों के द्वारा फलोपकारी अङ्ग मनन और ध्यान की सम्पुष्टि होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व से उत्तर-उत्तर अङ्गों के निरन्तर सम्पुष्ट होने पर श्रवणरूपी अङ्गी सम्पुष्ट होता है। वह श्रवणरूपी (अङ्गी) प्रमाण का प्रमेय अवगम (बोध) के प्रति अव्यवधानरूप हेतु स्वरूपता है। (अद्वैतसिद्धिः ३)

प्रपञ्चः
अनिर्बचनीयः
ख्यातिबाधा-
न्यथानुपपत्या



प्रपञ्चो मिथ्या
दृश्यत्वात्- १
जडत्वात्- २
परिच्छिन्नत्वात्- ३

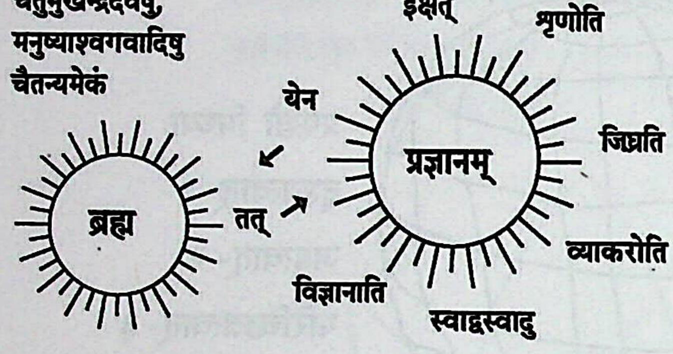
चित्र द्वितीय में जगत्प्रपञ्च की मिथ्यात्व बोधन हेतु विचार किया गया है। जगत्प्रपञ्च को मिथ्यात्व रूप से साधने (सिद्ध करने) के लिये तीन हेतु दिये गये हैं—

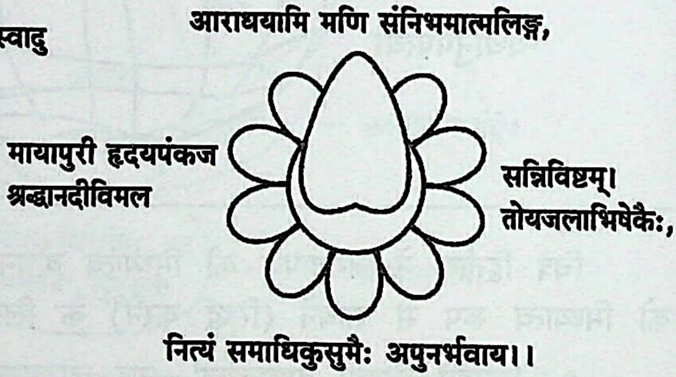
१. **'प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात्'**—यह जगत्प्रपञ्च मिथ्या है दृश्य होने के कारण यह मूल का अर्थ है। इसे अन्वय-व्याप्ति द्वारा ऐसे भी कहा जा सकता है—'यद्यत् दृश्यत्वं तत्तत् मिथ्यात्म्'। जो-जो दृश्यत्व स्वरूप है वह-वह मिथ्यात्व रूप है। दृश्य मिथ्या इसलिये है कि जो सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद शून्य तथा (त्रिकालाबाधाबाधित्व) तीनों काल (भूत-वर्तमान और भविष्यत्) में एक स्वरूप से रहे उसे सत्य कहते है। परन्तु दृश्य जगत् उपचय-अपचय धर्म वाला रहता हुआ तीनों कालों में नहीं रहता। अतः मिथ्या है।

२. **जडत्वात्**—दृश्यत्व रूप जगत् प्रपञ्च जड रूप है। वह प्रकृति का विकार (परिणाम) है। प्रकृति में अपचय-उपचय (ह्रास और वर्धन) धर्म होता है। प्रकृति के परिणाम जगत्प्रपञ्च निरन्तर घटते-बढ़ते-ह्रास-वर्धन-उदय-अनुदय रूप से देखा और अनुभव किया जाता है। अतः जगत्प्रपञ्च मिथ्या ही है।

३. **परिच्छिन्नत्वात्**—यह जगत्प्रपञ्च देश-काल तथा अवयवादि विभिन्न उपाधि से परिच्छिन्न (आवृत्त-ढका हुआ) है। सत्य तो निरवच्छिन्न है। सभी उपाधियों से रहित सदैकरस नित्य और सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद शून्य होता है। अतः जगत्प्रपञ्च मिथ्या रूप ही है।

अब प्रश्न उठता है कि जगत्प्रपञ्च मिथ्या है तो वह कैसा (किं रूपं जगत्) है? उक्त का उत्तर अद्वैत सिद्धिकार देते हैं—'प्रपञ्च अनिर्वचनीयः ख्यातिबाधान्यथानुपपत्या' प्रपञ्च न तो सत् स्वरूप है न असत् है और न ही सत्-असत् उभयरूप है परन्तु वह अनिर्वचनीय रूप से अन्यथा ख्याति रूप से उपलभ्यमान रूप है। अनिर्वचनीय उसे कहा जाता है जिसका निर्वचन (अभिकथन) निश्चित् रूप से ऐसा है, वैसा है नहीं किया जा सके। (अद्वैतसिद्धि-३)

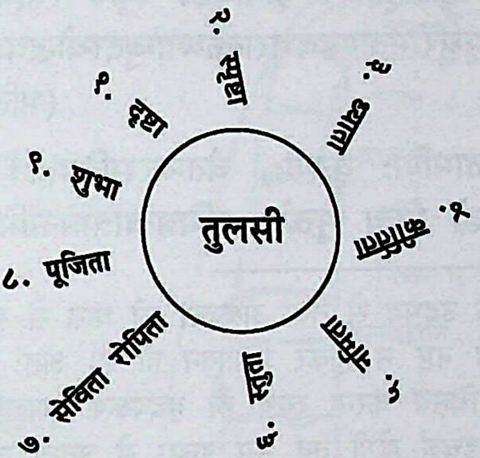




यहाँ इस प्रतीक चित्र द्वारा श्रुतिवाक्य 'प्रज्ञानं ब्रह्म' के तात्त्विक अर्थ को सुलभता से समझाने का सर्वोत्तम प्रयास है। श्रुति वाक्य है 'प्रज्ञानं ब्रह्म' ब्रह्म प्रकृष्ट ज्ञानरूप है। जिससे यह जगत् (जीवात्मा) संकल्प-विकल्प करता है, सुनता है, सूँघता है, बोलता है, स्वादिष्ट-अस्वादिष्ट रस का आस्वादन करता है, जानता है, वही प्रज्ञान ब्रह्म है। जो प्रज्ञान ब्रह्म ब्रह्मा-इन्द्र आदि देवगण-मनुष्य-अश्व-गौ आदि पशु-कीट-पतंग आदि निखिल जीवात्माओं में एक चैतन्य रूप से विराजता है वही प्रज्ञान ब्रह्म है।

मैं मणि के समान आभा है जिसके ऐसे आत्म स्वरूप लिङ्ग की आराधना करता हूँ, उसकी अराधना सामग्री को अब उधृत किया जा रहा है—उस आत्मलिङ्ग की आराधना के अन्तर्गत अभिषेक श्रद्धा रूपी नदी के जल से करता हूँ और समाधिरूपी पुष्प से उस नित्य-अपुनर्भव लिंग की पूजा करता हूँ। आत्मलिङ्ग को अपुनर्भव इसलिए कहा कि आत्मा नित्य और जन्म-मृत्यु से परे लिङ्ग है। 'न. जायते म्रियते वा कदाचिन्नाऽयं भूत्वा भविता वा न भूयः' (गीता) वह आत्मा कभी उत्पन्न नहीं होता। न ही मृत्यु को ही प्राप्त होता। न यह कभी हुआ है न ही यह उत्पन्न होगा। अथवा मैं जीवात्मा पुनः जन्म न हो इस प्रयोजन से आराधना करता हूँ। क्योंकि आराधना से 'अयमात्मा ब्रह्म' यह आत्मा ब्रह्म है। 'तत्त्वमसि' और ब्रह्म तुम ही हो बोध होने पर मेरे जीवात्मा में जो मिथ्या आरोपित यह ज्ञान कि मैं जन्म लिया हूँ और फिर मर जाऊँगा यह मिट जायेगा और मैं अपुनर्भव स्थिति को प्राप्त हो जाऊँगा इस प्रयोजन से आत्म लिङ्ग की आराधना करता हूँ द्वितीय पक्ष का अर्थ है।

ईश्वरः परमः कृष्णः[१], सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः[२], सर्वकारणकारणम्।। (ब्रह्म संहिता)



परमेश्वर-कृष्ण[१]-सच्चिनन्दविग्रह-अनादि आदि-गोविन्द पद वाच्य परमात्मा सभी कारणों के कारण हैं। (ब्रह्म संहिता)

तुलसी के दर्शन-स्पर्शन-ध्यान-कीर्तन-नमस्कार स्तुति-रोपन और सेवन-पूजन-शुभा रूपा है, की भावना से भगवान् नारायण की कदाचित् नवधाभक्ति हो जाती है और भगवान् विष्णु प्रसन्न होते है। भौतिक दृष्टि से भी यह महान् औषधि गुण सम्पन्न है। इसीलिये हमारे पूर्वज ऋषिगण उसके महत्त्व को समझकर उसे प्रत्येक गृह में रोपित करने, सेवा करने का निर्देश देते हैं। यह दुःखद है कि हम अज्ञानवश तथा पश्चिमी सभ्यता के प्रति अन्धविश्वास के कारण सर्वसुलभ इस देव वनस्पति के प्रति उपेक्षित भाववर्धन करते जा रहे है। जबकि पाश्चात्य वैज्ञानिक भी इसके महत्त्व को समझ चुके हैं। अतः आधिदैविक-आधिभौतिक-आध्यात्मिक महत्त्व के इस देव-वनस्पति को लगावें और उनकी सेवा अर्चना नित्य रूप से करें। यही शास्त्र का महाराजश्री श्री लक्ष्येश्वराश्रम जी का और मेरा भी भरतवंशी भारतीयों से अनुरोध है। अभिप्राय यह कि व्याख्याकार शास्त्र और स्वामी जी की ओर से तथा स्वयं की अभिमति से यह प्रकट कर रहा है।

---

१. कृषिर्भूर्वाचकः शब्दो, णश्च निवृत्तिवाचकः। विष्णुस्तदभावयोगाच्च, कृष्णो भवति शाश्वतः।।
(महाभा.उधो. ६०/५)

कृष्णो कृष् सत्तायां। निवृत्तिः आनन्दः। (वि.स.वा.शां.भा.श्लो. २०)

२. गोभिरेव यतो वेद्यो गोविन्दः समुदाहृतः। (विष्णु तिलके)
गोभिर्वाणिभिः विन्दते, वेत्ति वेदान्तवाक्यैरिति वा गोविन्दः। (वि.स.ना.शां.भा.)

सिक्ताप्यश्रुजलोत्करेण भगवद्वार्तानदीजन्मना,
तिष्ठत्येव भवाग्निहेतिरिति ते धीमन्नलं चिन्तया।
हृद्व्योमन्यमृतस्पृहाहर कृपावृष्टेः स्फुटं लक्ष्यते,
नेदिष्टः पृथुरोमताण्डवभरात्कृष्णाम्बुदस्योद्भवः।।

(भक्ति र.सि. २/१/२७८)

नाम चिन्तामणिः कृष्णः, चैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्य मुक्तो, ऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः।। (पाद्मे)

भगवद्वार्तारूपी नदी के उद्भव से तथा अश्रुजल की धारा से संसार रूपी अग्नि सिञ्चित होने पर भी अभी तक यह नष्ट न होकर विद्यमान ही है। अतः हे धैर्यशालिन् महात्मन्! इस विषय में निवृत्ति की चिन्ता करना व्यर्थ है। हृदयरूपी आकाश में जब अमृत रूपी जल की प्राप्ति की उत्कट इच्छा होगी तब उस इच्छा से उत्पन्न जो भगवत्कृपा रूपी वृष्टि उससे तथा भगवद् मिलन हेतु विह्वलतारूपी ताण्डव से अतिसन्निकट में उत्पन्न कृष्णरूपी मेध का प्राकट्य अत्यन्त स्फुटरूप से होता है, जो (कृष्णरूपी मेघ) संसार सर्जक अग्नि को पूर्ण रूपेण शान्त कर देता है। (भक्ति र.सि. २/१/२७८)

श्रीकृष्ण नामक चिन्तामणि नाम रत्न है। वह चैतन्यरस का साक्षात् विग्रह (विशेषज्ञान अथवा शरीर) है। वह पूर्णब्रह्म-नित्य स्वरूप और मुक्तस्वभाव स्वरूप है, क्योंकि नाम और नामी का अभेद होने के कारण वह कृष्ण ऐसा है। शब्द ब्रह्मवादियों का सिद्धान्त है कि शब्द में अर्थ नित्य रूप से रहता है। वे शब्द और उसके अर्थ को नित्य अभेद मानते हैं। शब्द को वे चिन्तामणि कामधेनु तथा कल्पवृक्ष के समान सामर्थ्य सम्पन्न मानते है। और प्रमाण भी उपस्थित करते हैं। 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः लोके वेदे च कामधुग् भवति' एक शब्द के सम्यग् ज्ञान से लोक और वेद में कामधेनु के समान वह फलदायक होता है। 'घटमानय' कहने पर शिष्ट-पुत्र अथवा सेवक उसे उपस्थित (सम्मुख लाकर रख देता) कर देता है अतः शब्द में सामर्थ्यबलात् अर्थोपस्थिति नित्यरूप से मानते है। भारतीय काव्य परम्परा के महान् विद्वान् कालिदास और तुलसीदास भी शब्द और अर्थ का नित्य अभेद रूपता को स्वीकार करते हैं। वाक्य प्रयोग में भिन्नता वे वाचालम्वन मात्र मानते हैं।

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ।। (रघुवंश मं.का. १/१)

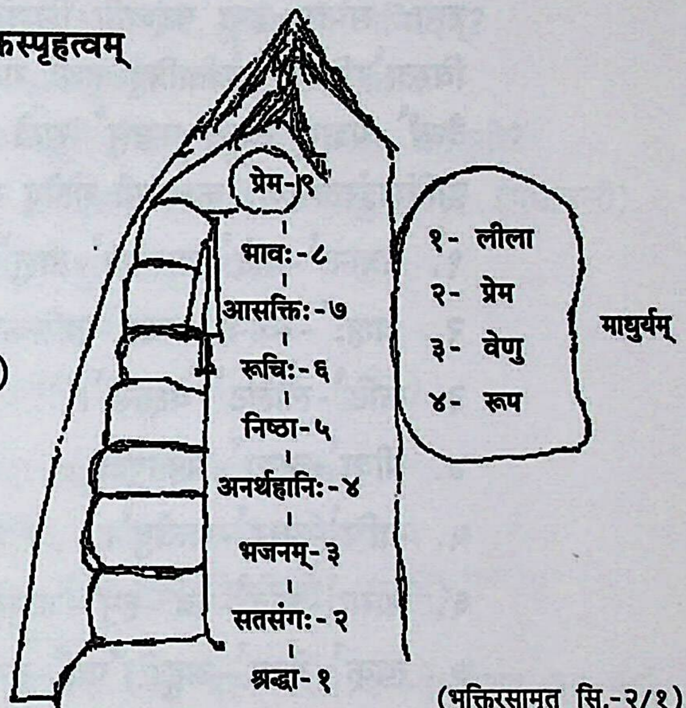
गिरा अरथ जल वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
वन्दऊँ सीतारामपद, जिनहिं परमप्रिय खिन्न।। (मानस बा.का. वन्दना)

अतः नामगत नामी का अभेद स्वरूप होने से श्लोक की संगति और अभिकथन सार्थक और सिद्धान्तसिद्ध है। (पद्मपुराण)

प्रेम्णः प्रथमावस्था-भावः
स्वयमास्वदस्वरूपा रतिः } हृदेकस्पृहत्वम्

सत्त्वं तत्त्वं परत्त्वञ्च,
तत्त्वत्रयमहं किल।
त्रित्तत्त्वस्वरूणी सापि,
राधा मम बल्लभा।।
(वृहद्गौतमीये)

प्रसादआन्तरो-हार्दः।
सङ्गमसंपृक्तस्वान्तो,
ममत्वातिशयाङ्कितः।
भाव स एव सान्द्रात्मा,
बुधैः प्रेमा निगद्यते।।



(भक्तिरसामृत सि.-२/१)

कृष्णरतिः स्थायीभावः-भक्तिरसः।। (भक्तिरसामृतसिन्धु १/४)
रसेसारः-चमत्कारः। (अलंकार कौस्तुभे)

प्रेम की प्रथमा अवस्था का नाम भाव है। अर्थात् भावोत्पत्ति होने पर प्रेम का उदय होता है। रति स्वात्मना आस्वाद्य स्वरूपा होती है। उन दोनों में एकता ही स्पृहा है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते है मेरा (ब्रह्म का) तीन तत्त्व (सार) है। सत्त्व-तत्त्व और परत्त्व। यही तीनों तत्त्व स्वरूपा राधा है। इसीलिये वह हमारी बल्लभा (प्रिया) है। (वृहद् गौतमीये)

प्रसाद अन्तःकरण (हृदय) में होने वाली प्रसन्नता अर्थात् आह्लादात्मकैकमात्र वृत्ति विशेष) को कहते है।

ममता (अपनापन) के अतिशय से परिपूर्ण अपनी आत्मा (स्वान्तःकरण) में संस्पृक्त करके रखना संगम कहलाता है। वह संगम भावरूप होता है और उस भाव से आत्मा (हृदय) को सान्द्र (अभिसिञ्चित) करके गीलाकर-भींगा करके रखना ही प्रेमा नाम की भक्ति है ऐसा बुधजन कहते है।

उपर्युक्त प्रतीक चित्र द्वारा प्रेमाभक्ति के नौ सोपान कहे गये हैं। प्रथम-श्रद्धा, द्वि. सत्संग तृ.-भजन, चतु.-अनर्थहानि, पंच.-निष्ठा, षष्ठमरूचि, सप्त.-आसक्ति, अष्ट.-भाव और नवम

राग: स[१]प्तसु हन्त षट्[२]स्वपि शिशोरङ्गेष्वलं तुङ्गता,
विस्ता[३]रस्त्रिषु ख[४]र्वतात्रिषु तथा गम्भीरता[५] च त्रिषु।
दैर्घ्यं[६] पञ्चसु किञ्च पञ्चसु[७] सखे सम्प्रेक्ष्यते सूक्ष्मता,
द्वात्रिंशद्वरलक्षणः कथमसौ गोपेषु सम्भाव्यते।। (भक्ति र.सि. २/१)

१. नेत्रान्त[१]-पादे[२]-करतल[३]-तालु[४]-अध[५]रोष्ठ-जिह्वा[६] नखेषु[७]।

२. वक्षः[१]-स्कन्ध[२]-नख[३]-नासिका[४]-कटि[५]-मुखेषु[६]।

३. कटि[१]-लालट[२]-वक्षसि[३]।

४. ग्रीवा[१]-जङ्घा[२]-मेहनेषु[३]।

५. नाभि[१]-स्वर[२]-सत्त्वेषु[३]।

६. नासा[१]-भुज[२]-नेत्र[३]-हनु[४]-जानुसु[५]।

७. त्वक्[१]-केश[२]-अङ्गुलि[३]पर्व[४]-दन्तेषु[५]।

प्रेम है। सोपान का रूपक उपास्य के प्रति होनी चाहिये। ये क्रमश: जन्य-जनक भाव अर्थ को भी द्योतित करता है। यथा—उपास्य के प्रति प्रेम होने पर उससे-भाव, भाव से उपास्य के प्रति आसक्ति इत्यादि। अथवा श्रद्धा से सत्संग, सत्संग से भजन इत्यादि उभयरूप से जन्य-जनक भाव का सम्बन्ध बन सकता है। श्रीकृष्ण की लीला, प्रेम, वेणु और रूप थे चारो माधुर्य स्थानी हैं। कृष्ण के प्रति रति यहाँ स्थायी भाव है। रस के सार (निचोड़) को चमत्कार कहते हैं। (भक्तिरसामृत सि. २/१, अलंकार कौ. १/४)

भगवान् श्रीकृष्ण के सौन्दर्यपूर्ण विग्रह का प्रसङ्ग है। श्रीकृष्ण के श्री विग्रह में (सात स्थान में) राग (लालिमा) है। वह इस प्रकार है—नेत्रान्त भाग, दोनों पैर, दोनों करतल, तालु, अधरोष्ठ, जिह्वा और पैरों के नख। हन्त शब्द यहाँ विस्मयार्थक है। उनके छ: अङ्गों में तुङ्गता (उच्चता-उठा हुआ) है वे हैं—वक्षस्थल, स्कन्ध, नख, नासिका, कटि और मुख। तीन अङ्गों में विस्तार है वे हैं—कटि, ललाट और वक्ष प्रदेश। तीन अङ्गों में खर्वता (मोटापन) है। वे हैं—ग्रीवा, जङ्घा, मेहन (लिङ्ग)। तीन अङ्गों में गम्भीरता है वे हैं—नाभि-स्वर और सत्त्व। पाँच अङ्गों में दैर्घ्य (लम्बापन) है वे हैं—नासा (नाक), भुज (हस्तदण्ड), नेत्र, हनु (ठुड्डी) और जानु (जङ्घा) से सम्बद्ध जोड़ तथा त्वक्, केश, अङ्गुलि-पर्व (जोड़) और दाँत। हे सखे! (हे मित्र!) मैं ध्यान से देख रहा हूँ। सूक्ष्मता से जानता हूँ। ये बत्तीस शुभ (सुन्दर) लक्षण युक्त शरीर गोप (ग्वाला) का कैसे हो सकता? (भक्तिरसायनसि. २/१)

वासः सम्प्रति केशव! क्वभवतो मुग्धेक्षणे नन्विदम्?
वासं ब्रूहि शठ! प्रकामशुभगे! त्वद्गात्र संगतिः।
यामिन्यामुषितः क्व धूर्त! वितनु मुष्णाति किं यामिनी?
त्येवं गोपवधुं छलै परिहसन् कृष्णश्चिरं पातु वः।। (पद्यावली)

श्रीकृष्णः { पूर्णतमः-गोकुल वृन्दावने।
पूर्णतरः-मथुरायाम्।
पूर्णः-द्वारकायाम्। (श्री भक्ति सु.सि.)

अस्थूलश्चानणुश्चैव, स्थूलोऽणुश्चैव सर्वतः।
अवर्णः सर्वतः प्रोक्तः, श्यामो रक्तान्तलोचनः।।
ऐश्वर्ययोगाद्भगवान्, विरुद्धार्थोऽभिधीयते। (कौर्मे)

श्रीकृष्ण को गोपियाँ घेर लेती है और उनसे प्रश्न करती हैं—हे केशव तुम कहाँ रहा करते हो? मुग्धेक्षणा (कामेच्छावाली युवती) के बीच रहता हूँ कृष्ण ने उत्तर दिया। गोपियाँ अरे दुष्ट! मैं तुम्हारा निवास पूँछती हूँ। श्रीकृष्ण-तुम्हारी गात्र (शरीर) की सुन्दरता में रमा करता हूँ। गोधियाँ—अरे धूर्त रात में कहाँ रहते हो। कृष्ण—क्यों रात में तुमलोग किसी का शरीर चुराया करती हो क्या? इस प्रकार गोप वधूओं के साथ छल (हास्य) पूर्ण वार्तालाप में हँसते हुए श्रीकृष्ण हमारी आपकी रक्षा करें। (पद्यावली)

श्रीकृष्ण द्वारका में पूर्ण ब्रह्म कहलाते हैं जो द्वारका में हैं। मथुरा में पूर्णतर (दो में श्रेष्ठ) ब्रह्म हैं और गोकुल के वृन्दावन में पूर्णतम (सबों में श्रेष्ठ) ब्रह्म हैं। इसे सौन्दर्य पक्ष—ऐश्वर्य पक्ष या अन्यपक्ष में भी यथा योग्य लगाया (अर्थ सम्बन्ध किया) जा सकता है।

परमात्मा न तो स्थूल हैं न ही अणु परिमाण हैं, परन्तु उनके अणुत्व और स्थूलत्व ऐश्वर्य के संयोग से है इसलिए विरूद्धधर्मी प्रतीत होते हैं। वस्तुतस्तु वे सकल विशेष-विशेष उपाधि शून्य केवल स्वरूप ही हैं। 'अस्थूलमनणु अह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायम्' (वृ.उ. ३/८/८) वह अस्थूल, अनणु-अह्रस्व-अदीर्घ-अलोहित-अस्नेह अच्छाय (छाया का अभाव स्वरूप) है। आदि अनेक श्रुति वचन विचारित तथ्य है कि परमात्मा का स्वरूप लक्षण केवल रूप है जिसका शब्दों से निर्वचन कठिन है। अतः इतना ही कहा जा सकता कि वह निषेध-षेध वाच्य नहीं है। तदुभय स्वरूप भी नहीं है केवल-निष्कल-निर्गुण-निरूपाधि स्वरूप ही उनका स्वरूप लक्षण कहा जा सकता है। इस प्रकार के श्रीकृष्ण सम्पूर्ण अंग से कृष्ण (काले) हैं। केवल आँख मात्र रक्तकमल के समान लाल है, परन्तु लोक विरुद्ध (काला रंग के कारण लोक द्वारा अग्राह्य) होने पर भी अपने ऐश्वर्य के कारण सुन्दर हैं। (कूर्म पुराण)

अष्टादशमहादोषैः, रहिताभगवत्तनुः।
सर्वैश्वर्यमयी सत्य-विज्ञानानन्दरूपिणी।। (वैष्णव तन्त्रे)

अष्टदशमहादोषाः—

मोहस्तन्द्रा भ्रमोरूक्ष[१],-रसता काम उल्बणः।
लोलता मदमात्सर्ये, हिंसा खेदपरिश्रमौ।।
असत्यं क्रोध आकांक्षा, आशङ्का विश्वविभ्रमः।
विषमत्वं परापेक्षा, दोषा अष्टादशोदिताः।।

१. प्रेमसम्बन्धं विना रागः। (विष्णु यामले)

महामृत्यञ्जयमन्त्रः (शिवपु.रु.सती. १८)

ॐ त्र्यम्वकं यजामहे, त्रैलोक्य पितरं प्रभुम्।
त्रिमण्डलस्य पितरं, त्रिगुणस्य महेश्वरम्।।
त्रितत्त्वस्यत्रिवह्नेश्च, त्रिधाभूतस्य सर्वतः।
त्रिदिवस्य त्रिवाहोश्च,
त्रिदेवस्य महादेवः, सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।।

भगवान् का तन (शरीर) अष्टदश (अठारह) दोषों से रहित, सभी ऐश्वर्यों से सम्पन्न सत्य-विज्ञान और आनन्दमय होता है। वे अठारह दोष ये हैं—१. मोह, २. तन्द्रा, ३. भ्रम, ४. रूक्ष, ५. रसता, ६. काम, ७. उल्बण, ८. लोलता, ९. मद, १०, मात्सर्य, ११. हिंसा, १२. स्वेद, १३. परिश्रम, १४. असत्य, १५. क्रोध, १६. आकांक्षा, १७. आशंका और १८. विश्वविभ्रम। ये अष्टादश दोष विग्रह (शरीर) के कहे गये हैं, जो ईश्वर के शरीर में नहीं होते। इसमें विषमता की उपपत्ति परापेक्षा दीखती है। स्वापेक्षा तो इससे रहित ही है। मूल में रूक्ष शब्द का अर्थ—प्रेम सम्बन्ध के विना राग को कहते हैं। उल्बण भ्रूण को कहते हैं। (वैष्णवतन्त्र, विष्णु यामल)

यहाँ महामृत्युञ्जय मन्त्र का कथन किया गया है। इसके वक्ता भगवान् शिव हैं। श्लोकों के मध्य से हे महामुने! का अध्याहार करना चाहिये। अब अर्थ का कथन करते हैं— मूल मन्त्र यह है—ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मा मृतात्। अब मन्त्रगत प्रत्येक पद के विशेष अर्थ (व्यापक अर्थ) को जानने के लिए मूल श्लोक की ओर चलें—हम त्र्यम्बक भगवान् शिव को यजन-पूजन द्वारा प्रसन्न करने

सर्वभूतेषु सर्वत्र, त्रिगुणेषु कृती यथा।
इन्द्रियेषु तथान्येषु देवेषु च गणेषु च।।
पुष्पे सुगन्धिवत्सूरः सुगन्धिरमरेश्वरः।
विष्णोः पितामहस्यापि मुनीनां च महामुने।।
इन्द्रियश्चैव देवानां, तस्माद्वै पुष्टिवर्धनम्।
तं देवममृतं रूद्रं, कर्मणा तपसापि वा।।
स्वाध्यायेन च योगेन, ध्यानेन च प्रजापते!
सत्येनान्येन च सूक्ष्मायान्, मृत्युपाशाद्भवः स्वयम्।।
बन्धमोक्षकरो यस्माद्, उर्वारुकमिव प्रभुः।
मृतसंजीवनीमन्त्रो, मम सर्वोत्तमः स्मृतः।।

के कर्म (प्रणाम) करता हूँ, जो तीनों लोकों के पिता हैं, वे प्रभु (सामर्थ्य सम्पन्न) हैं, जो तीन मण्डल (भूर्भुवस्वः) के पिता, त्रिगुण (सत्त्व-रज-तम) के पिता, और महेश्वर जो तीनों तत्त्व, तीनो वह्नि, त्रिधाभूत (स्वेदज-अण्डज-जरायुज), त्रिदिव (स्वर्ग), त्रिवाहू के पिता की प्रसन्नता के लिए (उपर कही गयी क्रिया का पुनः अध्याहार कर) यजन-पूजन-प्रणाम करता हूँ।

जो त्रिदेवों में महान् देव हैं और जो सुगन्धित पुष्टि का वर्धन करने वाले है तथा सभी भूतों में सर्वत्र हैं, जिसकी तीनों गुणों (सत्त्व-रज-तम) में जिनकी कृति है यथा— इन्द्रियों में, कर्मेन्द्रियों में, देवों में, उनके गणों में एवं पुष्प में सुगन्धि वाले, सूर (योगी-विद्वान्-सूर्य) अमरेश्वर (देवाधिदेव) के जो सुगन्धित है उसको मैं यजन-पूजन द्वारा प्रणाम (नमस्कार) करता हूँ, जो विष्णु-ब्रह्मा और मुनियों-इन्द्रियों और देवताओं के सुगन्धि और पुष्टि को वर्धन करने वाले भगवान् शिव हैं उन्हें यजन-पूजन द्वारा प्रणाम करता हूँ।

उस अमृत स्वरूप देव रूद्रकर्मणा-तपसा (कर्म और तप से), स्वाध्याय से, योग से ध्यान से (हे मुने प्रजापते!) सत्य से तथा अन्य जो भी उपाय हो उससे हमें मृत्युरूप पाश (बन्ध) से मोक्ष प्रदान करने वाले होओ। जैसे उर्वा के रूक (छोटी ककड़ी-गुर्मी-के डण्ढल) के समान सुलभता पूर्वक बन्धन से छुड़ाओ। क्योंकि आप वैसा करने में समर्थ हैं। भगवान् शिव कहते हैं कि यह मृत संजीवनी मन्त्र सभी मन्त्रों में उत्तम होने के कारण सर्वोत्तम है। (शिव पु.रू.सती. १८)

भक्तिरसाः-५

१. ज्ञान, भक्ति-शान्तरसः–शमिनां स्वाद्यः, शान्तिरतिः-स्थायी, सनक-सनन्दन मुख्याः।

२. प्रीति रास्यभक्ति रसः-प्रवरः-उद्धवः।

३. प्रेयान् सख्यभक्तिरसः-अर्जुनः।

४. वात्साल्यभक्तिरसः-यशोदा। ५. मधुर भक्तिरसः-गोप्यः।

मूर्द्धन्याहुकशासनं प्रणयते, ब्रह्मेशयोः शासिता,
सिन्धुं प्रार्थयते भुवं तनुतरां ब्रह्माण्डकोटीश्वरः।
मन्त्रं पृच्छति माम पेशलधियं विज्ञानवारां निधिः,
विक्रीडत्यसकृद्विचित्रचरितः सोयं प्रभुर्मादृशाम्।। (उद्धव:)

भक्ति रस के पाँच भेद है जो इस प्रकार हैं—

१. ज्ञानभक्ति शान्तरस है। तपस्वियों (योगियों) के स्वाद्य (स्वदन योग्य) हैं। इसकी शान्ति में रति ही स्थायी भाव हैं।

२. प्रीति यह रास्य भक्ति रस है। रास लीला विशेष को कहते हैं और रास (लीला) का जो भाव है उसे रास्य कहते हैं। इस भक्ति के प्रवर (श्रेष्ठ) पात्र उद्धव जी है।

३. प्रेयान् सख्य तृतीय भक्तिरस है इसके पात्र अर्जुन हैं।

४. वात्सल्यभाव चौथी भक्तिरस है इसका पात्र यशोदा जी हैं।

५. मधुरभक्ति रस के पात्रगण ब्रज की गोपियाँ हैं।

श्रीउद्धव जी कहते हैं हे भगवन्! इन्द्र के उत्तम शासन के निर्माता आप ही हैं तथा ब्रह्मा और शिव के शासक भी आप ही हैं। इस प्रकार अनन्त ब्रह्माण्ड के अधीश्वर होते हुए भी आप सिन्धु से भूमि की याचना करते हैं। ज्ञान-विज्ञान के सागर होते हुए भी हमारे जैसे अज्ञ से मन्त्रणा (विचार) पूँछते हैं। जो अनन्त चरित्र की रचना करते है वही प्रभु हमलोगों के कल्याणकारी मानव रूप में नाना प्रकार की लीला कर रहे हैं। (उद्धव)

सान्द्रश्चित्त द्रवं कुर्वन् प्रेमा-स्नेह इतीर्यते।
क्षणिकस्यापि नेहस्याद्, विश्लेषस्य सहिष्णुता।।
स्नेहः सरागो यत्र स्यात् सुखं दुःखमपिस्फुटम्।
तत्सम्बन्धलवेप्यत्र, प्रीति प्राणव्ययैरपि।।

अन्तवेलायामेतत्त्रयं पतिपद्यते–अक्षितमस्यच्चुतमसि प्राणसंशितमसि-इति।।

(छा.उ. ३/१७/६)

अत्रैते द्वे ऋचौ भवतः–आदित् प्रत्नस्य रेतसः। उद्वयं तमस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्य मगन्मज्योतिरूत्तरं ज्योतिरूत्तरम्।। (छा.उ. ३/१७/७)

चित्त के द्रवी (पिघलनशील) भाव कर उससे आद्रता प्राप्त को प्रेमा स्नेह कहते हैं। यदि क्षणिक (लघुकाल) भी स्नेह हो जाय तो उसके विश्लेष (वियोग) सहन करने की शक्ति भी हो। इस प्रकार के राग सहित प्रीति जहाँ हो और सुख-दुःख की स्फुट (प्रत्यक्ष) स्थिति हो तो उस सम्बन्ध के क्षण की प्रीति को प्राप्त करने के लिए प्राण त्याग भी स्वल्प होता है। इस अवस्था विशेष को प्रेमाभक्ति के नाम से जाना जाता है। (भक्ति र.सि. ३/२)

अन्त समय (मरणकाल) उपस्थित होने पर इन तीन मन्त्रों को (प्रतिपन्न होकर) जप करे। वह मन्त्र है तुम अक्षित अर्थात् अक्षीण (अक्षय) हो। जीव परमात्मा के आत्मा स्वरूप वाला ही है। उस आत्मा के सम्बन्ध में पूर्व की जो भ्रान्ति थी कि मैं शरीर हूँ उसे नष्ट (नाश) करने वाला यह मन्त्र है। इसलिये कहा कि तुम 'अक्षितमसि'। द्वितीयमन्त्र है—'अच्युत मसि' तुम च्युत होने वाला नहीं हो अर्थात् तुम आत्मस्वरूपवाला हो इसलिये तुम इस स्वरूप से कभी च्युत नहीं हो सकते। तीसरा मन्त्र है—'प्राणसंशितमसि' तुम जो प्राण सूक्ष्म किया गया है वह तुम हो। पूर्व के विचारकों से भिन्न मेरे मत में यहाँ यह अर्थ उत्तम होना चाहिये। तुम प्राणों से भी सूक्ष्मतम हो अर्थात् आत्मा स्वरूप वाला हो। (छा.उ. ३/१७/६)

जिसकी इन्द्रियाँ विषयों की वासना से सर्वथा निवृत्त हो चुकी है वह शुद्धचित्त वाला ब्रह्मवेत्ता पुरुष सबसे पुरातन बीज के रूप में उस ब्रह्म को जानते है। जिस देव से यह सूर्य-चन्द्रमा देदीप्यमान है ऐसे देव (ब्रह्म) को वे चारों ओर से प्रकाशमय जानते हैं, कहा गया यह पहला मन्त्र है। अब दूसरे मन्त्र को कहा जा रहा है। 'उद्वयं तमस्परि' इत्यादि।

अर्थ है—अज्ञान रूप अन्धकार से अतीत जो उत्कृष्ट ज्योति है वह सूर्यमण्डलस्थ ब्रह्मतेज (प्रकाश-ज्योति) है जो व्यवधान रहित अर्थात् नित्य है। वह ज्योति 'स्व' आत्मीय अर्थात् हमारे अन्तःकरण में स्थित तेज (ज्योति) ही है। दोनों 'स्व' ज्योति और आदित्य (ब्रह्म) ज्योति एक ही है। जिस तेज (ज्योति) को हम प्राप्त हुए है वह तेज द्योतनमान सूर्य को प्राप्त

अहं ब्रह्मा च विष्णुश्च, जगतः कारणं परम्।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा, स्वयं दृगविशेषणः।।
आत्मना यां समाविश्य, सोऽहं गुणमयीं मुने।
सृजन्रक्षन्हरन्विश्वं, दधे संज्ञाः क्रियोचिताः।।
अद्वितीये परे तस्मिन्, ब्रह्मण्यात्मनि केवले।
अज्ञः पश्यति भेदेन, भूतानि ब्रह्म चेश्वरम्।।
मत्परः पूजयेत् देवान् सर्वानपि विचक्षणः।
स ज्ञानं लभते येन, मुक्तिर्भवति शाश्वती।।

(शिवपुराणां रू.स. ४३)

विधिभक्तिं विना नैव, भक्तिर्भवति वैष्णवी।
विष्णुभक्तिं विना नैव, भक्तिः क्वापि प्रजायते।।

हुए हैं वह उत्तर (उत्कृष्टतम) ज्योति है। उत्कृष्टतम ज्योति को प्राप्त करना हमारे लिये आश्चर्य की बात है। दाढ्यार्थ द्वित्वम्। किसी को अत्यन्त रूप से कहने को दाढ्य कहते हैं। यहाँ आचार्य शंकर ने आश्चर्य अर्थ का ग्रहण कर भाष्य उद्धृत किये हैं 'ज्योतिरूत्तमं सर्वज्योतिर्भ्य उत्कृष्टतममहो प्राप्ता वयमित्यर्थः।।' (शांकर भाष्य, वृत.उ. ३/१७/१२)

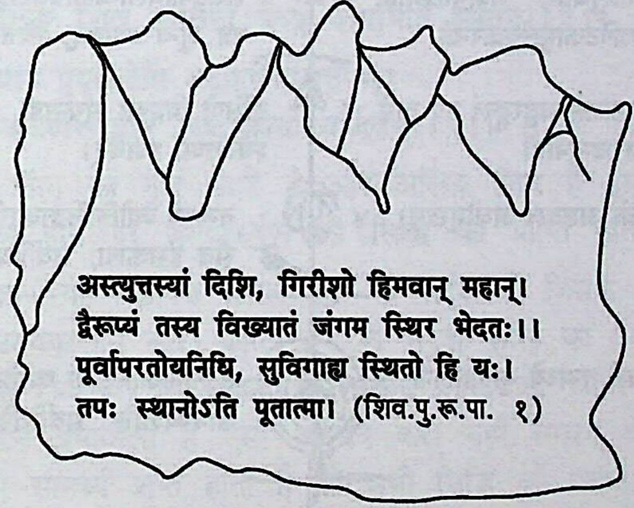
भगवान् शिव कहते हैं—मैं ही ब्रह्मा और विष्णु हूँ। जगत् का परम कारण मैं ही हूँ। आत्मा-ईश्वर-उपद्रष्टा (उपदेश करने वाला गुरु), केवल स्वरूप अथवा स्वयं दृग् (चक्षु) और सभी विशेषणों से रहित हूँ। आत्मना प्रविष्ट हुआ मैं गुणमयी सृष्टि स्वयं हूँ। सृजन करता हुआ-पालन करता हुआ और संहार करता हुआ जो रूप भेद दिखाई देता है क्रियोचित् संज्ञाएँ हैं अर्थात् क्रिया भेद के कारण दिखाई देता है, सबसे परे अद्वितीय परब्रह्म केवल स्वरूप को अज्ञ (अज्ञानी) लोग अपने में स्थित दोष के कारण ही उनमें भेद को देखते हैं। उस अज्ञानी के हृदय में जो भेद बैठा है वही उसे बाहर भी दिखायी देता है। इसलिए वह जीवात्माओं में ब्रह्म में और ईश्वर में भेद करते हैं और आत्मा (ब्रह्म) से पर (अन्य) को पूजते हैं, परन्तु हमसे कोई देवता भिन्न नहीं है शिव तत्त्व ही सभी भूतों एवं देवताओं में है, ऐसा विचक्षण विद्वान् ब्रह्मवेत्ता लोग मुझे जानते हैं। जो मुझे उपर्युक्त स्वरूप से जानते है वे शाश्वती मुक्ति को प्राप्त करते हैं। (शिव पु.रू.स. ४३)

विधि (ब्रह्मा) की भक्ति के विना वैष्णवी भक्ति निश्चित रूप से नहीं होती। श्रीविष्णु के भक्ति के विना कहीं भी किसी भी देवता के प्रति भक्ति उद्भूत नहीं होती है। हरि का भक्त

हरि भक्तो हि मां निन्देत्, तथा शैवो भवेद्यति।
तयोः शापा भवेयुस्ते, तत्त्वं प्राप्तिर्भवेन्न हि।।

(शि.पु.रू.स. ४३)

दक्षः
|
स्वधा-पितृभ्यः
|
मैना-धन्या-कला। (शिव पु.रू.पा. १)



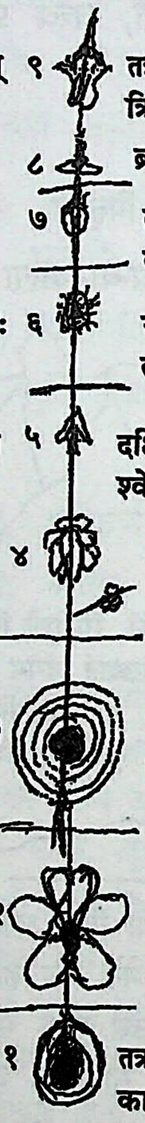
यदि मेरी (शिव की) निन्दा करते हैं तथा शिव भक्त यदि हरि की निन्दा करते हैं तो वे पाप और शाप के भागी होते हैं अर्थात् वे मेरे और हरि के अपमान करने के कारण कोपभाजन होते हैं, क्योंकि वे पापी होते हैं और उसे कभी भी तत्त्व (ज्ञान) की प्राप्ति नहीं होती। अतः 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' ज्ञान के विना वे मुक्ति के अधिकारी नहीं होते। (शि.पु.रु.स. ४३)

दक्षप्रजापति की कन्या स्वधा थी। वह पितरों के देवता कव्य वहन करती हैं। कव्य पितृगणों को निवेदित किये जाने वाले भाग को कहते हैं और उसे वहन (उस कव्य को) यथापितृदैवत पहुँचाने के कारण वह हव्यवाह कहलाती है। वह अग्नि की पत्नी स्वधा की तीन कन्याएँ हुईं जिनके नाम-मैना-धन्या और कला है। (शि.पु.रू.पा. १)

भारत के उत्तर दिशा में पर्वतराज हिमालय हैं वे महान् (विस्तृत-विशाल) है। उनके द्वैविद्ध्य रूप प्रसिद्ध हैं। वे द्वैविद्ध्य स्थावर और जंगम रूप है। उसके पूर्वापर समुद्र है जिससे वे नित्य प्रक्षालित होकर स्थित रहते हैं। वहाँ पर पूतात्मा (निष्पाप सन्त-महात्मा) लोग तप किया करते है। इसलिए उनके तप स्थान हिमालय कहे गये हैं। उनकी तपस्या से भी हिमवान् पवित्र हो रहे होते हैं।

।। नवचक्र विवेकः ।।

सर्वेच्छा सिद्धिः



आकाचक्रं तां पश्यन्ध्यायेत् पूर्णगिरिपीठम् ९ — तत्र षोडशदलपद्ममूर्ध्वमुखम्, तन्मध्यकर्णिका-त्रिकूटाकारं तन्मध्ये ऊर्ध्वशक्तिः।

आज्ञाचक्रं ८ — ब्रह्मरन्ध्रं निर्माणचक्रं तत्र धूम्रशिखाकारं ध्यायेत्।

भ्रूचक्रमङ्गुष्ठमात्रं ७ — तत्र ज्ञाननेत्रं दीपशिखाकारं ध्यायेत्। वाक्सिद्धिदं भवति।

तालुचक्रं, तत्रामृतप्रवाहः घण्टिकामूलंचक्ररन्ध्रौ ६ — राजदन्तावलम्बिनीविवरं द्वादशारं, तत्र शून्यं ध्यायेत्, चित्तलयो भवेत्।

कण्ठचक्रं चतुरङ्गुलं तत्र वामे इडा चन्द्रनाडी ५ — दक्षिणे पिङ्गला सूर्यनाडी, मध्ये सुषुम्नां श्वेतवर्णां ध्यायेत्।

हृदयचक्रं अष्टदलं अधोमुखम्। ४ — तन्मध्ये ज्योतिर्लिङ्गाकारं ध्यायेत्, सैव हंसकला, सर्वप्रिया।

नाभिचक्रम् पञ्चावर्तं तन्मध्ये कुण्डलिनी ३ — बालार्ककोटिप्रभां ध्यायेत्। सामर्थ्यशक्तिः सर्वसिद्धिप्रदो भवति।

स्वाधिष्ठानम्-षट्दलम् तत्रैवोड्यान पीठम् २ — तन्मध्ये पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं प्रवालाङ्कुरसदृशं ध्यायेत्। जगदाकर्षणसिद्धिप्रदम्।

आधारे ब्रह्मचक्रम् त्रिरावृत्तं भगमण्डलाकारं १ — तत्र मूलकन्दे शक्तिं पावकाकारं ध्यायेत् तत्रैव कामपीठम्। सर्वकामप्रदं भवति।

(सौभाग्य लक्ष्म्युपनिषद्)

प्रतीक चित्रों के माध्यम से ९ (नौ) चक्रों के स्थान और स्वरूप एवं उससे प्राप्त होने वाले फल (सिद्धि) को क्रमवार सुगमता पूर्वक बोध कराने वाली शैली के द्वारा दर्शाया गया है। जिसके सम्बन्ध में बोध प्राप्त करने के लिये इस प्रकार साधक को समझ आवश्यक है कि—

१. **ब्रह्मचक्र**—इसे मूलाधारचक्र भी कहते हैं। यहाँ उसी को ब्रह्म संज्ञा दी गयी है। यह लिंग स्थान के नीचे और गुदा स्थान से ऊपर दो-दो अङ्गुलि के अन्तराल स्थान पर शरीर में है। यह त्रिवृत्ताकार कमलदल सदृश है। अन्य तन्त्रयोग मत में यह त्रिदल कमल,

कहीं त्रिकोण स्वरूप से कहा गया है। यहाँ साधक को मूलकन्द में अग्नि के आकार के शक्ति का ध्यान करना चाहिये। यही कामपीठ है। इस पीठ पर शक्ति विराजमान है और वह अग्निस्वरूपा है उसी का ध्यान करे। यहाँ शक्ति के सम्यक् ध्यान परिपक्वता सम्पन्न होने पर सभी कामनाओं की पूर्ति आद्याशक्ति पराम्बा सर्वशक्तिस्वरूपा अन्नपूर्णाख्या करती है।

२. **स्वाधिष्ठानचक्र**—यह नाभि के नीचे और लिङ्ग स्थान के ऊपर शरीर में स्थित है। यह षड्दल कमल के सदृश है। इसी स्थान पर उड्यानपीठ है। उस पीठ पर विराजमान प्रवाल के अङ्कुर सदृश (समान) पश्चिमाभिमुख लिङ्ग शक्ति का ध्यान करे—

अलिङ्गो लिङ्गमूलं तु अव्यक्तं लिङ्ग मुच्यते।
अलिङ्ग शिव इत्युक्तो लिङ्गं शैवमिति स्मृतम्।।१।।

प्रधानं प्रकृश्चेति यदाहुर्लिङ्गमुत्तमम्।
गन्धवर्णरसैर्हीनं शब्दस्पर्शादिवर्जितम्।।२।। (शिव पुराणे अ. १)

अव्यक्त को लिंग का मूल कहते है और अलिङ्ग शिव हैं इत्यादि। यहाँ लिङ्ग के सम्यग् ध्यान सम्पन्न होने पर जगदाकर्षण की सिद्धि की प्राप्ति होती है।

३. **नाभिचक्र**—यह पञ्चावृत्त कमल दल के सदृश है जिसके मध्यकुण्डलिनी स्थित है। यहाँ बालार्क (उदयकालीन सूर्य) कोटि प्रभा के सदृश शक्ति का ध्यान करें। प्रात:कालीन उदित सूर्य की प्रभा (प्रकाश) के समान प्रकाशवाली शक्ति का ध्यान करे और वह शक्ति कोटि सूर्य के समान प्रभावाली है ऐसा अनुभव करे। यहाँ सम्यग् ध्यान सुसम्पन्न साधक को सभी प्रकार का सामर्थ्य प्राप्त होता है जो सभी सिद्धि को प्रदान करने वाला होता है।

४. **हृदयचक्र**—यह अधोमुख अष्टदलकमल सदृश है। यहाँ पर (चक्रमध्य में) ज्योतिर्लिङ्गाकार ध्येय का ध्यान करे। यही सर्वप्रिया हंसकला नाम से कही गयी जाती है। यह हृदय स्थान में स्थित है।

५. **कण्ठचक्र**—यह कण्ठ प्रदेश में चतुर्दल कमल सदृश (चार अंगुल प्रमाण का है। इसके वामभाग में इडानाड़ी है। इसी इडानाड़ी को चन्द्रनाड़ी भी कहा जाता है। इस चक्र के दक्षिण भाग में पिङ्गला नाम की नाड़ी है। इसी नाड़ी को सूर्य नाड़ी भी कही जाती है। इस दोनों नाड़ी के मध्य में सुषुम्ना नामक नाड़ी है। इसका वर्ण श्वेत वर्ण है। इस चक्र में सुषुम्ना नाड़ी में ध्येय का ध्यान साधक को करना चाहिये।

६. **तालुचक्र**—यह चक्र घण्टिका मूल (कण्ठ की कौड़ी) स्थान में स्थित है। यहाँ अमृत प्रवाह होता है। अमृत का श्राव होने पर साधक जिह्वा को उलटा कर उसे पान करते हैं। यहाँ राजदन्तावलम्बिनी (राजदन्त के समान लटकी हुई) द्वादशार (द्वादशकमल) जो कण्ठ विवर में होता है उसमें शून्य के आकार (निरूप) का ध्यान करें। इस चक्र में शून्य का ध्यान सम्यग् सुसिद्ध हो जाने पर चित्त का लय (नाश) हो जाता है।

चिदणोः परमस्यान्तः, कोटिब्रह्माण्डरेणवः।
उत्पत्ति स्थितिमभ्येत्य, लीयते शक्तिपर्ययात्।।
स्वात्मनि व्योमनि स्वस्थे, जगदुन्मेष चित्रकृत्।
चेतनोऽसौ।।
तद्भामात्रमिदं विश्वम्।। (महौपनिषद्)

---

७. **भ्रूचक्र**—यह चक्र आँख के ऊपर स्थित भ्रूहों (भौहों) के मध्य और घ्राण (नाक) के मूल में स्थित है। यहाँ दीप शिखा (दीपक के लौ के आकार) के आकार के ध्येय का अर्थात् ज्ञान नेत्र का ध्यान करें। इस ज्ञान नेत्र में ध्यान सुसिद्ध होने पर वाक् (वाणी) की सिद्धि होती है।

८. **आज्ञा चक्र**—यहाँ पर ब्रह्मरन्ध है इसलिए इसे निर्माण चक्र कहा जाता है। इस चक्र में धूम्र शिखाकार (धूम्र वर्ण की लौ का आकार) का ध्यान करे। धूम्रवर्ण से आकाश के रूपक भी लिया जा सकता है या मेघ वर्ण का रूपक भी ग्राह्य हो सकता है। जिस आकाश (शून्य) के समान से व्यापक और उपाधिशून्यता को इंगित करता/अर्थ ध्वनित होता है। (यह व्याख्याकार का स्वयं का विचार है।)

९. **आकाश चक्र**—यहाँ पर पूर्ण गिरि पीठ है। पूर्ण गिरिपीठ पर विराजमान शुद्धचिद्रूपा आद्याशक्ति का ध्यान करे। यहाँ षोडशदलकमल उर्ध्वमुख (खिले हुए उर्ध्वमुख कमल) है। उसके मध्य उसकी कर्णिका (पत्ता) जो त्रिकूटाकार है उसमें शुद्धचिद्रूपा आद्या शक्ति विराजमान है, उसका ध्यान करे। इसमें ध्यान सुसिद्ध होने पर सभी इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है अर्थात् साधक पूर्णकाम हो जाता है। (सौभाग्यलक्ष्युपनिषद्)

यहाँ प्रसङ्ग का अध्याहार किया जाता है। शुकदेव नामक परम तेजस्वी मुनि जो सदा ही आत्मानन्द में लीन रहते है; वे चिन्तन-मनन कर स्वविवेक से निश्चय किया कि उस परमात्मा का स्वरूप चिद्रूप है। उसके मनरूपी षष्ठ इन्द्रिय में स्थित होने के कारण यह आत्मा अणु परिमाण है, चिन्मात्र है, आकाश से भी अत्यन्त सूक्ष्म है। इस चिद्रूपी अणु के अन्दर (भीतर) कोटि-कोटि ब्रह्माण्डरूपी रेणुकाएँ शक्ति क्रम से उत्पन्न-स्थित और विलीन (नाश) होती रहती हैं। वाह्यशून्यता के कारण आत्मा आकाश स्वरूप है। चिद्रूपता के कारण अनाकाश स्वरूप है, उसका निर्देश नहीं किया जा सकता अतएव वह अवस्तु है, उसकी सत्ता है इसलिए वह वस्तुस्वरूप है, प्रकाशात्मक होने के कारण वह चेतन है, और वेदना का विषय न होने के कारण वह शिला के समान है। अपने अन्तस्थ आत्माकाश में वह चित्र-विचित्र-नाना प्रकार के जगत् उन्मेष करती है। यह विश्व उसके आत्मप्रकाशमात्र है इसलिए उससे पृथक् नहीं है। (महोपनिषद्)

सर्वसंकल्पसंन्यासः, चेतसा यत्परिग्रहः।
चेतो वासनया पङ्के, कीटवत्परिमज्जति।
दृश्यमात्रावलम्बिन्या, स्वया दीनतया तया।।४०।।
तावत्तावन्महावाहो, स्वयं संत्यज्यतेऽखिलम्।
यावद् यावत्परालोकः, परमात्मैव शिष्यते।।४१।।
तावत्प्रक्षाल्यते धातुः, यावद्धेमैव शिष्यते।।
तावदालोक्यते [1]सर्वं, यावदात्मैव लक्ष्यते।।४२।।
१. अध्यात्मशास्त्रम्। (योगवाशिष्ठः ५/५८)
[1]सर्वः सार्विकया बुद्ध्या, सर्वं सर्वत्र सर्वदा।।
सर्वथासम्परित्यज्य, स्वात्मनात्मोपलम्यते।।४३।।
१. पूर्णात्मा। (योग वा. ५/५८)

उन शुकदेव जी ने यह अवगत किया कि सभी संकल्प-विकल्प का परित्याग कर देने पर जो केवल-शुद्धचेतन-निरञ्जन रूप आत्मबोध होता वही मैं हूँ। यह स्व ज्ञान द्वारा विनिश्चित वस्तु ही मैं हूँ। इस प्रकार का बोध स्वयं से ही प्राप्त किया जा सकता। इसे प्राप्त करने के लिए अन्य कोई अन्य साधन उपयुक्त नहीं हो सकता। (महोपनि.)

महात्मा माण्डव्य ने कहा हे किरातराज सुरघो! जिस प्रकार कीट (कीड़े) पङ्क (कीचड़) में निमग्न हो जाने पर दीनभाव प्राप्त कर लेता, असहाय सा अपने को हो जाता। वह हाथ-पैर चलाते-चलाते असमर्थ हो जाता है और अन्ततः शिथिल शरीर होकर उसमें धसता ही चला जाता है उसी प्रकार यह जीवात्मा दृश्यमात्र (जगत् चित्र) को प्राप्त कर उसी में दिनों दिन निमग्न होते चला जाता है और निर्मल आत्मवस्तु (शरीर) को उसमें निमज्जित करने के कारण अपने सामर्थ्य "विज्ञानं ब्रह्मं" को विस्मृत कर देने के फलस्वरूप कष्टतर जीवन को प्राप्त हो कृत कर्म फल को भोगने को विवश होता है। वह अनुकूल-प्रतिकूलफल को भोगता हुआ अपने को असहाय सा अनुभव करता है। इसलिए तुम्हारे अन्तःकरण में जो वासना से अवलम्बित दृश्य (जगच्चित्र को) है, को सत्य समझने के कारण दीनता को प्राप्त हो उस उपर्युक्त कीड़े की भाँति भोगों में पच रहा है। उस मिथ्याभूत जगच्चित्र की वैविध्यतारूप (अज्ञानजन्य) मिथ्या ज्ञान से अपने को रक्षित करो। क्योंकि जो सर्वात्मिका बुद्धि से सब देश-काल में सभी प्रकारों से परिपूर्ण दृश्य में प्रपञ्च का परित्याग कर देता है उसे सर्वरूप परमात्मा स्वयं (अपने आप) उपलब्ध हो जाता है। परन्तु जब तक सम्पूर्ण दृश्यों का परित्याग नहीं हो

शान्तरसः। ज्ञानभक्ति रसः।
स्थायीशान्तिरतिः। शमिनाम्।
चिदानन्दानन्दसान्द्रांग, आत्मारामशिरोमणिः।
परमात्मापरं ब्रह्म, स्वसिन्नालम्बनो हरिः।।
श्रुति महोपनिषदां, विविक्तस्थानसेवनम्।
ज्ञानिभक्तेन संसर्गः, ब्रह्मसत्रादयस्तथा।।
अन्तर्वृत्तिविशेषोऽस्य, विभावा उद्दीपनाः स्युः।
नासाग्रन्यस्तनेत्रत्वं, अवधूतविचेष्टितम्।
युगमात्रेक्षितगतिः, ज्ञानमुद्रा प्रदर्शनम्।।

जाता है तब-तक परमात्मा का साक्षात्कार दुर्लभ ही है, क्योंकि सभी अवस्थाओं का परित्याग कर देने पर जो शेष बचता है वही परमात्मा कहा गया है। हे निषादराज! जीवात्मा अन्यान्य कार्यों का परित्याग कर आत्मना (मन के द्वारा) जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है वही पाता है, उससे भिन्न (अन्य वस्तु) को नहीं पाता। अतः अपने आत्मा के अपरोक्ष बोध (साक्षात्कार) करने के लिए जगत्प्रपञ्च का परित्याग कर देना चाहिये। जगत् के सर्वत्याग पूर्वक अन्त में जो शेष दृष्टि गोचर होता है वही जीवात्मा का परम पद है। इसलिए इस विचित्र (विभिन्न) स्वरूप में स्थित जगत्प्रपञ्च का सर्वथा त्याग कर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' नेह नानास्ति किञ्चन' (श्रुति) इस श्रुति प्रतिपादित तथ्य को मननादि द्वारा सुनिश्चित कर अपने निर्मल आत्मा जो सकल कर्तृत्वादि-भोक्तृत्वादि कर्ता-कर्म उपाधि का परित्याग कर शेष में अवस्थित—आत्मावलम्बन करो। (योग वा. ५/५८/४०,४१,४२,४३)

शान्तरस ही ज्ञानभक्ति रस है अथवा ज्ञानभक्तिरस का सुपरिपाक ही शान्तरस को जन्म देता है ऐसा समझना चाहिये। शान्ति में स्थायी रति योगियों को होता है। यह तपस्वियों के आलम्बन का विषय होता है।

सच्चिदानन्द (सत्-चित और आनन्द) से परिपूर्ण (परिसिक्त) आत्माराम (आत्मा में ही रमने वाला) सभी वस्तुओं में (सभी अवस्थाओं में) श्रेष्ठ (उत्तम) जो अवस्था है वही सबों से परे परमात्मा ब्रह्म है और इस सब जगद् वस्तुओं में स्थित एवं यह जगत् उसमें स्थित है। इस तरह से विचार-मन्थन करने वाला साधक भक्त महोपनिषद् में बताये गये साधनभूत विविक्त (निर्जन-शून्य) जगह का आलम्बन करें। वहाँ पर निरन्तर नित्य ज्ञानी भक्तों के साथ सत्संग करें और ब्रह्मविषयक विचार का कथोपकथन कर तत्त्वान्वेषण करे। साधक भक्त के निरन्तर ऐसा करने पर अन्तःवृत्ति विशेष का उदय हो जाता है और विभाव

नैरपेक्ष्यं निर्ममता, निरहंकारिता तथा।
मौनमित्यादयः शीता, अनुभावा भवन्ति हि।। (भक्ति र.सि.)
चिद्घनेकघनात्मत्वात्, जीवान्तर्जीवजातयः।
कदलीदलवत्सन्ति, कीटा इव धरोदरे।। (योगवा. ४/१९/२)



अनुत्क्रीणैव भातीव,
त्रिजगच्छालभञ्जिता।
चित्स्तम्भेनैव सोत्क्रीणा,
नचोत्कर्तात्रविद्यते।।
(यो.वा. ३/१५/२)

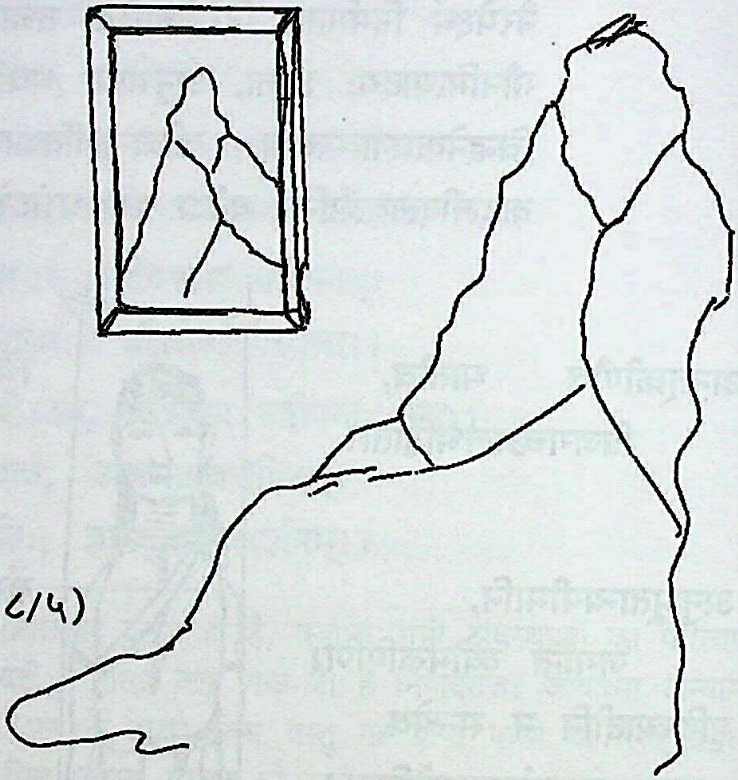
अनुभूतान्यपीमानि,
जगन्ति व्योमरूपिणि।
पृथिव्यादीनि न सन्त्येव,
स्वप्नसंकल्पयोरिव।।
(३/१५/६)

संसारभ्रान्तयो भान्ति,
मृगतृष्णाम्बुवन्मृषा।।
(यो.वा. ३/१७/८)

आदि गुण में उद्दीपन (विस्तार) होता है। वह उसके बाद नासाग्रवर्ती दृष्टि करके अवधूत की अवस्था को प्राप्त (वाह्य जगद्वृत्तिशून्य) होकर उपास्य संयोग दर्शन मात्र स्थिति को प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने को लय कर उपास्यमात्र का दर्शन जब रह जाय तो उक्त स्थिति की प्राप्ति में उदित उन अन्तःवृत्तियों को तथा तज्जन्य ममता-अहंकारिता का भी परित्याग कर दे। यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि जब उपासक उपासना (समाधि) में प्रविष्ट होता है तो अन्तःकरण की वृत्ति विशेष द्वारा यह मेरा स्वरूप है अनन्तर "मैं यह हूँ" का बोध होता है इसी को ममता और अहंकारिता कहा गया। अतः इसे परित्याग (लय) करके, इससे निरपेक्ष होता हुआ, मौन (स्थिर-ठूँठ के समान) शान्त भाव को प्राप्त करें। उक्त स्थिति को प्राप्त करना ही अनुभाव कहा गया है। (भक्ति र.सि.)

यह चिदात्मा एक होते भी बहुत है सब में है। इसलिए जीवात्मा अन्तर (भीतर) देह वाला है। यथा—कदली स्तम्भ एक होता है परन्तु उसके भीतर अनेक परत (छिलके) के रूप से प्राप्त होते है। जीव में जीव से तात्पर्य यहाँ है कि शरीर में स्वेदज जीव होते है।

जिस प्रकार सागर के जल के भीतर स्पन्दन (हलचल) क्रिया होती है और जल का लहर जल के रूप में ही (स्वरूप के त्यागे विना ही) प्रकट होते हैं उसी प्रकार परमात्मा

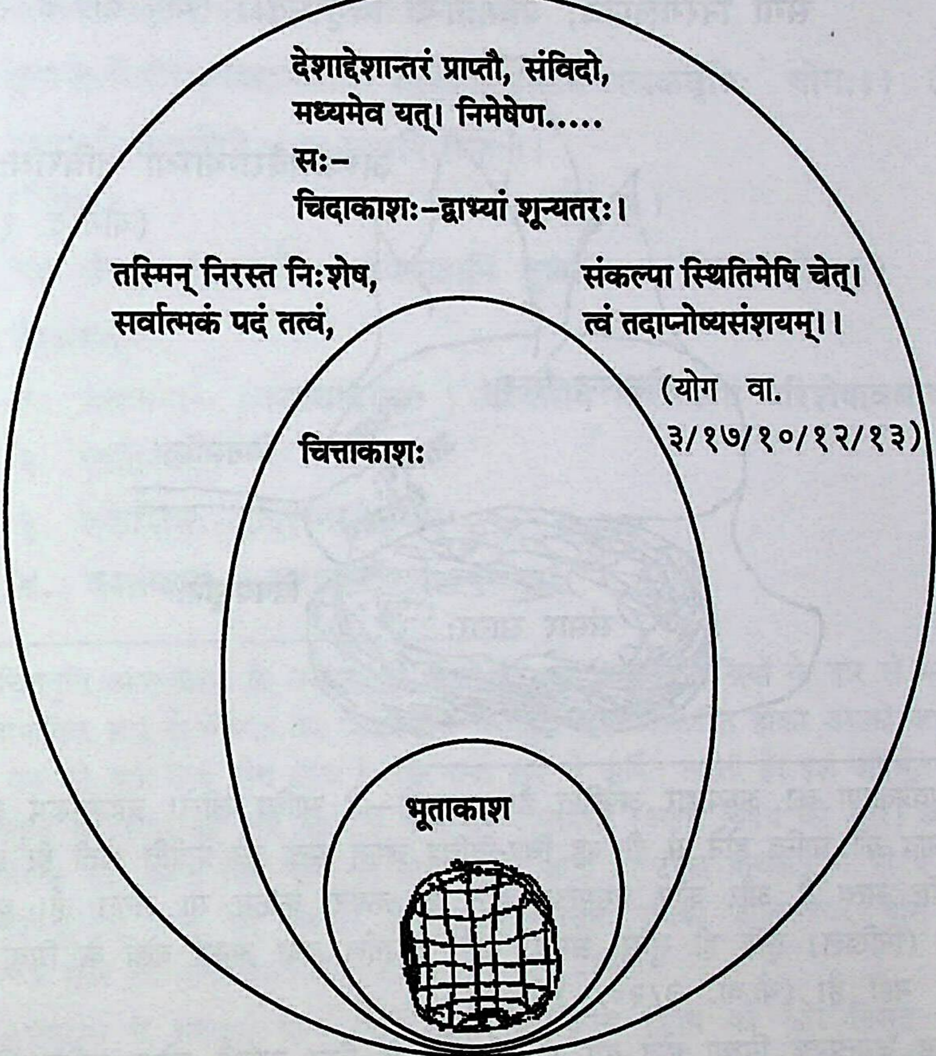


आदर्शे अन्तर्वहिश्चैव,
यथा शैलोऽनुभूयते।
बहिरन्तश्चिदाकाशे,
तथा सर्गोऽनुभूयते।।
(योग वा. ३/१८/५)

में दृश्य जगत् की प्रतीति होती रहती है। यथा स्वप्न और संकल्प (मनोरथ) में प्रतीत होने वाले घट-पट अनुभव में आने पर भी वास्तविक नहीं है, उसी प्रकार चेतनाकाशरूपी परब्रह्म परमात्मा में दृष्टि गोचर होने वाले ये जगत्प्रपञ्च इन्द्रियों के अनुभवगम्य होने पर भी यथार्थ नहीं है। जैसे शाल (वृक्ष विशेष) काष्ठ में चित्रकारी (चित्र-मूर्ति) बन जाने पर वह काष्ठ रूप ही वस्ततस्तु होता है। काष्ठ चित्र है और चित्र काष्ठ है ऐसा विचार (विवेक) से सुनिश्चित होता है उसी प्रकार सकल जगत्प्रपञ्च परमात्मस्वरूप है, अथवा परमात्मा जगद्रूप ही है, कोई अन्य वस्तु नहीं है। (यो.वा. ४/१९/२,३/१५/२)

जिस प्रकार सूर्य के तेज से तप्त बालुका में जल की लहर (प्रवाह) की भ्रान्ति (मृगतृष्णा रूपक) होती है वास्तविक में वह जल नहीं है, उसी प्रकार इस विज्ञानाकाश स्वरूप जगत् में मूर्तरूप होना कदापि सम्भव नहीं है। जिसमें मूर्तरूप नहीं होता तथा संकल्प कल्पित नगर के समान सर्वथा मिथ्या है उस जगत में जो दृश्यता की प्रतीति होती है वह मरूमरीचिका में दृष्टि गोचर होने वाली नदी के समान भ्रान्तिरूप ही है। (यो.वा. ३/१७/८)

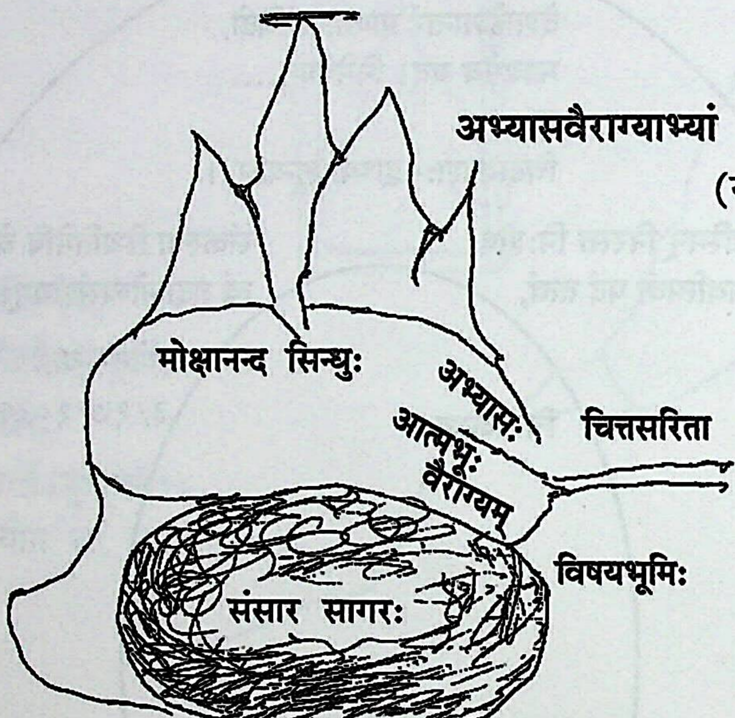
जिस प्रकार आदर्श (दर्पण) में शैल (पर्वत) वन के वृक्षों से घिरे हुए दिखाई देता है उसी प्रकार वही वृक्षों से घिरे पर्वत बाहर भी दिखाई देता है। अर्थात् पर्वत भीतर (दर्पण में) और बाहर (जगद्रूप में) भी दिखाई देता है, उसी प्रकार इस चिदाकाश रूपी दर्पण में अन्दर और वाह्य जगत् की सृष्टि दीखती है। (यो.वा. ३/१८/५)



भगवती सरस्वती और महारानी साध्वी सती लीला की वार्ता अध्याहार करें। सरस्वती— हे लीले! एक शुद्ध चेतन परमात्मस्वरूप प्रकाश है, दूसरा मनरूप आकाश है और तीसरा सुप्रसिद्ध भूताकाश है। चित्ताकाश और भूताकाश—इन दोनों से जो सर्वथा शून्य है वही चिदाकाश है। तुमने जो देशान्तर प्राप्त अपने पति के सम्बन्ध में पूछा कि वह कहाँ और कैसे है? सो वह इसी चिदाकाशमय कोश में जो स्थान है उसी में स्थित हैं। अतः तुम एकाग्रचित् से तन्मय होकर चेतन आकाश का चिन्तन करो। पृथक् विद्यमान न होने पर भी उसका दर्शन हो सकेगा और अनुभव हो सकेगा। तुम सभी सकल्पों का त्याग करके उस चेतनाकाश में स्थिति हो जाओ। उसमें (चेतनाकाश में) स्थित हो जाने पर उस परमात्मतत्त्व स्वरूप पद को प्राप्त कर लोगी, इसमें कोई संशय का स्थान नहीं है। (यो.वा. ३/१७/१०/१२/१३)

सर्गो निरर्गलानर्थ; बोधान्नान्यो विजृम्भते।। (योग वा. ३/२०/५)

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।।
(योग द. १/१२)



पूर्वप्रकरण का अध्याहार अपेक्षित है। सरस्वती—हे साध्वि लीले! ब्रह्मस्वरूप आकाश में जीवभाव की भ्रान्ति होने से ही यह चित्र-विचित्र जगत् सत्ता की प्रतीति होती है। इसलिये कौन सृष्टि सत्य है और कौन भ्रममूलक है? यह कहना कठिन सा लगता है। यथार्थतः तो सारी (निखिल) सृष्टि ही सुतरां भ्रमरूप और अनर्गल तथा अनर्थ बोध के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। (यो.वा. ३/२०/५)

वह जगत्प्रपञ्च मिथ्या होते हुए भी जीवात्मा के लिए उसकी उपेक्षा कठिन ही होता है। इसलिए साधक को उस भ्रमात्मक-मिथ्याभूत अज्ञान की निवृत्ति के लिए 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' अभ्यास और वैराग्यभाव को अंगीकार कर (जगत् के अनर्थकारी होने के कारण उसमें दोष है ऐसे) विचार के निरन्तर अभ्यास करने रहने पर उससे निवृत्ति सम्भव होती है। यह अभ्यास तब-तक होते रहना चाहिये जब तक जगद्भ्रान्ति दूर न हो जाय और जगत् प्रपञ्च में प्रपञ्चाभाव की दृष्टि दृढ़ होकर परमात्मामय सर्वत्र दर्शन न होने लगे। जब सर्वत्र 'रूपं-रूपं प्रतिरूपं बभूव' (श्रुति) प्रति नाम और स्वरूप-ब्रह्ममय-परमात्मामय अनुभव न हो तब तक संसार की भ्रान्ति है ही ऐसा जानना चाहिये। परमात्ममय दृष्टि प्राप्त हो जाने पर मोक्षानन्द सिन्धु में क्रीडन स्वतः होने लगेगा और परमा शान्ति को प्राप्त हो सकेगा। यह स्थिति जब तक संसार प्रपञ्च में हेय बुद्धि उत्पन्न नहीं होगी और वैराग्य वृत्ति परिपक्व नहीं हो जाती तब तक दुरुह ही है। (यो.द. १/१२)

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।। (यो.द. १/२)

वृत्यन्तरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्विकल्पकवृत्तिः योगः।। (टी.)

मय्येकचित्ततायोगो, वृत्यन्तरनिरोधतः।।
(शिवः) (कूर्म पु.)

यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं, पश्यन्नात्मनि तुष्यति।। (श्रीमद्भ.गी. ६)

वैराग्यम्–

१. यतमानः– (क्वचिद्विरागः) अभ्यासेन कषायाणां परिशेषावधारणम्।

२. व्यतिरेकः।

३. एकेन्द्रियः–हृदिरागसौक्ष्म्यम्।

४. वशीकारः–तस्याप्यभावः।

चित्तवृत्ति अन्तःकरण के व्यापार को कहते हैं। वह चित्तवृत्ति इन्द्रियों के द्वार से बाहर की ओर स्वाभाविक रूप से निकल कर विषय देश में पहुँच कर तदाकारित होकर उसको जान लेती है और मन को यथा अर्थ बोध होता है और तथा रूप से अर्पित करती है। इस बहिर्भूत स्वभाव की चित्तवृत्ति को बाहर की ओर जाने से रोक कर अन्तर्मुखी (आत्म विषय की ओर) आन्तरिक्त प्रयत्न विशेष द्वारा करना चित्त वृत्ति का निरोध कहा जाता है। टीका ग्रन्थकार ने भी प्रायः इसी से मिलती-जुलती बात को लिखते हैं—वृत्यन्तर-निरोध पूर्विका आत्मगोचर धारा वाहिक निर्विकल्पक वृत्ति को योग कहते हैं। (यो.द. १/२ एवं टीका)

कूर्मपुराण में भगवान् शिव स्वयं कहते हैं—'अन्य विषय की ओर निसृत चित्तवृत्ति का निरोध कर मुझ (शिव) में एक चित्तता (एकात्मता) प्राप्ति को योग कहते हैं' (कूर्मपुराण)

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—'जहाँ पर आत्मा के द्वारा आत्मा को देखता हुआ (अनुभव करता हुआ) जो आत्मा में ही तृप्त हुआ जाता है' इत्यादि योग अर्थ को ही परिभाषित करता है। (श्रीमद्भगवद्गीता-६)

वैराग्य के क्रम के स्थिति के अनुसार उसे चार श्रेणी में विभाजित किया जा सकता है। वे हैं—

१. यतमानः—यतमान वैराग्य श्रेणी के वे साधक हैं जो जगत्प्रपञ्च में दोष को बार-बार अपनी बुद्धि द्वारा स्थापित सत्य को पृथक् रखने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। उन्हें क्वचिद् वैराग्य बुद्धि होती है और क्वचित् विलीन हो जाती है। परन्तु वह प्रयत्नशील है कि अभ्यास द्वारा कषायों (पापों) से सम्पूर्ण रूप से छुटकारा मिले।

तत्र देहार्धकं शम्भोः जहार खलु पार्वती।
शिव विच्छेदलेशङ्का, प्यसहन्ती द्विजर्षभः।।

(वृह. धर्म पु. ५३/६३)

हिमालयच्छैलराजात्, गंगासागरसंगमः।
देशः परमपुण्योऽसौ, यत्परो नैव वर्तते।।

---

२. **व्यतिरेक वैराग्य**—वह साधक है जिसकी वैराग्याभ्यास परिपक्व होती जा रही है और कुछ सूक्ष्म वासना हृदय में रह गयी है। स्थूलरूप से वह इन्द्रियों में वैराग्य वृत्ति को परिपक्व कर लिया है परन्तु कुछ वासना के संस्कार हृदय (चित्त) में हैं। जिस प्रकार चम्पापुष्प के पराग को झाड़ देने पर भी उसमें सूक्ष्म रूप से कदाचित्-किञ्चित् सुगन्ध रह जाता है। यथा सुगन्धित इत्र के हाथ में रगरने पर जब हाथ धो लिया जाय तो भी अतिसूक्ष्म गन्ध कुछ काल तक शेष बचा रह जाता है इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं। इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।। (२/६७)

३. **एकेन्द्रिय वैराग्य**—वह साधक जिसने अभ्यास द्वारा अपनी इन्द्रियों को विषयों से पूर्णतया समेट लिया है परन्तु कदाचित् मन में उस-उस विषयों के भोगजन्य सूक्ष्म संस्कार को दूर करने में प्रयत्नशील है।

४. **वशीकार वैराग्य**—वह साधक जो मन (अन्तःकरण) में स्थित कदाचित्-किञ्चित् परिशेष वासना मूल को भी उच्छेद कर पूर्णरूप से मनसा-वाचा-कर्मणा अर्थात् वाह्य-भीतर से राग बीज को पूर्णरूप से यथा आग में भूँग दिया हो के समान स्थिति को प्राप्त कर लिया हो। बीज को आग में भूँगने पर सर्वथा उसमें अंकुर की सम्भावना जाती रहती है। (वृ.ध.पु. ५३/६३)

उस हिमालय पर्वत पर विराजमान भगवान् शम्भु ने अपने आधे शरीर को त्याग दिया। हे द्विज श्रेष्ठ! उस समय पार्वती को बहुत ही असह्य कष्ट का अनुभव हुआ। वह शिव के वाम भाग में अपनी नित्य उपस्थिति के सौभाग्य से वंचित अपनी स्थिति को स्मरण कर और वियोग को सहन करने में मन से असमर्थ होती हुई श्रीशिव के वामभाग (वामअंश) में अपनी नित्य स्थिति को त्याग दी। यही इसका अभिप्राय है। (वि.ध.पु. ५३/६३)

शैलराज (पर्वतराज) हिमालय से गंगा सागर संगम तक का देश परम पवित्र है। इसे पुण्य भूमि कहा जाता है। इस भूमि की महत्ता को जानकर-समझ कर ही परमेश्वर का सगुण अवतार समय-समय पर यहाँ होते रहे हैं। इसलिये इससे भिन्न देश की भूमि इसकी तुलना योग्य नहीं है।

अयोध्या[1] मथुरा[2] माया[3], काशी[4] काञ्ची[5] अवन्तिका[6]।
पुरी द्वारावती[7] चैव, सप्तैता मोक्षदायिकाः।।
माया च कामरूपाख्या,
एतास्तु पृथिवी मध्ये, न गण्यते कदाचन।।

(वृह.ध. पुराण ५३/५४)

१. श्रीरामधनुरग्रस्था। २. सुदर्शनधारिता। ३. शिवलिङ्गस्था। ४. शिव-त्रिशूलस्था। ५. हर हरि वाम-दक्षिणहस्तस्था। ६. हरेः पद्मोपरिस्थिता। ७. विष्णोः पञ्चजन्यो परिस्थिता। (वृ.ध.पु. ५३/५४)

अयोध्या-मथुरा-माया-काशी-काञ्ची-अवन्तिकापुरी और द्वारावती ये सातपुरों का स्थान अपने-अपने में (स्वयं सामर्थ्य से) मोक्ष को प्रदान करने वाली हैं। माया नगरी को कामरूपा भी शास्त्रों में कहा गया है। ये पुरियाँ पृथिवी में स्थित नहीं गिनी जाती। ये पृथिवी पर होनेवाले सामान्य गुण-दोषों से अतीत है। इसलिए इन्हें पृथिवी सामान्य से उत्कृष्ट (अतीत) माना गया। अब उपर्युक्त सात पुरियों के स्वरूप को कहा जाता है कि क्यों वह पृथिवी सामान्य से अतीत है—

१. **अयोध्या**—भगवान् श्रीराम के धनुष के अग्रभाग में यह स्थित है। इसलिये भी इसका नाम अयोध्या है कि कोई भी बलवान् योद्धा उसे युद्ध करके जीत नहीं सकता। 'न योद्धुं शक्यते, युद्धं कृत्वाधीनं कर्तुं न शक्यते यस्मात्तस्मादयोध्या' जिसे युद्ध करके अधीन नहीं किया जा सकता इसलिए वह अयोध्या है। श्रीराम के धनुष के अग्रभाग में स्थित होने के कारण यह उससे रक्षित है।

२. **मथुरा**—जो भूमि भगवान् हरि (नारायण) के सुदर्शन चक्र से धारित है, इसलिए रक्षित है। 'निर्ममे निर्ममोऽर्थेषु मथुरामकराकृतिः' (रघु. १५/८) निर्मम (यह मेरा नहीं है) अर्थ के (प्रयोजन उद्देश से) जिसका निर्माण किया गया हो ऐसे मकराकृति (मकर के आकार का) मथुरा को बनाया। इसलिए वह मथुरा ब्रह्म सदन है।

३. **माया**—शिव जी के लिङ्ग के आधार स्वरूप से स्थित होने के कारण यह विज्ञान स्वरूपा है। इसलिए इसे हरद्वार या हरिद्वार कहते है। ज्ञान-विज्ञान की द्वार ही स्वरूप जिसका वह हरद्वार या हरिद्वार है। अतः यह ब्रह्ममयी नगरी 'विज्ञानं ब्रह्म' विज्ञान (विशेष ज्ञान) ही ब्रह्म है। अथवा 'हरस्य हरेर्वा द्वारः नगरमुखम् या सा माया' ब्रह्म सदन को प्राप्त करने के लिये जो द्वार (साधन) स्वरूपा है इसलिये वह माया हरद्वार वा हरिद्वार है।

४. **काशी**—यह नगरी भगवान् शिव के त्रिशूल पर स्थित है। त्रिशूल शत्रुओं को भेदन कर्म के निमित्तक होता है। 'सर्वानर्थमूलाविद्या' सभी प्रकार के अनर्थ (पाप) का मूल अविद्या ही है और वह विद्या विरोधिनी है इसलिए त्रिशूल ज्ञान का प्रतीक है और अपनी विरोधिनी अविद्या को नष्ट करनेवाला है। अविद्या के नष्ट होते ही प्रकाश-ज्ञान का उदय हो जाता है और 'अहं ब्रह्मास्मि सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति निर्देशित (लंक्षित) अर्थ का बोध हो जाता है। अतः त्रिशूल श्रुति वाक्य निर्दिष्ट अज्ञान निवारक है और 'काशते प्रकाशते या सा काशी' उससे जो प्रकाशित होती हो उसे काशी कहते है। यथा मेघाच्छन्न सूर्य प्रकाशित नहीं होता वायु (ज्ञानका रूपक) द्वारा उसे हटा दिये जाने पर प्रकाशित हो जाता है। तथा—स्वयं प्रकाशस्वरूप आत्मा अविद्यामल के कारण बोधगम्य नहीं हो पाता परन्तु गुरू उपदिष्ट श्रुतिवाक्य के सामर्थ्य से 'अहं ब्रह्मास्मि' बोध हो जाता तद्वत् त्रिशूल और काशी को उपकार्य-उपकारक भाव रूपक अथवा अधाराधेयभाव सम्बन्ध रूपक अथवा जन्य-जनकभाव रूपक समझना चाहिये। अन्यत्र—'इदमज्ञानलोहाङ्गं तीक्ष्मसंसार शूलकम्। गुणत्रय विशाखाढ्यं अतिक्रम्य वजेत् पुमान्'। कहा है। (आ.पु. १/४-५)

यह त्रिशूल तीन शाखा वाला सत्तोगुण-रजोगुण और तमोगुण (त्रिगुणमय) तीक्ष्मसंसार मूल अज्ञान ही लौहरूप से बना हुआ है। अतः इसका अतिक्रमण कर मानव जब पार हो जाय और अपने निरामय आत्मा को प्राप्त होवे इत्यादि त्रिशूल के सम्बन्ध में चिन्तन (शास्त्रवचन भी) हैं परन्तु प्रसंग विस्तारभय वश इतना कहना पर्याप्त है।

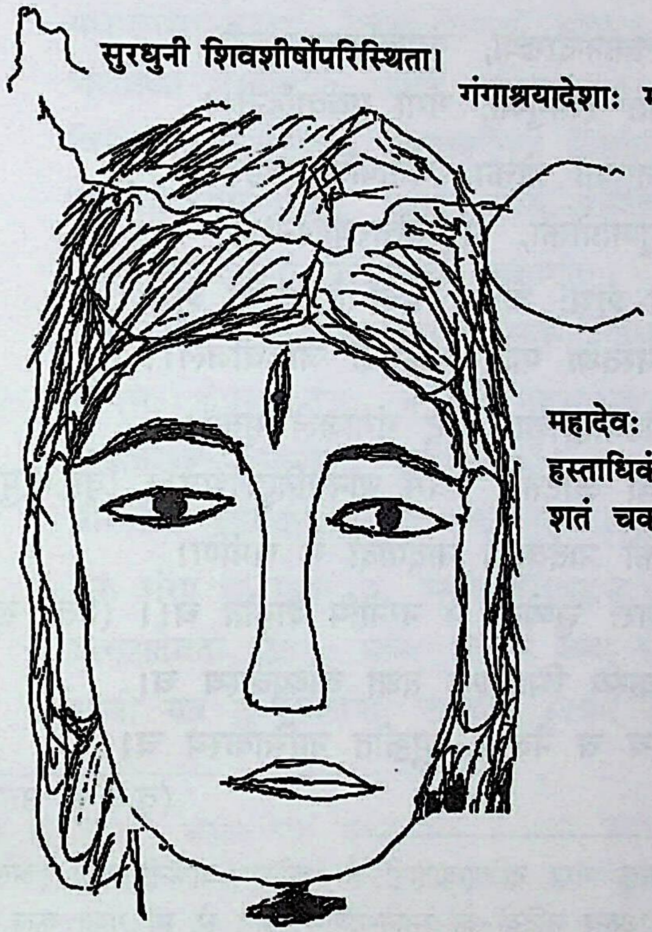
५. **काञ्ची**—यह नगरी हर (शिव) के बाये हाथ और हरि के दक्षिण हाथ पर स्थित है। जो हर और हरि के हाथ में संरक्षित हो उसके सम्बन्ध में कहने की आवश्यक नहीं रह जाती। उसे इतना ही समझे कि वह नगरी परमपावनी और उत्कृष्टतमा है।

६. **अवन्तिका**—यह भगवान् के पदपद्म के आश्रय से स्थित है अतः पवित्रतम है।

७. **द्वारावती**—यह नगरी भगवान् हरि के पाञ्चजन्य शंख को आश्रय करके स्थित है जो त्रिविधात्मक संसृतिभय को शमन करनेवाली है। प्रसंगात् यहाँ पञ्चजन्य और शंख पर विचार होना चाहिये। शंख = शं सुखं खनति अवदारयति अभक्तानामसुरानामिति। यद्वा शं = सुखं खनति ददाति स्वनेन (ध्वनिना) स्वपक्षानां भक्तानां प्रपन्नां च इति। खनु अवदारने खन दाने चानयोः रूपम्। अतः पञ्चति विस्तरति सुखानि भक्तानामिति फलितार्थः। पचि विस्तारय धातोः पञ्च रूपम्। पञ्चजन्य एव पाञ्चजन्यः। जो भक्तों तथा शरणागतों के सुख का विस्तार करे वह पाञ्चजन्य नामक शंख है। (वृह.ध.पु. ५३/५४)

सुरधुनी शिवशीर्षोपरिस्थिता।

गंगाश्रयादेशाः महेशस्य शिर एव।



महादेवः स्वशिरः सार्धयोजनमष्टा हस्ताधिकं विशालं दीर्घं च योजन शतं चकार। (वृ.ध.पु. ५४)

सूर्यवंशी राजा भगीरथ ने अपने पूर्वज सगर के साठ हजार पुत्रों के उद्धार तथा पृथिवी पर पापियों-पुण्यात्माओं-भक्तों के हितार्थ गंगा जी को भूलोक में अवतरित करने का संकल्प लेकर घोर तपस्या की। भगवान् विष्णु के पदप्रक्षालित कर ब्रह्मा अपने कमण्डु में गंगा जी को स्थान दे रखे थे। ब्रह्मा जी भगीरथ की तपस्या से प्रसन्न हुए। परन्तु समस्या यह थी कि गंगा जी को अगर कमण्डलु से मुक्त कर दिया जायेगा तो सर्वप्रथम प्रबलवेग प्रलयंकारी होगा और उससे भूलोक का लय संभव था। अतः ब्रह्मा के निर्देश पर भगीरथ ने भगवान् शिव को प्रसन्न किये। भगवान् शिव गंगा के वेग को धारण करने का जिम्मा लिया। चूँकि शिव के हरि आराध्य है और गंगा उनके चरणामृत हो चुकी थी इसलिये उन्हें शिरपर ही स्थान देना वे उचित समझे। इस विशाल गंगा के जलौघ के लिए भगवान् शिव ने अपने शिर का विस्तार किये। शिव ने अपने मस्तक को सार्ध योजन (छः कोस) आठ हाथ से भी अधिक विस्तार (चौड़ा) तथा सौ योजन लम्बा कर दिये जहाँ गंगा जी को स्थान मिला और गंगा जी ब्रह्म कमण्डु से शिव के शिर प्रदेश पर निवास की। (वृ.ध.पु. ५४)

इयं चालकनन्दाख्या, गंगादक्षिणवाहिनी।
दक्षिणायाः शतगुणा, गंगा पूर्ववाहिनी।।
ततः शतगुणा प्रोक्ता, गंगापश्चिमवाहिनी।
तत्सहस्रगुणाप्रोक्ता, गंगाचोत्तरवाहिनी।।
सर्व एव शुभः कालः सर्वो देशस्तथा शुभः।
सर्वो जनस्तथा पात्रं, स्नानादौ जाह्नवीजले।।
अपि कीटपतङ्गाद्या, यदि गंगाजले मृताः।
ते त्यक्त्वा कीटतनुं, स्वर्गं यान्त्यतिदुर्लभम्।। (वृह.ध.पु. ५४)
न तैलाक्तो नार्दवासा नार्दपादो न चर्मणि।
नेवोत्तरशिरः सुप्येत्, न नग्नोपि शयीत च।। (उत्तर ख. ६)
चिकित्सकस्य भिक्षोश्च तथा वार्ध्युकस्य च।
पाखण्डस्य च नैवान्नं, भुञ्जीत नास्तिकस्य च।।
(वृ.ध.पु. उत्तर ख. ६)

यह अलकनन्दा नामक गंगा दक्षिणवाहिनी है। दक्षिण वाहिनी गंगा (अलकनन्दा) में स्नान-दर्शन पूजन करने से अन्य नदियों के स्नान-दर्शन-पूजन से सौ गुणा फल और दक्षिण वाहिनी से सौ गुणा पूर्ववाहिनी (गंगा सागर) स्नान का फल, पूर्ववाहिनी गंगा से सौ गुणा पश्चिमवाहिनी (प्रयागस्थ) गंगा स्नानादि का फल, पश्चिमवाहिनी से सहस्र (हजार) गुणा उत्तरवाहिनी (काशीस्थ) गंगा के स्नान-दर्शन-पूजन आदि से फल की प्राप्ति होती है। इन तीर्थों में गंगा के स्नान के लिये सभी काल शुभ है। सभी देश शुभ है। सभी लोग स्नान आदि के लिये पात्र है और मानव ही नहीं परन्तु कीट पतङ्ग आदि जितने ही अधम योनि कहे गये हैं वे भी गंगा तट पर मृत्यु को प्राप्त होकर या मरणोत्तर देहप्लावन से अपने अधम शरीर को त्याग कर उत्तम शरीर (पुण्यदेह) को प्राप्त कर तत्क्षण स्वर्गाधिकारी हो जाता है और वह उत्तम स्वर्ग लोक को प्राप्त कर लेता है। (वृ.ध.पु.उ. ५४)

न ही तैल लगाकर, न गीले कपड़े को पहन कर, न गीले पैर से, न ही जूता आदि पहनकर और न ही उत्तर दिशा की ओर शिर करके और न ही नग्न शरीर से ही सोना चाहिये। (वृ.ध.पु.उ.ख. ६)

चिकित्सक, भिक्षु (संन्यासी), सूदखोर, पाखण्डी तथा नास्तिक का अन्न नहीं खाना चाहिये। (वृ.ध.पु.उ.ख. ६)

यथारूचिभवेत्सर्वा, देवता फलतः समाः।
भजन्नेकां परान्निदन्, भजते नरकाय तत्।
विप्रः स्वरक्तैर्मद्यैश्च, मनुष्यबलिना शिवाम्।
नार्चयेन्मत्स्यमांसाभ्यां, काले शास्त्रनिषेधिते।। (वृ.ध.पु.उ.ख.-६)

प्रत्यहं सर्वदेवानां पूजाकार्या यथामतिः।
सर्वं देवार्पणं कुर्यात्, गृहस्थः सर्वगैहिकम्।। (वृ.ध.पु.उ.ख. ६)

औरसः क्षेत्रजः दत्तः, कृत्रिमो गूढ़सम्भवः।
अपविद्धश्च कानीनः, सहोढः क्रीत एव च।।
पौनर्भवः स्वयंदत्तः शौद्रो द्वादशपुत्रकाः।। (वृ.ध.पु.उ.ख. ६)

गुरु गंगा च माता च, पितासूर्येन्दुवह्नयः।
प्रत्यक्षदेवता ह्येताः, पतिः स्त्रीणां तथा स्मृतः।।
गावो यत्र तु तिष्ठन्ति, तत्स्थानं नियतं शुचिः।।

रूचि के अनुसार समान फल प्राप्ति होने से सभी देवता समान ही है। परन्तु उन देवताओं में किसी एक में ही निष्ठा रखकर उपासना-अर्चन-पूजन करना चाहिये परन्तु यह ध्यान रहे कि किसी एक देवता की उपासना करता हुआ और अन्य देवता की निन्दा करता हुआ व्यक्ति के अर्चन-पूजन उपासना नरक को ही प्रदान करता है। अतः अपने साध्य देवता की उपासना करता हुआ साधक भक्त अन्य देवता की निन्दा न करे। (बृ.ध.पु.उ.ख. ६)

विप्र (ब्राह्मण) अपने रक्त से वा अन्य के रक्त से, मद्य से, मानव बलि देकर, मत्स्य और मांस के अर्पण द्वारा पराम्बा भगवती शिवा (मुख्य अर्थ काली) की पूजा न करे। क्योंकि कलियुग में इससे विप्रों के लिए पूजन निषिद्ध है। विप्र शब्द का सामान्य अर्थ ब्राह्मण है परन्तु विशेष अर्थ—'विशेषेण-दानेन-मानेन पूरयतीति विप्रः' को यथा स्थान विद्वान् को ध्यान रखना चाहिये। (वृ.ध.पु.उ.ख. ६)

प्रतिदिन सभी देवताओं की अपनी मति के अनुसार विधि पूर्वक पूजन करना चाहिये। गृहस्थ साधक उन देवताओं को गृह की समस्त सामग्री को अर्पित करे। (वृ.ध.पु.उ.ख. ६)

औरस-क्षेत्रज-दत्त-कृतिम-गूढ़ोत्पन्न-अपविद्ध-कानीन-सहोढ़-क्रीत-पौनर्भव और स्वयंदत्त ये द्वादश प्रकार के शौद्र पुत्र कहलाते हैं। (वृ.ध.पु.उ.ख. ६)

गुरु-गंगा-माता-पिता-सूर्य-चन्द्रमा-अग्नि तथा स्त्रियों के लिये पति ये प्रत्यक्ष देवता

गवां स्पर्शेन सर्वाणि, संशुद्ध्यन्त्येव सर्वथा।
गवां मूत्रं पुरीषं च पवित्रं परमं मतम्।।

क्षीरं-दधि-घृतं चैव, भोजने ह्यमृतोपमम्।
विशेषतो ब्राह्मणस्तु, नागव्यं भोजनं चरेत्।।

भूसुराः ब्राह्मणाः प्रोक्ताः, गव्यं चापि धरामृतम्।
गव्यभोजी सदाविप्रो, ह्यमरत्वमाप्नुयात्।।

(वृ.ध.पु. उत्तर.ख. ३०/६)

पुत्री कनिष्ठसौदर्या, पुत्रभार्या तथैव च।
कनिष्ठसोदरस्त्री च, शिष्यापुत्रवधूस्तथा।।

भ्रातृपुत्री भागिनेयी, नवमी शरणागता।
सुतापर्यायतश्चेताः, स्नेहशासनभाजनम्।।

सकामसम्मताश्चापि, पतेदुपगतः क्षणात्।
म्लेच्छां च यवनीं चैव, गत्वा जात्या परिच्यवेत्।।

(वृ.ध.पु. उत्तर.ख. ६)

हैं। गाय जहाँ निवास करती हैं (गोशाला) वह स्थान निश्चित रूप से पवित्र होता है। वहाँ कोई-तर्क-वितर्क तथा सन्देह का जगह नहीं है।

गाय के स्पर्श से मानव के अंग शुद्ध हो जाते हैं इसमें सन्देह नहीं है। गाय के मूत्र और गोवर परम पवित्र है। गाय का दूध-दही-घृत भोजन करने से अमृत के समान है। विशेषतः ब्राह्मण गाय के दूध-दही-घृत के विना भोजन न करे। ब्राह्मण को आवश्यक रूप से भोजन में गाय का दूध-दही-घृत लेना चाहिये। ब्राह्मण पृथिवी के देवता हैं और गाय का गव्य (दूध-दही-घृत-मूत्र-गोबर) पृथिवी पर का अमृत है। इसीलिए गव्य का प्रयोग भोजन में ब्राह्मण अवश्य करें और उससे अमृतत्त्व को प्राप्त करे। (वृ.ध.पु.उ.ख. ३०/६)

पुत्री-कनिष्ठभगिनी (छोटी वहन)-पुत्रभार्या (वधू) छोटे भाई की पत्नी-शिष्या-पुत्रवधू (सम्बन्ध में सामान्य पुत्रवधू)-भाई की पुत्री-भागिनेयी (बहन की पुत्री)—शरण में आयी हुई (लड़की-स्त्री) ये नौ पुत्री का ही पर्याय (पुत्री के समान) ही है। इन लोगों का अनुशासन स्नेह पूर्वक करना चाहिये। इन्हें अगर कोई सीख देनी हो तो रूक्ष वाणी-विचार-व्यवहार पूर्वक न देकर प्रेम पूर्वक कोमल वाणी-विचार-व्यवहार पूर्वक ही बरतना चाहिये। ये यदि काम सम्मत भी हो जाय तो भी इसके साथ संग (कामसंग) नहीं करना चाहिये। यदि

कौलोप्येतासु संगम्य, देवताशापमाप्नयात्।
दुरूहं शक्त्यनुष्ठानं, तत्र मुह्यन्ति सूरयः।।
अलंघ्यं शिववाक्यं च, योगपन्थानमुत्तमम्।
तस्माद्योगप्रियां देवीं, भजन्कुर्वन्नदोषभाक्।।
अस्वतन्त्रा भवेन्नारी, सलज्जा स्मितमाषिणी।
अनालस्या सदा स्निग्धा, मितवाग्लोभवर्जिता।।
मृते भर्तरि साध्वी स्त्री, ब्रह्मचर्येव्यवस्थिता।
सर्गं गच्छत्यपुत्रापि, यथा ते ब्रह्मचारिणः।।

कोई फिर भी उसके साथ वासना का व्यवहार करता है तो वह उसी क्षण पतित हो जाता है। वह महान् पातकी की श्रेणी में आता है और वह त्याज्य-हेय-घृणा करने योग्य है। म्लेच्छ और यवनी के साथ भी यदि कोई कामवासना सिद्ध करता है तो वह तत्काल जाति से पतित हो जाता है और वह भी सर्वथा त्याज्य ही है। (वृ.ध.पु.उ.ख. ३०/६)

यदि कौल मन्त्र (शक्ति मन्त्र) की दीक्षा भी लिया हो अर्थात् कौल मार्ग में दीक्षित भी हो-कौल मागाश्रयी भी हो तो भी वह उन पूर्व में कहे गये स्त्रियों के साथ संगम (कामाचार) करने पर उस (उपास्य) देवता के शाप (क्रोध) को ही प्राप्त करता है। ऐसा करने वाला कौलाश्रयी देवता के क्रोध को ही आमन्त्रित करता है। क्योंकि यह कौलाश्रयी जिस शक्ति का अनुष्ठान करता है वह मार्ग बहुत ही दुरूह है। उसकी उपासना की सूक्ष्म तथ्य को जानना और उसके अनुसार आचरण करना कठिनतम कार्य है। इसलिए भगवान् शिव के वाक्य को उधृत कर सूत जी ऋषियों से कहते हैं—हे तपस्वियों! शिव ही कौल मार्ग के आदि गुरु (प्रवक्ता) है उनकी बातें अनुलञ्घनीय है। शिव ने कहा है कि योग मार्ग ही उत्तम मार्ग है, क्योंकि देवी योगप्रिया हैं। उन्हें योग मार्ग प्रिय है। इसलिए योग मार्ग का आश्रय लेकर भजन करता हुआ व्यक्ति किसी दोष का भागी नहीं होता है।

स्त्री को स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिये। वह पिता भाई-पति-श्वसु-देवर आदि के अधीन रहकर सलज्जा (लज्जा सहित) प्रसन्नचित्त होकर यथा योग्य जन से ही सम्भाषण करे, आलस्य से विरत रहे, सदा ही स्निग्ध (मधुर) वाणी बोले। अत्यावश्यता से अधिक न बोले। लोभ से रहित हो जीवन यापन करे। यदि पति का देहावसान (मृत्यु) हो जाय तो साध्वी के धर्म जो ब्रह्मचर्य जीवन है उसी का पालन करें। वह ब्रह्मचर्य के पालन रूप धर्म के बल (प्रभाव) से यदि पुत्रहीन भी हो तो उत्तमलोक—स्वर्गलोक को प्राप्त कर लेती है इसमें कोई सन्देह नहीं है। (वृ.ध.पु.उ.ख. ३०/६-८)

कुब्जाम्रकासरं क्षेत्रं ब्रह्महत्यानिवारणम्।
नास्ति राघवशार्दूल! पृथिव्यां पुण्यदं महत्।।

(केदारखण्ड पृ. ३/१२३)

कुब्जाम्रस्योत्तरे भागे गव्यूत्यर्धे तथार्धके।
क्रोशे गंगातटे पश्चात्, नानामुनिगणान्विते।।

शिवमाराधयामास बषैर्द्वादशसंख्यकैः।
निराहारोमहातेजा शिवसंन्यस्तमानसः।।

(लक्ष्मणः)
अहं च भगवन्नित्यं लक्ष्मणेश्वरतां गतः।
(श्री शिवः लक्ष्मणाय) दर्शनात्सर्वपापहा।।

आनागतीर्थतो विप्र, तथा हैमवती तटम्।
माया क्षेत्रमिदं ख्यातम्, सर्वक्षेत्रोत्तमोत्तम्।।

गालवेनपुरासूर्य, आराधित ईश्वरः।
प्रसन्नश्चाब्रवीत्सूर्यो वरं वरय गालव!।।

हे रघुकुल सिंह! कुब्जाम्रक सर के सम्पूर्ण क्षेत्र ब्रह्म हत्या पाप को निवारण करने वाला क्षेत्र है, इस क्षेत्र के समान पुण्यकारी क्षेत्र इस पृथिवी पर कोई क्षेत्र नहीं है, इस कुब्जाम्रक क्षेत्र के उत्तर भाग की ओर गव्यूति (दो कोश) के आधे के आधी दूरी पर अनेक मुनिगणों से समन्वित होकर महातेजस्वी लक्ष्मण ने द्वादश (बारह) वर्ष तक निराहार रहकर भगवान् शिव की तन्मय होकर आराधना की थी। हे भगवन्! मैं भी उनके साथ उस आराधना में सामिल हो तन्मयता को प्राप्त कर शिवाराधना की थी। उस समय भगवान् शिव तपस्या से प्रसन्न होकर कहा था कि—इस क्षेत्र के दर्शन मात्र से सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। नाग तीर्थ से लेकर गंगा तट पर्यन्त जो क्षेत्र (भूमि) है हे विप्र! वह माया क्षेत्र (हरद्वार) के नाम से कहा जाता है जो सभी क्षेत्रों में अति उत्तम क्षेत्र है। महात्मा गालव ऋषि ने प्राचीन काल में यहाँ पर भगवान् सूर्य की आराधना की थी और भगवान् सूर्य ने प्रसन्न होकर कहा था—हे गालव! वरदान माँगो।

सोऽब्रवीद्देहि भगवन्, तव पुत्रीति या स्मृता।
यमुनेति समाख्याता, नदी परमपावनी।।

सा समायातु सततं, गंगायां संगता भवेत्।
तीर्थराजप्रयागाच्च, समं तीर्थं भवत्विति।।

सूर्यश्चापि तथेत्युक्त्वा, ददौ वरमनुत्तमम्।
यमुना च महाभागा, कलया चात्र संस्थिता।।

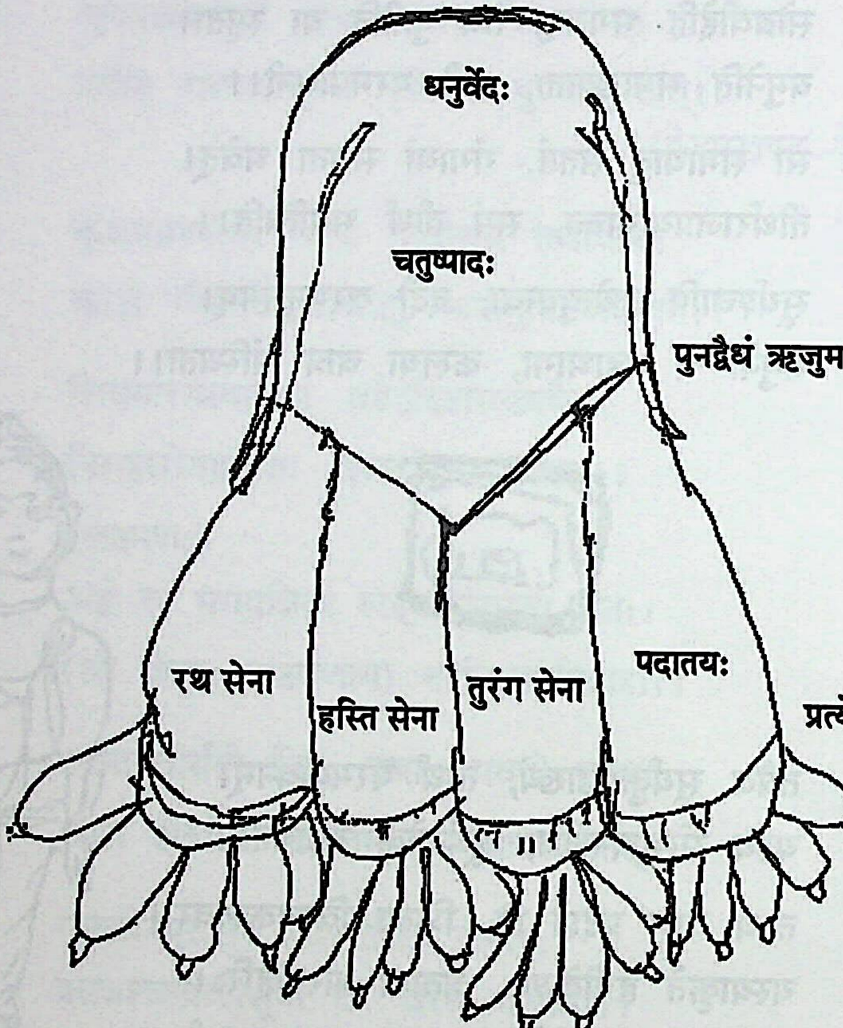




तत्रैव सूर्यकुण्डाख्यं, तीर्थं परमपावनम्।
यस्य संस्पर्शनादेव, सूर्यलोके महीयते।।

तस्य वाम प्रदेशे हि, शिला विष्णुकलेवरा।
यस्याकृते हृषीकेशः, त्रेतायां भरतोहरिः।
द्वापरे वामनो देवो, भूयश्च भरतः कलौ।।
(केदार खण्ड पु. ३/१२३)

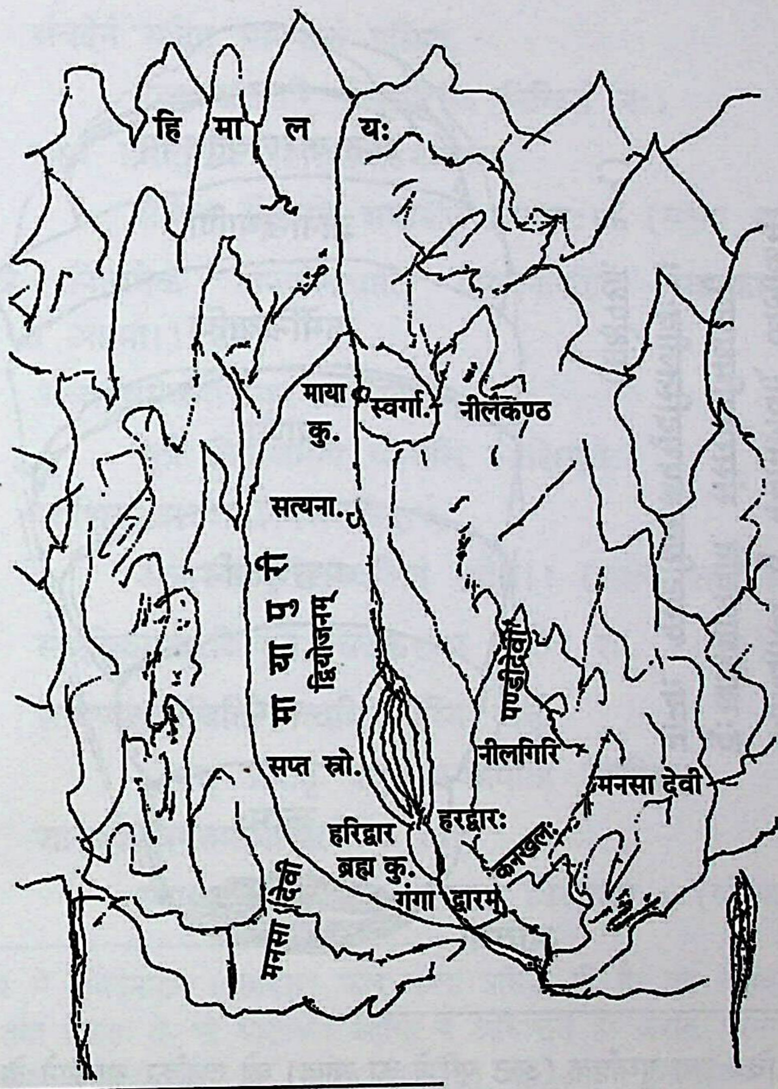
गालव ऋषि ने कहा कि हे भगवन्! तुम्हारी पुत्री जो कही जाती है, जिसका नाम यमुना है वह पवित्र नदी यहाँ जलरूप से उपस्थित होकर माँ गंगा से नित्य संगम (योग) करे। यह तीर्थ राज प्रयाग के समान हो जाय। भगवान् सूर्य 'तथास्तु' कह कर उन्हें अनुत्तम (जिसके समान उत्तम अन्य न हो) वरदान दिया। इसलिये यमुना जी अपनी कला के साथ यहाँ समाहित है। वहीं पर सूर्य कुण्ड नामक परम पावन तीर्थ है जिसमें स्नान-मज्जन और स्पर्श मात्र से सूर्यलोक की प्राप्ति होती है। इस कुण्ड के वाम भाग में भगवान् विष्णु के कलेवर (शरीर) के आकार की मूर्ति है जिसमें (मूर्ति में) सतयुग के भगवान हृषीकेश त्रेता के भरत के अग्रज भगवान् राम, द्वापर के भगवान् वामन और फिर कलयुग के भरत इसमें (मूर्ति में) समाहित हैं। (केदार ख.पु. ३/१२३)



१. मन्त्रमुक्तं, २. करमुक्तं, ३. मुक्तसंधारितं, ४. अमुक्तं, ५. बाहुयुद्धम्।

(केदार खण्ड पु. ३/१२६)

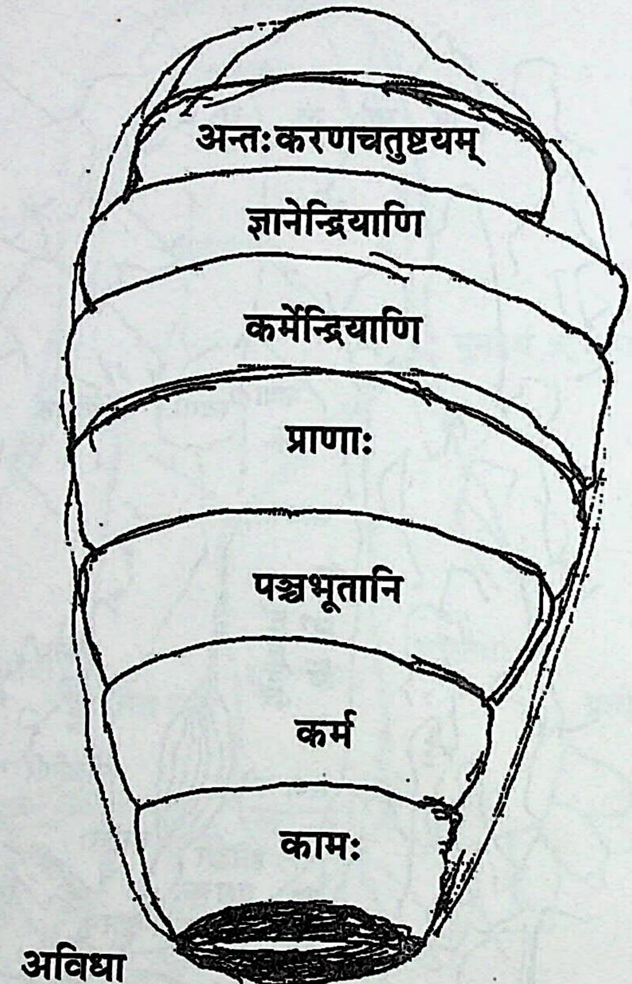
अथर्व वेद को दो उपवेद के रूप में आयाविक (वेदवेत्ता) द्वारा कर दिये गये, जो १. धनुर्वेद और २. गान्धर्व वेद कहलाया। धनुर्वेद के चार पाद (शाखाएँ) हैं— १. रथ सेना, २. हस्ति सेना, ३. तुरंग सेना, ४. पदाति (पैदल) सेना। इन चारों पादों में प्रत्येक के पाँच-पाँच उपशाखाएँ (पाद) हैं—१. मन्त्रमुक्त, २. करमुक्त, ३. मुक्त संधारित, ४. अमुक्त तथा ५. वाहुयुद्ध। इस प्रकार प्रत्येक वाद के (शाखा) उपपाद (उपशाएँ) पाँच-पाँच होने से कुल पचीस भेद-प्रभेद रूप में हो जा रहे है। धनुर्वेद में वर्णित सेनाओं की यह व्यूह रचना युद्धविज्ञान की दृष्टि से बहुत ही उत्कृष्ट है तथा राष्ट्रनिर्माणोन्मुख भी है एवं-धर्म-नीति-संगठन-परिपोषण आदि राष्ट्रीय गुणों की भावनाओं से ओत-प्रोत भी है। (केदारख. ३/१२६)



प्रतीक चित्र द्वारा हिमालय पर्वत तथा उससे निकली हुई नदियाँ तथा उसके किनारे के तीर्थ स्थानों को दर्शाया गया है। हिमगिरि-हिमाचल-पर्वतराज-हिमोत्तुंङ्गगिरि इत्यादि नामों से प्रसिद्ध इस पावन देश भारत के शिरोभाग में स्थित हिमालय पर्वत है। उससे कई पवित्र नदियों के उद्‌गम हुए है, जिसमें त्रैलोक्य प्रसिद्ध परमपावनी गंगा नदी है जो हिमालय से निकलकर भारत भूमि के कई तीर्थों को स्पर्श करती हुई समुद्र में जा मिली है। यह नदी ऊपर से नीचे उतरती हुई मायापुरी में तीर्थ से स्पर्श करती है जहाँ पर माया कुण्ड और स्वर्ग कुण्ड भी है। स्वर्गकुण्ड के पूर्व भाग में नीलकण्ठ क्षेत्र है। मायापुरी दो योजन विस्तीर्ण है वहीं सत्यनारायण कुण्ड-सप्त स्त्रोता स्थान भी है जहाँ सात स्त्रोतों में गंगा नदी विभक्त है। उसी पूरी में हरिद्वार पुण्य क्षेत्र-ब्रह्मकुण्ड और गंगाद्वार तीर्थ भी है। उसके अन्य भाग में पण्डी देवी का स्थान नीलगिरि-मनसा देवी स्थान-कनखल क्षेत्र आदि तीर्थ स्थल है।

पूर्य्यष्टकम् भवति तस्य परस्यमोहात्,
तेनान्वितस्य तु नभोमलवत् व्यलीकम्।
दुःखत्रिधाभवति संसरणाभिधानम्,
नान्यः परादधिकरूपभृदस्तिजीवः।।

(संक्षेपशा. ३/९)



प्रतीक चित्र द्वारा पुर्य्यष्टक (आठ पुरियों का समूह) को दर्शाकर समझाने के लिये सरलतम तरीका का प्रयोग किया गया है। ये आठों पुरियाँ इस भौतिक शरीर में अवस्थित है और वे सभी अविद्या कल्पित है। अविद्या से काम, काम से कर्म, कर्म से पंचभूत, पंचभूत से पञ्चप्राण, पञ्चप्राण से पञ्चकर्मेन्द्रिय और पंचकर्मेन्द्रिय से पञ्चज्ञानेन्द्रि तथा उससे अन्तः करण की आविद्यक सृष्टि है। ये एक दूसरे के मोह के फलस्वरूप परिपालित है और एक दूसरे से अन्वित उसी प्रकार है जिस तरह आकाश किसी को मलिन दिखाई देता है, जबकि आकाश का मलिन (मलयुक्त) होना अत्यन्त व्यलीक (अत्यन्त असत्य) है, परन्तु अलीक होते हुए भी ये अष्ट पुरियाँ परस्पर में मोह और अन्वय (सम्बन्ध) के कारण समान रूप से दुःख सुख का अनुभव करती हैं और आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखों के संसरण का परस्पर में अभिधान करती रहती है जिससे जीवात्मा-सुखी और दुखी होने का अपने में अध्यारोप कर तथारूप से अनुभव करता है। (संक्षेप शा. ३/९)

संवदेनं यदिह मानफलं प्रसिद्धं,
तच्च प्रमातरि विकारिणि निष्ठितं नः।
तस्य प्रमातुरपि साक्षितयाऽन्तरात्मा,
सर्वस्य तिष्ठति भवानविकाररूपः।। (संक्षेप शा.३/८०)

(स्वतन्त्रं नित्यमेकं मानफलत्वादि कल्पनारहितं स्वप्रकाशं संवेदनं सर्वसाक्षिभूतं त आत्मा।। टी.)

अध्यात्ममेवमधिभूतमथाधिदैवम्,
सूत्रं विराजमपि पश्यसि साक्षिभूतः।
साक्षित्वकारणमशेषजगन्निदानं,
अज्ञानमात्मचिदज्वलितं सदैव।। (संक्षेप शा. ३/६८)

साक्षीत्वमन्तरविलुप्त चिदेकरूपा (संक्षेप शा. ३/६३)

सत्यप्यलुप्तचिति यत्त्वयि नास्ति कर्त्तृ,
भोक्तृ प्रमातृ प्रमुखमन्यमपीहि किञ्चित्।
जागृद्दशावगतमप्यखिलं न तत्ते,
स्वाभाविकं भवितु मुत्सहते विरोधात्।। (सं.शा. ३/११३)

जीवात्मा में संवेदनमान (अहंकार) फल वाला प्रसिद्ध ही है। वह अहंकारकारी प्रमाता में निष्ठित है तथा प्रमाता के भी साक्षीरूप आत्मा में अधिष्ठित हैं। जबकि परमार्थतः (तत्त्वतः) यह आत्मा सकल विकार रहित है। (सं.शा. ३/८०) यह आत्मा नित्यस्वरूप—´अद्वितीय-सकल मानफल कल्पना रहित—स्वयं प्रकाश संवेदन स्वरूप-सर्वसाक्षिभूत है।
(टी.सं.शा. ३/८०)

जो तुम देखते हो कि अध्यात्मिक-आधिभौतिक आधिदैविक-सूत्रात्मा और विराज भी साक्षिभूत ही है। साक्षीत्व का कारण तथा अशेष जगन्निदान, अज्ञान तथा चिद् से प्रज्वलित सदा ही यह आत्मा है, तथा इस प्रकार साक्षीत्व तो अन्तर विलुप्त अद्वीतीय चित्स्वरूप ही है। (यह विपक्ष के सिद्धान्त का अभिकथन है)।

प्रत्यक्ष चित्त के रहते भी तुम अगर कहते हो कि यह कर्तृत्व-भोक्तृत्व-प्रमातृत्व और अन्य जो प्रमुख धर्म है वह कुछ भी नहीं है और जाग्रत दशा में अवगत समस्त व्यावरिक ज्ञान भी असत् ही है· तो यह ठीक ही कह रहे हो फिर हमारे अद्वैत वादियों से विरोध नहीं रह जाता। (संक्षेप शा. ३/११३)

ये प्रजामीषिरेऽधीराः ते श्मशानानि भेजिरे।
ये प्रजां नोषिरे धीराः तेऽमृतत्त्वं हि भोजिरे।।
(पुराणमिति शां.भा. ४/१०)

वरुण मन्त्र–'वं वरुणाय नमः'।

ध्यानम्—यस्य केशेषुजीमूता, नद्यः सर्वाङ्गसन्धिषु।
कुक्षौ समुद्राश्चत्वारः, तस्मै तोयात्मने नमः।।
(६००० जपः) (यजमन्त्र संग्रहे)

जनकस्य गृहे साक्षाद, ब्रह्मविद्याजनिष्यति।
यो वै चैकादशो रूद्रः हनूमान्स महात्रृषिः।।



येऽर्चयन्ति शिवं नित्यं, लिङ्गरूपिणमेव च।
स्त्रियोवाप्यथवाशूद्राः, स्वपचा ह्यन्तवासिनः।।
तं शिवं प्राप्नवन्त्येव, सर्वदुःखोपनाशनम्।। (स्क.पु.माहे ख. ८)

जो प्रजा से प्रेम करता है वह इन्द्रियों के वशीभूत (अधीर) अपने लिए श्मशान (चिता) को तैयार करता है और जो प्रजा से प्रेम नहीं करता वह अपने लिए अमृत की तैयारी करता है। प्रजा का अर्थ सन्तति होता है और प्रजा इन्द्रिय भी होता है—'प्रजायते अस्मात् यस्मात् तस्मात् प्रजा इन्द्रियः'। अतः प्रजा यहाँ सन्तान तथा इन्द्रिय दोनों अर्थ में ग्राह्य है।
(पुराण वचन शां.भा.छा. १/१०)

वरुण मन्त्र—वं वरुणाय नमः' इसमें 'वं वरुण बीज अक्षर है 'वरुण' देवता को नमस्कार करता हूँ यह मन्त्र का अर्थ (अनुवाद) है। वरुण के ध्यान मन्त्र का अर्थ है—जिसके केशों में मेघ है, सभी अङ्गों के सन्धियों (जोड़ों) में जिसके नदियाँ हैं, कुक्षि (गर्भ) में जिसके चारों समुद्र हैं, ऐसे तोयात्मा (जलात्मा) अर्थात् जलमय शरीर वाले को नमस्कार (प्रणाम) करता हूँ। इस वरुण मन्त्र का छः हजार मन्त्र का पुरश्चरण है। (यज्ञमन्त्र संग्रह)

जनक (पिता) के घर में साक्षात् ब्रह्मविद्या को जनन (उत्पन्न-प्राप्त) करेंगे। क्योंकि जो वह एकादश रूद्र ही महान् ऋषि हनुमान जी के रूप में अवतरित हुए हैं।

जो लोग भगवान् शिव जी के लिङ्गस्वरूप की पूजा नित्य करते है वे चाहे स्त्री हों, चाहे शूद्र-स्वपच-अन्त्यज हों वे सभी दुःखों के अपहारक श्री शिव को प्राप्त करते हैं। (स्क.पु.मा.ख. ८)

सगणं रावणं रामः, षड्भिर्मासैरजीहनत्।
यथात्मा सर्वभूतेषु, व्यापकः परमेश्वरः।
तथैव प्रकृतिर्नित्या, व्यापिका परमेश्वरी।।
इयमेव च बन्धाय मोक्षायेयं सर्वदा।।
तिष्ये मायामसूयां च, वधं चैव तपस्विनाम्।
साधयन्ति नरास्तत्र तमसा व्याकुलेन्द्रियाः।।
दुरिष्ठैर्दुरधीतैश्च, दुराचारैर्दुरागमैः।
विप्राणां कर्मदोषैश्च, प्रजानां जायतेक्षयः।।
यतयश्च भविष्यन्ति, बहवः कोटिशः कलौ।
शूद्रैः स्वयं निर्मितं यत्, प्रमाणं शास्त्रमेवतत्।।
स्वापदप्रवलत्वं च, गवां चापि परिक्षयः। (स्कन्द पु.मा. ४०)

श्रीराम ने गणसहित रावण को छः मास में मार दिया।

जिस प्रकार आत्मा सभी भूतों में व्यापक रूप से रहता है और वह परमेश्वर है, उसी तरह प्रकृति भी नित्य स्वरूपा-व्यापिका और परमेश्वरी है। यही परमेश्वरी आत्मा को बाँधने वाली और जीवात्मा को मोक्ष प्रदान करने वाली भी है।

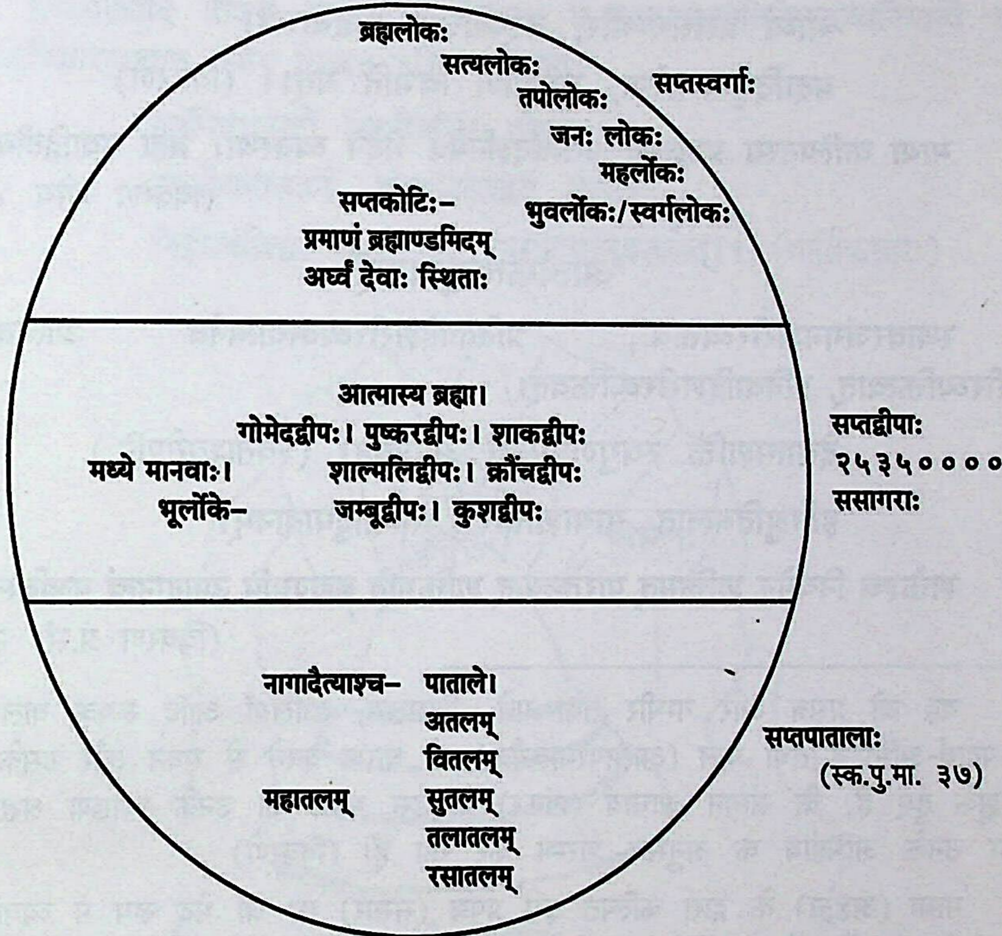
कलियुग में माया-असूया के आश्रय से और उसके वशीभूत होकर हत्या करना यही तपस्या करने वालों का कर्म होगा अर्थात् जो मायावी दूसरे से ईर्ष्या करने वाले होगें तथा हिंसा का आश्रय लेगें वहीं तपस्वी कहलायेगें अथवा तप कर्म में ये सब कर्म सामिल होगें। लोग तमोगुण से आच्छादित होकर इन्द्रियों की व्याकुलता वश इसी दुष्कर्म को ही साधना का केन्द्र मानेगें। उस समय दुर्भावना से ग्रस्त-दुष्ट साहित्य के अध्ययन-दुराचार तथा दूषित ज्ञान तथा दूषित कर्म करने वाले विप्रों तथा इन पापों से ग्रसित प्रजाओं के ह्रास होगें। वे हर प्रकार से कष्टकारी जीवन व्यतीत करेगें। योगी-सन्यासी-तपस्वियों की अनेक कल्पित कोटियाँ (श्रेणियाँ) होगी। वे वेद-शास्त्र-स्मृति के मार्गों से भिन्न कल्पित मार्ग का निर्माण कर लोगों से पूजायेंगे। शूद्र लोग स्वयं अधर्म को धर्म का मार्ग निर्धारित कर उसी को वेद-शास्त्र का प्रमाण बतायेंगे। श्वापद (कुक्कुर) की प्रबलता होगी वे कुक्कर लोगों के घर में स्थान पाकर सेवा के पात्र होंगे और गौ तिरस्कृत होगीं। वे गायें सेवा से वंचित होकर क्रूरों से प्रताड़ित होकर क्षय (विनाश) को प्राप्त होगीं। (स्क.पु.मा. ४०)

अधर्म भेदाः—

परस्त्री द्रव्यसंकल्पः,
चेतसानिष्ठ चिन्तनम्।
अकार्याभिनिवेश्च,
चतुर्धा कर्म मानसम्।।
अनिवद्धप्रलापित्त्वं,
असत्यं चाप्रियं च यत्।
परापवाद-पैशून्यं,
चतुर्धा कर्म वाचिकम्।।
अभक्ष्य-भक्षणं हिंसा,
मिथ्याकामस्य सेवनम्।
परस्वान्तामुपादानं,
चतुर्धा कर्म कायिकम्।। (स्क.पु. ४१)
अधीत्य यश्च शास्त्राणि,
परित्यजति मूढ़धीः।
सुरापानसमं ज्ञेयं,
जीवनायैव वा पठेत्।। (स्क.पु.मा. ४१)

पर स्त्री (दूसरे की स्त्री), दूसरे के धन की इच्छा, मन से दूसरों के प्रति अनिष्ठ चिन्तन, कर्तव्य भिन्न विषय को शोचना ये चार मानसिक अधर्म (पाप) हैं। असम्बद्ध विषय का प्रलाप करना, असत्य बोलना, अप्रिय बोलना तथा दूसरों की निन्दा करना ये चार वाचिक अधर्म (पाप) कर्म हैं। अभक्ष्य भक्षण, हिंसा, मिथ्याकामाचार का आश्रय, दूसरे के धन का हरण करना ये चार कायिक अधर्म (पाप) कर्म हैं। (स्क.पु. ४१)

जिसने विभिन्नशास्त्रों का अध्ययन करके तदनुसार आचरण (कर्म) का त्याग कर देता है उसका वह ज्ञान सुरापान के समान अपवित्र है। उसका भी शास्त्र ज्ञान अपवित्र है जिसने जीवन यापन के लिए मात्र (भरण-पोषण के लिये वृत्ति मात्र) शास्त्र का अध्ययन किया है और उसके आचरणीयता को जीवन में न उतारा हो। (स्क.पु. ४१)



इस प्रतीक चित्र के माध्यम से ब्रह्माण्ड का दिग्दर्शन कराया गया है। ब्रह्माण्ड के उर्ध्वलोक में सप्तकोटि (सात श्रेणी) स्वर्ग हैं—ब्रह्मलोक-सत्यलोक-तपोलोक-जनलोक-महर्लोक-भुवर्लोक और स्वर्गलोक। ये सात कोटियों (श्रेणियों) के लोक में देवतागण का निवास स्थान है, इसलिये ये सप्त श्रेणी के लोक स्वर्ग श्रेणी में आते हैं। इन लोकों के अधोभाग में सात द्वीपें-गोमेदद्वीप-पुष्करद्वीप-शाकद्वीप-शाल्मलीद्वीप-क्रौंचद्वीप जम्बूद्वीप और कुशद्वीप हैं। ये द्वीप सागर के सहित दो करोड़ तिरपन लाख पचास हजार योजन में विस्तृत है। स्वर्ग लोकों के ब्रह्मा आत्मदेव हैं। द्वीपों के मध्य मानव रहते हैं। जम्बूद्वीप भूर्लोक का भाग है और उसी द्वीप में भारतवर्ष है। इन सातों द्वीपों में जो भूर्लोक है उसके अधोभाग (नीचे) में पाताल लोक है जिसकी कोटियाँ—अतल-वितल-सुतल-तलातल-महातल-रसातल पाताल आदि सात लोक नीचे हैं। कुल मिलाकर चौदह भुवन कहा जाता है। सप्तकोटि पाताल में नाग और दैत्यगण निवास करते है।

भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं, तद्व्याख्यां श्रद्धयारभे।
पदादिवृन्तभारेण, गरिमाणं विभर्ति यत्।। (विवरणे)

माया कल्पितस्य प्रपञ्चस्य यथार्थदर्शनमेव भेदेन व्यवस्था। ब्रह्म एवाद्वितीयम्।
(विवरण प्रमेय ४/२)

'आत्मैकत्वानुमानम्'

स्थावरजंगमशरीरव्यक्तयः, प्रतिवादिशरीरव्यक्त्यात्मनैव आत्मवत्यः, शरीरव्यक्तित्वात्, प्रतिवादिशरीरव्यक्तिवत्।

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ां अपश्यन्। (श्वेताश्वरोपनि.)

इतिश्रुतिबलात् मायाशक्तिरेव साक्षादुपादानम्।

शक्तेश्च नियमेन शक्तिमत् पारतन्त्र्यात् शक्तिमति ब्रह्मण्यपि उपादानत्वं पर्य्यवस्यति।
(विवरण प्र.सं. २/१)

यह जो प्रसन्न और गम्भीर तथा पत्ते, किसलय, डालियाँ आदि रूपक वाला जो पद-पदार्थ-अभिप्राय तथा फल (आत्मपरमात्म्यैक) को धारण करने से सघन और उसके भार से झुके हुए हैं, के समान आचार्य (शंकर) के इस भाष्य को उनके व्याख्या श्रद्धावनत होकर उनके अभिप्राय के अनुसार प्रारम्भ कर रहा हूँ। (विवरणे)

माया (अज्ञान) के द्वारा कल्पित इस प्रपञ्च (संसार) का जो भेद रूप में व्यवस्थिति दिखाई दे रहा है, उसे यथार्थ स्वरूप से देखने की आवश्यकता है क्योंकि यह सब अद्वितीय ब्रह्म ही है। (विवरणप्रमेय ४/२)

अब आत्मा के एकत्व का अनुमान किया जाता है—ये स्थावर-जंगम शरीर की व्यक्ति (प्रतीति) उस प्रतिवादि के शरीर के व्यक्ति (स्फुटन) स्वरूप से ही स्पष्ट है कि ये शरीर आत्मा वाले हैं, शरीर की व्यक्ति (प्रतीति) के कारण, प्रतिवादिशरीर-व्यक्तिवत्। यहाँ अनुमान द्वारा आत्मा है इसे कहकर अनात्मवादी बौद्धमत का 'नास्ति आत्मा' का खण्डन भी कर दिया गया।

परमात्मा की आत्मशक्ति अपने गुणों के द्वारा इसमें छिपा है इसको देखते हुए— यह जो श्वेताश्वर उपनिषद् का वाक्य है इस श्रुतिवाक्य के बल (आधार) से मायाशक्ति ही सृष्टि का साक्षात् उपादान कारण है कहना उचित है, क्योंकि शक्ति का नियमपूर्वक शक्तिमान्—शक्तिसम्पन्न होने से ब्रह्म में ही उपादानत्व की सिद्धि होती है। श्वेताश्वर वाक्य द्वारा उत्थित पूर्वपक्ष का उत्तर इस प्रकार देकर परब्रह्म परमात्मा में उपादानत्व पर्यवसान है कहा गया। क्योंकि शक्ति की प्रतीति (अनुभव) शक्तिमान् (आत्मा) से भिन्न कहीं न देखी जाती है और न अनुभव किया जाता है। (विवरण प्रमेय २/१)

तत्त्वमस्यादि वाक्यं अखण्डार्थ निष्ठम्, कार्यकारणव्यतिरिक्तद्रव्यनिष्ठत्वे सति समानाधिकरणत्वात्, सोयं देवदत्त इति वाक्यवत्।

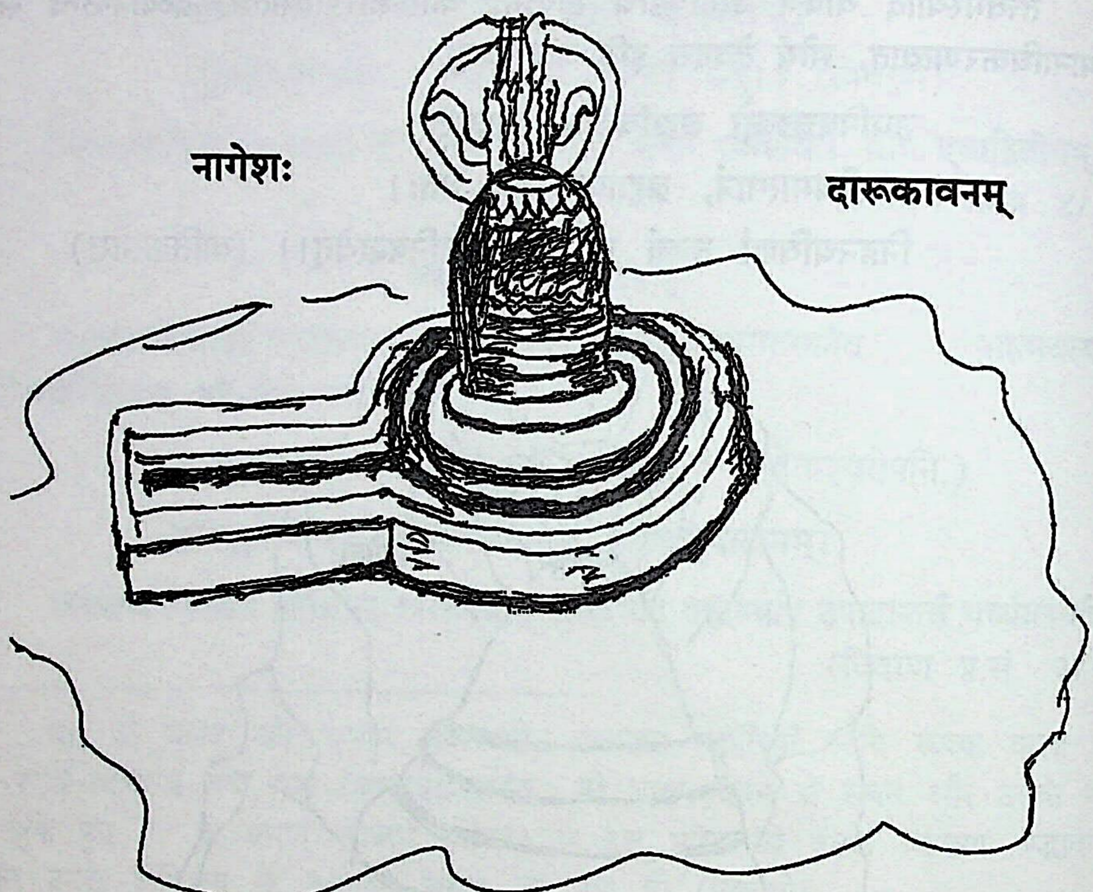
उपनिषच्छब्दो ब्रह्मविद्यैक गोचरः।
उपनीयमात्मानं, ब्रह्मापास्तद्वयं यतः।
निहन्त्यविद्यां तज्जं च, तस्मादुपनिषद्भवेत्।। (वार्तिकसारः)



तत्त्वमसि आदि वाक्य अखण्डार्थनिष्ठ है, क्योंकि कार्यकारण व्यतिरिक्त द्रव्य निष्ठ होते हुए समानाधिकरणत्व होने के कारण यथा 'सोयं देवदत्तः' इस वाक्य में कार्यकारण व्यतिरिक्त द्रव्यनिष्ठत्व और समानाधिकरणत्व है उसी प्रकार तत्त्वमसि में भी मानना चाहिये।

उपनिषद् शब्द अद्वितीय ब्रह्मबोध का हेतु है, क्योंकि जो जीवात्मा को ब्रह्म रूप से उपस्थित कर और तद्देश और तत्काल को अपास्त (त्याग) कर तथा अविद्या को जिस कारण से नाश करता है उस कारण से वह उपनिषद् कहलाता है। (वार्तिकसारः)

यह प्रतीक चित्र मल्लिकार्जुन भगवान् शिव के द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में से एक है। ये श्री शैल पर्वत क्षेत्र पर विराजमान हैं। यह पर्वत मद्रास के जिला कृष्णा नदी के तट पर स्थित है, इसे दक्षिण का कैलास कहते हैं।



अज्ञानं कल्पनामूलं, संसारस्य नियामकम्।
हित्वाऽऽत्मानं परं ब्रह्म विद्यान्मुक्तं सदाभयम्।।

(उपदेश सा. १६/१७)

नागेश ज्योतिर्लिंग द्वारुकावन में स्थित है। यह स्थान बड़ौदा राज्यान्तर्गत गोतमीद्वारिका से ईशानकोण में लगभग-बारह तेरह मील की दूरी पर है। कोई-कोई निजाम हैदराबाद राज्यान्तर्गत औढ़ा ग्राम में स्थित शिवलिङ्ग को ही नागेश्वर ज्योतिर्लिंग कहते है। कुछ लोग अल्मोड़ा से सत्रह मील उत्तर पूर्व दिशा में नागेश (नागेश) लिङ्ग ही नागेश ज्योतिर्लिङ्ग है, कहते हैं।

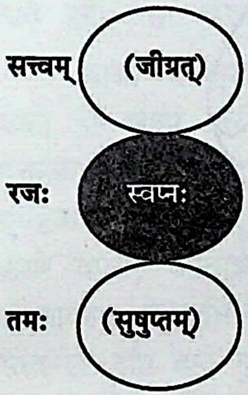
संसार व्यवहार का नियमन करनेवाला जो कल्पना (संकल्प) का मूल (हेतु) जो अज्ञान है उसको त्याग कर आत्मा स्वरूप ब्रह्म (परमात्मा) को जानो जिससे सदा निर्भय हो जाओगे।

(उपदेश सा. १६/१७)

स्वरूपाव्यवधानाभ्यां,
ज्ञानालोकस्वभावतः।
अन्यज्ञानानपेक्षत्वात्,
ज्ञातं चैव सदामया।।
(उप.सा. १६/४०)

दुःखीस्याद्दुःख्यहं मानात्,
दुःखिनोदर्शनान्नवा।। (१६/९)





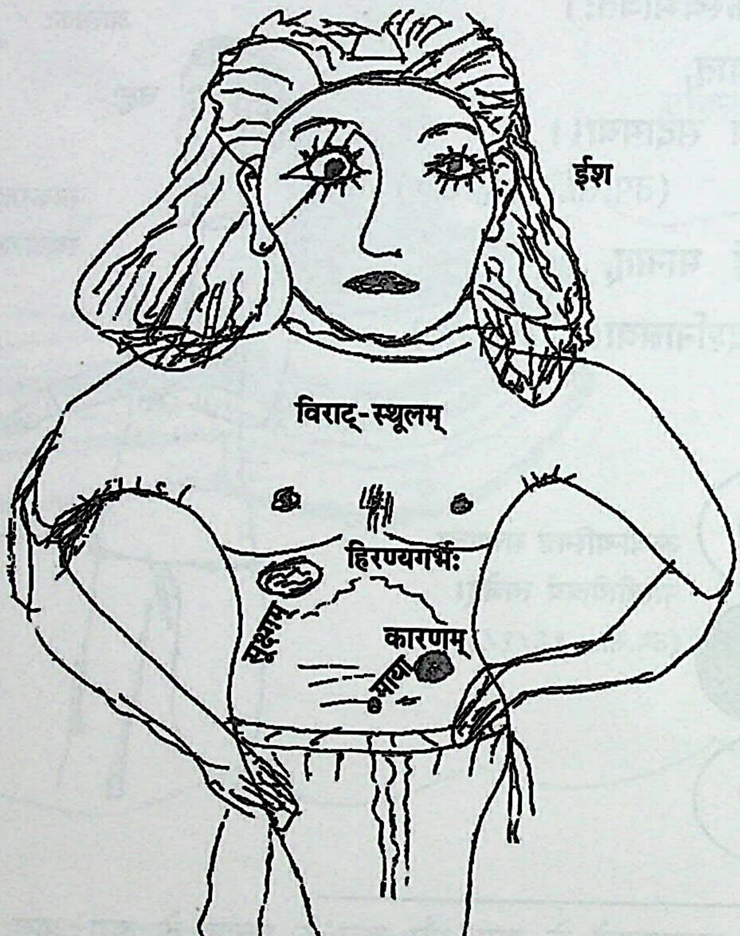
अन्योन्यस्मिन्न सत्त्वाच्च,
नास्तीत्येत्त्रयं त्यजेत्।
(उप.सा. १६/१८)

स्वरूप के अव्यवधानों के द्वारा और ज्ञान के प्रकाश के द्वारा अन्य ज्ञानों (प्रपञ्चज्ञान) की उपेक्षा करने से स्वयं स्वात्मबोध द्वारा वह (ब्रह्मात्म्यैक) प्राप्त हो जाता है। जीवात्मा दुःखी इसलिए हो जाता है कि वह देह का अहंकार वाला है। शरीर में आत्मतादात्म्यभाव के कारण देह को ही आत्मा मान लेता है और उसके धर्म के आरोप से धर्मी (दुःखी) होता है। वस्तुतस्तु आत्मा का सुख-दुःख धर्म नहीं है। (उप.सा. १६/९-४०)

जाग्रत् अवस्था सतोगुण प्रधान अवस्था, स्वप्नावस्था रजोगुण प्रधान, तथा सुषुप्ति अवस्था तमोगुण प्रधान अवस्था होती है, अर्थात् उस-उस अवस्था में उस-उस गुण का उद्रेक (आधिक्य स्पन्द) होता है। परन्तु तीनों अवस्थाओं में गुणों के आधिक्य और स्वल्पता की स्थिति प्रत्येक अवस्था में तीनों गुणों के होते हैं। इस अन्योन्य सत्त्व के प्रभावों को उपेक्षित करके यह तीनों गुण हमारा गुण (धर्म)–नहीं है ऐसा निश्चय कर उसे त्याग दो जिससे आत्मबोध सम्भव हो जाता है। (उप.सा. १६/१८)

विषय प्रत्यक्ष की यह पद्धति है—विषय पुरोवर्ति वस्तु है। अन्तःकरण तैजस है। इन्द्रिय द्वार है। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य वृत्त्यारूढ़ (आँख से प्रकाशदण्ड निकलता है जो विषय देश पर

यथाक्रतुरस्मिन्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति'। (श्रुतिः)
(छा. १/१४)



जाता है वही वृत्ति है) होकर विषय देश में पहुँच कर विषयावच्छिन्न चैतन्य वृत्त्यारूढ़ चेतना और प्रमातृ चैतन्य (प्रमाता में रहने वाला चैतन्य) इन तीनों का अभेद होने पर विषय प्रत्यक्ष होता है, यह सामान्य नियम है। जब प्रमाता विषय को 'अहं जानामि' बोध प्राप्त करता है तो अन्तःकरण और आत्मा का अन्योन्याश्रय होने पर तादात्म्यता हो जाता है और जड़ अन्तःकरण में प्रतिविम्बित आत्मा को 'अहं-अहं' कर अविच्छिन्नता को प्राप्त कर अनात्मा में ही आत्मा का व्यवहार अज्ञानवशात् होने लगता है जिससे अनात्म भ्रान्ति उत्पन्न होती है और वह यावत् भ्रान्ति तावत् बनी रहती है। मन का कार्य संकल्प विकल्प करना, बुद्धि का काम सुनिश्चित करना, चित्त का कार्य उससे अवगत होना और अहंकार का कार्य 'मैं जानता हूँ'। एतत् प्रकारक अहंकार करना यही क्रम है। प्रतीक द्वारा इसी क्रम को समझना चाहिये।

जिस प्रकार का लोगं निश्चय (प्रतिज्ञा) वाला होता वैसा ही मर कर जाने पर होता है, क्योंकि यह जगत् निश्चय ब्रह्म ही है। वह उसी से उत्पन्न होने वाला, उसी में लय

सामगाने षड्विकाराः—

१. विकृतिः-यथा–'अग्ने' इत्यस्य-ओग्नायि। २. विश्लेषणम्-यथा–'वीतये' इत्यस्य-वोयितोयायि। ३. विकर्षणम्-यथा–'ये' इत्यस्य-या २-३ यि। ४. अभ्यासः-यथा–तोया २ यि तोया २ यि। ५. विरामः-यथा–'गृणानो हव्यदातये' इत्यस्य-गृणानो ह, व्यदातये। ६. स्तोभः–ऋग्विलक्षणोवर्णः-यथा–'हाउ' इत्यस्य औहोवा।

होने वाला तथा उसी में चेष्टा करने वाला होता है पुरुष निश्चय वाला होता है। वह क्रतुमय-निश्चयात्मक है। शास्त्र से भी यह बात ऐसी ही देखी गयी है—'यं यं वापि स्मन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्'। तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।' (गीता ८/६) पुरुष जिस-जिस भाव को स्मरण. करता हुआ अन्तकाल (मृत्युकाल) में शरीर त्यागता है उसी-उसी भाव को प्राप्त करता है। इत्यादि। अब प्रतीक चित्र को कहते हैं—

माया—विशुद्धसत्त्वप्रधाना माया का स्वरूप होता है और मलिनसत्त्वप्रधाना अविद्या कही जाती है। **सूक्ष्म शरीर**—वागादि पंचकर्मेयाँ, श्रोत्रादि पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच प्राण, आकाशादि पंचमहाभूत, मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार ये अन्तकरण चतुष्टय, अविद्या, काम और कर्म ये पुर्यष्टक अपञ्चीकृत भूतों से बने हुए तथा अनादिवासना युक्त हो कर्मफल के भोग को अनुभव करने वाला, आत्मज्ञान रहित तथा आत्मा की अनादि उपाधि है। यह रजोगुण युक्त तथा स्वप्नावस्था में अभिव्यक्त होने वाला है। इसे लिङ्ग शरीर भी कहा जाता है। **कारण शरीर**—सत्त्व-रज और तमो गुण से युक्त यह अविद्या, स्थूल और सूक्ष्म शरीरों का कारण तथा प्रकृति के अवस्था विशेष के कारण यह कारण शरीर कहलाता है। यह भी आत्म स्वरूपबोध से रहित होता है। इसमें जीव तादात्म्याध्यास के फलस्वरूप 'अहं' अभिमान वाला होकर प्राज्ञ कहलाता है। यह सुषुप्ति अवस्था में अभिव्यक्त होने वाला तमः प्रधान है। **हिरण्यगर्भ**—लिंग शरीर उपाधि वाला तेजस प्रधान स्वात्मतादात्म्य वेदनावाला समष्टि अभिमान वाला होता है। **विराट्**—स्थूल शरीर को कहते उपर्युक्त पंचीकृत पंचमहाभूत से उत्पन्न शरीर, पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय पंचप्राण, अन्तःकरण चतुष्टय, पंचकोशादि, लिङ्ग और कारण शरीरादि संघात में तादात्म्याहंकार वाला विराट् है। ईशर माया को स्वायत्तीकृत्य सर्वसृष्टि में अहं भाव वाला स्वतन्त्र है। (छा.उ. २/१४)

सामगान में छः प्रकार के विकार होते है—१. **विकृति**—विकृति (विकार) में (अग्ने) शब्द में विकृति करके गान का उच्चारण-'ओग्नायि' किया जाता है। २. **विश्लेषण**—इसमें 'वीतये' इस शब्द का 'वोयितोयायि' इस प्रकार विश्लेषित उच्चारण होता है। ३. **विकर्षण**—इसमें इस प्रकार रीति अपनायी जाती है यथा—'ये' का 'या २-३ यि' उच्चारण (गान) होता है। ४. **अभ्यास**—अभ्यास विकारान्तर्गत यथा—'तोयायि' इस शब्द का—तोया २ यि रूप में गान का उच्चारण होता है। ५. **विराम**—इसमें इस प्रकार उच्चारण होता है यथा—'गृणानो हव्यदातये' इस मन्त्र पदांश का 'गृणानो ह, व्यदातये' इस प्रकार

तिष्ठन्गेहे गृहेशोऽप्यतिरिव निजंधामगन्तु चिकीर्षुः
गेहस्थं दुःखसौख्यं न भजति सहसा निर्ममत्वाभिमानः।
आ यात्रांयास्यतीदं जलद पटवद्यातृयास्यत्यवश्यम्,
देहाद्यं सर्वमेव प्रविदितविषयो यच्च तिष्ठत्ययत्नः।। (शतश्लो. १६)

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जामर तमु सामानियन्ति। (ऋ. ५/४४/१४)

वेद प्रतिपाद्यं देवत्वम्।

आ ब्रह्मपर्यन्तं चराचराणं देवत्वं सिद्ध्यति, यथानिरूक्ते यास्काचार्याः–देवो दानात्[1] दीपनात्[2] द्योतनात्[3] द्युस्थानात् वा। (नि. ७/१५)

१. वायु पर्जन्यादीनां वृष्ट्यादि दानात्। राजश्रेष्ठ्यादीनां अर्थादि दानात्। २. अश्वगजादीनां ग्रावादीनां दीपनात्। ३. अग्निचन्द्रसूर्यादिनां विदुषां च द्योतनात्। ४. ग्रहतारकनक्षत्रादीनां द्युस्थानात् देवत्वम्।।

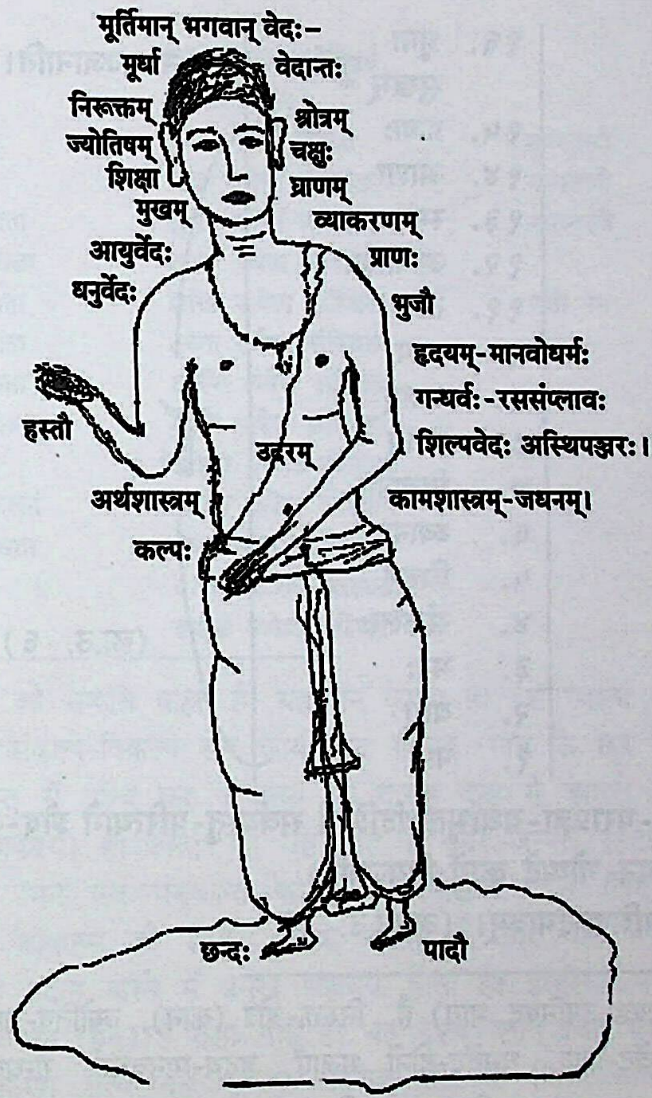
गान होता है। ६. **स्तोम**—ऋग्विलक्षण वर्ण—यथा 'हाऊ' को औहोवा इस तरह मन्त्र पद का गान होता है।

जिस प्रकार कोई गृहस्वामी प्रवास निवास स्थल में कुछ दिन रहने पर अपने घर जाने की इच्छा करने पर निर्ममता पूर्वक उस घर के दुःख और सुखों को उपेक्षित करता हुआ अपने घर को चल देता है और मार्ग में भी मेघ के समान मार्गमध्यान्तर्वर्ती अन्य के सुख दुःख से निरपेक्ष रहकर घर पहुँचता है उसी प्रकार यह देहादि अन्तकाल में (मृत्यु काल) में यहाँ रह जाता है और जीवात्मा अपने कर्मानुसार अर्जित अधिष्ठित लोक को चला जाता है। जैसे जल रसाने वाला बादल जल वर्षा करके चला जाता है (शत श्लो. १६)

जो लोग ज्ञानी हैं और उपासना में निष्ठा रखते हैं वही जागार हैं ऐसे लोग ऋचाओं (मन्त्रों) की कामना करते हैं (उपासना में श्रद्धा रखते हैं) वही सचेतन ज्ञानी जन गायन (मन्त्र उपासना रूप गायन) को प्राप्त करते हैं। (ऋ. ५/४४/१४)

वेद प्रतिपाद्य देवता–

वेद के द्वारा (ज्ञान के द्वारा) प्रतिपाद्य देवत्व का विचार किया जा रहा है—ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब (कीट-पतङ्गादि) पर्यन्त समस्त चराचरों में देवत्व होता है। सभी देवत्वधर्म सम्पन्न हैं यथा—निरूक्त में यास्काचार्य देवत्व प्राप्त आचार्य हैं। उन्होंने वेद के कठिन पदों तथा प्रकरणों को निरूक्त के द्वारा प्रकाशन किया है इसलिए वे देव हैं। और भी उदाहरण दिये जा रहे है देवत्व तो 'देवो दानात्-दीपनात्-द्योतनात् द्युस्थानात् वा' धर्म के कारण होते है जैसे— १. वायु और मेध के द्वारा वृष्टि (जल वर्षण) दान करने के कारण वे देव है अर्थात् 'ददातीति देवः' है। जो प्रदान करें—दे उसे देव कहते हैं। राजा-और श्रेष्ठी (सेठ)



लोग अन्नवस्त्रादि का दान करते हैं, इसलिए वे भी देव हैं। २. अश्वगज आदि पशुगण द्वारा पर्वतों और अरण्य का दीपन (शोभा) बढ़ाते है। वे वन में रह कर उसकी शोभा का वर्धन करते रहते हैं, इसलिए वे देव है। ३. अग्नि-सूर्य-चन्द्रमा तथा विद्वानों के द्वारा लोक प्रकाशन कर्म नित्य होते रहते हैं। अग्नि-सूर्य और चन्द्रमा अन्धकार को मिटा कर लोक (जगत्) का प्रकाशन करते है और विद्वान् अपने ज्ञान के द्वारा लोक के अज्ञान को दूर कर लोगों को प्रकाश प्रदान करते हैं इसलिए वे देव है। ४. ग्रह-तारा और नक्षत्रगण द्युलोक के स्थान में स्थित रहने के कारण देव है। (नि. ७/१५)

मूर्तिमान् भगवान् वेद का उपस्थित प्रतीक चित्र के माध्यम से शाखा-प्रशाखा सहित सम्पूर्ण अंशों के वेद का ज्ञान सुलभतया हो जाता है। यथा—वेद भगवान् का मूर्धा वेदान्त

१६. भूमा सुखम् — पूर्णता | यत्र नान्यज्जानाति।
१५. प्राणः
१४. आशा
१३. स्मरः
१२. आकाशः
११. तेजः
१०. आपः
९. अन्नम्
८. बलम्
७. विज्ञानम्
६. ध्यानम्
५. चित्तम्
४. संकल्पः
३. मनः
२. वाग्
१. नाम

भूयान्

(छा.उ. ६)

समाधिः-पराप्रज्ञा-यथाभूतार्थदर्शिनी सर्ववस्तु-परित्यागे शेष-आत्मा।
कृपणं-मन-गोष्पदे कार्ये निमज्जति।
दृश्यं-चिन्निष्यन्दमात्रम्। (अन्नपू.उ. १)

(वेद का ज्ञानकाण्ड-उपनिषद् भाग) है, निरुक्त-श्रोत्र (कान), ज्योतिष-चक्षु, शिक्षा-घ्राण, मुख-व्याकरण, आयुर्वेद-प्राण, धनुर्वेद-दोनों भुजाएँ, हृदय-मानवधर्म, गन्धर्ववेद-रससंप्लाव, दोनों हाथ-अर्थशास्त्र, कल्प-उदर, शिल्पवेद-अस्थिपञ्जर, कामशास्त्र-जघन और छन्द-दोनों पैर हैं।

आत्मा ही आगे-पीछे-ऊपर-नीचे-वायीं और दायीं ओर है इस प्रकार जानने मनन करने वाला आत्मक्रीड आत्मरति-स्वराट् और आत्मानन्द को प्राप्त होता है। वह सम्पूर्ण लोकों में यथेच्छ गति पाता है। इस प्रकार के विद्वान् के लिए आत्मा से प्राण-आशा-स्मृति-आकाश-तेज-जल-आविर्भाव-अन्न-बल-विज्ञान-ध्यान-चित्त-संकल्प-मन-वाक्-नाम-मन्त्र और कर्म आदि सब के सब एक हो जाता है। उसके प्राण से लेकर नाम पर्यन्त पदार्थों की उत्पत्ति और प्रलय स्वात्मा से भिन्न सत् होते थे। किन्तु अब सत् का आत्मत्व ज्ञान होने पर वे अपने आत्मा से ही हो गये। इसी प्रकार उस विद्वान् का और भी व्यवहार आत्मा से ही होने लगता है। (छा.उ. ६)

समाधि पराप्रज्ञा है और यथार्थ रूप से वस्तु का ज्ञान करानेवाली है। सभी प्राकृतिक (विकारभूतवस्तु) के परित्याग के अनन्तर जो शेष रह जाता वह आत्मा है। उस स्वात्मा

	विष्णु मायेति शब्दिता	
	चेतनेत्यभिधीयते	
या देवी सर्वभूतेषु	बुद्धिरूपेण संस्थिता	नमस्तस्यै
	निद्रा रूपेण संस्थिता	नमस्तस्यै
वृत्ति रूपेण संस्थिता	क्षुधा रूपेण संस्थिता	नमस्तस्यै
स्मृति रूपेण संस्थिता	छाया रूपेण संस्थिता	
दया रूपेण संस्थिता	शक्ति रूपेण संस्थिता	नमो नमः
तुष्टि रूपेण संस्थिता	तृष्णा रूपेण संस्थिता	
मातृ रूपेण संस्थिता	क्षान्ति रूपेण संस्थिता	
भ्रान्ति रूपेण संस्थिता	जाति रूपेण संस्थिता	
व्याप्ति देव्यै	लज्जा रूपेण संस्थिता	
चितिरूपेण या कृत्स्नं	शान्ति रूपेण संस्थिता	
एतद्व्याप्य व्यवस्थिता	श्रद्धारूपेण संस्थिता	
	कान्ति रूपेण संस्थिता	
	लक्ष्मी रूपेण संस्थिता	

में बनी अपनी स्थिति को समाधि कहते है। यह मन कृपण है। इसे स्वात्म बोध नहीं रहता। यह तथ्य के विपरीत संकल्प-विकल्प रूप कार्य द्वारा गोष्पद (गाय के खुर के बराबर गढ़ा) दृष्टान्त भूत तुच्छ वस्तु में पहुँच कर जीवात्मा को दुःसह कष्ट में डालते रहता है। इसका स्वभाव ही कृपण (पापमय) है। अतः यह नष्ट होते है और जन्मते रहता है। जन्म-मरण का हेतु मन ही है। 'मन एव मनुष्यानां कारण बन्धनमोक्षयोः' इस लिए कहा गया है। वह विषयों के साथ जीवात्मा को सम्बद्ध करके बाँधता है और वही मन जब निर्विषयी होता है. तो मोक्ष को प्रदान करने में प्रमुख सहायक होता है। इसलिए मन ही मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण (हेतु) है कहा गया है। यह दृश्य जगत् चिद् वस्तु का निस्पन्दन (स्फुरण) मात्र है। स्फुरण सत्य नहीं है वह क्षणिक है। वह किसी आधार (अधिकरण-अधिष्ठान) में होता है। वह जिसमें हो रहा है वही आत्मा है मन को यही बात समझाने के लिए योगादि मार्ग (ज्ञान मार्ग) में षट् साधन की व्यवस्था मनीषियों ने की है जिसके द्वारा मन का नियमन कर (शुद्ध कर) उपयुक्त साधन के रूप में संस्कृत कर मोक्ष का साधक बनाया जाता है। (अन्नपू.उ. १)

जो देवी विष्णु की माया रूपा कही गयी है और सभी प्राणियों में क्रीड़ाशील है उसे नमस्कार करता हूँ। नमस्कार शब्द तीन वार कहने से सात्त्विक-राजस-तामस भेदेन कहा गया है। कुछ लोगों का कहना कि एक से अधिक बार कहना पुनरूक्त दोष है यह कथन उचित नहीं हैं। यथा—'विषादे विस्मये हर्षे खेदे दैन्येऽवधारणे। प्रसादने सम्भ्रवे चैव, द्विस्त्रिरुक्तं न दुष्यति। प्रकर्षहर्षकोपेषु स्वप्न दैन्य भयेषु च। स्तुत्यभ्यासानुवादेषु पौनरुक्त्यं न दुष्यति।।' अतः गुणभेद से अथवा कायिक-वाचिक-मानसिक कर्मभेद से यहाँ नमस्कार की त्रिरुक्ति कही

प्रणवात्मिका-(वाराहोपनिषद्-४)

	(क)		(ख)
	स्थूलांशे-जाग्रद्विश्वः		स्थूलांशे-स्वप्न विश्वः
अकारः-	सूक्ष्मांशे-जाग्रद् तैजसः	उकारः-	सूक्ष्मांशे-स्वप्न तैजसः
जाग्रत्	कारणांशे-जाग्रत् प्राज्ञः	स्वप्नः	कारणांशे-स्वप्न प्राज्ञः
	तुरीयांशे-जाग्रत् तुरीयः		तुरीयांशे-स्वप्न तुरीयः

गयी। यहाँ कुल तेईस रूप में देवी को कहा गया, वह इसलिये कि ये तेईस ही आर्ष देवियाँ हैं—'विष्णुमाया चेतना च, बुद्धिर्निद्रा क्षुधा तथा। छाया शक्तिश्च तृष्णा च, क्षान्तिर्जातिस्वतः परम्।। लज्जा शान्तिस्ततः श्रद्धा, कान्तिर्लक्ष्मीस्ततः परम्। वृत्तिः स्मृतिर्दया चैव, तुष्टिर्माता ततः परम्।। भ्रान्तिर्व्याप्तिश्चितिश्चैव, त्रयोविंशति संख्यकाः। अतोऽधिकं अनार्षं स्यात्तन्त्रे कात्यायने स्फुटमिति।।' देवी शब्द से अभिकथन यहाँ क्रीडनशीला है। यह देवी सभी भूतों में क्रीड़ा करने वाली है इसलिए देवी है—'दीव्यते क्रीडते यस्मात् द्योतते रोचते दिवि। तस्मात् देवीति विख्याता स्तूयते सर्वदेवतैः।।' (याज्ञवल्क्यः) भगवान् आचार्य शंकर मे माया को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति, रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा। कार्यानुमेया सुधयैव माया, यथा जगत्सर्वमिदं प्रसूयते।।११०।। सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो, भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो। सङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिकारो, महाद्भुतानिर्वचनीय रूपा।।१११।। (विवेक चू.म.) पञ्चदशी के टीकाकार ने 'विशुद्धसत्त्वप्रधाना माया' कहा है। परन्तु मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत दुर्गासप्तशप्ती में सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते' तथा 'यत्किञ्चित्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके' कहा है। प्रकृत प्रसंग के मूल श्लोकों में देवी की व्यापकता का ही प्रतिपादन किया गया है। पंचदशीकार भी शक्ति और शक्त का अभेद स्वीकार किया है। अतः देवी का व्यापक और ब्रह्मस्वरूपता ही स्वरूप है यह विनिश्चित वस्तु है। अतः व्यापन शील स्वभाव होने के कारण ब्रह्म स्वरूपा देवी का मायादि-चित्यन्त उपर्युक्त श्लोकोक्त कथन का तात्पर्य भी उनके उसी ब्रह्मरूपत्व को कहा है। (दु.श.स.दे.सू.)

यहाँ प्रणवाक्षर 'ॐ' (ओम्) के स्वात्मा का विचार किया गया है। प्रत्येक वर्ण के चार अवस्था-यथा-स्थूल-सूक्ष्म कारण और तुरीय को दर्शाकर सूक्ष्मतम विचार किये गये हैं।

(क) अकार जाग्रत् अवस्था है उसके चार स्वरूप हैं—१. स्थूलांश में जाग्रत यह विश्व स्वरूप है। २. सूक्ष्मांश में जाग्रत् यह जाग्रत तैजस है। ३. कारणांश में यह जाग्रत् प्राज्ञ है और ४. तुरीया साक्ष्यंश में जाग्रत तुरीय है।

(ख) उकार स्वप्न अवस्था है। उसके चार भेद हैं—१. स्थूलांश में स्वप्नावस्था और

	(ख)		(घ)
	स्थूलांशे-सुप्त विश्वः		स्थूलांशे-तुरीयविश्वः
मकारः–	सूक्ष्मांशे-सुप्त तैजसः	अर्धमात्रा–	सूक्ष्मांशे-तुरीय तैजसः
सुषुप्तिः	कारणांशे-सुप्त प्राज्ञः	तुरीया–	कारणांशे-तुरीय प्राज्ञः
	तुरीयांशे-सुप्त तुरीयः		सूक्ष्मांशे-तुरीय तैजसः

१. शुभेच्छा २. विचारणा ३. तनुमानसी	अकारः तुरीयांशः	भूमि त्रयेषु विहरन्-मुमुक्षुः।
४. सत्यापत्तिः	उकार तुरीयांशा	विहरन् ब्रह्मविद्।
५. असंसक्तिः	मकार तुरीयांशा	विहरन् ब्रह्मविद्वरः।
६. पदार्थाभाविनी	अर्धमात्रातुरीया	विहरन् ब्रह्मविद्वरीयान्।
७. तुर्यगा	तुर्यातीता	विहरन् ब्रह्मविद्वरिष्ठः।

विश्व स्वरूप होता है। २. सूक्ष्मांश में स्वप्नावस्था है और तैजस है। ३. कारणांश में स्वप्न प्राज्ञ और ४. साक्ष्यंश तुरीय में तुरीय है।

(ग) मकार सुषुप्ति अवस्था है, इसमें—१. स्थूलांश में सुषुप्त विश्व। २. सूक्ष्मांश में सुषुप्त तैजस। ३. कारणांश में सुषुप्त प्राज्ञ और ४. साक्ष्यंश में सुषुप्त तुरीय होता है।

(घ) अर्ध मात्रा तुरीयावस्था है। इसमें स्थूलांश में तुरीय विश्व। २. सूक्ष्मांश में तुरीय तैजस। ३. कारणांश में तुरीय प्राज्ञ तथा ४. तुरीय साक्ष्यंश में तुरीय-तुरीय होता है।

अब उपर्युक्त 'ओम्' के स्वरूप तथा उपासना के फलश्रुति को कहा जा रहा है—१. शुभेच्छा। २. विचारणा और तनुमानसी ये अकार तुरीयांश उपासना का फल है और इसकी उपासना परिपक्वता से उपासक 'अ-उ-म्' इन तीनों भूमियों में विहार (विचरन) करता हुआ मुमुक्षत्व स्थिति को प्राप्त होता है अर्थात् वह मोक्ष की इच्छावाला हो जाता है। ४. सत्यापत्ति-उकार तुरीयांश अवस्था है और इसमें विहार करता हुआ साधक ब्रह्मविद् होता है। ५. असंसक्ति—यह तुरीयांशावस्था है इसमें विहार करता हुआ साधक ब्रह्मविद्वर कहलाता है। ६. पदार्थभाविनी अर्धमात्रा तुरीयावस्था है और इसमें विहार करता हुआ साधक ब्रह्मविद् वरीयान् होता है। ७. तुर्यगा—यह तुर्यातीतावस्था है। इसमें साधक विहार करता हुआ साधक ब्रह्मविद्वरिष्ठत्व को प्राप्त होता है। (वाराहोपनि. ४)

एक एव हि भूतात्मा भूते-भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।। (ब्रह्मविन्दूपनि. १२)
विहाय कामान्यः सर्वान्, पुमांश्चरति निःस्पृहः।

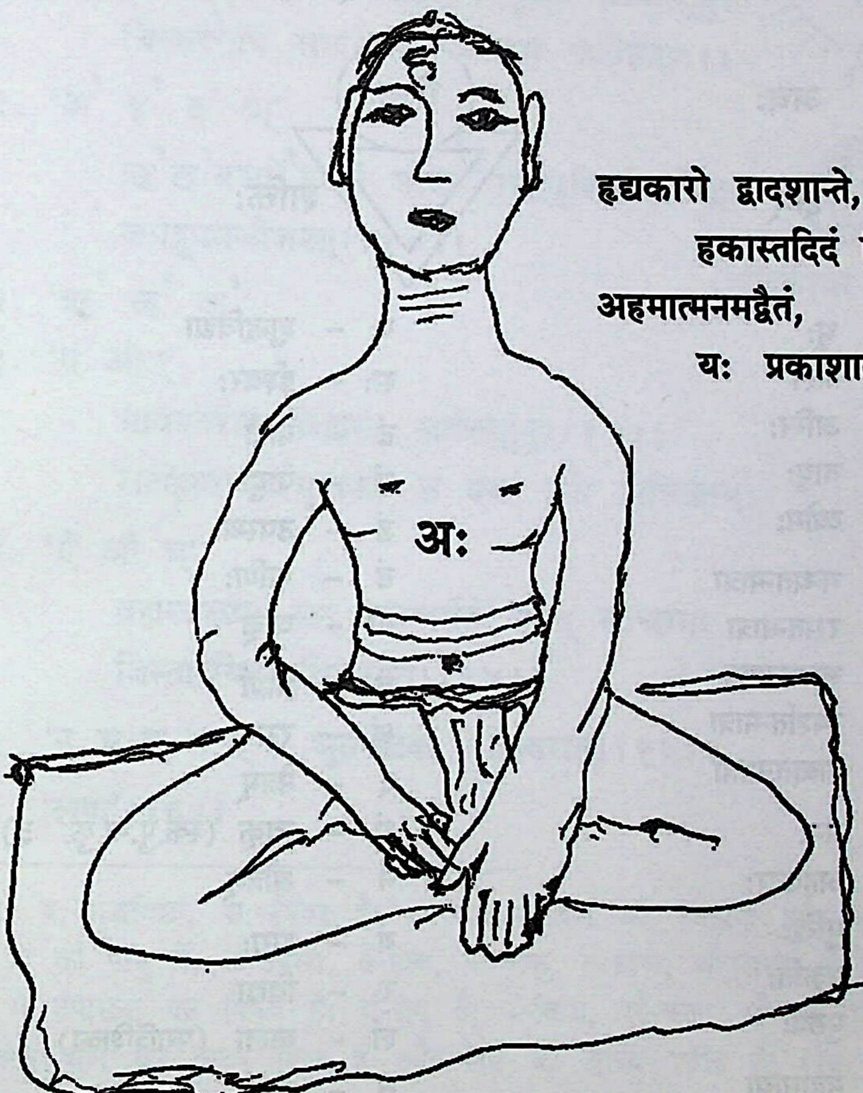
प्रजहाति यदाकामान् मनोगतान् |
आत्मन्येवात्मनातुष्टः, → | स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते। (श्रीमद्भगवद्गीता २/५५)
निर्ममो निरहंकारः → | स शान्तिमधिगच्छति। (२/७१)

असक्तो ह्यचरन्कर्मपरमाप्नोति पूरूषः। (गी. ३/१९)
यस्त्वात्मरतिरेवस्या, दात्मतृप्तश्चात्मसन्तुष्टः तस्यकार्यं न विद्यते।
(३/१७)
यस्य सर्वे समारम्भाः, कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं, तमाहुः पण्डितं बुधाः।। (गी. ४/१९)
यदृच्छालाभसन्तुष्टो, द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।। (गी. ४/२२)

एक ही परमात्मा प्रत्येक भूतों में अन्तर्यामी रूप से व्यवस्थित है। सभी भूतजात प्रपञ्च में साक्षी (अन्तर्यामी) आत्मा एक ही रूप से है शरीर भेद होने से उसमें भेद नहीं है। जैसे जल में प्रतिविम्बित चन्द्रमा प्रत्येक जल में भिन्न-भिन्न रूपों (अनेक) में दिखाई देता है परन्तु बिम्ब (चन्द्र) एक ही होता है कूप नदी-घट-खायी आदि के जल के भेद से वह भिन्न भिन्न दीखता है परन्तु है वह चन्द्र एक ही। (ब्रह्मविन्दूपनि. १२)

जो पुरुष सभी कामनाओं को त्याग कर तथा कर्म के फल में इच्छा नहीं रखता हुआ कर्म करता है, तथा आमा में ही आत्मा की तृप्ति प्राप्त करता है, जिसे किसी जगद् वस्तु में यह मेरा है इस प्रकार का अहंकार नहीं रह गया है वही स्थित प्रज्ञ है और वही शान्ति (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

जो पुरुष अनासक्त (कर्मफल की इच्छा के विना) हो कर्म करता है, जो आत्मानन्द में निरन्तर रत रहता है, आत्मानन्द में ही तृप्त रहता है, यथा प्राप्त भोग से सन्तुष्ट रहता है, उसके लिये कोई कर्म कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता है। जिसके सभी आरम्भ कर्म इच्छा-संकल्प से विवर्जित है और सर्वत्र परमात्मा को ही देखता है ऐसे पुरुष के ज्ञान रूपी अग्नि के द्वारा सभी कर्म नष्ट कर दिये जाते हैं और वही पण्डित कहे गये है ऐसा बुधजन



ह्यकारो द्वादशान्ते,
हकास्तदिदं विदुः।
अहमात्मनमद्वैतं,
यः प्रकाशात्मविश्रमः।

का विचार है। जो किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता और प्रारम्भ कर्मानुसार प्राप्त भोग पदार्थ से सन्तुष्ट है, सभी प्रकार के द्वन्द्व से अतीत हो चुका है सुख-दुःख-लाभ-हानि-सिद्धि-असिद्धि सब में समान भाव से वर्तता है ऐसे पुरुष जो भी कर्म करते है उसके फल से नहीं बँधते। अर्थात् वह बन्धमुक्तपुरुष हैं। (भगवद्गीता)

साधक द्वारा हृदय में 'अः' का निरन्तर द्वादशवार जप (प्राणायाम) करने के अन्तर जो आत्मा और परमात्मा के ऐक्य की स्थिति बनती है उसे हकार अद्वितीय आत्म स्वरूप' ब्रह्म है, ऐसा जानो या जानना चाहिये।

वाचकः	वाच्यम्
अचः	शिवः
क्षम्	शक्तिः

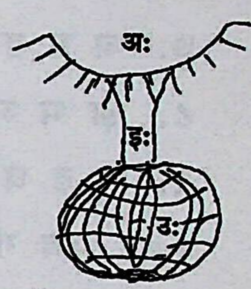


कं – भूः
खं – जलं
गं – अग्निः
घं – वायुः
ङं – व्योमः
चं – गन्धतन्मात्रा
छं – रसतन्मात्रा
जं – रूपतन्मात्रा
झं – स्पर्शतन्मात्रा
ञं – शब्दतन्मात्रा
पं – मनः
फं – अहंकारः
बं – बुद्धिः
भं – प्रकृतिः
मं – पुरुषः
शः – महामाया
हः – सदाशिवः

षः – शुद्धविद्या
सः – ईश्वरः
टं – पादौ
ठं – पायुः
डं – उपस्थः
ढं – पाणिः
णं – वाक्
तं – घ्राणं
थं – रसना
दं – नेत्रम्
धं – त्वक् (स्क.पु.मा.कु. ३)
नं – श्रोत्रम्
यं – रागः
रं – विद्या
लं – कला (परात्रिंशिका)
वं – माया

ये तीस वर्णों के प्रकृति पुरुषात्मक वर्ण देवताओं से सम्बन्ध रखने वाले विषय है, जो परावाणी के स्वरूप को समझने का उत्तम माध्यम है। मानव देह में तत्तत् अवयव स्थानों में साधक परावाणी के स्वरूप की उपासना करे। वे वर्ण और अवयव जिससे वर्णों का परस्पर सम्बन्ध है और साधक (उपासक) को तत्तत् स्थानों में प्रतिष्ठित रहकर तत्तत् रूप से द्योतन करने के कारण देव हैं, जो इस प्रकार से समझा जा सकता है—कं-भू है, खं-जल, गं-अग्नि, घं-वायु, ङं-व्योम, चं-गन्धतन्मात्रा, छं-रसतन्मात्रा, जं-रूपतन्मात्रा, झं-स्पर्शतन्मात्रा, ञं-शब्दतन्मात्रा, पं-मन, फं-अहंकार, बं-बुद्धि, भं-प्रकृति, मं-पुरुष, शः-

अका[1]रः ब्रह्मरूपः स्यात् निर्गुणः सर्ववस्तुषु।
चित्कला[2]मिं समाश्रित्य, जगद्रूप उणीश्वरः।।



(नन्दिकेश्वर संहिता-३)

१. 'अ[1] इ[2] उ[3] ण्'

ऋ[1] ऌ[2] क्सर्वे[1]श्वरो माया[2] मनोवृत्तिम[3] दर्शयत्।
जगद्रूपमजीजनत्।।१०।।

२. 'ऋ[1] ऌ[2] क्[3]'

३. 'ए ओङ्'

मायेश्वरात्म्यविज्ञानं, सर्ववस्तुषु।।११।।
साक्षित्वात्सर्वभूतानां, स एक इति निश्चितम्।।

४. 'ऐ औ च्'

ब्रह्मस्वरूपः सन् स्वान्तर्गतं जगत् स्वेच्छया
विस्तारयितुमाविरासीत्।।१४।।

५. 'ह य व र ट्'- भूतपञ्चकं महेश्वरात्।।१५।।

६. 'लण्'।।६।।

महामाया, षः-शुद्धविद्या, सः-ईश्वर है। टं बीजात्मकवर्ण की स्थापना और उपासना दोनों पैर में, डं की पायु में, डं-उपस्थ, ढं-हाथ, णं-वाक्, तं-घ्राण, थं-रसना, दं-नेत्र, धं-त्वक्, नं-श्रोत्र में उपासना का विषय है। यं-राग है, रं-विद्या, लं-कला और वं माया है। इस प्रकार अच वर्ण का वाच्य शिव हैं और क्षम् का वाच्य शक्ति है। (स्क.पु.मा.कु. ३, परात्रिंशिका)

'अ इ उ ण्' में अकार वर्ण जो 'अ' है वह निर्गुण ब्रह्म सभी वस्तुओं में है। इकार (इ) चित्कला इ तथा उ है। उस चित्कला का आश्रय करके अभिव्यक्त यह जगत् रूप ईश्वर ही है। इसलिए यह उणीश्वर हैं।

ऋ ऌ वर्ण सर्वेश्वर हैं और मनोवृत्ति माया स्वरूपा है। यह ईश्वर उस मनोवृत्ति (माया) को दिखाई नहीं देता है। इस प्रकार ईश्वर ने जगत् को बनाया है। ए और ओ वर्ण माया और ईश्वर के आत्म विज्ञान हैं और वे विज्ञान सभी वस्तुओं में व्याप्त है। सभी भूतों के साक्षी होने के कारण यह आत्मा सभी भूतों में एक समान रूप से स्थित है। ये ऐ और औ वर्ण ब्रह्मस्वरूप है और अपनी इच्छा शक्ति से सभी जगत् वस्तु में

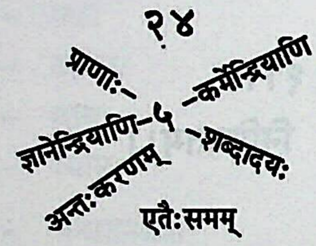
७. 'ञ म ङ ण न म्' शब्द स्पर्शादयो गुणाः।।१८।।

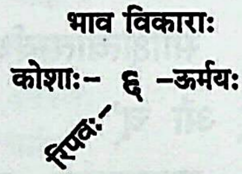
८. 'झ भ ञ्' वाक्पाणी।

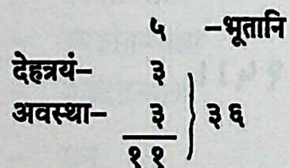
९. 'घ ढ ध ष्' पादपायूपस्थाः।।२०।।

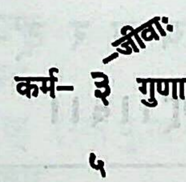
१०. 'जब ग ड दश्' श्रोत्रादीनि धीन्द्रियाणि।।२१।।

तत्त्वानि। (वाराहोपनिषद्)









व्याप्त होता हुआ विस्तार करने के लिए आवि (आत्मा) रूप से ही स्थित हुआ था। ह य व र और ट वर्ण पञ्च भूतात्मक महेश्वर हैं। ये सभी पर शासन करने के कारण महेश्वर हैं। ञ म ङ ण और न ये वर्ण शब्द तथा स्पर्श आदि गुणों के वाचक हैं। झ और भ ये दोनों वर्ण ज्ञानेन्द्रिय वाक् और कर्मेन्द्रिय वाणी है। घ ढ ध ये पाद-पायु और उपस्थ कर्मेन्द्रियाँ हैं। ज ब ग ड द ये श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इस प्रकार वर्णों में आत्मा की उपासना करने वाले उपासक 'अ' कार स्वरूप निर्गुण अक्षर ब्रह्म को प्राप्त होता है।
(वाराहोपनिषद्)

पंच प्राण, पंच ज्ञानेन्द्रि, पंचकर्मेन्द्रिय, शब्दादि पाँच गुण और अन्तःकरण चतुष्टय ये सभी को मिलाकर चौबीस तत्त्व हैं। आकाशादि पाँच भूत, जाग्रतादि तीन अवस्थाएँ तथा स्थूल-सूक्ष्म और कारण ये तीन देह इन सभी को मिलाकर ग्यारह ये कार्य हैं। इस तरह चौबीस तत्त्व ग्यारह कार्य तथा पुरुष को मिलाकर छत्तीस तत्त्व यहाँ कहे गये हैं। भावों के छः विकार हैं, 'कोश छः हैं, उर्मियाँ छः हैं और रिपु छः है। कर्म-जीव और गुण ये तीन-तीन हैं।

११-'खफछठथ चटतव्' वर्णद्वितीयवर्णोत्थाः
प्राणाद्याः पञ्चवायवः।
मध्यवर्गत्रयाज्जाताः अन्तःकरणवृत्तयः।।२३।।
१२-'कपय्' प्रकृति पुरुषं चैव।।२४।।
१३-'शषसर' (रा.ता.स.) गुणान्तं त्रितयम्।।२५।।
१४-'हल्' तत्त्वातीतः परः साक्षी अहमात्मा परः।।२७।।
स्ववर्णाश्रमधर्मेण, तपसा गुरुतोषणात्।
साधनं प्रभवेत्पुसां, वैराग्यादि चतुष्टयम्।। (वा.उ. २/२)
अहमेव सुखं नान्यत्, अन्यच्चेन्नैव तत्सुखम्।। (२/७)
स्वपूर्णात्मातिरेकेण, जगज्जीवेश्वरादयः।
न सन्ति नास्ति माया च, तेभ्यः चाहं विलक्षणः।। (२/११)

प्रकरण पूर्व में उल्लिखित नन्दिकेश्वर संहितोक्त प्रकरण से सम्बद्ध है, अत: उसी से सम्बन्ध करके इसको जानना चाहिये—वर्ग के द्वितीय वर्ण ख फ छ ठ थ तथा प्रथम वर्ण च ट और इससे उत्थित-क्षुभित वायु ही पञ्चप्राण हैं। वर्ग के मध्यम वर्ण ग-ब-ड इन तीनों से अन्त:करण की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। क और पवर्ग वर्ण प्रकृति और पुरुष के वाचक हैं। श-ष-स ये तीनों गुणों के वाचक हैं। 'ह' वर्ण सभी तत्त्वों से अतीत साक्षी स्वरूप है। आत्मा सभी से पर है। इस तरह अक्षरोपासना का क्रम कहा गया। (नन्दिकेश्वर सं.-३)

मोक्ष के चार साधन यहाँ बतलाये गये हैं। अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन, तप करना, गुरु को सेवा द्वारा प्रसन्न करना और वैराग्यादि त्यागरूप धर्म ये साधन चतुष्टय हैं। इनके द्वारा आत्म साक्षात्कार संभव होता है। आत्म साक्षात्कार ही मोक्ष अथवा परमपुरुषार्थ वाच्य है। आत्म सुख ही सुख है अन्य सुख सुख नहीं है। यदि अन्य में सुख प्रतीत होता तो वह सुख नहीं है। वह सुखाभास मात्र है। अहंत्वेन अर्थात् आत्मत्वेन सभी भूतों में बोध आत्मसुख है। यह जगत् सब आत्मा ही है अन्य कुछ नहीं है। यदि अन्य की प्रतीति है तो आत्म प्रतीति नहीं है ऐसा जानना चाहिये। सभी भूतों में आत्मानुभव सुख ही है। स्वात्मा पूर्ण ब्रह्म है और उसी के अतिरेक से जीव और ईश्वर व्यवहृत होते है। परन्तु ये भेद पारमार्थिक नहीं हैं। इसलिए सत्य नहीं है। माया सत्य नहीं है। उनकी सत्ता आत्मसत्ता से भिन्न किञ्चित् भी नहीं है। इसलिए उनकी आत्मा से अलग (भिन्न) कोई स्थिति नहीं है। वे उपाधि के कारण भिन्न है। परन्तु यह आत्मा सकल उपाधि रहित है इस लिए सबसे

त्रिधामसाक्षिणं सत्यं, ज्ञानानन्दमनन्तकम्।
त्वमहं शब्दलक्ष्यार्थं, असक्तं सर्वदोषतः।।
सर्वगं निगुणं ब्रह्म, ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते।।१७।। (वा.उ. २)

त्वं वाहमस्मि भगवो देवते! अहं वै त्वमसि।। (वा.उ. ३/३४)

आत्माम्भोधेस्तरंगोस्म्यहमिति गमने भावयन्नासनस्थः।
संविद् सूत्रानुविद्धो मणिरहमितिवा चेन्द्रियार्थप्रतीतौ।
हृष्टोऽस्म्यात्मावलोकादिति, शयन विधौ मग्नआनन्द सिन्धौ,
अन्तर्निष्ठो मुमुक्षुः स खलु तनुभृतां यो नयत्येवमायुः।।
(शतश्लोकी १२)

विलक्षण है। यह साधक के अभ्यास का विषय है। यह आत्मा-स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीररूपी तीनों धामों में साक्षी रूप से स्थित है। यह सत्य है, ज्ञान स्वरूप है, आनन्द स्वरूप है, और अनन्त है। त्वं और अहं शब्दों के लक्ष्यार्थ आत्मा ही है परन्तु जीव अपने दोष के कारण उसे नहीं देखता। वह दोष अज्ञान है। अज्ञान ही भेद है और अभेद ही ज्ञान है। त्वं और अहं पद के लक्ष्यार्थ (लक्षित अर्थ) जीवात्मा परमात्मा का अभेद ज्ञान है, इससे इतर सभी भेद होने के कारण अज्ञान ही है। यह आत्मा सभी भूतों में गमन करता है इसलिए 'सर्वग्य' है, यह तीनों गुणों से परे है इसलिए निर्गुण है, यह सम्पूर्ण जगत् में अपने व्यापन धर्म से व्याप्त है इसलिए ब्रह्म है परन्तु यह ज्ञान चक्षु से ही देखने योग्य है। अन्य कोई भी साधन से यह आत्मा प्राप्य नहीं हैं। इसलिए श्रुति है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'। यह उपासक कहता है हे भगवो देवते! हे सर्वैश्वर्य सम्पन्न देव! जो तुम हो वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही तुम हो हम में तुम में ऐक्य है अभेद है इसलिए कोई भिन्नता का जगह नहीं है। (वाराहोपनि. २/३/३४)

जब आसन पर बैठकर अपनी भावना से आत्मा रूपी समुद्र में गोता लगाता हूँ तो यह पाता हूँ कि मैं इसका तरङ्ग मात्र हूँ। कभी प्रतीति संवित् सूत्र में गूँथे हुए मणि के समान मैं हूँ ऐसा बोध होता है। शयन की (सुप्तावस्था) स्थिति में आत्मालोकन से अपने को इन्द्रियों के संघात स्वरूप यह हृष्ट-पुष्ट प्रतीत होता है। आत्मा में अन्तर्निष्ठ (लीन) हो जाने पर आनन्द सिन्धु में तरण करने वाला मुमुक्षु अपने को पाता हूँ और वह अङ्गी आत्मा शरीर और आयु को वहन कर रहा है ऐसा जानता हूँ। (शतश्लोकी १२)

अमृता तिथि योगः

आदित्यभौमयोर्नन्दा, भद्रा-शुक्रशशांकयोः।
जया सौम्ये गुरौरिक्ता, शनौ पूर्णाऽमृताः शुभाः।। (कश्यपः)
त्रयोदशस्युर्मिलने, संख्यायास्तिथिवारयोः।
क्रकचो नाम योगोऽयं मङ्गलेष्वतिगर्हितः।। (नारदः)

माघे तु पञ्चमी षष्ठी शुक्ले कृष्णे यथाक्रमम्।
शून्यतिथयः। (वशिष्ठः)

१. श्रीकाली	६. श्रीत्रिपुरभैरवी
२. श्रीतारा	७. श्रीबगलामुखी
३. श्रीभुवनेश्वरी	८. श्रीत्रिपुर सुन्दरी
४. श्रीमातङ्गी	९. श्रीधूमावती
५. श्रीछिन्नमस्तका	१०. श्रीकमला।

महात्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक्चितिः। सैवात्मा। ततोऽन्यदसत्यं अनात्मा। अत एषा ब्रह्मसवित्तिः। (वह्वृचोपनिषद्)

आदित्यवार (रविवार) में नन्दा तिथि (१,६,११) और मंगलवार में भद्रा (२,७,१२) तिथि, बुधवार को जया (३,८,१३) तिथि, गुरुवार को रिक्ता (४,९,१४) तिथि तथा शनिवार को पूर्णा (५,१०,१५) तिथि हो तो अमृत योग होता है। (कोष्ठक में दी गई संख्या को तिथि वाचक समझना चाहिये)। (कश्यप)

यदि तिथि और वार को जोड़ने पर तेरह की संख्या हो तो क्रकच योग होता है, जो सभी प्रकार के मंगल कार्य में गर्हित (त्याज्य) है। (नारद)

माघ में शुक्ल पक्ष पञ्चमी तिथि तथा कृष्णपक्ष की षष्ठी तिथि शून्य (रिक्ता) तिथि कहलाती है। (वशिष्ठ)

श्री काली, श्रीतारा, भुवनेश्वरी, मातङ्गी, छिन्नमस्तका, त्रिपुरभैरवी, बगलामुखी, त्रिपुरसुन्दरी, धूमावती और कमला ये दस महाविद्याएँ हैं।

महात्रिपुर सुन्दरी ही प्रत्यक् चेतन है। वे ही आत्मा हैं। उनके अतिरिक्त सभी असत्य है, अनात्मा है। अतः ये ही ब्रह्मविद्या है, भावाभाव कला से विनिर्मुक्त चिन्मयी विद्या-शक्ति हैं तथा अद्वितीय ब्रह्म का बोध कराने वाली है। (वह्वृचोपनिषद्)

नमामि त्वामहं देवीं, महाभयविनाशिनीम्।
महादुर्गप्रशमनीं, महाकारूण्यरूपिणीम्।।१६।। (देव्युपनिषद्)
(महाभयविनाशनीम्)

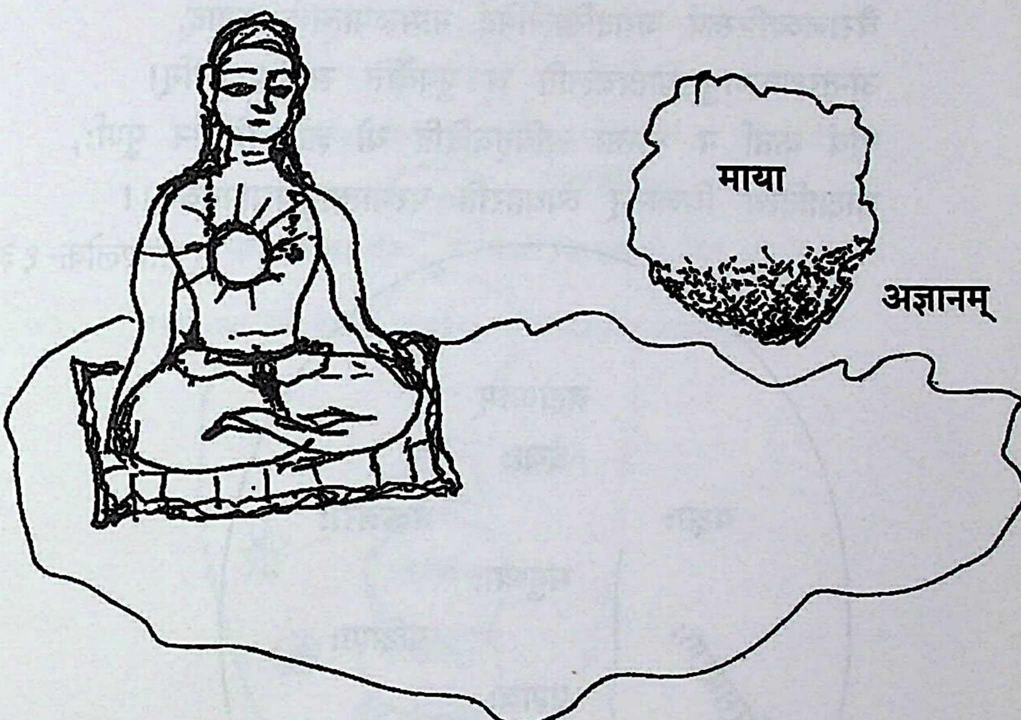
यज्जगद्भासकं भानं, नित्यं भाति स्वतः स्फुरत्।
स एव जगतः साक्षी, सर्वात्मा विमलाकृतिः।। (कठरूद्रोपनिषद्)
प्रतिष्ठा सर्वभूतानां, प्रज्ञानघनलक्षणः।
ब्रह्मवेंदनमात्रेण, ब्रह्माप्नोत्येव मानवः।।९।।
तद्विद्याविषयं ब्रह्म, सत्यज्ञानसुखाद्वयम्।
संसारे च गुहावाच्ये, मायाऽज्ञानादि संज्ञके।।१०।।
निहि ब्रह्म यो वेद, परमे व्योम्नि संज्ञके।
सोऽश्नुते कलान्कामान् क्रमेणैव द्विजोत्तमः।।११।।
(कठरूद्रोपनिषद्)

प्रत्यगात्मानमज्ञान-मायाशक्तेश्च साक्षिणम्।

हे देवि तुमको मैं नमस्कार करता हूँ। तुम महाभय को नाश करने वाली, दुर्गनामक महादैत्य को नाश करने वाली अथवा महादुस्तर दुःख को नष्ट करने वाली तथा करुणा की महती स्वरूपिणी को मैं नमस्कार करता हूँ। (देव्युपनिषद्)

जो जगत् का प्रकाशक है, नित्य प्रकाश के रूप में अपने ही द्वारा प्रकाशित है, वही जगत् का साक्षी है, निर्मल स्वरूप वाला वही सबका आत्मा है। वह प्रज्ञानघन स्वरूप है, सभी प्राणी उसी में प्रतिष्ठित है। मानव न ही कर्म के द्वारा, न सन्तानादि द्वारा और न ही किसी अन्य साधन के द्वारा बल्कि-ब्रह्मानुभव के द्वारा ही उस ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। वह सत्य-ज्ञान-आनन्द-अद्वितीय ब्रह्म-माया-अज्ञान गुहा आदि नामों से संसार में कहे जानेवाले संसार में व्याप्त हैं तथा केवल विद्या द्वारा ही जाना जाता है, जो परम व्योम नामक नित्य धाम में विराजमान इस ब्रह्म को जानता है वह द्विजश्रेष्ठ क्रमशः सभी कामनाओं को प्राप्त कर पूर्णकाम हो जाता है। (कठरुद्रोपनि. ८,९,१०,११)

अज्ञान और मायाशक्ति के साक्षी प्रत्यगात्मा को जो 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार जानता है वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है। (कठरु. १२)

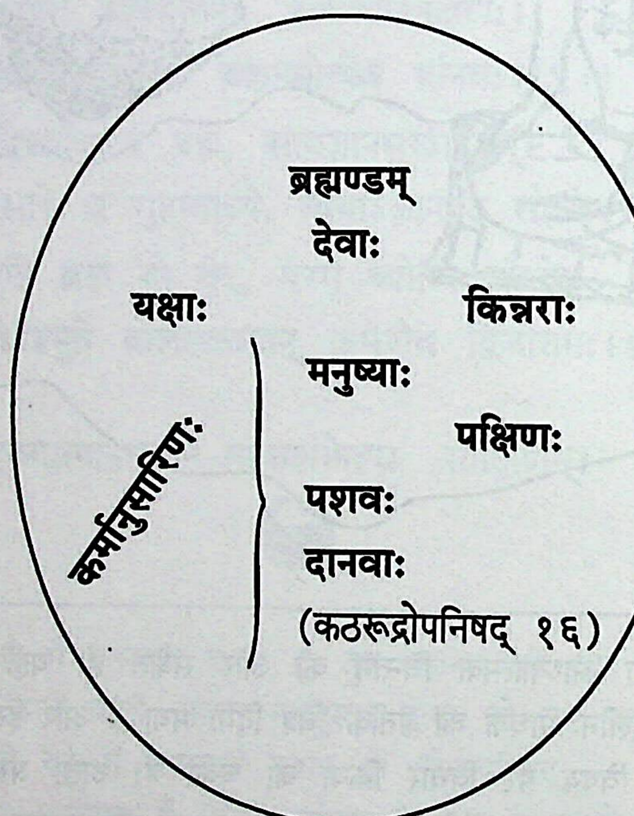


प्रतीक चित्र द्वारा आध्यात्मिक चिन्तन की ओर संकेत है। यहाँ अज्ञान-माया और समाधिस्थ आत्मबोधानन्दलीन साधक का प्रतीक चित्र दिया गया है और इससे पहले कठरुद्रोपनिषद् के आध्यात्मिक विषय पर विचार किया जा चुका है। अतः प्रसंगागत विषय उसी से सम्बद्ध प्रतीक चित्र का वाचक होना चाहिये। अतः सर्वप्रथम अज्ञान चित्रांश पर विचार करते हुए आगे बढ़ते हैं—शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ब्रह्म-ईश्वर, चैतन्य, जीवचैतन्य, प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और फल ये सप्तविध तत्त्व कहे गये हैं। इसमें व्यवहार को लेकर ही भेद है। मायाकृत उपाधियों से अत्यन्तमुक्त ब्रह्म-शुद्ध चेतन्य कहलाता है। माया के सम्बन्ध से वह ईश है और अविद्या (अज्ञान) के वशीभूत वही जीव है एवं अन्तःकरण के सम्बन्ध से वही प्रमाता-ज्ञाता कहलाता है। उस अन्तःकरण की वृत्ति के सम्बन्ध से वह प्रमाण संज्ञा वाला है। वह चेतन जब तक अज्ञात है तब-तक प्रमेय कोटि में आता है और वही ज्ञात हो जाने पर फल कहलाता है। अतः प्रज्ञसाधक अपने आपको 'मैं सकल उपाधियों से मुक्त हूँ' इस प्रकार चिन्तन करे। इत्थं भूत (इस प्रकार) साधक ब्रह्म साक्षात्कार कर परम पुरुषार्थ मोक्ष शब्दवाच्य परमपद को प्राप्त करता है। यही इस प्रतीक चित्र द्वारा कहा गया है।

एकं ब्रह्माहमस्मीति, ब्रह्मैव भवति स्वयम्।। (क. रूद्रोपनि. १२)

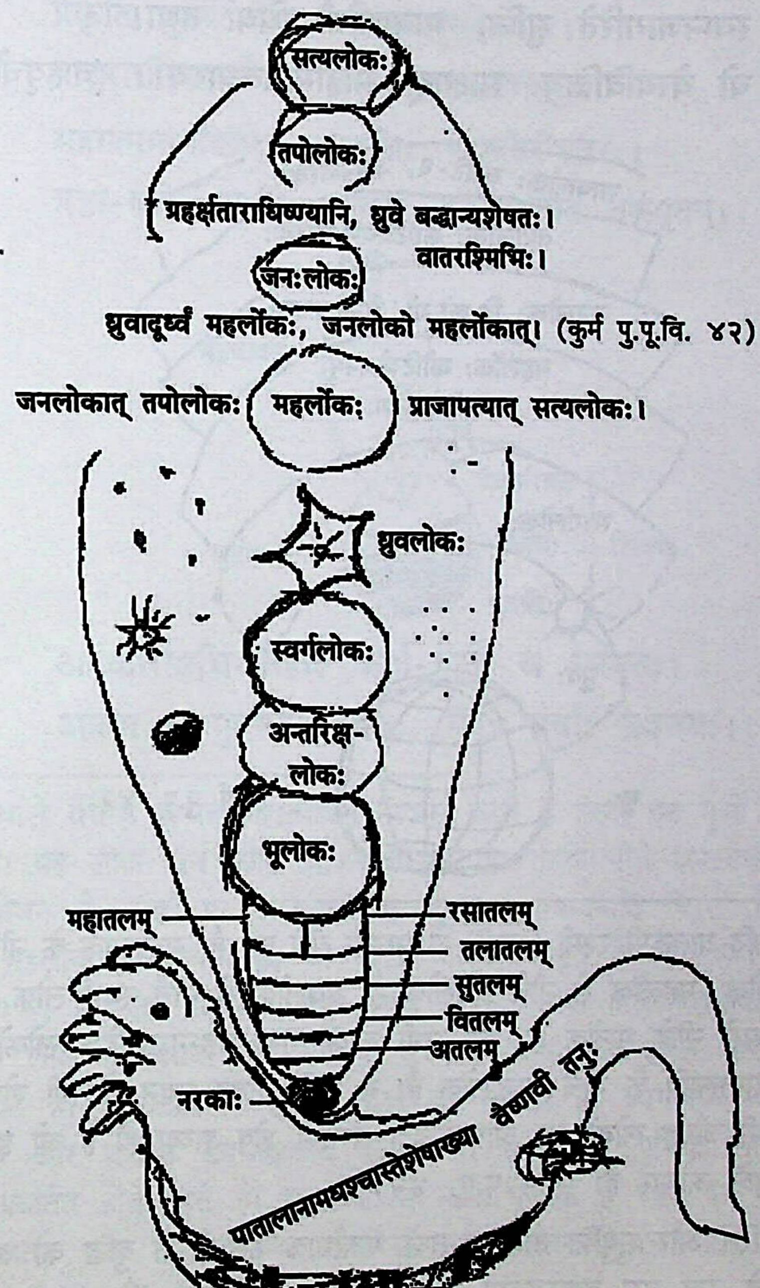
वैराजव्यष्टिरूपं जगदखिलमिदं नामरूपात्मकं स्याद्,
अन्तस्थप्राणमुख्यात्प्रचलति च पुनर्वेत्ति सर्वान्पदार्थान्।
नायं कर्ता न भोक्ता सवितृवदिति यो ज्ञान-विज्ञान पूर्णः,
साक्षादित्थं विजानन् व्यवहरति परमात्मानुसंधानपूर्वम्।।

(शतश्लोक-१३)



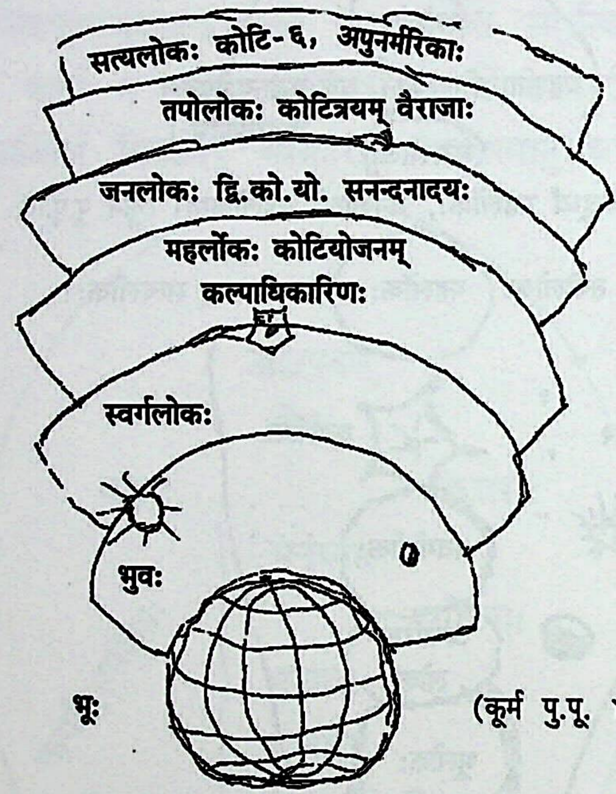
जो व्यक्ति इस जगत् को नामरूपात्मक व्यष्टि वैराज रूप तथा अन्तःस्थ मुख्यप्राणों के द्वारा चलता है और पुनः सभी पदार्थों को यह जीव जानता है इस रूप से जगत् को जानने वाला है, वह सत्य को नहीं जानता, क्योंकि यह आत्मा न तो कर्त्ता है न भोक्ता है यह सविता (सूर्य) के समान सभी के प्रकाशक और साक्षी मात्र है यह ज्ञान-विज्ञान परिपूर्ण है इस रूप से निश्चय ज्ञान सम्पन्न वह आत्मा को साक्षात् जानता हुआ जीवन का शारीरिक निर्वाह को वहन करता हुआ पर आत्मानुसंधान करते हुए अविद्या कृत बन्धन से मुक्त हो जाता है। (शतश्लो. १३)

सूक्ष्मभूतों को शिवरूप ईश्वर ने पञ्चीकृत करके उसी से ब्रह्माण्ड आदिकी सृष्टि की। ब्रह्माण्ड के अन्दर प्राणियों के पुराकृत कर्मों के अनुसार देव-दानव-यक्ष-किन्नर-मनुष्य-पशु-पक्षी आदि योनियों की सृष्टि की। (कठरु.उ. १६)



यहाँ पृथिवी सहित सत्यलोक पर्यन्त सात लोकों की स्थिति तथा भूलोक से नीचे रसातलादि सात लोकों की स्थिति नीचे कही गयी है रसातलादि सात लोकों के अधो भाग में नरकलोक की स्थिति कही गयी है। सबसे ऊपर सत्यलोक और सबसे नीचे भूलोक इन सात लोको में देव-यक्ष-गन्धर्व-किन्नरादि-तपोनिष्ठ-ज्ञानी और मानवों की स्थिति यथा योग्य पूर्वकृत कर्मानुसार है। इन लोकों के सञ्चालन में ग्रह-नक्षत्र-सूर्य-चन्द्र तारागण का योगदान होते हैं।

स्वप्नजागरिते सुप्तिं, भावाभावौ धियां तथा।
यो वेत्त्यविक्रियः साक्षात्, सोहमित्यवधारय।। (वाहवृचो. २२)



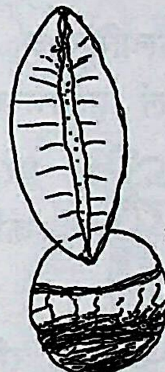
(कूर्म पु.पू. ४२)

ये सभी ग्रह-नक्षत्रादि वातरूपी रश्मी (रस्सी) से परस्पर बँधे हुए है। सत्यलोक के नीचे जनलोक, जनलोक से महर्लोक, महर्लोक से नीचे ध्रुवलोक है। ध्रुवलोक से नीचे स्वर्ग लोक, उससे नीचे अन्तरिक्षलोक, उससे नीचे भूर्लोक है, इन सभी लोकों तथा ग्रह-नक्षत्रादिक लोकों की स्थिति ध्रुव से ही है। रसातलादि के नीचे नरकलोक है। ये सभी चौदह भुवन वैष्णवी शेष शय्या पर स्थित है। इन सभी चौदह लोकों का आधार वही वैष्णवी शेष शय्या ही है जो इन लोकों के नीचे हैं और सबके आधार है। (कूर्म पु.पू. ४२)

स्वप्न-जागरित और सुषुप्ति अवस्था तथा भावाभाव कलाएँ जो बुद्धि को आश्रित होकर स्थित है ये सबके सब उस ब्रह्मस्वरूपा त्रिपुर सुन्दरी की विक्रिय (विकार) रूप उपाधि हैं। इन उपाधियों और उनके भावाभाव धर्मों से सर्वथा रहित साक्षात् परमात्मा स्वरूप मैं हूँ ऐसा बुद्धि में दृढ़ रूप से धारण करो। (वह्वृचोपनि. २२)

सत्यलोक भूर्लोकादि के सबसे ऊपर का लोक है यह छः कोटि योजन विस्तार है जहाँ पर योगादि को आश्रय करके ब्रह्मज्ञान को प्राप्त जनन-मरण विनिर्मुक्त लोग निवास करते हैं। सत्यलोक से नीचे तपोलोक है, जहाँ निखिल संकल्प विवर्जित रजोगुण पर विजय

प्रकृतिं पुरुषं चैव, प्रविष्याशुमहेश्वरः।
प्रादुरासीन्महाबीजं, प्रधानपुरुषात्मकम्।।
महानात्मामतिर्ब्रह्मा, प्रबुद्धिः ख्यातिरीश्वरः।
प्रज्ञा-धृतिः-स्मृतिः संविद्, एतस्मादिति तत्स्मृतम्।।



अहंकारोऽभिमानश्च कर्ता-मन्ता च सस्मृतः।
आत्मा च पुदगलो जीवः, यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।।

प्राप्त करने वाले वैराग्यं सम्पन्न महात्माजन निवास करते हैं जिन्हें इन गुणों के कारण वैराज कहा गया है। यह लोक तीन कोटि योजन विस्तृत है। उसके नीचे जनलोक जिसके विस्तार दो कोटि योजन है, जहाँ पर ज्ञान-तपोनिष्ट धूतात्मा सनन्दनादि विरक्त निवास करते हैं। उसके नीचे महर्लोक की स्थिति है, जो कोटि योजन विस्तृत है और जहाँ कल्पाधिकारीजन निवास करते है, महर्लोक के नीचे स्वर्ग लोक है। स्वर्गलोक और महर्लोक के मध्य सन्धि केन्द्र में ध्रुव लोक है जिसके वायु रश्मियों से सभी लोक बद्ध होकर अपनी-अपनी स्थिति को प्राप्त होते हैं। स्वर्गलोक में इन्द्रादि देवों का निवास है। स्वर्गलोक के नीचे भुवर्लोक है जहाँ सूर्य और चन्द्रमा ग्रह-नक्षत्रादि की स्थिति है जिससे पृथिवी लोक पर दिन-रात ऋतु आदि प्रवर्तित होते रहते हैं। भुवर्लोक से नीचे भूलोक हैं जहाँ पर मनुष्य-पशु कीट-पतङ्गादि जीवात्मा तथा उसके भोग्य औषधियाँ तथा पर्वत-नदी-वन आदि प्राकृतिक स्थावर जङ्गमादि की स्थिति है। (कूर्मपु.पू. ४)

प्रकृति और पुरुष का सृजन करके महेश्वर उसमें श्रविष्ट होकर तद्रूप हो गये। वही प्रधान पुरुषात्मक महाबीज कहलाया, जो महान्, आत्मा, मति, ब्रह्मा, प्रबुद्धि, ईश्वर, प्रज्ञा, धृति, स्मृति, संवित् नाम से विख्यात हुए और उसी से जगत् की सृष्टि हुई। जिसका यह क्रम है—महत्तत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति हुई और अहंकार से वैकारिक-तैजस तथा भूतादि त्रिविध सृष्टि क्रम चली। आत्मा माया के उपाधिवश ईश्वर कहलाते है और अविद्या उपाधि

अलिङ्गमेकमव्यक्तं लिङ्गं ब्रह्मेतिनिश्चितम्।
स्वयं ज्योतिः परं तत्त्वं, परे व्योम्नि व्यवस्थितम्।।
निगुणं शुद्धविज्ञानं, तद्वै पश्यन्ति सूरयः।
तन्निष्ठाः शान्तसंकल्पाः नित्यं तद्भावभाविताः।। (कूर्म पु.उ.वि. १०)
शिखाग्रे द्वादशाङ्गुल्ये, कल्पयित्वाथ पंकजम्।
धर्मकन्दसमुद्भूतं, ज्ञाननालं सुशोभनम्।।

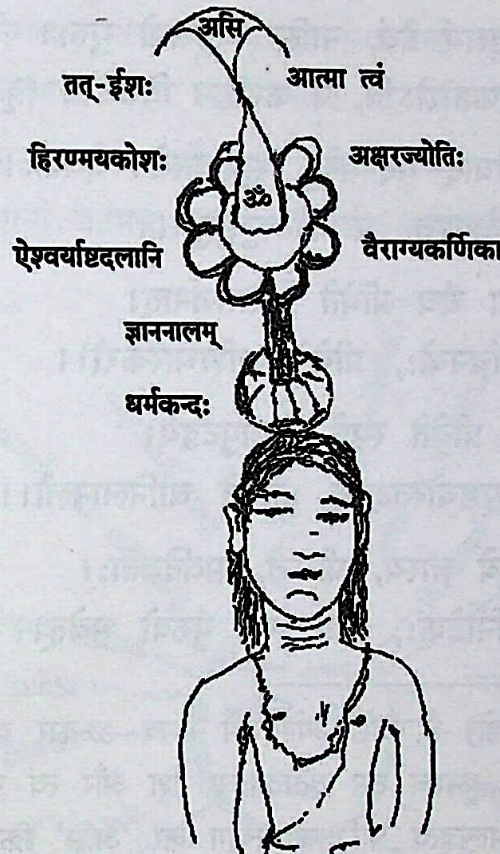


ऐश्वर्याष्टदलं श्वेतं, परं वैराग्यकर्णिकाम्।
चिन्तयेत्परमं कोशं, कर्णिकायां हिरण्मयम्।।
सर्वशक्तिमयं साक्षात्, यं प्राहुर्दिव्यमव्ययम्।
ओंकारवाच्यमव्यक्तं, रश्मिजालसमाकुलम्।।
चिन्तयेत्तत्र विमलं, परं ज्योतिर्यदक्षरम्।
तस्मिञ्ज्योतिंषि विन्यस्य, स्वात्मानं तदभेदतः।।
ध्यायीताकाशमध्यस्थं ईशं परमकारणम्।।
तदात्मा सर्वगो भूत्वा, न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।
एतद्गुह्यतमं ध्यानम्। (कूर्म पु.उ.वि. ११)

से आत्मा पुद्गल जीवात्मा अन्तःकरण से सम्बद्ध होकर कर्त्ता और मन से सम्बद्ध होकर मन्ता हो गया। इस प्रकार उसी प्रकृति पुरुषात्मक महाबीज से सकल सृष्टि उत्पन्न होती है और अहंकारादि सम्बद्धतावस सभी प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती है। (कूर्मपु.पू.वि. ४)

ब्रह्म अलिङ्ग एक और अव्यक्त ही है और लिङ्ग सत्य-ब्रह्म है। ब्रह्म स्वयं ज्योति स्वरूप परम तत्त्व है, जो परव्योम में व्यवस्थित है। वह निर्गुण-निर्मल और विज्ञानमय है जिसको योगि लोग ज्ञान चक्षु द्वारा देखते है। योगीजन उस ब्रह्म में निष्ठ होकर निरन्तर उसके भाव से भावित शान्त संकल्प अर्थात् सभी कामनाओं से रहित हो जाते हैं। वे पूर्ण काम हो जाते हैं। (कूर्मपु.उ.वि. १०)

शिखा के अग्रभाग (शीर्षस्थल) में कमलदल की भावना करके उसके मध्य धर्मकन्द से उद्भूत (उत्पन्न) सुन्दर सुशोभन ज्ञानरूपी नाल (डण्ठल) में ऐश्वर्यरूपी श्वेत अष्टदल कमल जिसमें परं वैराग्यरूपी पंखुयाँ लगी हों की परिकल्पना (भावना) करे, उस ऐश्वर्य सम्पन्न श्वेत अष्टदल कमल की कर्णिकाओं (पंखुयों) के मध्य सबसे परे हिरण्मय कोश



का चिन्तन करे। इस प्रकार उस हिरणमय कोश में सर्वशक्ति सम्पन्न जिसे दिव्य अव्यय कहा गया है ओंकार शब्द वाच्य अव्यक्त तथा प्रकाश पुञ्ज से परिपूर्ण उस विमल (विकार रहित)-पवित्र परं ज्योतिस्वरूप अक्षर ब्रह्म का भावना द्वारा चिन्तन करे। साधक पुनः उस परं ज्योतिस्वरूप उस अक्षर ब्रह्म की ज्योति में अपने आत्मा को अभेद भाव से स्थापित करके उस महाकाश ब्रह्म के मध्य में स्थित स्वात्म परमात्म ऐक्यरूप परम कारण ईश का ध्यान करे। इस प्रकार अपनी आत्मा को सब जगह गमन (व्याप्त) करने वाली भावना को सतत अभ्यास द्वारा दृढ़ करता हुआ पूर्ण तस्थ हो ध्यान आदि साधन (भावनात्मक क्रिया-व्यापार) को भी त्याग कर दे और अपने को अक्रिय अवस्था को प्राप्त करे। यही गुह्यतम (गुप्त से गुप्त) ध्यान कहा गया है। (कूर्म पु.उ.वि. ११)

जीवात्मा के शीर्षस्थान जिसे शिखाग्रभाग कहा गया है पर धर्मकन्द का स्थान है। जिसे जीवात्मा अज्ञानवश न तो देख पाते हैं और न ही अनुभव ही कर पाते हैं। परन्तु साधना सम्पन्न साधक-योगी उसको पवित्र ज्ञान प्राप्त करके उसका दर्शन (अनुभव) किया करते है। उस धर्मकन्द में ज्ञान नाल है। उस ज्ञान नाल में सर्वैश्वर्य सम्पन्न वैराग्यरूपी कर्णिका (पत्र) से संयुक्त अष्टदल कमल है जिसके हिरण्मयकोश में अक्षरज्योति (जो नित्यरूप

नास्ति मातृसमं दैवं, नास्ति पितृसमो गुरुः।
तयोः प्रत्युपकारोऽपि, न कथञ्चन विद्यते।। (कूर्म पु.उ. २२/३६)

त्रिः प्राश्नीयाद् यदम्भस्तु, सुप्रीतास्तेन देवताः।
ब्रह्मविष्णुमहेशश्च भवन्तीत्यनुसुश्रुम।।

गंगा यमुना चैव प्रीयेते परिमार्जनात्।
संस्पृष्टयोर्लोचनयोः, प्रीयेते शशिभास्करौ।।

नासत्यदस्रौ प्रीयेते स्पृष्टे नासापुटद्वये।
कर्णयोः स्पृष्टयोस्तद्वत्, प्रीयेते चानिलानलौ।।

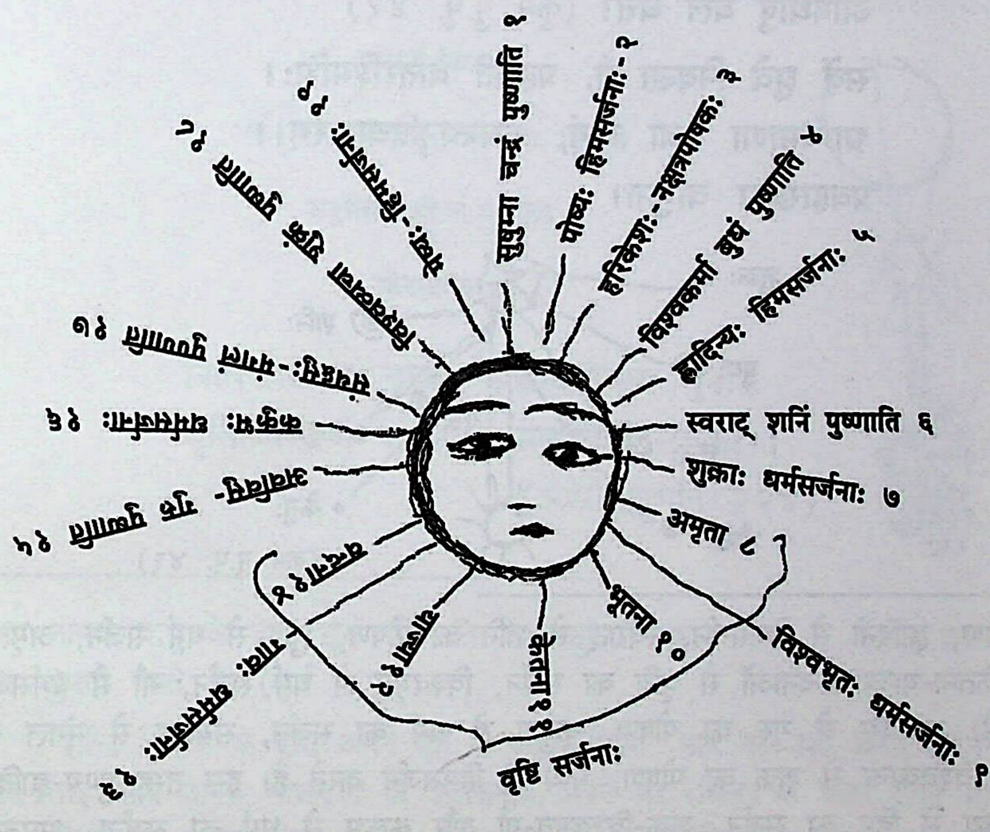
संस्पृष्टे हृदये चास्य, प्रीयन्ते, सर्वदेवताः।
मूर्ध्निसंस्पर्शनादेकः, प्रीतः सः पुरुषो भवेत्।। (कूर्म पु.उ. १३)

से प्रकाश प्रसरण कर रहा हो) है, उस ज्योति में प्रणव ॐकार वाच्य ईश (ब्रह्म) का साधक चिन्तन (भावना) करें। पुनश्च उस तत्पदवाच्य ईश और त्वं पद वाच्य आत्मा का उपाधि धर्म (सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व धर्म) का त्याग कर 'असि' क्रिया पद द्वारा ऐक्यता को प्राप्त करे। इस तरह लक्षित ईश (ब्रह्म) ऐक्यता प्राप्त करके सारे साधनभूत क्रिया (व्यापार) को त्याग कर तथा तस्थ होकर अक्रिय अचल-अक्षर भाव में स्थित हो जाय।

माता के समान कोई देवता नहीं है और पिता के समान कोई गुरु इस संसार में नहीं है। माता-पिता के प्रत्युपकार (उपकार के बदले में किये जाने वाला उपकार) भी कहीं-कोई-किसी प्रकार नहीं हो सकता। इसलिए पुत्र यावज्जीवन उस माता-पिता के ऋण से मुक्त नहीं हो पाता। (कूर्म पु.उ. २२/३६)

जो तीन बार जल का प्राशन (आचमन) करता है उससे (आचमन से) सभी देवगण ब्रह्मा-विष्णु और महेश देवता प्रसन्न हो जाते हैं, ऐसा ऋषि परम्परा से सुना गया है। जल के द्वारा परिमार्जन करने पर गंगा और यमुना प्रसन्न होती हैं। दोनों नेत्रों में जल के संस्पर्श करने पर सूर्य और चन्द्रमा प्रसन होते हैं। नासा (नाक) पुटों में जल के संस्पर्श करने पर नासत्य और दस्र ये दोनों देवता प्रसन्न होते हैं। उसी प्रकार दोनों कर्णपुट में जल के संस्पर्श से अग्नि और वायु देवता प्रसन्न होते हैं। हृदय में संस्पर्श से सभी देवता और मूर्ध्नि-(शिर) में संस्पर्श से वह परम पुरुष परमात्मा प्रसन्न होते हैं। (कूर्मपु.उ. २२/१३)

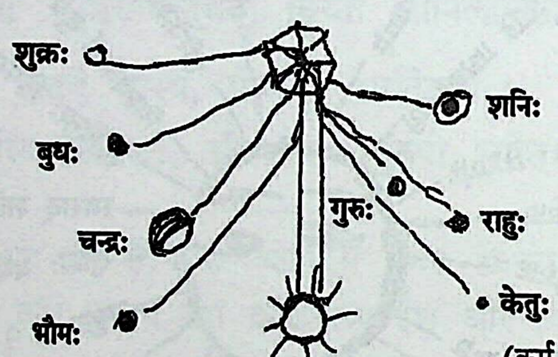
अग्नेर्गवामथालम्भे, स्पृष्ट्वा प्रयतमेव वा।
स्त्रीणामथात्मानः स्पर्शे नीविं वा परिधाय च।।
उपस्पर्शेज्जलं वार्दं तृणं भूमिमेव वा।
केशानां चात्मनः स्पर्शे, वाससोऽक्षालितस्य च।। (कूर्म पु.उ. १३)



अग्नि और गौ का आलम्भन करने अथवा स्पर्श करने पर स्त्रियों के आलम्भन करने पर अथवा नीवी (अधोवस्त्र) पहनने पर जल का स्पर्श करना चाहिये अथवा आर्द, (जल) तृण या भूमि का स्पर्श करना चाहिये। इसी प्रकार केशों (बालों) के और विना धोये हुए वस्त्र को भी स्पर्श (छूने) करने पर करना चाहिये। (कूर्म पु.उ. २२/१३)

सूर्य की कुल उन्नीस रश्मियाँ है जिसके द्वारा मनुष्य-पितृ और देवताओं का पालन पोषण होता है। मनुष्यादि वर्गों के अन्नादि औषधियों द्वारा, पितरों के स्वधा के द्वारा और देवों के अमृत के द्वारा पालन-पोषण भगवान् सूर्य नारायण करते है। उनकी रश्मियाँ जो ऊपर में उन्नीस कही गयी है उनमें से सुषुम्ना से चन्द्रमा का पोषण करते हैं। पोष्य रश्मि से हिम का सर्जन, हरिकेश से नक्षत्रगण का पोषण करते हैं। विश्वकर्मा रश्मि से बुध

समं विभर्ति ताभिः सः, मनुष्यपितृदेवताः।
औषधैः स्वधया चैव, अमृतेन सुरानपि।। (कूर्म पु.पू. ४१)
सम्पूर्णमर्धमासेन तं सोमममृतात्मकम्।
पिवन्ति देवताः विप्राः, यतस्तेऽमृतभोजनाः।।
औषधीषु बलं धत्ते। (कूर्म पु.पू. ४१)
सर्वे ध्रुवे निवद्धा वै, ग्रहास्ते वातरश्मिभिः।
भ्राम्यमाणा यथा योगं, भ्रमन्त्यनुदिवाकरम्।।
प्रवहाख्येन वायुना।



(कूर्म पु.पू. ४१)

का पोषण, ह्लादिनी से हिमसर्जन, स्वराट् से शनि का पोषण, शुक्र से धर्म सर्जन, अमृता-भूतना-केतना-याज्या-बन्दनाओं से वृष्टि का सर्जन, विश्वभृत से धर्म सर्जन, गौ से धर्मसर्जन करते हैं। अवविसु से गुरु का पोषण, कुकुभ से धर्म का सर्जन, संयद्वसु से मंगल का पोषण, विश्वव्यचा से शुक्र का पोषण, मेष्य से हिमसर्जन करते हैं। इस तरह पुण्य-ह्लादिनी और मेष्य से हिम का सर्जन, शुक्र-विश्वभृत-गौ और कुकुभ से धर्म की सर्जना, अमृतादि पाँच रश्मियों से वृष्टि की सर्जना तथा शेष रश्मियों से ग्रह-नक्षत्रों का पोषण भगवान् सूर्य करते हैं।

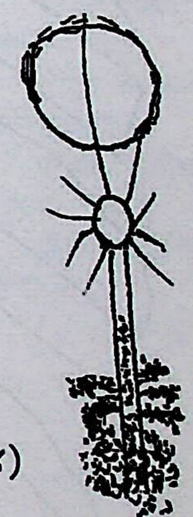
सम्पूर्ण आधा महीना अर्थात् पन्द्रह दिन अमृत स्वरूप सोम का पान वे द्युलोकादि देवता करते है जिससे उनका पोषण होते रहता है यह इसलिये कि वे देवगण मात्र अमृत का ही भोजन-पान करने वाले होते हैं। ओषधियों में बल को प्रदान कर सूर्य पुष्ट करते है जिसे खाकर मनुष्यादिगण पोषित होते हैं। यहाँ ओषधि में 'बल' प्रदान करते है अमृत सिञ्चन करते है ऐसा अर्थ समझना चाहिये। इसी तरह स्वधा के द्वारा पितरों का भरण-पोषण करते हैं। (कू.पु.पू. ४१)

सभी सूर्यादि ग्रह वात (वायु) रूपी रश्मि (डोरी) से बँधे हैं और वे यथा योग्य

शक्त्यानिर्मोकतः स्वाद्वहिरहिरिव यः प्रव्रजन्स्वीयगेहात्
द्वायां मार्गद्रुमोत्थां पथिक इव मनाक् संश्रयेद्देहसंस्थाम्।
क्षुत्पर्याप्तं तरुभ्यः पतितफलमयं प्रार्थयेद्भैक्ष्यमन्नम्
स्वात्मारामं प्रवेष्टुं स खलु सुखमयं प्रव्रजेद्देहतोऽपि।।

(शतश्लोकी १७)





निर्विकारतया वृत्त्या, ब्रह्माकारतया पुनः।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक्, समाधिर्ज्ञानसंज्ञकः।।

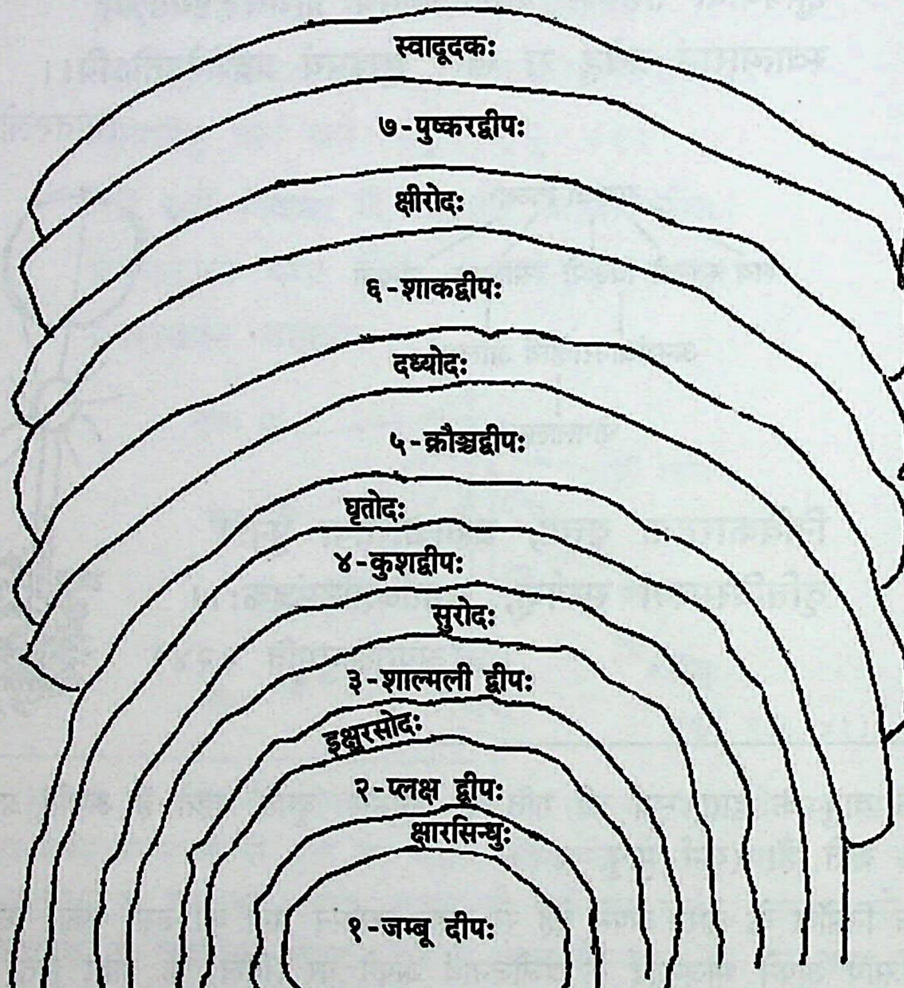
(अपरोक्षानुभूति २२४)

प्रवह नामक वायु के द्वारा सूर्य की गति के अनुसार 'घूमते' रहते हैं अर्थात् प्रवहवायु के द्वारा घुमाये जाते हैं। (कूर्म पु.पू. ४१)

शक्ति निर्मोक के द्वारा अपने देह से बाहर निर्गमन भाव को उसी प्रकार करना चाहिये जिस तरह साँप अपने भोजनादि के प्रजोजनार्थ अपने घर (बिल) से वाहर होता है। अथवा उस पथिक के समान होना चाहिये जैसे कोई पथिक किसी जंगल में गमन करते समय मार्ग में दोनों ओर फैले हुए डालियों को दोनों हाथों से हटाता हुआ आगे बढ़ता है। भूख के शमन के लिए वृक्ष से गिरे हुए पर्याप्त फल की भावना से भैक्ष अन्न को समझ कर ग्रहण करना चाहिये। इस तरह सदा निरपेक्षभावस्थ होता हुआ साधक सुखमय आत्माराम में प्रविष्ट होने के लिये देह से भी वहिर्गमन कर जाय। जैसे सर्प प्रयोजनार्थ विल, पथिक पथाच्छन्न तरु की डालियों दृष्टान्तगत वस्तु में अनासक्त होता हुआ प्रयोजन की ओर बढ़ता जाता है उसी प्रकार साधक बढ़ जाय। (शतश्लोकी, १७)

समाधि अवस्था में पाँच प्रकार के मुख्य विघ्नों को यहाँ कहे गये है—१. लय, २. स्तम्भ, ३. विक्षेप, ४. रसास्वाद और ५. शून्यता। इसके अन्य भेद भी हैं—विक्षेप से अनुसन्धानराहित्य और रसास्वाद से आलस्य है। अनुसन्धान राहित्य के भोग लालसा प्रभेद है। ये

पञ्चाशतकोटिविस्तीर्णा, ससमुद्राधरा स्मृता।
द्वीपैश्च सप्तभिर्युक्ता, योजनानां समासतः।। (कूर्म पु.पू. ४३)



उपर्युक्त समाधि अवस्था के विघ्न हैं। अतः साधक सजग स्थिति में ही इससे बचते हुए सक्रिय अनुसन्धानात्मक विवेक से ही साध्य को प्राप्त कर सकता है वह साधक इसके लिए निर्विकार वृत्ति द्वारा ध्येयात्मक चित्तवृत्ति को प्राप्त करे और पुनः ब्रह्माकाराकारित वृत्ति को प्राप्त करता हुआ साधनभूता उस वृत्ति को भी त्याग दे तथा आत्मा-परमात्मा को ऐक्य कर सकल उपाधिशून्य त्यागवृत्त हो केवल भाव में स्थित हो जाय। यही ज्ञान संज्ञक समाधि है। (अपरोक्षानुभूति २२४)

समुद्र और द्वीपों के सहित यह पृथिवी पचास कोटि योजन विस्तृत है। ये पचास कोटि योजन विस्तार द्वीपों समुद्रों में विभाजित होकर छोटे-छोटे योजन में विभक्त हैं। सबसे ऊपर स्वादूद समुद्र है जिस का जल स्वादिष्ट (पेय) है। उस स्वादूदक के अधोभाग (नीचे)

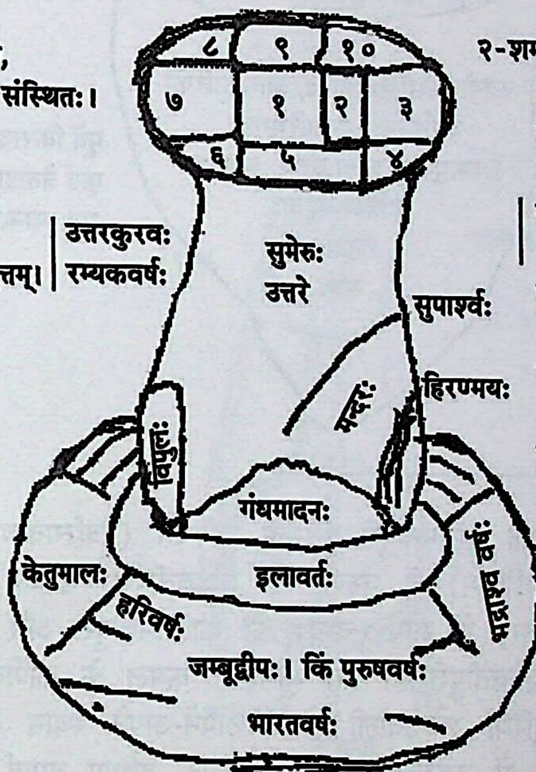
९-सोमस्य कान्तिमतीपुरी
१०-शंकरस्य यशोवतीपुरी

५-यमस्य संयमनीपुरी
३-शक्रस्यामरावतीपुरी।
१-चतुर्दश सहस्त्रयोजनम् वेधसःपुरी।

६-निर्ऋते रक्षोवती।
७-वरुणस्य शुद्धवती।
४-वह्नेस्तेजसोपुरी।
८-वायोर्गन्धवती।
२-शम्भोरायतलम्।

भूपद्मस्यास्य शैलोऽसौ,
कर्णिकात्वेन संस्थितः।

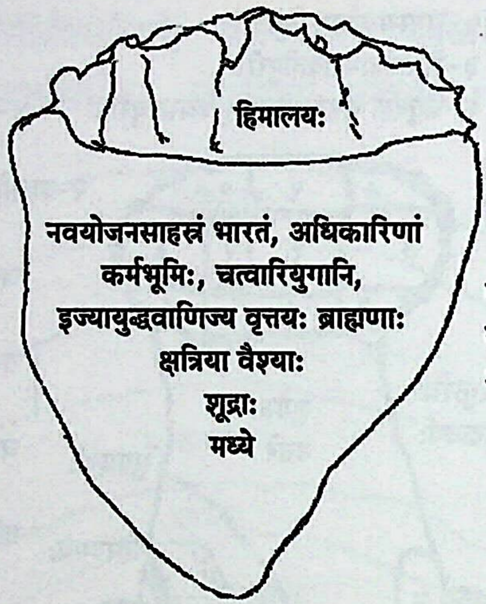
मेरोश्चतुर्दिशं नवसहस्त्र,
विस्तृतमिलावृत्तम्।



जम्बूद्वीपः समस्तानां,
द्वीपानां मध्यतः स्थितः।
तस्य मध्ये महामेरुः,
विश्रुतः कनकप्रभः।।
चतुरशीति साहस्त्रो,
योजनैस्तस्यचोच्छ्रयः।
प्रविष्टषोडशाऽधस्तात्,
द्वाविंशन्मूर्ध्नि विस्तृतः।।
मूले षोडश साहस्त्रः।
(कूर्म पु.पू.-४३)

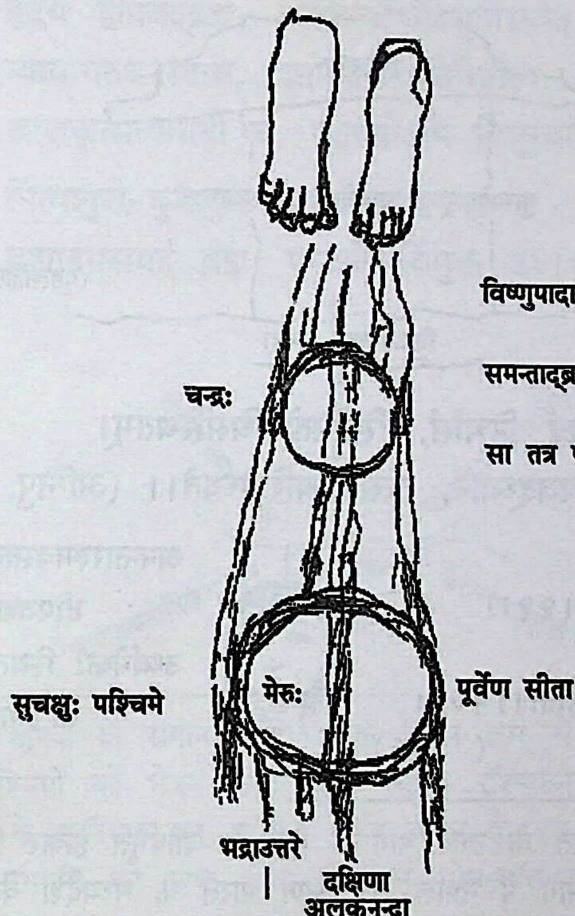
पुष्कर द्वीप है, उसके नीचे क्षीरोदक समुद्र (सागर) है। इसका जल दुग्ध के समान धवल और उसी के स्वाद का भी है। क्षीरोदक के नीचे शाकद्वीप है और उसके नीचे दध्योदक सागर है जिसका जल दही के समान धवल और उसी के स्वाद वाला है। दध्योदक के नीचे क्रौञ्चद्वीप और उसके नीचे धृतोदक सागर है, जिसका जल धृत के स्वस्वप का और स्वाद का है। घृतोदक के नीचे कुशद्वीप और उसके नीचे सुरोदक सागर है। सुरोदक सागर के नीचे शाल्मलीद्वीप उसके नीचे इक्षुरसोदक सागर उसके नीचे प्लक्षद्वीप द्वीप उसके नीचे क्षार सिन्धु उसके नीचे जम्बु द्वीप है। (कूर्म पु.पू.-४३)

हिमालय पर्वत के उत्तर दिशा में सुमेरु पर्वत है, उस सुमेरु के ऊपर में देवताओं की दस पुरियाँ (नगरें) हैं, जो इस प्रकार हैं—सभी देवताओं के पुरियों के मध्य में चतुर्दश सहस्त्र (चौदह हजार) योजन विस्तृत वेधा (ब्रह्मा) की वेधसपुरी है। ब्रह्मा की पुरी के पार्श्व (पूर्व) में शम्भु की आयतलनामक पुरी है। उस शम्भु की पुरी के पार्श्व (पूर्व) में शक्र (इन्द्र) की अमरावतीपुरी उसके नीचे अग्नि कोण में वह्नि (अग्नि) की तेजोवतीपुरी, उसके



पश्चिम (दक्षिण) में यम की संयमनीपुरी, उसके पश्चिम (नैर्ऋत्यकोण) में निर्ऋति की रक्षोवतीपुरी, उसके उत्तर (पश्चिम) में वरुण की शुद्धवतीपुरी, उसके उत्तर में वायु की गन्धवतीपुरी, उसके पूर्व (उत्तर) में सोम (चन्द्र) की कान्तिमतीपुरी और उसके पूर्व (ईशान कोण) में शंकर जी की यशोवतीपुरी है। इस भूमिरूपी कमल के कर्णिका (कमल पुष्प के पत्र) के समान ये दशो पुरियाँ शोभावाली होकर अपने-अपने स्थान में स्थित है। सुमेरु पर्वत के पश्चिम पार्श्वदिशा में उत्तरकुरु वर्ष तथा उसके दक्षिण पार्श्व में रम्यक वर्ष है, उससे दक्षिण केतुमालवर्ष है सुमेरु के दक्षिण दिशा में विपुल पर्वत और उसके पूर्व में मन्दराचल पर्वत है। उसके दक्षिण में गन्धमादन पर्वत, उसके दक्षिण इलावृत्तवर्ष, उससे दक्षिण पश्चिम दिशा में हरिवर्ष, उसके पूर्व दक्षिण दिशा में जम्बूद्वीप, उस जम्बूद्वीप में दक्षिण की ओर भारत वर्ष है। गन्धमादन पर्वत और इलावृत्त वर्ष के पूर्व की और भद्राश्ववर्ष हैं। जम्बूदीप सभी द्वीपों के मध्य में स्थित है। इन देवपुरियों तथा विभिन्नवर्षों तथा पर्वतों के मध्य में महामेरुपर्वत है, जो सुवर्ण के समान वर्ण होने के कारण प्रसिद्ध है। ये सुमेरु चौरासी हजार योजन विस्तृत शिखर (उँचाई) वाला है। यह सोलह योजन भूमि के अन्दर में प्रविष्ट है और जिसकी मूर्ध्नि (शिरोभाग) की चौड़ाई का विस्तार बाइस हजार योजन है। इलावृत्त वर्ष मेरु के चारों ओर नौ हजार योजन विस्तृत है। (कूर्म पु.पू. ४३)

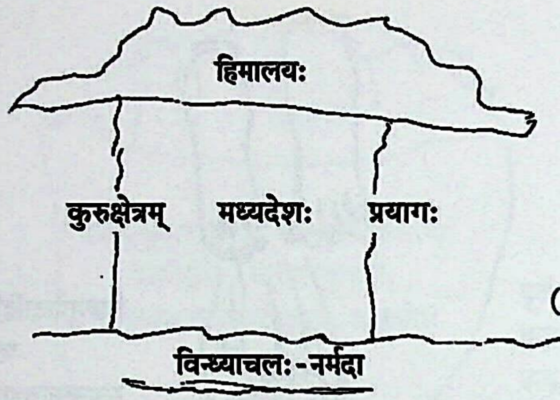
हिमालय पर्वत भारतवर्ष के उत्तर दिशा की ओर है और इसे भारत का मस्तक भी कहा जाता है। इस पर्वत के दक्षिण तथा पश्चिम में नौ योजन सहस्र (३६ हजार कोस) विस्तृत यह क्षेत्र स्थित है। यह कर्मभूमि और पुण्य भूमि के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ चार वर्ण चार आश्रम और चार युग की व्यवस्था से सृष्टि का नियमन संचालन तथा व्यवहार



विष्णुपादाद्विनिष्क्रान्ता,
प्लावयित्वेन्दुमण्डलम्।
समन्ताद्ब्रह्मणः पुर्याः,
गंगा पपात वै दिवः।।
सा तत्र पतिता दिक्षु,
चतुर्धा ह्यभवन्द्विजाः।
(कूर्म पु.पू. ४४)

के प्रवर्तन होते हैं। ब्राह्मण यज्ञादि द्वारा देव पितृ मानव का पोषण-वर्धन तथा तर्पण, क्षत्रिय रक्षा कार्य, वैश्य वाणिज्य और शूद्र सेवा कार्य अपने-अपने अधिकार तथा कर्त्तव्यानुसार सम्पादित कर मानवादि का पोषण-तोषणादि करके उत्तमगति को प्राप्त होते हैं। भारत के पूर्व दिशा में किरात तथा पश्चिम दिशा में यवन जातियों के लोग रहते हैं, जो भारतीय (आर्यधर्म) व्यवहारादि से भिन्न है।

माँ गंगा जी श्री विष्णुभगवान् के चरण कमलों से निकल कर चन्द्र मण्डल तथा ब्रह्मा के वेधसपुरी को तथा द्युलोक को भी प्लावित करती हुई चारों दिशाओं में चार धाराओं के रूप में फैल गई। उन चार धाराओं के नाम उन-उन दिशाओं में भिन्न-भिन्न हैं। पश्चिम दिशा में सुचक्षु नामक गंगा की धारा, पूर्व दिशा में सीता नाम की धारा, उत्तर दिशा में भद्रा नाम की धारा तथा दक्षिण दिशा में अलकनन्दा नाम की गंगा की धारा है। यह ध्यान रखना चाहिये कि गंगा का नाम त्रिपथगा इसलिए है कि वह तीन धाराओं से बहती है। परन्तु यहाँ प्रसंग में मेरु पर्वत पर होती हुई चार धाराएँ हो गयी हैं और भारत भूमि में चारों ओर पवित्र करती हैं, इसलिए भारत की भूमि पुण्यभूमि या पावन भूमि नाम से प्रसिद्ध है। (कूर्म पु.पू. ४४)



(वृहत्संहिता)

यदात्ममात्रं निर्भासं, स्तिमितोदधिसंस्थितम्।
चैतन्यरूपवद्ध्यानं, तत्समाधिरिहोच्यते।। (अग्निपु. ३३६/१)

ब्रह्मलोकमतिक्रम्य,
तेनयातिपरांगतिम्।।२१।।
सिताऽसिता कद्रुनीलाः,
कपिलाःपीत लोहिताः।।२०।।
('' ३६)



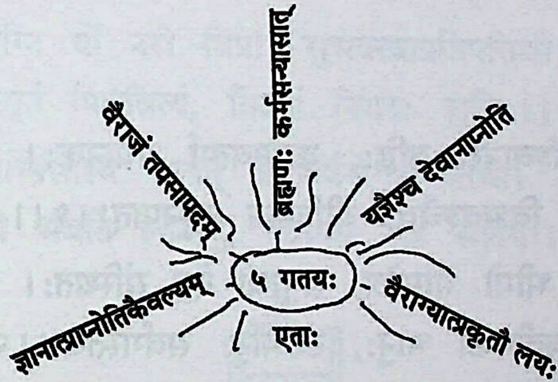
अनन्तारश्मयस्तस्य,
दीपवद्यः स्थितो हृदि।
उर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां,
यो भित्वा सूर्यमण्डलम्।।

हिमालय पर्वत भारत के उत्तर भाग में देश के शीर्षभूत होकर स्थित है। हिमालय पर्वत से दक्षिण मैदानी भाग में नेपाल से दक्षिण भारत के मध्यदेश के पश्चिम भाग में कुरुक्षेत्र पुण्यभूमि है, जो श्रुति-स्मृति पुराणादि प्रसिद्ध धर्मक्षेत्र के नाम से विख्यात है। मध्यदेश के पूर्व क्षेत्र में प्रयाग क्षेत्र है जिसे तीर्थराज कहा जाता है। प्रयाग कुरुक्षेत्र और मध्यदेश से दक्षिण भूभाग में विन्ध्य पर्वत है। विन्ध्य पर्वत से पूर्व और दक्षिण दिशा में नर्मदा नदी है। (वृहत्संहिता)

जब साधक ध्यानवस्था में सभी विकल्पों पर विजय प्राप्त कर परमानन्द में स्थित हो जाता है और आत्मा के चेतन मात्र का अवबोध रह जाता है तथा स्वयं का चेतन्यरूप से ही मात्र स्थिति रह जाती है तो उसे यहाँ समाधि कही गयी है। (अग्निपु. ३३६/१)

जो साधक उपासना (ध्यान-योग) में आसीन होता हुआ नाड़ीशोधन पुरस्सर निर्मलमन से ध्यानस्थ हो चित्तवृत्ति को ध्येयाकाराकारित कर लेता है और ब्रह्मात्म्यैक्य लक्ष्य की ओर समाधि द्वारा बढ़ता हुआ होता वह ब्रह्मलोक कों अतिक्रमित (ब्रह्मरन्ध्र भेदन) कर लेता है जिससे उसे परम गति मोक्ष (आत्मसाक्षात्कार) प्राप्त हो जाता है। आत्मसाक्षात्कार से पूर्व धवल-कृष्ण-कद्रुनील-कपिल-पीत-लोहित वर्ण की विभिन्न रश्मियाँ क्रमशः दिखाई देती है। उक्त रश्मियाँ अति प्रज्वलित अलौकिक होती है जिसका साधक अनुभव करता है, उन

हृदये द्वीपवद्ब्रह्म, ध्यानाज्जीवोऽमृतोभवेत्।
न्यायागतधनस्तत्त्व, ज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
श्राद्धकृत्सत्यवादी च, गृहस्थोऽपि विमुच्यते।। (अग्नि पु. ३७६)
नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्त-सत्यानन्दमद्वयम्।
ब्रह्माहमस्म्यहं ब्रह्म, परज्योतिर्विमुक्त ॐ।। (३७/३)



(" ३९/२)

अनन्त रश्मियाँ दीपक के समान पंक्ति अथवा विषम क्रम से किसी भी प्रकार उपस्थित होती है उन रश्मियों को भेदन करता हुआ साधक रश्मिवान् सूर्यमण्डल का भेदन कर आत्मा परमात्मा के एकीभाव का अपरोक्ष दर्शन करता है। इस प्रकार वह सर्वतः उर्ध्वगति को प्राप्त हो परमगति को प्राप्त होता है जिसे मोक्ष-मुक्ति-आत्मसाक्षात्कार-ब्रह्मबोध आदि कहते हैं। (अग्निपु. ३३६/३६)

घर में दीपक के समान प्रत्येक के हृदय में प्रकाशक के रूप में ब्रह्म विराजमान हैं जिसे ध्यान के द्वारा अपरोक्ष साक्षात्कार प्राप्त कर जीव अमरत्व को प्राप्त कर जाता है। यह नहीं है कि केवल-संन्यास-विरक्त आश्रम में प्रविष्ट व्यक्ति ही अमरत्व को प्राप्त करने का अधिकारी है गृहस्थाश्रमी भी उसे प्राप्त कर सकता है। जो गृहस्थ न्यायपूर्वक धन से अपने तथा अपने आश्रितों का पालन करने वाला हो, सत्यवादी हो, पितरों को श्राद्धकर्म द्वारा सन्तुष्ट रखता हो, अतिथि प्रिय हो तथा ज्ञान में निष्ठा रखने वाले हो, वे अभ्यास द्वारा उस हृदयस्थ ब्रह्म का चिन्तन कर अमृतत्व को प्राप्त कर सकता है। (अग्नि पु. ३७६)

वह गृहस्थ वा सन्यासी साधक निरन्तर अभ्यास के बल से नित्य स्वरूप, निर्मल स्वरूप, बुंद्ध और मुक्त स्वभाव वाले उस ब्रह्म को जो सत्य-ज्ञान और आनन्दमय स्वरूप वाला है उसे 'मैं वहीं' (ब्रह्म स्वरूप) हूँ इस प्रकार से जान कर परमप्रकाशमय-सर्व-प्रकाशक-स्वयं ज्योति स्वरूप ओंकार वाच्य स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। (अग्नि पु. ३७/३)

साधकों की पाँच गतियाँ होती हैं—१. सर्वतः कर्मत्याग द्वारा ब्रह्म पद की प्राप्ति।

प्रीतिविषादादेः, विनिवृत्तिः विरक्तता।
संन्यासः कर्मणां त्यागः, कृतानामकृतैः सह।।३।।
अहं रूद्रेभिरित्येभि वाग्मी भवति मानवः।
स्वस्ति इन्द्र इत्येतत्सर्वबाधाविनाशकृत्।। (अग्नि पु. २५९/८६)

गायत्री वैष्णवी ज्ञेया-तद्विष्णो परमं पदं, सर्वपापप्रशमनं सर्वकामकरं तथा। (३६०/८४)

देवा ऊचुः—

अग्निर्वैश्वानरो वह्निः, कृष्णवर्त्मा भयानकः।
प्रभवो विभवश्चैव, बीतिहोत्र तनूनपात्।।१।।
भव्यो भीमो भीमनेत्र, समुत्थो देह संस्थितः।
त्रैलोक्यदीपको भानुः, स्वर्भानुः सर्वगस्तथा।।२।।
चित्रभानुः शीतहन्ता, शीतसंस्थः कृपाकरः।
धेनुको वडवाजन्मा, जाठरोजठरस्थित।।३।।

---

२. तपस्या द्वारा वैराज पद की प्राप्ति। ३. आत्मज्ञानानुसन्धान द्वारा कैवल्य पद की प्राप्ति। ४. देव-पितृ-अतिथि के यजन-पूजन द्वारा देवत्व प्राप्ति और ५. वैराग्याभ्यास द्वारा प्रकृति में सभी इन्द्रियों के सहित प्राणों-अवस्थाओं (समस्त उपाधियों) का प्रकृति में लय प्राप्त करना। (अग्नि पु. ३९/२)

प्रीति (प्रेम) विषाद्-विनिवृत्ति-विरक्तता तथा सभी कृताकृत कर्मों का त्याग करते हुए भी मैं (आत्मा) कर्ता नहीं हूँ, यह प्रकृति में उनके धर्मानुसार हो रहा है इस विज्ञान के द्वारा जीवात्मा भी अकर्ता-अभोक्ता की स्थिति को प्राप्त कर लेता है और परमात्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है इस प्रकार सभी कर्मों का त्याग ही सन्यास है।

'अहं रूद्रेभिः' इस वेद मन्त्र के द्वारा जप-पूजन-हवन करने पर साधक वाग्मी (विद्वान्) होता है। 'स्वस्ति नऽइन्द्रो' इस मन्त्र के द्वारा जप-पूजन-हवन करने पर सभी प्रकार की बाधाएँ दूर होती हैं। गायत्री मन्त्र को वैष्णवी जानना चाहिये। 'तद्विष्णोः परमं पदं' मन्त्र के द्वारा आराधना करनेपर सभी पापों का नाश और सभी कामनाएँ पूर्ण होती है। (अग्नि पु. ३६०/८४)

देवताओं ने कहा—अग्नि, वैश्वानर, वह्नि, कृष्णवर्त्मा, भयानक, प्रभव, विभव, वीतिहोत्र, तनूनपात्, भव्य, भीम, भीमनेत्र, समुत्थ, देहसंस्थित, त्रैलोक्यदीपक, भानु, स्वर्भानु, सर्वग, चित्रभानु, शीतहन्ता, शीतसंस्थ, कृपाकर, धेनुक, वड़वाजन्मा, जाठर, जठरसंस्थित, यज्ञनेता,

यज्ञनेता यज्ञभोक्ता, भक्तगम्यो लयंकरः।
कृपीटयोनिः शोचिष्मान्, ज्वजनो जातरूपदः।।४।।

स्कन्द उवाच—

अग्नेरेतानि नामानिः, यः पठेत् प्रयतो नरः।
सर्वसिद्धिमवाप्नोति, शतयज्ञफलं लभेत्।।५।।
मन्दाग्नि र्यो नरो विप्र!, सुभक्त्याप्रतिपत्तिथौ।
नामामृतं पिवेन्नित्यं, त्रिवारं नियतः शुचिः।।६।।
मन्दाग्निस्तस्य नश्येत् वै सर्वरोगक्षयस्तथा।
धन्यो भवति लोकेषु, पूतात्मा नात्र संशयः।।७।।

गर्गाय समुद्रेनोक्तं सामुद्रिकम्। (अग्नि पु. २४३)
एकाधिकः-धर्मार्थकामेषु धर्माधिकः।

यज्ञभोक्ता, भक्तगम्य, लयंकर, कृपीटयोनि, शोचिष्मान्, ज्वजन और जातरूपद ये चौंतीस नाम अग्नि के इस स्तौत्र में हैं जिसके द्वारा देवताओं ने अग्नि नारायण की प्रार्थना की है। स्कन्द ने कहा—हे विप्र! जो कोई भी इस स्तोत्रगत नामों से अग्नि नारायण की प्रार्थना करता है या करेगा वे सभी प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त करता है और इसके पाठ मात्र से सौ यज्ञ का फल उसे प्राप्त होता है। जो व्यक्ति मन्दाग्नि रोग से ग्रस्त है वह प्रतिपदा तिथि में भक्तिपूर्वक यदि कोई इस स्तोत्र का पाठ करता हुआ नित्य इन अग्नि के नाम रूपी अमृत का पान नियत और पवित्र होकर तीनों काल में करता है तो उसकी मन्दाग्नि रोग नष्ट हो जाता है तथा अन्य रोग जो भी शरीर में ज्ञाताज्ञात है वे भी नष्ट हो जाते हैं। वह लोक में धन्य हो जाता है और पवित्रात्मा हो जाता है। इसमें कोई संशय नहीं है। (अग्नि पु. १-७)

समुद्र ने गर्ग ऋषि को सामुद्रिक रहस्य शास्त्र को कहा, इसलिये इस विज्ञान का नाम सामुद्रिक विज्ञान पड़ा। इस विज्ञान के ज्ञाता छः प्रकार के होते हैं या इस विज्ञान का छः भेद है—

१. एकाधिक—धर्म, अर्थ और काम इन तीनों में से जो धर्म के विशिष्ट ज्ञाता होते हैं अथवा धर्म = स्वभाव (चेष्टा) को देखकर फल को जानते हैं वे एकाधिक हैं। धर्म, अर्थ और कामों में जो धर्म को श्रेष्ठ कहता हो वह एकाधिक है।

त्रिकालज्ञः–धर्मार्थकालज्ञः।

षोडशाक्षकः–विद्याचतुर्दशद्व्यक्षै यः पश्येत्।

धन्यस्य–मधुरावाणी। गतिः-मत्तेभसन्निभा।

न्यग्रोधपरिमण्डलः–प्रसारित भुजस्य मध्यमाग्रद्वयान्तरं समं यस्य।

गम्भीरः त्रिः–श्रवोनाभि सत्त्वम्।

।।श्रीदत्तगुरुस्तोत्रम्।।

मूलाधारे वारिजपत्रे सुचतुष्के,
वं-शं-षं-सं वर्ण विशाले सुविशाले।
रक्तं वर्णं श्री गणनाथं भगवन्तम्,
दत्तात्रेयं श्रीगुरुमूर्तिं प्रणतोऽस्मि।।१।।

स्वाधिष्ठाने षड्दलपत्रे तनुलिङ्गे,
बालस्तावद्वर्णविशाले सुविशाले।
पीतं वर्णं वाक्पतिरूपं द्रुहिणं तम्,
दत्तात्रेयं श्रीगुरुमूर्तिं प्रणतोऽस्मि।।२।।

---

२. त्रिकालज्ञ—जो धर्म, अर्थ, काम तीनों के ज्ञाता होते हैं वे त्रिकालज्ञ हैं।

३. षोडशाक्षक—जो चतुर्दश विद्याओं और दो अक्षों के द्वारा भूत, वर्तमान, भविष्य फल के ज्ञाता होते हैं।

४. धन्यवाला—जिसकी वाणी मीठी हो और जिसकी गति (चाल) मदमस्त हाथी के समान हो वे हैं।

५. न्यग्रोधपरिमण्डल—वे हैं जिसके प्रसारित हाथ के (हाथ फैलाने पर) करने पर मध्यमा अङ्गुलि अन्य (बगल के) अङ्गुलियों के समान वाला हो।

६. गम्भीरत्रि—वे हैं जिनके कान, नाभि और बल (पुरुषार्थ) गम्भीर हों।

श्रीदत्तगुरुस्तोत्र—मूलाधार के चतुर्दलकमलपत्र में वं, शं, षं, सं सुन्दर विशाल बीजाक्षर में स्थित रक्तवर्ण के गणनाथ (गणेश) भगवान् स्वरूप गुरू की मूर्ति दत्तात्रेय जी को प्रणाम करता हूँ।।१।।

स्वाधिष्ठान चक्र में पीतवर्ण के विकसित बाल पंकज में सूक्षशरीर स्वरूप असुर (अज्ञान) द्रोही (विरोधी) गुरू दत्तात्रेयमूर्तिं को प्रणाम करता हूँ।।२।।

नाभौ पद्मे पत्रदशांके डफ् वर्णे,
लक्ष्मीकान्तं गरुडारूढं नरवीरम्।
नीलं वर्णं निर्गुणरूपं, निगमाद्यं,
दत्तात्रेयं श्रीगुरुमूर्तिं प्रणतोऽस्मि।।३।।

हृदिपद्मान्ते द्वादशपत्रे कठवर्णे,
शम्भुं शेषं हंस विशेषं शमयन्तम्।
श्वेतं वर्णं पञ्चाकृतिनं कलयन्तम्,
दत्तात्रेयं श्रीगुरुमर्तिं प्रणतोऽस्मि।।४।।

कण्ठस्थाने चक्रविशुद्धे कमलाङ्के,
चन्द्राकारे षोडशपत्रे स्वरवर्णे।
मायाधीशं जीवशिवं तं शशिमूर्तिं,
दत्तात्रेयं श्रीगुरुमूर्तिं प्रणतोऽस्मि।।५।।

आज्ञाचक्रे भृकुटिस्थाने द्विदलान्ते,
हं लं बीजं ज्ञानमधीशं रविमूर्तिम्।
तेजो गारे अश्वारुढे श्रीसूर्यं,
दत्तत्रेयं श्रीगुरुमूर्तिं प्रणतोऽस्मि।।६।।

नाभि के मध्य दशदल कमल में ड फ् बीजाक्षर स्वरूप गरूड पर आरूढ नरवीर लक्ष्मी के कान्त (पति) जो नील वर्ण के हैं निर्गुणात्मक है निगम (वेद-ज्ञान) के मूलस्वरूप हैं ऐसे गुरू श्री दत्तात्रेय जी को प्रणाम करता हूँ।।३।।

हृदयस्थ द्वादश पत्रकमल में क ठ बीजाक्षर स्वरूप एवं शेष, हंस और शम्भु स्वरूप है तथा जो तपस्या में लीन हैं श्वेत वर्ण के हैं, पञ्चमुख हैं और ब्रह्मानन्द में क्रीड़ा करने वाले हैं ऐसे गुरू श्री दत्तात्रेय को प्रणाम करता हूँ।।४।।

कण्ठस्थान में स्थित विशुद्धिचक्र में जो षोडशकमलाकार है और चन्द्राकार है स्वर वर्ण बीजाक्षर वाले हैं, माया के अधीश है, जीवों के कल्याण स्वरूप से विराजते चन्द्रमा स्वरूप हैं ऐसे गुरू श्री दत्तात्रेय जी को प्रणाम करता हूँ।।५।।

भृकुटि स्थान में द्विदल कमल आज्ञाचक्र में हं और लं बीजाक्षर स्वरूप ज्ञानाधीश,

ब्रह्मानन्दं ब्रह्ममुकुन्दं भगवन्तम्,
सत्यं ज्ञानं भूममयं तं भज रूपम्।
पूर्णं शान्तानन्दमयं तं निजमूर्तिम्,
दत्तायेयं श्रीगुरुमूर्तिं प्रणतोऽस्मि।।७।।

धारणाः-

१. आग्नेयी—

सारिनः शिखाफडन्ता च, विष्णोः कार्या द्विजोत्तम!।
नाडीभिर्विकटं नित्यं, शूलाग्रं वेधयेच्छुभम्।।
पादांगुष्ठात्कपालान्तं, रश्मिमण्डलमावृत्तम्।
तिर्यक् चाधोर्ध्वभागेभ्यः प्रयान्त्योऽतीवतेजसा।।
चिन्तयेत्साधकेन्द्रस्तं, यावत्सर्वं महामुने!।
भस्मीभूतं शरीरं स्वं, ततश्चैवोपसंहरेत्।।
शीतश्लेष्मादयः पापं, विनश्यन्ति द्विजातयः।।

रवि (सूर्य) मूर्तितेज़ के अधिष्ठान स्वरूप, अश्वारूढ श्री सूर्य भगवान् के साक्षात्मूर्ति गुरू दत्तात्रेय को प्रणाम करता हूँ।।६।।

ब्रह्मानन्द स्वरूप, ब्रह्ममुकुन्द स्वरूप, सर्वैश्वर्य सम्पन्न, सत्य और ज्ञान के आधार तथा अभयमूर्ति, पूर्ण-शान्त तथा आनन्दमय स्वरूप आत्ममूर्ति स्वरूप गुरू श्री दत्तात्रेय को प्रणाम करता हूँ।।७।।

धारणाः-

धारणा चार प्रकार की यहाँ कही गयी है—आग्नेयी, वारुणी, ऐशानी और अमृता। इन चारों धारणाओं का ब्रह्मज्ञान साधना में अपने-अपने क्रिया देश में अपने-अपने महत्त्व के हैं जिसकी जानकारी के लिए हमें इस प्रकार उसके स्वरूप को समझना चाहिये।

१. आग्नेयी धारणा—साधक पद (पैर) से शिखापर्यन्त फ से ड वर्ण तक के बीजाक्षर स्वरूप विष्णु का ध्यान करे। नाड़ी के द्वारा विचित्र परन्तु सुन्दर शूलाग्र का वेधन करे, इसी प्रकार तिर्यक् गति के द्वारा अन्तः भूमि में नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे (पादांगुष्ठ से कपाल पर्यन्त) धारणा को संचालित करता हुआ अत्यन्त तेज (दिव्य अग्नि) पुञ्जभूधारणा से वह श्रेष्ठ साधक अपने कायान्तर्गत शीत और श्लेष्मादि पापों को भस्म (नाश) करे। इस तरह की तेजोमयी धारणा के द्वारा तब तक अन्तःशरीर के नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे तिर्यक् गति से भावनात्मक धारणा

२. वारुणी—

स्फुरच्छीकरसंस्पर्श, प्रभूते हिमगामिभिः।
धाराभिरखिलं विश्वं, आपूर्यभुवि चिन्तयेत्।।
ब्रह्मरन्ध्राच्च संक्षोभात्, यावदाधारमण्डलम्।
सुषुम्नान्तर्गतोभूत्वा, सम्पूर्णेन्दुकृतालयम्।।
संप्लाव्य हिमसंस्पर्श, तोयेनामृतमूर्तिना।।
क्षुत्पिपासाक्रमप्राप्य, सन्तापपरिपीडितः।
धारयेद्वारुणी मन्त्री, तुष्ट्यर्थं चाप्यतन्द्रितः।।



३. ऐशानी—

व्योम्नि ब्रह्ममये पद्मे, प्राणापाने क्षयं गते।
प्रसादं चिन्तयेद्विष्णोः, यावच्चिन्ताक्षयं गता।।
महाभावं जपेत्सर्वं, ततो व्यापक ईश्वरः।
अर्धेन्दु परमं शान्तं निरायासं निरञ्जनम्।।
विष्णुमन्त्रेण वा कुर्यात्, आब्रह्मसचराचरम्।
मद्भावभावनापन्नः, ततोऽसौ परमात्मना।
भवत्यभेदे भेदश्च, तस्या ज्ञानकृतो भवेत्।।

करता रहे जब तक कि उपर्युक्त पाप समूल नष्ट न हो जाय। इस प्रकार मन्त्री (साधक) प्रयत्न से प्राप्त आग्नेयी धारणा में दृढ़तापूर्वक स्थिर हो जाय। यही आग्नेयी धारणा है।

२. **वारूणेयी धारणा**—साधक प्रवहमान हिममयी धारणा की धारा से समस्त विश्व को परिपूर्ण कर साधना भूमि का चिन्तन करे, अनन्तर ब्रह्मरन्ध्र को क्षुभित करके उस क्षुभित हिममयी धारा से आधारमण्डल (मूलाधार चक्र) को प्राप्त कर पुनः उस मण्डल से सम्बद्ध धारणा को सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट करा कर सम्पूर्णचन्द्र मण्डल को संप्लावित करे। इसी प्रकार उस हिमस्पर्श वाले अमृतमयी जलधारा के द्वारा क्षुत्पिपासा से संतप्त और पीडित प्रकृति संवलितआत्मा (जीवात्मा) को क्रमित करके अपनी तृप्ति के लिए सजगतापूर्वक उस वारूणी धारणा में मन्त्री (मनन करने वाला साधक) सुस्थिर हो जाय। यही वारूणी धारणा है।

३. **ऐशानी धारणा**—साधक ब्रह्ममय कमलाकाश में प्रविष्ट होकर प्राणवायु और अपान वायु को ध्येय में लय करना चाहिये। प्राण और अपान के क्षय (लय) हो जाने पर यावत् चिन्ता का क्षय न हो जाय तब तक विष्णु के प्रसाद (निर्मलता) का अपने आत्मा में चिन्तन

४. अमृता:—

सम्पूर्णेन्दुनिभं ध्यायेत् कमलं तन्त्रिमुष्टिगम्।।
शिरस्थं चिन्तयेद्यत्नात्, शशांकायुतवर्चसम्।
सम्पूर्णमण्डलं व्योम्नि, शिवकल्लोलपूर्णितम्।।
तथा हृत्कमले ध्यायेत्, तन्मध्ये स्वतनुं स्मरेत्।
साधको विगतक्लेशो, जायते धारणादिभिः।। (अग्निपु. ३७५)



एको व्यापी समः शुद्धोः, निर्गुणः प्रकृतेः परः।
जन्मवृद्ध्यादि रहितः, आत्मा सर्वगतोऽव्ययः।।
परं ज्ञानमयोऽसंगी, गुणजात्यादिभिर्विभुः। (अग्निपुराण ३८०/४४)

करना चाहिये। उसके अनन्तर साधक ईश्वर के व्यापकत्वधर्म महाभाव का अपने में स्थापन कर मैं ईश्वर (विष्णु) ही हूँ और यह सब पदार्थ मैं ही हूँ इस प्रकार की धारणा बनानी चाहिये। इस प्रकार अर्धेन्दु परम शान्त निरञ्जनस्वरूप ब्रह्म का चिन्तन करे अथवा ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण चराचर में विष्णु का चिन्तन करे और उस विष्णु के भाव से अपने को भावित होकर ध्येय और ध्याता का जो भेद है उसे धारणा शक्ति की युक्ति से दूर कर अभेद स्थापना 'मैं श्री विष्णु ही हूँ' इस प्रकार की धारणा प्रावल्य से स्थित हो जाय।

४. **अमृता धारणा**—साधक कमलपुष्पदण्ड को हाथ में धारण करने वाले सम्पूर्ण चन्द्रमा के सदृश आभा वाले तथा सहस्रों चद्रकिरण के प्रकीर्णन से चकाचौंध शिर है जिसका ऐसे शिव का ध्यान करें। निखिल व्योम मण्डल (आभ्यन्तर) में शिव कल्लोल ध्वनि से प्रपूरित उस शिव को अपने हृदय कमल में धारण करके उसमें अपना आत्मस्थापन करे अर्थात् शिव में 'अहं' की धारणा करें और ऐक्य स्थापन कर केवल भाव में स्थित हो जाय। इसी को अमृता धारणा कहते हैं। इन धारणाओं (उपर्यक्त चारों) से साधक विगत क्लेश होकर शिवत्व को प्राप्त कर लेता है। (अग्नि पु. ३७५)

आत्मा अद्वितीय, व्यापक, समान (एकरस), शुद्ध, निर्गुण, प्रकृति से परे है। वह जन्म-मृत्यु-उपचय-अपचय रहित, सभी वस्तु में आत्मारूप से स्थित और अव्यय स्वरूप है। यह सबसे पर और ज्ञानमय, संग रहित तथा गुण और जाति से रहित और विभु है।

क्रतुः ब्रह्मसुतो ज्ञानी, तच्छिष्योऽभूत्पुस्त्यजः।
निदाघः प्राप्तविद्यो, नगरे वै पुरे स्थितः।। (अग्नि पु. ३८०/४४)
पुमान् सर्वगतो व्यापी, आकाशवदयं यतः।
अतोऽहं प्रत्यगात्मास्मी,-त्येतर्थेभवेत्कथम्।। (अग्नि पु. ३८०/४४)
एकमेवमिदं विद्धि, न भेदः सकलं जगत्।
वासुदेवाभिधेयस्य, स्वरूपं परमात्मनः।।
एकः समस्तं त्वं चाहं विष्णु सर्वत्रगो यतः।
ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यं इत्येतद्वाङ्मयं मतम्।
काव्यं स्फुटदलंकारं, गुणवद् दोषवर्जितम्।। (अग्नि पु. ३३६)
अक्षरं परमं ब्रह्म, चैतन्यं ज्योतिरीश्वरः।
आनन्दः सहजस्तस्य, व्यक्तिः स रस स्मृतः।। (अग्नि पु. ३३९)

छन्दसारः–सर्वादिमध्यान्तगणौ, म्नौ भ्यौ ज्रौ स्तौ त्रिकागणाः।।

म	न	भ	य	ज	र	स	त	
ऽऽऽ	।।।	ऽ।।	।ऽऽ	।ऽ।	ऽ।ऽ	।।ऽ	ऽऽ।	(अग्निपु. ३२८)

ब्रह्मा के पुत्र क्रतु ज्ञानी थे। उनके शिष्य पुस्त्यज निदाघ ने उनसे विद्या (ब्रह्मविद्या) प्राप्त नगर और ग्रामों में रहा करते थे। (अग्नि पु. ३८०/४४)

पुरुष (आत्मा) सभी वस्तुजात में है और आकाश के समान यह सर्वव्यापी और सर्वगत भी है इसलिए मैं (जीवात्मा) प्रत्यगात्मा (परमात्मा) स्वरूप ही हूँ, इससे इतर धर्मवाला कर्त्ता-भोक्ता-सुखी-दुःखी कैसे हो सकता हूँ। (अग्नि पु. ३८०/४४)

यह जो इदं पद से जगत् व्यवहृत हो रहा है वह एक (अद्वितीय) ही है, इसमें भेद ही नहीं, क्योंकि यह सकल जगत् वासुदेव परमात्मा का स्वरूप है इसलिए मैं और तुम (जीवात्मा और परमात्मा) सभी में व्याप्त विष्णु ही है।

सभी पद और वाक्य ध्वनिवर्णात्मक है इसलिये उसे वाङ्मय कहा जाता है। गुणों से युक्त, सभी दोषों से रहित (अदुष्ट) को काव्य कहते हैं। अक्षर ब्रह्मस्वरूप, चेतन और ईश्वर (नियन्ता) है। आनन्द उस अक्षर ब्रह्म के सहज स्वरूप है और उस आनन्द की अभिव्यक्ति को रस कहते हैं। (अग्नि पु. ३३६,३९)

सभी वर्ण के आदि मध्य और अन्त में गण हैं, उन गणों की संख्या विधि यह है—

देहमध्ये शिवशक्तिः—

'अ	इ	उ	ए	ओ कलाश्च मूलं ब्रह्मेति'। (अग्नि पु. १२४)
।	।	।	।	।
ऐश्वरे	ॅ मोक्षमार्गस्य बोधकः	नादः हृदि	०	शक्तिः

नाभिमूले स्थितं कन्दं शिवरूपं तु मण्डितम्।
शक्तिव्यूहेन सोमोर्को हरिस्तत्र व्यवस्थितः।।

मगण, नगण, भगण, यगण, जगण, रगण, सगण और तगण इन आठ गणों के द्वारा छन्दशास्त्र अनुशासित होते हैं। इन गणों के स्वरूप को लघु और गुरु की मात्रा द्वारा ज्ञात किया जाता है। लघु के प्रतीक चिह्न '।' और गुरू के प्रतीक चिह्न 'ऽ' होते हैं, जिसके द्वारा छन्दों का मापन गण के रूप में किया जाता है। अब उपर्युक्त गणों के स्वरूप को जानने के लिये इस प्रकार विचार करना चाहिये—मगण (ऽऽऽ) में तीनों गुरू होते हैं। नगण में तीनों (।।।) लघु होते हैं। भगण (ऽ।।) आदि गुरू अन्त दो लघु, यगण (।ऽऽ) आदि लघु अन्त दोनों गुरू, जगण (।ऽ।) में आदि अन्त लघु मध्य गुरु, रगण (ऽ।ऽ) आदि अन्त गुरु और मध्य लघु, सगण (।।ऽ) आदि दोनों लघु और अन्त गुरु, तगण (ऽऽ।) आदि दोनों गुरु और अन्त लघु होते हैं। इस तरह प्रत्येक गण तीन-तीन गणों से आवृत्त होते हैं और यह छन्द के प्रकृति (स्वरूप) को व्यक्त करने वाले होते हैं। (अग्नि पु. ३२८)

देह में शिव और शक्ति का विचार इस प्रकार करना चाहिये। मूल ब्रह्म है और 'अ इ उ ए और ओ' ये ब्रह्म की कलाएँ हैं। 'अ' ईश्वर सम्बन्धी में होते हैं अर्थात् 'अ' ईश्वर के स्वरूप वाचक है। 'इ' का प्रतीक 'ॅ' (चन्द्र) मोक्ष मार्ग का बोधक है। नाद हृदय स्थानीय है। 'ए' बिन्दु (०) वाचक है और 'ओ' शक्तिवाचक है। इस तरह देह को शिवशक्त्यात्मक जानना चाहिये। (अग्नि पु. १२४)

नाभि के मूल में स्थित कन्द में अलंकृत शिव की शक्ति के व्यूह द्वारा सोम और सूर्य रूप हरि वहाँ व्यवस्थित हैं जो दसों प्राणादि वायुओं और तन्मात्राओं से सुशोभित

दशवायुसमोपेतं पञ्चतन्मात्रमण्डितम्।
कालानलसमाकारं प्रस्फुरन्तं शिवात्मकम्।।
तज्जीवजीवलोकस्य स्थावरस्य चराचरस्य च।
तस्मिन्नष्टेऽमृतं मन्ये मन्त्रपीठेऽनिलात्मकम्।।



(अग्नि पु. १२४)

वाचिकं मन्त्रजप्यादि, मानसं रागवर्जनम्।
शारीरं देवपूजादि, सर्वं तु त्रिधातपः।।
तज्जापा सर्वधर्मेभ्यः, वाङ्मयः प्रणवः सर्वं। (अग्निपु. ३७२)

योगः

प्राणापानसमारोधात्। प्राणायामः। | सर्वेषां समवायः
मनसो धारणा | योगलक्षासिद्धि।
निवृत्तिर्विषयाणां-प्रत्याहारः ध्यानं योगः।
ध्यानयुक्तः आत्मानं सूर्यचन्द्रवत् पश्येत्।।

हैं उसमें कालाग्नि के सदृश प्रस्फुरण वाले शिवात्मक परमात्मा का चिन्तन करे, जो शिवात्मक परमात्मा जीवलोक में स्थित सभी चराचरों के जीवन हैं और जिसके नष्ट हो जाने पर अर्थात् जीव भाव के उस शिव में लय हो जाने पर मैं वही अनिलात्मा शिव हूँ ऐसा जानता हूँ। यह बोध हो जाता है। (अग्निपु. १२४)

मन्त्र के द्वारा जप्य (जपने योग्य-ध्येय) वाचिक, शब्दरहित (अस्फुट) केवल जीवादिव्यापार वाला मानस जप्य, मन्त्रों के द्वारा देवता की पूजादि ये सभी तप ही हैं, परन्तु क्रिया (उपासंना) भेद से तीन प्रकार के हैं। उसका जप सभी प्रकार के धर्म के आश्रय लेकर हो सकता है। वाङ्मय के सभी शब्द-पद-वाक्यादि प्रणव ही हैं। प्रणव यावत् शब्द-पद-वाक्यादि में व्यापक रूप से स्थित है। (अग्नि पु. ३७२)

योग

प्राण और अपान वायुओं का अवरोध करना (संयम) प्राणायाम कहलाता है। धारणा मन का कार्य है। प्राणायाम, यम-नियम-प्रत्याहार धारणा और ध्यानादि का समहार होने पर समाधि की प्राप्ति होती है और समाधि से लक्ष्य की सिद्धि (प्राप्ति) होती है। विषयों के प्रति जो मानव का स्वाभाविक राग होता है उससे निवृत्ति (छुटकारा) पाना प्रत्याहार

तमः प्रसाद्य रजसा, रजः सत्त्वेन छादयेत्।
तत सत्त्वस्थितो भूत्वा, योगं युजन् समाहितः।
सत्त्वानुपत्तौ तु, दर्शनं तु न विद्यते। (वायु पु. ११)

आहार:—

भैक्षं यवागू तक्रं पयः, यावकं फलमूलं विपक्वं वा।
न्यायतो यस्तु भिक्षेत स पूर्वाद्विशिष्यते। (वायु.पु. ११/१५)
भिक्षूणां व्रतानिः–अस्तेयब्रह्मचर्यमलोभस्त्यागोऽहिंसा।
नियमाः–अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम् स्वाध्यायः।
ज्ञानं वैराग्यं ऐश्वर्यं धर्मः

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे, दीर्घसत्रं तु ईजिरे।

है। उन विषयों से इन्द्रियों के व्यापार को रोध करके अन्तर्मुखी (ध्येय की ओर) करना अर्थात् ध्येय को विषय करना ध्यान कहलाता है और ध्यान से योग (ध्येय से सम्बद्ध) हो जाता है। ध्यान के द्वारा आत्मा को सूर्य या चन्द्रमा के समान प्रकाशवाला के समान देखना चाहिये अर्थात् यह आत्मा (ध्येय) प्रकाशस्वरूप है ऐसी भावना से चिन्तन करना चाहिये और तमोगुण को रजोगुण (रजोगुण के वर्धन) से और रजो गुण को सतोगुण के आधिक्य (वर्धन) से अभिभूत करके शुद्ध सत्त्वस्थित हो जाना चाहिये और योग (ध्येयाकार) करके स्थित हो जाना चाहिये। उसके बाद उस सत्त्व का भी उपादान (आत्मा) में लय करके स्थित हो जाय जिससे सत्त्वादि गुण का लोप हो जाय। (वायु पु. ११)

साधक-योगी एवं संन्यासी का आहार यथा प्राप्त भिक्षा यवागू-गौ का दूध जौ से बने हुए सामान, फल मूल जो पूर्ण पके हुए हो उत्तम कहा गया है। न्यायतः (विना याचन का) प्राप्त भिक्षा सबसे उत्तम होती है, माँग कर प्राप्त भिक्षा मध्यम है अतः विना माँगे ही प्राप्त भिक्षा श्रेष्ठ भोजन होता है। सन्यासियों के व्रत-अस्तेय (चोरी का अभाव) ब्रह्मचर्य का पालन, वाह्य-आभ्यन्तर शौच (शुद्धि), कम भोजन करना, लोभ का त्याग, अहिंसा का पालन, और आत्मचिन्तन होता है। (वायु पु. ११/१५)

पुराकाल में धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में दृषद्वती नदी के तट पर शान्त-दान्त-जितेन्द्रिय-सत्यपरायण पुण्यात्मा ऋषियों के द्वारा दीर्घसत्र (बहुत दिन तक किये जाने वाले अनुष्ठान) वाला अनुष्ठान किया गया। कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र विशेषण दिया जाना महत्त्वपूर्ण है। धर्मक्षेत्र

ऋषयः संशितात्मानः, सत्यव्रतपरायणः।
नद्यास्तीरे दृषद्वत्याः, शान्ताः दान्ताः जितेन्द्रियः।। (वायु पु.-१)
वैन्यस्य हि पृथोर्यज्ञे, सुत्यायामभवत्सुतः। पृथां वर्णवैकृतः।
ऐन्द्रेण हविषा तत्र, पृक्तं बृहस्पतेः।
जुहावेन्द्राय देवाय, ततः सूतो व्यजायत।।
शिष्यहव्येन यत्पृक्तं, अभिभूतं गुरोर्हवि।
अधरोत्तरचारेण, यज्ञे तद्वर्णवैकृतः।। (वायु पु. १)

प्राणायामफलम्

१. शान्तिः–कषायानां पापानां क्षपणम्। २. प्रशान्तिः–लोभमनात्मकानां पापानां क्षपणम्। ३. दीप्तिः–ज्ञान विज्ञान सम्पदाम्। ४. प्रसादः–इन्द्रियाणां मनसः।

इसलिए कि महाराज कुरु ने यहाँ सौ यज्ञों का अनुष्ठान सम्पन्न किये थे। इसलिए धर्मक्षेत्र कहा। 'यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्' (जाबालोपनिषद्) इस जाबालोपनिषद् श्रुति प्रमाण द्वारा 'ब्रह्मसदनम्' पद से ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्यादि अर्थ संगति का औचित्य कुरुक्षेत्र के साथ युक्तियुक्त है। उपर्युक्त ऋषियों ने कुरुक्षेत्र को अनुष्ठान के लिए चुना कि वहाँ ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य तथा धर्म चारों पुरुषार्थ एक स्थल में (एकाधिकरण) में प्रयोजकत्वरूप के कारण उचित होगा। (वायु पु. १)

वेन पुत्र पृथु के यज्ञ में सुत्या से पुत्र उत्पन्न हुआ। वह वेन्य के शरीर के आकृति की ही थी। उस यज्ञ में इन्द्र के मन्त्र से तथा बृहस्पति के मन्त्र से घृत से सने हुए शाकल्य का दान इन्द्र तथा वृहस्पति को दिये गये जिससे पुत्र की उत्पत्ति हुई थी। शिष्य के हव्य से अभिभूत वृहस्पति ने अधर और उत्तरचार के द्वारा उस वैन्य के शरीर को मथ कर वैकृत स्वरूप उत्पन्न किये। (वायु.पु. १)

१. प्राणायाम से काषयिक पाप जो नाड़ियों में रहती है उसका नाश हो जाता है और साधक शान्ति का अनुभव करने लगता है। काषयिक पाप कफ से सम्बन्ध रखता है। २. लोभादि पाप जो अन्तकरण का धर्म होता है उसका क्षपण (नाश) हो जाने से प्रशान्ति (मन का स्थिर होना) की प्राप्ति होती है। यह प्राणायाम का फल है। ३. प्राणायाम से ज्ञान-विज्ञान का दीपन (प्रकटन-प्रकाशन) होने लगता है और साधक के शरीर में एक प्रकार की दीप्ति (प्रकाश) प्रकट हो जाता है। ४. प्राणायाम से इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के प्रसादन (स्वच्छ-निर्मल) हो जाते हैं।

योऽन्तकाले जगत्पीत्वा, कृत्वा तोयमयं वपुः।

(वायु.पु.उ. ३४/१५)

कर्त्तुं धर्म व्यवस्थानं, विष्णुः जायते मानुषेष्विह। (वायु.पु.उ. ३५/६६)

देवा असुरान् दुद्राव। ते भीताः काव्यमातरं शरणं ययुः। देवी शीघ्रं इन्द्रं संसाम्य अभयं चकार।

विष्णु इन्द्रं अभाषत त्वं मां प्रविश। पुरंदरो विष्णुं प्रविवेश। देवी क्रुद्धा वचोऽब्रवीत्। त्वां विष्णुना सह दहामि।

इन्द्रोऽब्रीत जह्येनां, ततो विष्णु स्त्रिया क्रूरं चिकीर्षितं बुद्ध्वा क्रुद्धः शिरश्चिच्छेद।

ततोऽभिशस्ततो भृगुणा, विष्णुभार्याबधं तदा।
यस्मात्ते जानताधर्मान्, अवध्यास्त्री निषूदिता।।
तस्मात्त्वं सप्तकृत्वो, मानुषेषु प्रपत्स्यसि।

जो अन्तकाल (मृत्यकाल) में जगत् को पीकर (जगत् प्रपञ्च को आत्मा में लीन कर के) जलमय शरीर करके (विष्णुभाव को प्राप्त होकर के) शरीर त्यागता है वह साक्षात् विष्णु स्वरूप को प्राप्त कर वैकुण्ठलोक (कुण्ठा रहित ज्ञानमय) को प्राप्त होता है। (वायु पु.उ. ३४/१५)

वे भगवान् विष्णु धर्म की स्थापना (व्यवस्थित) करने के लिए मनुष्य योनि में अवतरित हो कर अपनी लीला से धर्म को सुव्यवस्थित (स्थापित) करते हैं। (वायु. पु.उ. ३५/६६)

देवतालोग असुरों से द्रोह करने लगे। भयभीत होकर वे शुक्राचार्य की माँ के शरण में गये। शुक्रमाता ने इन्द्र को शमित कर उन्हें (असुरो को) अभय बना दिया। विष्णु ने यह जानकर कि अभय होकर फिर देवताओं को नुकसान पहुँचायेंगे इन्द्र से कहा—तुम मेरे में प्रविष्ट हो जाओ। यह जानकर कि इन्द्र विष्णु में प्रविष्ट हो गये है शुक्रमाता ने कहा—मैं विष्णु सहित तुम्हें जलाकर राख कर दूँगी। इन्द्र ने विष्णु से कहा इसे पराजित करो! उसके बाद विष्णु ने उन देवी के क्रूरता की कामना को जानकर क्रोधित होकर उसके शिर काट दिये। उसके बाद प्रसिद्ध ऋषि भृगु ने उस देवी माया के बध को जानकर कि स्त्री-अबध्य है और विष्णु धर्मनीति के जानकार होते हुए भी उसका बँध कर दिया है, कहा—कि तुम धर्म के जानकार होकर भी क्रूर (अधर्म) कर्म किया है। इसलिए तुम हमसे शापित होकर मानव योनियों (सातवार) को प्राप्त होओगें।

देवी सा हीन्द्र दुहिता जयन्ती शुभचारिणी।
पित्रा यथोक्तं काव्यं सा, सेवमानासुखावहैः।
अदृश्यं सर्वभूतेषु, सम्प्रयोगमिहेच्छसि।
एवं भवतु..............................।।

विष्णुः वृष्णिकुलेप्रभुः, प्रविष्टो मानुषीं योनिम्।
कर्त्तुं धर्मव्यस्थानं, असुराणां प्रणाशनम्।।
यत्र कंसञ्च शाल्वं च, द्विविदं च महासुरम्।
अरिष्टं वृषभं चैव, पूतनां केशिनं ह्ययम्।।
नामं कुवलयापीडं, मल्लराजगृहाधिपम्।
दैत्यान्मानुषदेहस्थान्, सूदयामास वीर्यवान्।। (वायु पु.उ. ६६)

वृत्तयः साक्षिभास्याः स्युः, करणस्यानपेक्षणात्।। (योगवार्ति. १/७)
तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।।१६।।
(ज्ञानप्रसादमात्रम्) (व्यास भा.)

शुक्राचार्य को भगवान शंकर द्वारा प्रदत्त मन्त्रानुष्ठान की सिद्धि को जानकर इन्द्र भयभीत हो गये और अपनी पुत्री को समझा-बुझा कर शुक्राचार्य को प्रसन्न करने के उद्देश्य से उनके पास भेज दिया। जयन्ती ने अपनी सेवा सत्कार से शुक्राचार्य को प्रसन्न कर उनसे संग करने की इच्छा प्रकट की, जिसे शुक्राचार्य ने स्वीकार कर लिया और दोनों के संग को किसी ने नहीं देख पाया क्योंकि शुक्राचार्य तपोबल से अदृश्य होकर और उसे भी वैसा करके ऐसा किया था।

वही विष्णु अपनी कलाओं से सम्पन्न होकर वृष्णि के कुल में मनुष्य योनि में उत्पन्न हुए। वे इस योनि को धर्म की रक्षा (स्थापना) और असुरों के विनाश के उद्देश्य करके प्राप्त हुए। इसलिए वहाँ उस मथुरा में कंस, शाल्व, महासुर द्विविद, अरिष्ट, वृषभ, पूतना, केशि, कुवलापीड (हाथी) गृहाधिप मल्लराज जो महापराक्रमी देहधारी असुरगण थे उन्हें मारे-उनका नाश कर दिये। (वायु पु.उ. ६६)

प्रत्यक्ष स्थल में अथवा अन्य स्थल में अन्तःकरण की जो वृत्तियाँ होती है उनके प्रत्यक्ष में करण की अपेक्षा नहीं होती है वे साक्षी द्वारा प्रकाशित होते हैं। उनपर वैराग्य अर्थात् व्यावहारिक (लौकिक) भोग्य और आगमादि द्वारा (आनुश्रविक) भोग्य वस्तु से विरक्ति

विराम प्रययाभ्यासपूर्वः संस्कारः शेषोऽन्यः।। (१८)

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकइतरेषाम्।। (योग द. १/२०)

क्षेत्रं पुरुषाकारं वै, दैवं बीजमुदाहृतम्। (महाभा. अनु. ६/६)

शौचेन लभ्यते विप्रः, क्षत्रियो विक्रमेण तु।

वैश्यः पुरुषाकारेण, शूद्रः सुश्रुषया श्रियम्।। (महाभा. अनु. ६/१६)

शब्दादितत्त्वं बोद्धुं, स्वरूपं, तन्न चेतरत्।। (अनुभूति प्र. १३/६६)

प्राप्त हो जाने पर वशीकार नामक वैराग्य के द्वारा साधक की समस्त विषय भोग कामना नष्ट हो जाती है और उसके चित्त का प्रवाह समानभाव से ध्येय के प्रति समर्पित हो परिपक्व हो जाता है। उसके अनन्तर प्रकृति पुरुष विषयक विवेकज्ञान प्रकट होती है जिससे तीनों गुणों तथा उसके कार्य में किंचिन्मात्र भी साधक की तृष्णा नहीं रह जाती है। (योगवार्तिक)

साधक को जब परवैराग्य की प्राप्ति हो जाती है तो स्वभावत: ही उसके चित्त संसारिक पदार्थों के प्रति आकर्षित नहीं होता। वह उससे उपरत हो जाता है। जिसे विराम कहा जाता है और वह उपरति प्रतीति का भी जब विराम हो जाता है तो चित्त की वृत्तियों का भी अभाव हो जाता है तथा वह अन्तिम उपरत अवस्था के संस्कार मात्र सहित चित्त भी अपने कारण में लीन होकर .शान्त हो जाता है। अत: प्रकृति के संयोग के अभाव बल के द्वारा द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है। (यो.द. १८)

भवप्रत्ययवान् (पूर्वजन्म के यागज प्रबल संस्कार वाला) से भिन्न जो साधनारत योगमार्गियों के श्रद्धा से वीर्य (मन-इन्द्रिय-शरीरादि सामर्थ्य) की प्राप्ति होती है। उससे वीर्य (सामर्थ्य) और श्रद्धा के संयोग लाभ से साधक की स्मृति (स्मरण शक्ति) बलवती होती है। स्मृति के (योगसाधनानुकूल संस्कार प्रवाह प्रकटन) परिपक्व होने पर समाधिप्रज्ञा की प्राप्ति होती है अर्थात् यथार्थज्ञानग्रहण सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है। (योगद. १/२०)

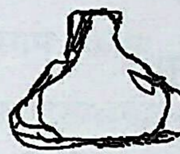
पुरुषाकार क्षेत्र जीवात्मा हैं और उसमें प्रारब्ध रूपी बीज होता है जिससे संस्कार रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है और उस वृक्ष में—कर्ता-भोक्ता-कर्म-सुख-दु:ख-ईष्या-द्वेष-पाप-पुण्य आदि फल लगते हैं। (महाभा. अनु. ६/१६)

विप्र—ब्राह्मण शौच (बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धि) से, क्षत्रिय पराक्रम से, वैश्य पुरुषार्थ से और शूद्र सेवा से श्री (शोभा) को प्राप्त होते हैं। (महाभा. अनु. ६/१६)

शब्द प्रमाण से,. इन्द्रिय से, धन से अथवा अन्य कोई भी लौकिक उपाय से तात्त्विक स्वरूप (आत्मा का बोध) सम्भव नहीं है। वह तो शमादि षट्सम्पत्ति सम्पन्न विरक्त श्रद्धा से ही प्राप्त कर सकता है। (अनु.प्र. १३/६६)

'अत्र ह्येते सर्व एकी भवन्ति'। (वृ.उ.)

प्राणाद्युपाध्युपहिताः सर्वे आत्मान ईश्वरे।
शुद्धात्मन्येकतां यान्ति पुत्रभ्रात्रादयो यथा।। (अनुभू.प्र. १३/१७१)



भोक्ता
भोग्यं } 'ब्रह्म' इति तत्त्वधीः।
प्रेरकः

मायाविशिष्टमीशानं जगदाकारतां गतम्।
संसार चक्रमित्याहुः, संसाराख्य नदीति च।। (अनुभू. १२/२१)

यहाँ पर (ब्रह्म विज्ञान के उदय होने पर) सभी एक (अद्वितीय) ब्रह्मरूप ही हो जाते है। वह आत्मरूप से ब्रह्मज्ञान को प्राप्त साधक 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन', 'रूपं रूपं प्रतिरूपोवभूव' 'यदयं तत्सर्वमात्मा' इत्यादिरूप से सभी में आत्मरूप से दर्शन करता है। उसके लिए द्वैत है ही नहीं सर्वत्र द्वैताभाव बुद्धि के कारण यहाँ सब एक ही होते है। (वृह.उ.)

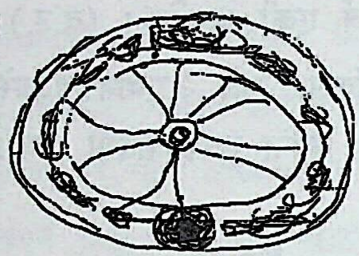
प्राणादि उपाधि के कारण जीवात्मा और ईश्वर भेद का ज्ञान होता है। जो साधक शुद्ध आत्मा (निखिल उपाधिशून्य) को जानता है वह मैं जीव हूँ वह ईश्वर है, वह भाई है, पुत्र है इत्यादि भेद रहित होकर सबमें समान रूप से अद्वितीय ब्रह्म को ही देखता (अनुभव) करता है। (अनुभू.प्र. १३/१७१)

जो संसारी बुद्धि का होता है वह इस आत्मा को शरीररूप से जानता है। इसलिए कभी वह इसे भोक्ता कभी इसे भोग्य जानता है और कभी प्रेरक रूप से जानता है। यथा— भोजन करने वाला प्राणी अपने को भोक्ता जानता है, भोजन को भोग्य रूप से जानता है अथवा स्त्री को भोग्य और अपने को भोक्ता जानता है। कभी वह उपदेश स्थल में प्रेरक जानता है। इस तरह सकलधर्मातीत ब्रह्म को अज्ञानवश सधर्मक जान बैठता है। इस भेदज्ञान का हेतु अज्ञान ही है। परन्तु जिस साधक (विद्वान्) को तत्त्व का बोध है और वह सर्वत्र ब्रह्म दृष्टि से ही देखने वाला है वह न तो भोक्ता (कर्त्ता), न भोग्य और न ही प्रेरक (करण) ही देखता है वह मात्र 'ब्रह्म ही ब्रह्म' को सबमें जानता है।

(अनुभू.पु. १२/२१)

माया विशिष्ट ब्रह्म ही जागदाकार होता है अर्थात् जगद्रूप से प्रतीति का विषय होता है। जिसे संसार चक्र कहते है, कोई इसे संसार सागर या नदी नाम से कहते है। अहंकारोप-

जीवोऽहंकारोपहितः
चक्रवद् भ्राम्यते।
उपाधिहीनं तु
ब्रह्म

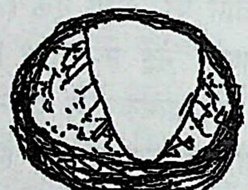


मायोपहित ईशानः।
जन्मसु प्रेरयेदमुम्।
विभर्तिद्वयमीशानः।

जगत्स्याद् व्यक्तमव्यक्तम्।
चिदात्मा तु विमुक्तिभाक्।।

ईशानीशावज्ञतज्ज्ञौ, भोक्ता भोजयिता च तौ।
तयोर्निवाहितामाया, ब्रह्मण्यारोपितं त्रयम्।।

अस्तीत्येव बोध्यव्यः,
सर्वत्रानुगतो हितत्।



निकंपाधिरुक सन्मात्रं ब्रह्म।।
(अनुभू. १२/११)

हित चैतन्य जीव कहा जाता और मायोपहित चैतन्य ईशान (ईश्वर) कहलाता है। वही जीव को उसके कर्मानुसार जन्म प्रदान करने का कार्य करते हैं, इस प्रकार दोनों को जीव भाव के अहंकार और ईश्वर भाव के अहंकार को वही ईशान ही धारणा करते है। ईशान समष्टि शरीर में अहंकार (अहं अस्मि) और जीव व्यष्टि शरीर में अहंकार (अहं अस्मि) वाला होता है। यही अहंकार उपाधि कहा जाता है और इन उपाधियों से रहित शुद्ध चेतन्य ब्रह्म है। यह जगत् व्यक्त (स्थूल-मूर्त) और अव्यक्त (सूक्ष्म-अमूर्त) रूप दोनों प्रकार का है। चिदात्मा विभक्ति का भाजन है। ईश और अनीश सृष्टि के प्रमुख दो भेद हैं। ईश सर्वशक्तिमान् ईश्वर हैं। अनीश ऐश्वर्याभाववाला जीव है, ईश सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ है। ईश भोजयिता है और जीव भोक्ता है। इन दोनों ईश और जीव रूप भेद कार्य का निर्वाहिका माया ही है। शुद्धसत्त्वप्रधाना माया और मलिन सत्त्वप्रधाना अविद्या है, ये दोनों सत्त्व भेद से ही दो है परन्तु वस्तुतस्तु दोनों एक ही है। ये दोनों ही ब्रह्म में आरोपित है, सभी उपाधियों से रहित अर्थात् निरूपाधिक सन्मात्र ब्रह्म कहा जाता है। 'अस्ति' मात्र जो बोध्यव्य वस्तु है वही सर्वगत-व्यापक-सन्मात्र ब्रह्म श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त ब्रह्म है। (अनु.प्र. १२/११)

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते, कामायेऽस्य हृदिस्थिताः।
तदैव मर्त्यतां हित्वा, स जीवन् ब्रह्मतां व्रजेत्।। (अनुभू. ११/११)

हृदयेग्रन्थयः ते भिद्यन्ते विवेकिनः।
कामाः, अहंकारचितोरैक्यं-भ्रान्तिः।

तदपगमे कामा, भासाश्चित्ते क्रमान्नश्यन्ति।

श्रवणम्–गुरुशास्त्राभ्याम्-श्रुतितात्पर्यावधारणम्।
मननम्–स्वयुक्तिभिः–मानान्तरविरोधशंकानिराकरणम्।
विज्ञानम्–स्वानुभूत्या–अभेदे तृतीया-अनुभूतिरितियावत्। (अनुभू. " ३)

जब कोई आत्मा की कामना करने वाला साधक प्रपञ्चस्वरूप-विकारभूत-मिथ्यारूप इस जगत् भाव को त्याग कर ब्रह्म दृष्टि से अनुभव करता हुआ व्यवहार करता है तो इस शरीर से ही ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है। क्योंकि उसे 'यदयमात्मा सर्वम्' सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अयमात्मा ब्रह्म' बह्मविद् ब्रह्मैव भवति', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिवाक्य उत्थित बोध के द्वारा वह ब्राह्मीभाव को प्राप्त हो जाता है। (अनुभू.प्र. ११/११)

सामान्य जीवात्मा के हृदय में अज्ञान की ग्रन्थियाँ होती हैं। वे ग्रन्थियाँ कर्तृत्व-भोक्तृत्व धर्म से अनेक रूपों में प्रसरित होती हैं। काम, क्रोध, लोभ-मत्सर-राग-द्वेषादि के रूप में वे अनेक रूप से आत्मा को आच्छादित कर उसके स्वरूप बोध के बाधक हो जाते हैं जिसे ज्ञानीजन अपने विवेक रूपी कर्तरी (कैंची) से भेद (काट) कर सकल अज्ञानमूलक भ्रान्ति को मिटा देते हैं और आत्मा के शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव का अनुभव करने लगते हैं। अहंकार और चित् (चेतन-आत्मा) की एकाधिकरण होकर ऐक्यता को प्राप्त होने पर ही शरीरादि में आत्मा की शरीररूप से भ्रान्ति होती है और उस भ्रान्ति को षट्साधन सम्पन्न अधिकारी साधक गुरूपदेश तथा श्रुति वाक्य से उत्थित विवेक से उसे नष्ट कर देते है। उसके भ्रान्ति के अपगम (नष्ट) हो जाने पर काम (इच्छाएँ) खत्म हो जाती है और निर्मल काच में लगे मल को साफ कर देने के उपरान्त आत्म दर्शन के समान आत्मा स्वतः स्फुरित हो जाते हैं।

श्रवण-गुरूपदेश और शास्त्र (श्रुति-स्मृति-पुराणादि) के द्वारा उपनिषद् वाक्य के लक्षीभूत तात्पर्य का अवधारण हो जाता है। मनन-गुरूपदेश और शास्त्र के आत्मस्वरूप दर्शक वाक्यों के निरन्तर मनन करते रहने और युक्तियों से मन में उत्पन्न हुई विरुद्ध (बाधक) शंकाओं के निराकरण (समाधान) करने को कहते हैं। विज्ञान-गुरूपदेश-शास्त्रवचन और मनन के द्वारा 'अहं ब्रह्मास्मि' बोध यावत् धारावाहिक चिन्तन से जीवात्मा-परमात्मा का अभेदानुभव रूप होता है। यहाँ 'अनुभूत्या' में अभेद अर्थ को कहने के लिए तृतीया विभक्ति है। (अनुभू.प्र. ११/३)

प्रतिबिम्बभ्रमोनीरा-द्युपाधिवशतो यथा।
सन्निवेशोपाधितोऽयं, कुम्भादि विभ्रमः।।
भ्रान्तिसोपाधिकोपाधि,-निवृत्यैव निर्वर्तते।
न बोधात्तेन भासन्ते, जानतोऽपि घटादयः।। (" १)
इन्द्रियोपाधिकाभ्रान्तिः, अक्षरोधान्न भासते।
अहंकारश्च चिच्छाया, मिथ्याभूम्यादिवत्ततः।।
चिदात्मकोऽवशिष्टोऽयं, जीवो ब्रह्मैव नेतरः।। (अनुभू. १)

जल में चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब पड़ने पर उस-उस जल पात्र में अनेक रूप से चन्द्र प्रतिभासित होता है जबकि चन्द्रविम्ब एक ही होता है; परन्तु विम्ब बोध (चन्द्र) के एकता बोध न होने के कारण चन्द्र की अनेकप्रतीति होती है। यदि विम्ब बोध ग्रहण हो जाय तो उपाधिगत (अनेक चन्द्र) की प्रतीति नहीं रह जाती है। उसी प्रकार घटादि में परिणमित मित्तिका का भी चिन्तन करना चाहिये घटाकारतया दृष्ट घट उपादान (मिट्टी) की सत्ता से भिन्न सत्ता का नहीं है। वह सम्पूर्ण रूप से मृत्तिका ही है परन्तु उपाधि सन्निवेश के कारण घटाकारतया प्रतिभासित होती है। अतः साधक जलचन्द्र और घट-मित्तिका दृष्टान्त का मौलिक रूप से चिन्तन कर जगत्प्रपञ्च में भी वैसा ही चिन्तन करे कि जगदुपादानकारण आत्मातिरिक्त सत्ता प्रपञ्च की नहीं है। वह उपाधिभूततया प्रतिभासित हो रहा है। उपाधि मिथ्या होती है, भ्रम जनिका होती हैं अतः जगतप्रपञ्च में बिम्ब आत्मा को ही साधक देखे—चिन्तन करें-अनुभव करें। (अनुभू.प्र. १)

उपाधि (साकारता) ही भ्रान्ति है। उपाधि का विनाश तत्त्व के चिन्तन से-युक्ति के द्वारा होता है जब तक उसकी निवृत्ति नहीं होती तब-तक वह बनी ही रहती है। उसकी सत्ता की प्रतीति इसलिए होती है कि अधिष्ठान सत्ता (ब्रह्म) का बोध नहीं वहाँ होता। जब अधिष्ठान सत्ता का बोध हो जाता है तब उपाधि की निवृत्ति (नाश) हो जाती है; जैसे घटादि में अधिष्ठान सत्ता मृत्तिका का बोध हो जाने पर यह घट सम्पूर्णरूप से मृन्मय (मृत्तिका मात्र) ही है, घट में मृत्तिका के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यह बोध तत्त्व के मनन द्वारा हो जाता है। उसी प्रकार जगत्प्रपञ्च में भी आत्मतत्त्व अधिष्ठान सत्तारिक्तसत्ताभाव का बोध होने पर उपाधि नष्ट (नाश) हो जाती है और तत्त्व बोध होने पर आत्मदर्शन सम्भव हो जाता है। (अनुभू.प्र. १)

देहादि उपाधि को अतिक्रमित करके और जीवात्माभाव (आत्मा-परमात्मा भेद) को उल्लंघित करके जब जीवात्मत्व (किञ्चिज्ज्ञत्व) का अपगम (नाश) हो जाता है तब सर्वोत्कृष्ट

बोधोद्देहादुत्क्रम्यो, त्कृष्टोऽभूज्जीवतां त्यजन्।
जीवत्वेऽपगते तस्य, शिष्यते परमात्मता।।
प्रज्ञा[1]नमेकं [2]सर्वेषु यत्स, आत्मेति निर्णयः।
(१-स्फुरणम्। २-पदार्थेषु) टीका।
प्रज्ञानं निरूपाधित्वात्, नित्यं तल्लोपभासकम्।।
प्रज्ञानस्यात्मता मुख्या।
प्रज्ञानं कर्तृदेहादि साक्षिभूतम्।
(स्वशरीरेऽस्ति तथा देहान्तरेष्वपि)
ब्रह्मादि स्वावरान्तेषु, तस्य स्यात्परमात्मता।
प्रज्ञानस्यास्य जीवत्वं, प्राणाधारतो यथा।
जगत्सृष्ट्यादि हेतुत्वात्, ब्रह्मत्वं तथेष्यताम्।। (अनुभू. १)
दर्शादिपितृमेधान्तैः, कर्मभिः बहुजन्मसु।
अनुष्ठितै र्विविदिषा, जायतेऽन्तिमजन्मनि।। (अनुभू. २)

परमात्मा ही शेष रह जाता है। प्रज्ञान आत्मा के स्फुरण को कहते हैं और वह स्फुरण सभी पिण्डभूत जगत् पदार्थ में स्फुरित हो रहा है। इस प्रकार का निर्णय ही प्रज्ञान है, क्योंकि प्रज्ञान उपाधिरहित वस्तु है और नित्य तथा सब का भासक भी है। इस प्रकार के प्रज्ञान के स्वरूप के चित्तचिन्तन दृढ़ होने के कारण ही उपाधि का नाश हो पाना सम्भव होता है। प्रज्ञान ही आत्मता की उपाधि क्षय में मुख्य कारण होता है। प्रज्ञान देहादि में जो कर्तृत्वादि होता है उसका साक्षी होता है और वह साक्षी देहान्तर (दूसरे-शरीर) में भी उसी रूप में स्थित होता है। वह ब्रह्मादि से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी भूतों में व्याप्त है इस प्रकार प्रज्ञान की आत्मता रूप से चिन्तन-मनन ही साधक की उपाधि हान का हेतु होता है। (अनुभू.प्र. १)

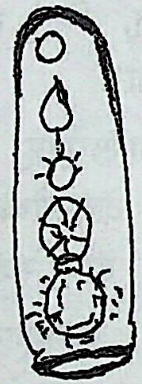
जिस प्रकार प्राण धारण करने पर आत्मा जीवात्मा कहा जाता है और सभी देहादि कल्पित धर्म उसी आत्मा में कल्पितरूप से अधिष्ठित है उसी प्रकार समस्त जगत् उसी आत्मा (ब्रह्म) में प्राणोपाधि धारण द्वारा जीवात्मा रूप से बद्ध स्थिति में है और सबका (प्रपञ्च) का हेतु (उपादान कारण) ब्रह्म ही है। अत: उपादान सत्ताशून्य जगत् है इस प्रकार का चिन्तन साधकों के दृढ़ हो जाने पर ब्रह्म ही परिशेषात् अद्वितीय रूप से उपलब्ध रह जाते है। (अनुभू.प्र. १)

न ब्रह्मणि मनोजन्य, स्फूर्तिस्तस्मादगम्यता।

मनस्यन्तर्मुखेनश्ये, दविद्या तेन शक्तता।। (अनुभू. २/६३)

पंचकोशगुहायां य, दज्ञानं कारणं स्थितम्।

तद्व्योम परमं तस्मिन्, निगूढं ब्रह्म तिष्ठति।।



देहाभ्यन्तरः प्राणः,
प्राणादभ्यन्तरं मनः।
ततः कर्त्ता ततो भोक्ता,
गुहा सेयं परम्परा।।

दशपूर्णमास आदि पितृ निमित्तक पर्वों में उन पितरों के निमित्तक पितृमेध यज्ञ (श्राद्धादि विविध अनुष्ठान) अनन्त जन्मों में करते-करते कभी संयोग से बुद्धि कर्म में केन्द्रित होकर जानने की इच्छा करती है कि 'सर्वे जनाः मराः सन्ति' ये सभी मृत्यु को प्राप्त लोग हैं, ये लोग मर जाने पर भी मेरे द्वारा प्रदत्त पिण्डादि कैसे प्राप्त करते हैं। शरीर के नाश हो जाने पर भी वे कैसे भोजन और पान ग्रहण कर लेते हैं। वे यहाँ नहीं है फिर भी उन्हें भोज्यादि अर्पित किया जा रहा है, इत्यादि जिज्ञासा होने पर श्रेष्ठ गुरु और श्रुति वाक्यों को ग्रहण कर चिन्तन-मनन द्वारा उसकी (पितरों की आत्मा की) अनश्वरता और व्यापकता का बोध उदित हो जाता है और कर्म बद्ध आत्मा ही जीव है, कर्त्ता है, भोक्ता है, मरता है, उत्पन्न होता है; इन उपाधियों से परे आत्मा-व्यापक-नित्य और अमर होता है। इस प्रकार का बोध उत्पन्न होने पर उस साधक का वह अन्तिम जन्म ही होता है। वह अमर हो जाता है। 'तमेव विदित्वा मृत्युमेति' श्रुति प्रमाण द्वारा वह अमर हो जाता है क्योंकि वह आत्मा को यथारूप से जानता है। (अनुभू.प्र. २)

ब्रह्म का बोध मन के द्वारा (मनन कर्म द्वारा) सम्भव नहीं है, क्योंकि मनन शक्ति उसकी अपनी नहीं होती वह भी (मन भी) अपने व्यापार विशेष की शक्ति ब्रह्म से ही प्राप्त कर मनन करता है। यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्' (केनोप. ५) इसलिए इन्द्रियों के उस ब्रह्म में अगम्यता ही सिद्ध होती है। ब्रह्म के चेतन होने के कारण उसके स्फुरण से हम जान पाते हैं कि 'यद्यत् चैतन्यत्वं तत्तत् ब्रह्मता' जो जो चेतन है वही-वही ब्रह्म का स्वरूप वाला है। मन का तो ब्रह्म चिन्तन से लय (नाश) ही होता है और जो आविद्यक

बाह्यदृष्टिः जगद्भानं तत्सत्यत्वधीरपि।
विवेकात्सत्यताप्येति, जगभानं तु योगतः।। (अनुभू.प्र. १/२१)
अभीष्टविषये लब्धे, धीः प्रत्यावृत्य हृद्गतम्।
ब्रह्मानन्दं क्षणं भुक्त्वा, वाह्यं कामयते पुनः।। (अनुभू.प्र. २६)
अन्तर्दृष्ट्या विवेकी तु, ब्रह्मानन्दं सदेक्षते।
अन्तर्भवन्तिक्षणिकाः, सर्वे तस्मिन्निरन्तरे।। (अनुभू.प्र. २८)
उपासनाच्चित्तशुद्धौ, ब्रह्मतत्त्वमवेक्षते। (अनुभू.प्र. ८५)

होता है वह मिथ्यावस्तु होता है ज्यों-ज्यों ब्रह्म विषयक चिन्तन होते हैं त्यों-त्यों वे (अज्ञान) नष्ट होते जाते हैं। अतः 'यन्मनसा न मनुते, यच्चक्षुसा न पश्यति' इत्यादि केनोपनिषद् वाक्यों से ब्रह्म की शक्तता (शक्तिमान्-शक्तिवाला) सिद्ध होता है। (अनुभू.प्र. २/६३) पंचकोशरूपी गुहा में जो अज्ञान स्थित है जिसके कारण-अन्नमयकोश (शरीर) और प्राणमयकोश (पंचप्राणों) आदि को हम आत्मा समझ बैठते हैं सो वह ब्रह्म नहीं है वह तो उस सबसे परे हृदयरूपी पद्मकोश के व्योम में छिपा हुआ अत्यन्त निगूढ़ रूप से स्थित है। क्योंकि देह से प्राण परे है और प्राण से मन परे है, उससे परे कर्ता है और उससे परे भोक्ता है। इस [illegible] पूर्व-पूर्व त्याग पूर्वक अन्त में जो शेष रूप से बचता है वही व्योम (आ[illegible]त) सत्-चित्-आन[illegible] [illegible]रूप आत्मा (ब्रह्म) है। 'नेति नेति' श्रुति इसी अभिप्राय को व्यक्त कर ब्रह्म को निर्दिष्ट करती है। (अनुभू.प्र. १/२१)

साधक को जगत् प्रपञ्च (दृश्य) को बाह्यरूप से देखना चाहिये और जगत् की सत्यता की बुद्धि को भी बाह्य रूप से ही अनुभव करना चाहिये। दृक्-दृश्य में मौलिक सत्यता का अन्तर विवेक द्वारा ग्रहण करना चाहिये कि जगत् दृश्य वस्तु में अविद्यांश और ब्रह्मांश के भेद का चिन्तन कर ब्रह्मांश सत्ता सत्स्वरूप है और अविद्यांश सत्ता मिथ्यारूप है, जानना चाहिये। जगद्रूपता असत्स्वरूपा हेने के कारण उससे संयोग सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि संयोग द्विष्ट (दो) में होता है यह नियम है फिर इस तरह के नित्य असत् जगत् से इन्द्रियों का संयोग भी असत् और उसका फल (परिणाम) भी असत् होता है, परन्तु अज्ञानवश सामान्य जीवात्मा उसे सत् समझता है और परम्परया उसके फल को भी सत् समझ कर मिथ्या दुःख-सुख का अनुभव करता है। परन्तु विवेकी साधक अपने विवेक ज्ञान के बल के अन्तर (सत्यासत्य) को समझ कर वाह्य दृष्ट वस्तु को हृद्गत ब्रह्माभेद रूप से अनुभव कर वाह्य और आभ्यान्तर में उसकी एकता पाकर आनन्दानुभूति को प्राप्त करता है। वह बाह्य पदार्थ को देखकर अन्तर्दृष्टि करके क्षण भर रूक कर विवेक ज्ञान से उसके तत्त्व को ग्रहण करता हुआ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

गुहाहितं ब्रह्मयत्तत्, सत्यज्ञानमितिश्रुतम्।
तस्यज्ञानस्य दृश्यास्ते, कोशाः सर्वं जगत्तथा।। (अनुभू.प्र. ८६)

स्वबुद्धिदोषेण-सन्देहः।

सन्देहत्रयम्	ब्रह्मास्ति न वा-१
	अज्ञानी मुच्यते न वा-२
	तत्त्वविन्मुच्यते न वा-३

कामित्वमालोचकत्वं, सृष्टत्वं प्रवेष्टृता।
भोग्याकारश्च पञ्चैते, ब्रह्मसद्भावहेतवः।। (अनु.प्र. १०७)

यह सब जगत् ब्रह्म का स्फुरण-स्पन्दन मात्र है। सभी ब्रह्म ही है और 'अयमात्मा ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि' इस तरह 'आनन्दं ब्रह्म' आनन्द ही ब्रह्म है का अनुभव करता है। वह साधक हृद्गत कोश में स्थित ब्रह्म को निखिल जगत् के हृद्गत कोश में दर्शन कर लेता है और यह क्षमता उसे उपासना यम-नियमादि षट् सम्पत्ति से सम्पन्न होकर विरक्ति के अवलम्बन पूर्वक गुरु और श्रुतिवाक्यों में निष्ठा स्थापना पूर्वक मननादि से चित्त के शुद्ध हो जाने पर प्राप्त हो पाता है और वह हृद्गत बुद्धिगुहा में स्थित सत्य-ज्ञान और आ[illegible] सभी मृ[illegible] को भी जगद् दृश्य भी समझकर परमानन्द को प्राप्त करता हुआ परमशान्ति से प्राप्त करते [illegible]प्त करता है।

(अनुभू.प्र. ३६,२८,८५,८६)

साधक को अपने प्रारम्भिक उपासना काल में उत्थित तीन सन्देहों का निराकरण मनन पूर्वक विवेक द्वारा करना पड़ता है—१. ब्रह्म है कि नहीं? २. अज्ञानी मुक्त हो सकता है अथवा नहीं? ३. तत्वज्ञान से मुक्ति प्राप्त हो सकती है अथवा नहीं? इन तीनों शंकाओं के निराकरण गुरूपदिष्ट; शास्त्र उपदिष्ट वाक्य से और युक्त्या समाधान हो पाता है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' से प्रथम का निराकरण 'तमेव विदित्वा मृत्यमेति' से द्वितीय तथा 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' से तृतीया शंका का निराकरण कर लेने पर ब्रह्मचिन्तनाभिमुख होता है और निरन्तर उपासना के द्वारा चित्तशुद्धि पुरस्सर तत्त्वबोध को प्राप्त हो मुक्त हो जाता है।

ये पाँच ब्रह्म सद्भाव प्राप्ति के हेतु कहे गये हैं—१. कामित्व—'सोऽकामयत एकोऽहं वहु स्यामः' यह ब्रह्म की कामित्व (ईक्षण) का बोध। २. आलोचकत्व—'नेह नानास्ति कञ्चन' श्रुति वाक्य को निष्ठा पूर्वक मनन करना-आलोचित कर ब्रह्म सद्भावतापन्न होना। ३. सुष्टृत्व—'तत्सृष्ट्वा तमेवाप्राविशत्' श्रुति वाक्य से ब्रह्म की सृष्टृता ज्ञान के द्वारा ब्रह्म सद्भाव स्थापन। (अनुभू.प्र. १०७) ४. तमेवाप्राविशत्' से सृष्टि में ब्रह्म की प्रवेष्टृता द्वारा ब्रह्मसद्भाव स्थापन

तदात्मानमेवोयं, सच्चिदानन्दलक्षणम्।
अकार्षीज्जगदाकारं, स्वयमेव स्वमायया।। (अनु.प्र. १२०)
तदात्मानं स्वयमकुरुत। (तैत्तिरीयोपनि.)
वायुः सूर्योवह्निरिन्द्रो, मृत्युश्चातीत जन्मनि।
धर्मज्ञा अप्यतत्त्वज्ञा, इदानीं विभ्यतीश्वरात्।। (अनु.प्र. १३०)
'भीषाद्वातः पवते.'। (तै.उ.)
सर्वेषां यत्सुखं तत्तु, निष्कामे ज्ञानिनीष्यते। (अनु.प्र. १३३)
सर्वेषां कामाप्तिरेषात्र, रसाख्यानन्द उच्यते।
अध्यात्ममधिभूतञ्चा, धिदैवं चैक एव सः।। (अनुप्र. १३४)
ज्वालायां रोहितं रूपं, बहुलं तत्तु तैजसम्।
किञ्चिच्छुक्लमपामेतत्, किञ्चित्कृष्णं भूमिगम्।।

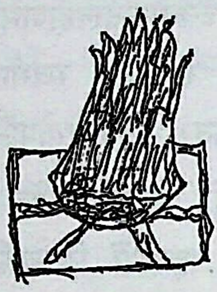
और 'भोक्ता ईश्वरः भोग्यः प्रपञ्चः' का मनन कर ब्रह्मसद्भाव का स्थापना हृदय में करना चाहिये। (अनु.प्र. १०७)

यह आत्मा ही संत्-चित्-आनन्द लक्षण (स्वरूप) वाला है और यह अपनी माया (शुद्ध सत्त्व प्रधाना) के द्वारा स्वयं जगदाकार स्वरूप से प्रकट होता है। तैत्तरीय उपनिषद् के सप्तम अनुवाक् में श्रुति कहती है कि उस परमात्मा ने स्वयं इस जड़ चेतनात्मक रूप में अपने को बनाया है। वायु-अग्नि-सूर्य-इन्द्र और मृत्यु सभी अतीत जन्मा है और वे सभी उसी परम कारण में लय को प्राप्त होते हैं, तथा उनसे भयभीत (डरते) है एवं उनके भय से अपने व्यापार में सलग्न होते रहते है। 'भीषाद्वातः पवते' उनके (परमात्मा) के भय से ही नियम पूर्वक वायु चलता है, सूर्य समय से उदय होता है इत्यादि। (तै.उ.) सभी वस्तु जातों में जो सुख उपलब्ध होते है वे निष्कामी योगीजन प्राप्त करते हैं और सभी प्रकार की इच्छा की पूर्ति ही यहाँ रस नामक आनन्द कहा जाता है। अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव सबके सब एक ही है। अनेक प्रतीति मिथ्या ज्ञान है। योगी-साधक-सन्यासी को अनेक रूप से दृश्य जगत् प्रपञ्च का एक परमात्मारूप से दर्शन होता है और वही एकात्म दर्शन परमार्थ है। क्योंकि 'यत्र सर्वे एकीभवन्ति' उसकी (ब्रह्म की) दृष्टि हो जाने पर सभी एक रूप से दिखाई देता है। सभी एक हो जाते हैं।

(अनु.प्र. १२०/१३०/१३३/१३४)

उस परमात्मा की अग्नि की ज्वाला में जो रोहित (रक्तवर्ण) स्वरूप है जो प्राय बहुलरूप से तेज में पाये जाते है वह और कुछ जल में भी शुक्ल तैजस रूप से है तथा भूमि में जो

रूपत्रयभूतगते विविक्ते भौक्तिकोऽनलः।
कारणव्यतिरेकेण वाचैवारभ्यते वृथा।।
जगतः चाक्षुसस्योत्थं मिथ्यात्वं वक्तुमादितः।
तेजोऽबन्नत्रयस्यात्र चाक्षुसस्योदिताजनिः।।
आदित्यचन्द्रविद्युत्सु मिथ्यात्वं वह्निवन्नयेत्।
गृहीत्वैताव्याप्तिं कार्यमिथ्यात्वमुह्यताम्।।



(अनुभव प्र. ३)

व्याप्तिः-(यत्कार्यतत्कारणातिरेकेण मिथ्या इति) टी.।

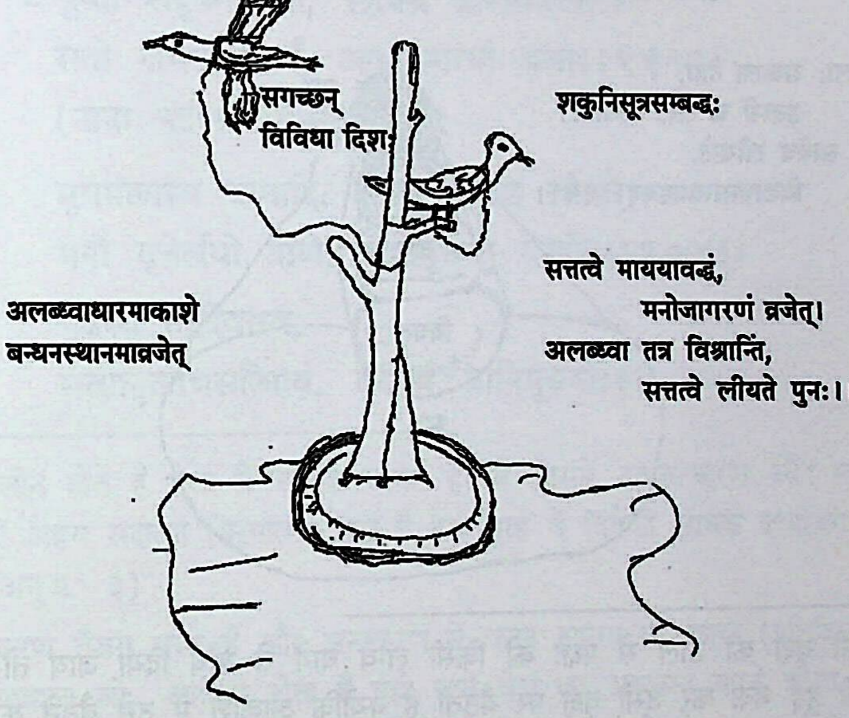
स्वपिति { अज्ञानां-तिङ्न्तम्-शयनकर्ता।
विवेकिनां-सुबन्तम्-नाम-स्वम्-अपीतः।

स्वप्नजागरयोर्जीवः, सत्तत्त्वाद्भिन्नवद्भवेत्।
सुषुप्तौ सम्यगेकत्वं, याति सद्वस्तुना सह।।

कृष्ण तैजस है, ये तीन रूप भूतगत है, इससे भिन्न भौतिक अनल है। भौतिक अनल में भी कारण रूप से वही परमात्मा हैं, क्योंकि कारणाभाव से कार्याभाव निश्चित रूप से दृष्ट होता है और यदि कारण से भिन्न कार्य में कल्पना की जाय तो वाचारम्भ भी सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए कारणातिरिक्त कल्पना व्यर्थ ही है। इस जगत् का जो चाक्षुषप्रत्यक्ष है वह मूलतः मिथ्या ही है और यह जो यहाँ तेज-अप् (जल) आदि में रूप को कहा गया है वह भी चाक्षुष ही है। सूर्य-चन्द्र और विद्युत् आदि में जो वह्नि (तेज) देखते हैं वह भी मिथ्या ही है। इन सवों में जो कारण की व्याप्ति है वही ग्रहण करने योग्य है, क्योंकि वही परमात्मस्वरूप है शेष तो कार्यभूत पदार्थ है जो मिथ्या ही होते है। मूलश्लोकगत व्याप्ति की व्याख्या में भी टीकाकार का यही मत है कि कारण व्यतिरिक्त कार्य की सत्ता नहीं होती, क्योंकि कार्य-सत्ता मिथ्या है। वह कारण प्रतीति ही कार्य प्रतीति में अन्तरित रूप से ज्ञात होता है। अतः वस्तुजात में कारण व्याप्ति को ग्रहण कर परमात्मा को जानना चाहिये। (अनुभवप्र. ३)

'स्वपिति' तिङ्न्त क्रिया पद का अर्थ अज्ञानियों के लिए ग्राह्य होता है परन्तु विवेकियों (ज्ञानियों) के लिए तो यह सुबन्त (संज्ञा) पदवत् प्रयुक्त (ग्राह्य) होता है स्वम्=अपने (आत्मा) में अपीति=स्थित, जो होता है उसे वे स्वपिति संज्ञा देते है। स्वप्न और जागरण अवस्था में जीव सत्तत्व से भिन्न स्थिति में होता है। यथा—जाग्रदवस्था में 'अहं गच्छामि' क्रिया सम्पन्न कर्त्ता (अहंकारवाला) होता है। उस जीव में कर्तृत्व और क्रिया दोनों धर्म अहंकारजन्य होते है और सत्तत्त्व (आत्म) निक्रिय-निरवयव है अतः दोनों में सत्त्वत्वात् कारणात् (सत्तत्व हेतु होने के कारण) .भिन्नवत् है। इसी तरह स्वप्नावस्था में भी 'अहं करोमि गच्छामि, सुखी,

जीवत्वमात्मनः प्राणः, धारणान्नस्वभावतः।
सद्रूपत्वं स्वतस्तत्तु, स्फुटं स्वपिति नामतः।। (अनु ३/३)



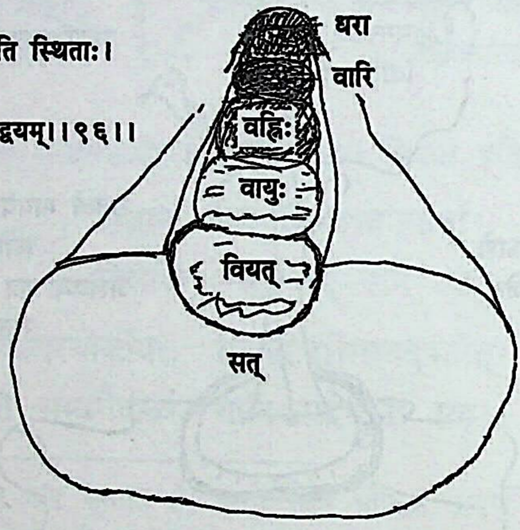
दुःखी' इत्यादि कर्तृत्वादि होते हैं, परन्तु सुषुप्ति अवस्था में 'सुखमहमवाप्सम्', 'किञ्चिदपि नावेदिषम्' सुखपूर्वक सोया मैं कुछ भी नहीं जाना यह जगने पर स्मृति (अनुभव) होती है। अतः वहाँ क्रिया और कर्तृत्वाभाव है और जो सोया वही अनुभव किया दोनों में अभेद (एकत्व) है। वहाँ सुषुप्ति में सद्वस्तु (आत्मा) के साथ एकत्व को प्राप्त स्थिति होती है।

आत्मा के प्राणों के संग होने के कारण ही वह जीवात्मा कहलाता है। वस्तुतस्तु वह आत्मा अपने स्वभाव से वैसा नहीं है। आत्मा का स्वतः स्वरूप तो सद्रूपत्व ही है। सुषुप्ति अवस्था से उठने पर यह स्फुट रूप से प्रमाणित होता है। क्योंकि जगने पर मैं सुखपूर्वक सोया और कुछ भी नहीं जाना कि कब सोया-कब तक सोया और कब जगा। सुषुप्ति के पूर्व और पश्चाद् को वह जानता है परन्तु तन्मध्य (बीच) काल की कोई स्थिति के सम्बन्ध में नहीं जानता केवल सुखानुभूति को वह व्यक्त करता है। इससे आत्मा की सद्रूपता स्पष्ट हो जाती है। (अनु.प्र. ३/३)

जीवात्मा वृक्ष की डाल से बँधी हुई पक्षी के समान है यह प्रतीक चित्र द्वारा तो सरलतम ढंग से कह दिया गया है, जिसे देख कर सामान्य से सामान्य बुद्धि के लोग भी समझ सकते

देहे-देहे प्रति छाया, रूपोऽभूत् स्वात्मबुद्धये।
चिच्छाया वपुः स्थूल, मिन्द्रिण्यात्मबोधने।
द्वाराणीत्याहमन्त्रोऽयं, रूप-रूपमिति स्फुटम्।। (अनु.प्र.-३)

सन्मूलाः सकला देहा,
इदानीं च सति स्थिताः।
अन्ते सत्येव लीयन्ते,
विद्यात्तत्सत्त्वमद्वयम्।।९६।।



हैं। किसी वृक्ष की डाल से पक्षी को किसी लम्बे धागे से बाँध दिया जाय तो वह आकाश में उड़ती हुई थक कर उसी वृक्ष पर बैठती है क्योंकि आकाश में उसे बैठने का आधार नहीं मिलता। अन्ततः वह वृक्ष पर पुनः बैठ कर ही विश्रान्ति को प्राप्त करती है। उसी प्रकार यह जीवात्मा माया सूत्र से बद्ध होकर इधर उधर विभिन्न भोगों को भोगता हुआ भी विश्रान्ति नहीं पाता और अनन्त भोगों के भोग से और अधिक थक जाता है। सारे भोग के करण (इन्द्रियाँ) जीर्ण हो जाते हैं, काम करना बन्द कर देता हैं और वह जब थक हार कर अपने आधार (आत्मा) में स्थित होता है तो साधारता पाकर परम विश्रान्ति को पाकर सुखानुभूति को प्राप्त करता है, यही प्रतीक चित्र का मुख्य अभिप्राय है।

स्थूलदेह—सूक्ष्मदेह और कारण देह यह तीन देह (शरीर) हैं। इन तीनों देह में आत्मा की छाया (प्रतिविम्ब) पड़ने से इनमें आत्मा का तादात्म्येन अहमाकार व्यवहार होता है। 'तत्सृष्ट्वा तदेपानुप्राविशत्' परमात्मा इन भौतिक शरीरों और इन्द्रियों की रचना कर उसमें प्रविष्ट हुआ। किस रूप में प्रविष्ट हुआ? 'रूपं-रूपं प्रतिरूपं वभूव' जो शरीर जैसा है जो इन्द्रियाँ जैसी है और देह के जो अंग जैसे है वैसे ही उनके ही रूप में होकर प्रविष्ट हो गये। इसलिए दोनों के मिथुनी भाव के कारण अज्ञानियों को उसका विवेक कर पाना कठिन होता है। साधनासम्पन्न ज्ञानीजन उस सकल स्थूल-सूक्ष्म-कारण-शरीर, प्राण-ज्ञानिन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय सहित निखिल शरीरावयवों को सन्मूलक ही समझते हैं और अन्त में उसी कारण

चिच्छायावानहंकारो, ऽधीते वेदचतुष्टयम्।
त्वं तु साक्ष्यैव तस्यातः, सदसि त्वं न चेतरः।। (अनु.प्र. ३/१११)

सुप्तौ सद्रूपमज्ञात्वा, सदैक्यं प्राप्तवांस्ततः।
सतो नागनं स्मार्यं, अपामस्मरणं यथा।।११९।।
(नाना नदीनां सिन्धौ)

मृयमाणस्य वागादि, वृत्तिः मनसि लीयते।
मनो वृत्तेर्लयो प्राणे, प्राणवृत्तेस्तु तेजसि।।१०४।।

मूढस्य तद्वदेवास्य,
सत्यानृताभिसन्धित्वं, वैसम्यं ज्ञानिमूढयोः।।

ब्रह्म में वे लीन होते है ऐसा वे साधक जानते हैं। वे जिसमें उत्पन्न-धारण और लय प्राप्त करते हैं वहीं अद्वय सदात्मा (परमात्मा) ब्रह्म है इस तरह वे विवेकी साधक ज्ञानीजन निश्चय करते हैं। (अनु.प्र. ३)

अन्तकरण तैजस वस्तु है और अन्तकरण में चेतन आत्मा की छाया (प्रतिविम्ब) पड़ने पर उस छायावाला जो अहंकार होता है वही चारों वेदों का अध्ययन करने वाला होता है। परन्तु तुम जो आत्मा स्वरूप वाला हो वहाँ भी साक्षीमात्र से ही रहते हो अर्थात् अहंकार पूर्वक ही सामान्यजन कर्म करते हैं यथा—'अहं पठामि' मैं पढ़ता हूँ अहंकार से ही होता है और चेतन आत्मा तो साक्षी मात्र होता है। अतः साधक को उक्त स्थल में आत्मा को साक्षी स्वरूप से जानना चाहिये, क्योंकि आत्मा (चेतन) सत्स्वरूप ही होता है और कुछ अन्य नहीं। इसलिये वहाँ उक्त स्थल में मन को शासित करना चाहिये कि तुम साक्षी-चेतन मात्र हो। सुषुप्ति काल में अपने सद्रूप का जो अनुभव होता है, उसको बार-बार मनन करना चाहिये। उस सद्रूप की ऐक्यता का स्मरण नहीं रखने के कारण ही नदियों के समुद्रजल के साथ समता स्वरूप के विस्मरण के समान वह जीव भाव में स्थित होता हुआ दुःख प्राप्त करता है। नदियाँ अपने जलात्मा और समुद्र के जलात्मा के ऐक्यता के (जलात्मत्वेन विस्मरण) अभाव के फलस्वरूप ही एक नहीं है जलात्मत्वेन तो ऐक्य ही है ऐसा ही चिन्तन आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध में एकीकरण ज्ञान हेतु सहायक है। मृयमाण (मरनेवाले) की वागादि (वाणी आदि) इन्द्रियाँ मन में (अपने कारण) में लय प्राप्त करता है मन प्राण में, प्राण तेज में लय प्राप्त करता है और इसी क्रम में लय होता हुआ आत्मा में लय प्राप्त होता है। ऐसा चिन्तन तो विवेकियों-ज्ञानियों का होता है परन्तु मूढ़ों (मूर्खों) का तो सत्यानृत मिथुनीभाव शरीर को आत्मा समझ कर मरण

मर्त्योऽहमिति सन्धाय, म्रियते जायते च सः।
ब्रह्माहमिति सन्धाय, मुच्यते न च जायते।।१३७।।
आत्म प्रतिनिधिः प्राणः, सम्भेदात्मलक्षकः। (४/१८)
पितृमात्रादि शब्दैश्च, प्राणः प्रोक्तः शवो न तु।। (११/२२)
ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञान हीनो, भूमाऽविच्छेददर्शनात्।
——— रूपं, मायाकार्यमिदं जगत्।।४१।। (अनु.प्र.-४)
चिच्छायावानहंकार–ज्ञाता
चक्षुरादिजाबुद्धिवृत्तिः–ज्ञानम् त्रिपुटी (स्वप्न जागरयोः)
रूपरसादयः–ज्ञेयाः।
वेदान्तवाक्योत्थधीवृत्तौ प्रतिनिम्बितं भूमानन्दम्
स्वप्रकाशात्मचैतन्यं कृत्स्नाज्ञानस्य बाधकम्। तिरोधत्ते।

जनन निरन्तर बने रहता है। यही ज्ञानियों और अज्ञानियों के बुद्धि में भेद है। अज्ञानी का तो मैं जन्म लिया हूँ और हमारी एक दिन मृत्यु भी होगी, इस तरह के बुद्धिस्थ अज्ञान ही जन्म-मृत्यु का कारण होता है और ज्ञानियों का मैं ब्रह्म हूँ और यह 'न जायते मृयते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः' मैं न कभी जन्म लिया, न जन्म लूँगा और न मरूँगा, मैं तो अज स्वरूप हूँ। (अनु.प्र. ३/११२/२८/१०४/१३७)

आत्मा का प्रतिनिधि प्राण है, क्योंकि वह आत्मा का लक्षक होता है। पिता-माता को जो शब्द (वाक्य) द्वारा पिण्डादि दिये जाते है वे उनके प्राण को उद्देश्य कर दिये जाते हैं उनके शव को नहीं। इसलिए जीवात्मा अपने को मरणशील समझता है। (अनु.प्र. ४/१८/२२)

ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान तीनों प्रकार के बोध से हीन (रहित) जो नित्य (निरन्तर) अनवच्छिन्न बोध है वही भूमा (ज्ञान-बोध) है। ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय ये तीनों से साकारता (प्रकारता) बोध होता है जो अवच्छेदक (विच्छेदक) होता है—सोपाधिक होता है-मायिक होता है और सम्पूर्ण जगत् प्रकारता स्वरूप ही है अतः मायिक है—मिथ्या है। (अनु.प्र. ४/४१)

चित् की जो अन्तःकरण में छाया पड़ती है उसी को अहं भावेन ग्रहण करने के कारण चित् (आत्मा) ज्ञाता कहा जाता है। चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय से उत्पन्न जो बुद्धिवृत्ति है उसको ज्ञान कहते हैं और रूप तथा रस आदि ज्ञेय विषय हैं। यह त्रिपुटी है और स्वप्नावस्था तथा जाग्रदवस्था दोनों में रहते हैं। वेदान्तवाक्य से उत्थित (उत्पन्न) जो बुद्धि वृत्ति उसमें प्रतिबिम्बित स्वप्रकाशात्मक चैतन्य वह सम्पूर्ण अज्ञान का निवर्तक होता है और

भूम्नःशक्तिः-माया। 'परास्य शक्तिर्विविधा'। श्रुतिः।

सत्ताभानप्रीतयोऽत्र वीक्ष्यन्ते सर्ववस्तुषु।
सच्चिदानन्दरूपोऽतो भूमा सर्वत्र तिष्ठति।।६५।।

अहं शब्दः साहंकारं चिदात्मानं ब्रवीति।
अहंकारे बोधेन लीने, चिदात्मैवं शिष्यते।।

सुखदुःखप्रदारब्धः, कर्मवेगश्चतुर्विधः-१. तीव्रो, २. मध्यो, ३. मन्द, ४. सुप्तौ। (अनु.भू.प्र.-४)

१. वेगे-पश्वादि तुल्यः, नात्मानमीक्षते। आत्मनि प्रीतिरस्तीति भवेदात्मरतिस्तदा। २. मध्यवेगे तु भोगानां यदाप्राधान्यं तदा स अवकासं कृत्वा आत्मानं वदन् बालवत्क्रीडति। ३. मन्दवेगे भोगान्तिरस्कृत्य प्रायेण धिया आत्मानं चिन्तयन् द्वन्द्वसुखं प्राप्नोति मिथुनवत्। ४. सुप्तवेगे अतिनिर्विघ्नः निर्विकल्पसमाधिभाक् आत्मानन्दावशेषः सन् मुक्तवदद्वय आस्ते।

उन सम्पूर्ण विषयक अज्ञान के नष्ट हो जाने पर जो ऐक्यानन्द की अनुभूति है वही भूमानन्द कहलाता है। भूमा की शक्ति माया है और जिसे परा शक्ति के नाम से श्रुति प्रतिपादन करती है। उसी परा शक्ति माया को अधीन कर मायी भूमा जगत का सर्जक होता है। जगत् प्रपञ्च में सर्वत्र जो सत्ताभान की सत्-चित् आनन्दात्मक प्रीति स्वरूप है, वही भूमा है और वह सभी वस्तुओं में उक्तरूप से प्रतिष्ठित है। 'अहं' शब्द जो व्यवहृत है वह अहंकार से सहकृत चिदात्मा को ही बोधित कर प्रयुक्त होता है अहंकार बोधपूर्वक चिदात्मा में लीन हो जाने पर तो चिदात्मा ही शेष रह जाता है और माया समाप्त हो जाती है। वही भूमा शब्दवाच्य ब्रह्म है। (अनु.प्र. ६५)

सुख और दुःख को प्रदान करने वाले वेग का आरम्भ चतुर्विध होते हैं—१. तीव्र, २. मध्य, ३. मन्द और ४. सुप्त।

१. तीव्रवेग—वह वेग जो पशु आदि के तुल्य होते है और जो आत्मा को बिल्कुल नहीं देखता है—नहीं जानता है। उसके शरीर में ही आसक्ति होती है और जिसके शरीर में आत्मबुद्धि होगी उसे आत्मा (चेतन) में रति कैसे होगी? नहीं हो सकती है। २. मध्यवेग—उसके भोगों की प्रधानता होती है और वह बालक के समान आत्मा को अनवकाश मानता हुआ उसके साथ कीडन करता रहता है। ३. मन्दवेग—वह भोगों को तिरस्कृत कर प्रायः बुद्धि से आत्मा का चिन्तन करता हुआ सुख-दुःख को प्राप्त करता है मिथुनवत् (दो का साथ रहना) अर्थात् सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख का आगम होता है ऐसा

'स स्वराड् भवति' पतिते देहे।

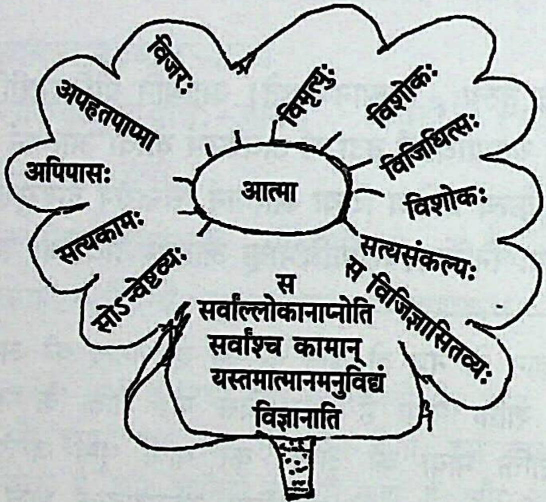
मायया कल्पिता लोकाः, ते सर्वे मुक्तस्य भूमरूपतां प्राप्नुवन्ति।

न मृत्युं पश्यति ज्ञानी, न रोगं नापि दुःखिताम्।

सर्वं स्वात्मतया बुद्ध्वा, सर्वमाप्नोति सर्वथा।।८६।।

विदेहमुक्तो ब्रह्मत्वात्, सर्वं सृजति मायया।

येन यद्वीक्ष्यते तस्मै, तं रूपं स्वं प्रदर्शयेत्।।८७।।



(छा.उ.)

कामा विषयानन्दाः तेस्वात्मानन्दस्य खिलाः। (अनु.प्र. ५/११)

मानता है। ४. सुप्तवेग—अत्यन्तनिर्विघ्नता पूर्वक निर्विकल्पक समाधि सम्पन्न होकर आत्मानन्दावशेष का अनुभव करता वह अद्वयभाव में स्थित होता है। (अनुभू.प्र. ४)

देह के नष्ट (लय) हो जाने पर वह स्वराज (राजा) के समान हो जाता है इस श्रुति सिद्धान्त के अनुसार वह इस लोक को माया द्वारा कल्पित जानकर भूमा स्वरूप को (सर्वत्रवस्तु में आत्मानन्दानुभूति) प्राप्त कर वह ज्ञानी न मृत्यु को देखता, न रोग को जानता है और न दुःख का अनुभव करता है तथा सभी वस्तुओं में स्वात्मा बुद्धि से व्यवहार करता हुआ सर्व रूपत्व को प्राप्त हो जाता है। वह ब्रह्ममय ज्ञानवान् होने के कारण विदेह मुक्ति को प्राप्त कर जाता है, क्योंकि वह जगत् प्रपञ्च को मायाकृत जानता है। वह जो भी देखता है वह ब्रह्म दृष्टि से देखता है और सर्वमय उसके हो जाने के कारण अपनी आत्मा को ही सब में देखता और अनुभव करता हुआ वर्तता है। (अनु.प्र. ८६,८७)

इस भौतिक देह की जरावस्था से यह आकाशाख्य ब्रह्म जीर्ण नहीं होता है इसके बध से उसका नाश नहीं होता है। यह ब्रह्मपुर सत्य है क्योंकि इसमें सम्पूर्ण कामनाएँ सम्यक् प्रकार

पुरुषः अक्षिणि दृश्यते। (श्रुति)

पूर्णत्वात् परमात्मा अक्षिणि-जाग्रत्साक्षितया विद्वद्भिः सुभाव्यते।

'एतदभयममृतं ब्रह्म'। (श्रुति)

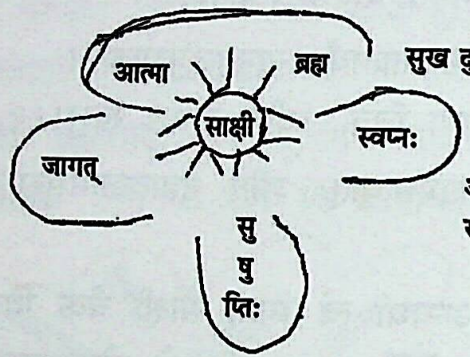
प्रजापत्युक्ति तात्पर्यं, नानुबुद्धमुभावपि।
राजवासनया चित्तं, तदीयं राजसं खलु।।१८।। (१-इन्द्रविरोजनौ)
विरोचनस्तामसत्वात्, शीघ्रं देहात्मतामसुरानुपादिक्षत्।
(अनु.प्र. ५/२९)

छायया अन्यथा त्वं स्यात् साक्षी चैक विधः स्थितः।
आत्मात्वं निर्विकारस्य, शक्यते बोद्धमञ्जसा।।२४।।

से स्थित है, यह आत्मा है और यह धर्माधर्म शून्य है तथा जरा रहित मृत्यु रहित, शोक रहित, भोजनेच्छाशून्य, पिपासाशून्य, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है, जिस प्रकार लोक में प्रजाजन राजा की आज्ञा का अनुवर्तन करती है और वह जिस जिस सन्निहित वस्तु की कामना करती है तथा जिस-जिस देश एवं भूभाग की इच्छा करती है उसी उसी के आश्रित होकर जीवन धारण करती है। प्रजाओं की परतन्त्रता होती है, वे राजा के अधीन होती है, उसी तरह सभी कामनाएँ आत्मा के अधीन ही है। विषयानन्द की जो इच्छाएँ इस शरीर द्वारा की जाती है वही स्वामानन्द के बिल हैं। क्योंकि श्रुति कहती है—'जो यह नेत्रान्तर्गत पुरुष दिखाई देता है वही आत्मा है'। 'यच्चक्षुषः चक्षुः' (के.उ.) जो चक्षुओं का चक्षु है। यह परमात्मा पूर्ण होने के करण ही चक्षु में जाग्रत् अवस्था के साक्षिभूत है और विद्वानों के द्वारा जानने योग्य है। यह आत्मा सकल भय रहित अमृत स्वरूप है। प्रजापति ब्रह्मा के पास ब्रह्मविद्या को जानने के लिये गये हुए देवता के प्रतिनिधि इन्द्र और असुर के प्रतिनिधि विरोचन ने उस प्रजापति के उपदेश किये गये वचन के तात्पर्य को सम्यक् नहीं समझ पाये क्योंकि राजस वासना से चित्त दूषित होने के कारण ब्रह्म विद्या के उपदेश का तात्पर्य ग्रहण नहीं हो सका। क्योंकि यह विद्या शम-यम-नियम-प्रत्याहारादि सम्पत्षट् सम्पन्न निर्मल हृदय सत्पात्र के द्वारा ही धार्य हो सकता है। (अनु.प्र. ५/११/१८,२९)

विरोचन असुर के प्रतिनिधि थे। असुर तमो गुण प्रधान चित्तवृत्ति के प्रायः होते है इसलिए तमोगुण प्रधान होने के कारण वे दक्ष प्रजापति द्वारा उपदिष्ट ब्रह्मविद्या के तात्पर्य को ग्रहण नहीं कर पाये और उसने शरीर को ही आत्मा समझ बैठा। फिर प्रजापति ने कहा कि यह जो जल में छाया पुरुष है वही ब्रह्म तुम हो। यह पुरुष सबके साक्षी हैं, इस छायापुरुष और आत्म पुरुष की एकता का चिन्तन करो वही ब्रह्म है। यह आत्मा निर्विकार

तथापि पापबाहुल्यात्, प्रतिबद्धधियावुभौ।
छायात्मतां शरावोक्त्या, दृष्टां कृत्वात्यतुष्यताम्।।२५।।



सुख दुःखादिवर्जनात्।

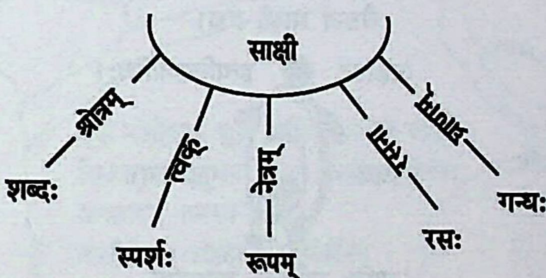
आत्तो वै स शरीरः प्रियाप्रियाभ्याम्। (श्रुतिः)

अशरीरं वा न प्रिया-प्रिये स्पृशतः।। (श्रुतिः)

स्वतः साक्षी सम्प्रसादः देहतादात्म्यवर्जनात्।
अविद्यया स्यात्कालुष्यं,
जागरे-स्थूल सूक्ष्माभ्यां, तादात्म्याद् व्याधयोऽखिलाः।
आधयश्चास्य सन्तीदं, महत्कालुष्य मिष्यते।।५७।।

है। इसमें उपचयापचय नहीं होता यह नित्य है एक रस है। नित्य एवं एक स्वभाव है, इसकी जानकारी में शीघ्रता-दीर्घता रूप काल हेतु नहीं है, इसका तो विवेक हेतु है। विवेक से इसका सम्यक् ज्ञान सम्भव है। लेकिन पाप के बहुलता (तमोगुणप्राधान्यता) के कारण वे दोनों (रजोगुणी-तमोगुणी इन्द्र और विरोचन ने शराव (मिट्टी के पात्र विशेष) गत छाया पुरुष को देख कर उस अध्यात्म तथ्य को नहीं जान सके और भ्रान्ति ग्रस्त ही रह गये। प्रजापति ने पुनः उपदेश किया—इस शरीर में सुख-दुःख होता है। सुख-दुःख का आश्रय साक्षात् रूप से शरीर ही है और उस शरीर धर्म को त्यागने पर जो उससे परे स्वरूप प्रिय-अप्रिय में समान भाव (विकार रहितत्व) रहे वही आत्मा का स्वरूप है। जागत् अवस्था में स्वप्नावस्था में दुःख और सुख का जो अनुभव करता हो वह आत्मा का धर्म नहीं है, क्योंकि ज्ञाता-ज्ञान ज्ञेय चित्तवृत्ति के उपाधि के कारण तदाकार रूप से सुखी दुःखी का अनुभव होता है। सुषुप्ति अवस्था में यह ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय चित्तवृत्ति के अभाव होने के कारण वहाँ सुख-दुखात्मक अनुभव नहीं होता। वहाँ न प्रियता की सामग्री की उपस्थिति रहती है और न अप्रियता की वस्तु की उपस्थिति होती है। इसलिए न वहाँ हर्ष होता है और न भय होता है। इसके विपरीत जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में प्रिय सामग्री से हर्ष और अप्रिय वस्तु से भय उत्पन्न होता है। इसलिए सुषुप्ति कालिक आत्मस्थिति को ही आत्मा का स्वभाव जानो। ये हर्ष-भय-काम-क्रोधादि शरीर के तादात्म्यभाव के कारण

इषत्कालुष्यता स्वप्ने, सूक्ष्ममात्राभिमानतः।
सुप्तौ तेनापि हीनत्वात्, अयमात्मा प्रसीदति।।५८।।
ब्रह्माद्याः स्थावरान्ता ये, प्राणिनो मे वपुः स्मृताः।
अदुष्टा सूर्यभायद्वत्, चाण्डादिस्थाप्यसौ।। (अनु.प्र. ५/७७)
द्रष्टाऽहं कृत्यवच्छिन्नः, दर्शनं चक्षुषः क्रिया।
दृश्यं रूपमिदं सर्वा, त्रिपुटी भाति साक्षिणि।।९०।।



साक्षिणः भासकत्वेऽपि, रूपगन्धादि भित्तये।
चक्षुर्घ्राणाद्यक्षजातं, सर्वसाधारणं मनः।।

होते हैं इसे (शरीर के साथ आत्मता) त्यागो। यह अविद्या के कालुष्य से प्राप्त होते है। आत्मा तो साक्षी मात्र है, आनन्द स्वरूप है। जाग्रत् अवस्था में शरीर के तादात्म्यता को त्यागो। जाग्रत् अवस्था में कालुष्य (पाप) अधिक होते है। स्वप्न में भी कुछ न कुछ कालुष्यता होती है। अतः जाग्रत् और स्वप्न के स्थूल और सूक्ष्म कालुष्य का त्याग कर दो क्योंकि यह सभी आधि-व्याधियों के जनक (उत्पादक) हैं। इसके त्याग कर देने पर (तीनों अवस्थाओं के त्याग करने पर) आत्मा में सम्प्रसादन प्राप्त करोगे। (अनु.प्र. ५,२४,२५,५७,५८)

ब्रह्मा आदि से लेकर स्थावर पर्यन्त जो शरीर है वह आत्मा (ब्रह्म) का ही है। सभी दृश्य स्वरूप परमात्मा का है। परमात्मा शरीरी है। सूर्य की किरणें सभी पदार्थों पर समान रूप से ही प्रसरित होते है। सूर्य पवित्र-अपवित्र-स्थूल-सूक्ष्म के विचार को नहीं रखता। वह सामान्य रूप से अपने प्रकाश को सब पर फैला कर प्रकाशित करता है। उसी प्रकार परमात्मा सबके प्रकाशक हैं। सबके साक्षी हैं। अहं कृति से अवच्छिन्न चेतन (अन्तःकरण) कर्त्ता है, चक्षु की क्रिया दर्शन है और यह सम्पूर्ण जगत् दृश्य है यह ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय रूप त्रिपुटी का साक्षी आत्मा है। साक्षी चेतन श्रोत्र-त्वक्-नेत्र-रसना-और घ्राण इन पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के साधनों के द्वारा अपने अपने विषय को देखता हुआ है। साक्षी के प्रकाश से भासित इन विषयों को इन्द्रियाँ जानती हैं। ये इन्द्रियाँ-घ्राणादि अक्षजात समस्त विषय मन को समर्पित

अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, तं वेदमध्यापयीत।
एकादशवर्षं क्षत्रियं, द्वादशवर्षं वैश्यम्।। (श्रुतिः)
न विनाऽनुष्ठितं कर्म, वेदनं पर्य्यवस्याति।
ब्रह्मधीस्तावदैव स्यात्, फलादेति परा मता।। (अनु.प्र. ६/१०)
पुरुषो मायया सर्व-जगद्रूपेण भासते।
सर्वं पुरुष एवातः, वस्तुतत्त्वावलोकने।।५४।।

चैतन्यं साक्षी ब्रह्म।

अज्ञोऽहं  **इत्यविद्याग्रन्थिः।**

देहत्रय गुहायाम्।

'आविः सन्निहितं गुहाचरम्
तत्सत्यं अमृतम्' इति धीः बोधः।

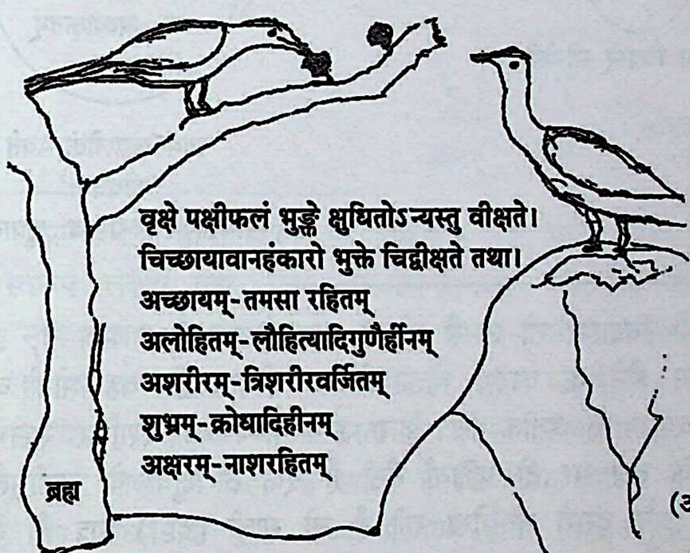
कर देते है और मन उन-उन इन्द्रियों और प्राणों के साथ तादात्म्य प्राप्त कर विषयों को जानता है। वह इसलिए सर्वसाधारण धर्मवाला कहलाता है। (अनु.प्र. ५/७७,९०)

आठ वर्ष के ब्राह्मण बालक का यज्ञोपवीत संस्कार करा कर उसको वेदाध्ययन कराना चाहिये। इसी प्रकार क्षत्रिय बालक को ग्यारह वर्ष में और वैश्य को द्वादश वर्ष में कराना चाहिये। (श्रुति) कर्म के अनुष्ठान किये विना ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है। कर्मानुष्ठान द्वारा इन्द्रियों सहित अन्तःकरण के तम और रज गुणों की आधिक्यता नष्ट होकर सतोगुणाधिक्य को प्राप्त होता है जिसे अन्तकरण की शुद्धि कही जाती है। अन्तःकरण के शुद्धि के अनन्तर सद्गुरु के वाक्य का उपदेश एवं श्रुत्यादि वाक्यों के मननादि द्वारा विवेकोत्तरकाल में धारणा की प्राप्ति होती है। धारणा दृढ़ होने पर ध्यान और ध्यान के परिपक्वता होने पर समाधि तथा समाधि के सम्यक् परिपाक होने के अनन्तर अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न होती है; तदन्तर चित्तवृत्यादि उपाधित्याग पूर्वक अभेद वेदन और अभेद वेदनानन्तर वेदनादि धर्म का भी लय कर केवलभाव की प्राप्ति होती है। इसी को ब्रह्मभाव, केवल भाव, निर्विकल्प अवस्था आदि विभिन्न शब्दों द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। यही फल है और इसी को परात्मता कहते है, यही परा गति है। (अनु.प्र. ६१०)

यह जो पुरुष (परमात्मा) है वह अपनी स्वकीय माया के द्वारा ही (अद्वितीय स्वरूप होते हुए भी) जगद्रूप (अनेक रूप) से प्रकट दिखाइ दे रहे हैं। यह सम्पूर्ण जगत् वस्तुतः

अहंकरस्य कर्तृत्व, चित्यध्यस्य, तथाचितः।
स्फूर्तिं चाहं कृतौ ग्रन्थिं, कुर्यान्मायातयोर्दृढ़म्।।६७।।
परमव्याकृतं यस्मादवरं स सच्चिदात्मा-परावरः। (अनु.प्र.-६)

अहंकारः-युङ्क्ते।
भोक्तरि मग्नः-शोचति। **चिद्-वीक्षते**

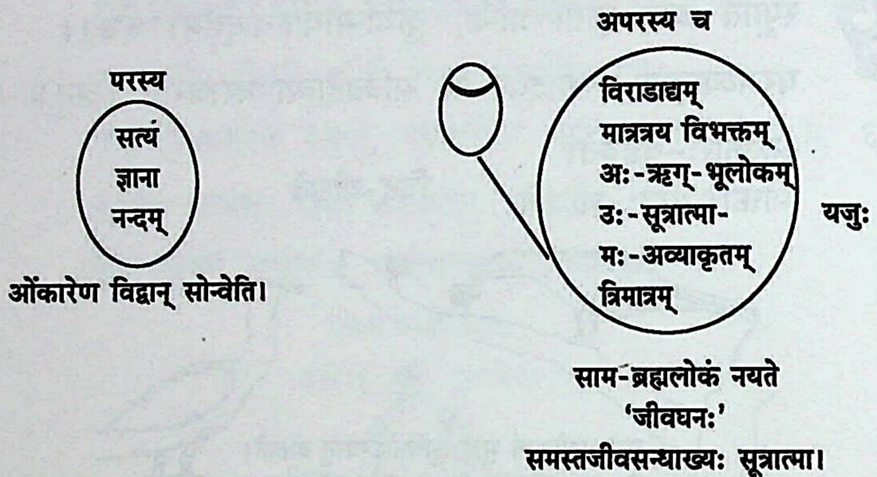


(अनु.प्र.-७)

वही पुरुष ही है, परन्तु यह दर्शन तात्त्विक दृष्टि से ही सम्भव होता है। तत्त्वज्ञ ही परमात्ममय जगत् को देखता है। अज्ञानी तो दोषाधिक्य के कारण नानात्व रूप से ही जगत् को देखता है। नानात्व मिथ्या है एकत्वेन परमात्मत्वेन दर्शन ही परमार्थता है। चैतन्य साक्षी ही ब्रह्म है। 'मैं अज्ञ हूँ, नहीं जानता हूँ, अमुख को नहीं समझता हूँ' यही अज्ञान की ग्रन्थि (गाँठ) है। उसी गाँठ के कारण जीवात्मा स्थूल-सूक्ष्म तथा कारण देहत्रय गुहा में स्थित आत्मा को नहीं जानता, नहीं देख पाता है। उस आवि (आत्मा) से व्याप्त यह निखिल चराचर जगत् है। सम्पूर्ण जगत् ईशावास्य है (परमात्मा से आच्छादित है) यही सत्य है, यही अमृत है और यही तात्त्विक बुद्धि परमार्थता है, शेष इससे भिन्न ज्ञान मिथ्या है। कर्तृत्वादि अनुभूति अहंकार रूप कार्य है। यह अहंकार चित्तवृत्ति में अध्यस्त (प्रतिफलित प्रतिविम्ब) है। अहंकार की स्फूर्ति (स्फुरण) को ही ग्रन्थि कहा जाता है। उसी अहंकार रूप स्फूर्ति से माया ने दृढ़तापूर्वक ग्रन्थिद्वारा जीवात्मा को बाँध रखा है। इसलिए जीव अपने स्वरूप को नहीं जान पाता है। उस ग्रन्थि का उन्मोचन तत्त्वज्ञान से सम्भव होता है। (अनु.प्र. ६/५४,६७)

परम व्याकृत से परे सत्-चित् स्वरूप आत्मा है इसलिए उसे परावर कहते हैं और व्याकृत (जगत् सृष्टि) को अवर कहते हैं। अहंकार ही भोग करने वाला होता है, इसलिए

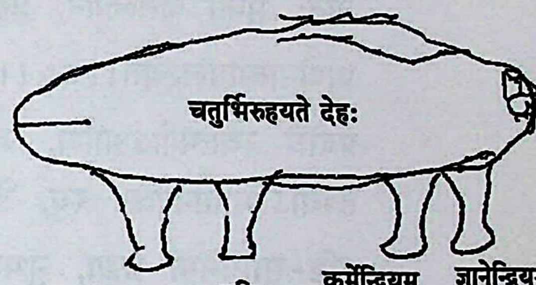
ॐकारः प्रतीकं स्यात्। (अनु प्र. ७)



अहंकार भोक्ता है। चिदात्मा तो उससे परे है, वह देखता हुआ मात्र हैं, इसलिए वह साक्षी है। भोग में मग्न होने के कारण भोक्ता केवल सोचता है। वह भोग का अनुभव करता है, इसलिए जीवात्मा है। प्रतीक चित्र द्वारा इसी तथ्य को दर्शाकर सुलभ ढंग से सुस्पष्ट किया गया है कि वृक्ष पर दो पक्षियाँ बैठी हैं एक तो क्षुधा के वशीभूत होकर फल को भक्षण करती है और दूसरी तो देख रही है जो साक्षी (द्रष्टा) मात्र है। अन्तःकरण में जो चित् (चेतन) की छाया (प्रतिबिम्ब) पड़ती है वही अहंकार है वही भोक्ता पक्षी रूप है। वस्तुतः चित् देखता मात्र है। अच्छाय जो होता है वह छाया नहीं है, प्रतिबिम्ब नहीं है वह बिम्ब स्वरूप है वह तमोगुण रहित होता है, वह अलोहित है अर्थात् रजोगुण से भी रहित है। वह अशरीर है अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित है। वह शुभ्र (निर्मल) है क्योंकि क्रोध-मोह-लोभ-तृष्णा-ममता-अहंता ईर्ष्या-मात्सर्यादि से गुणों से सर्वथा रहित है, वह निर्मल, स्वच्छ, निञ्जन है। वह अक्षर है, नाश रहित है, नित्य है शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप है, वही ब्रह्म है वह न तो कर्त्ता है और न ही भोक्ता है, वह तटस्थ है इसलिए साक्षी मात्र है। (अनु.प्र. ७)

ॐकार प्रणव ब्रह्म का प्रतीक है 'ब्रह्म प्रतिं इकति नयतीति प्रतीकः' 'इक् गतौ' जो ब्रह्म को प्राप्त करावे उसे प्रतीक कहते हैं। प्रणव भी ब्रह्म को ही प्राप्त कराता है। 'प्रकृष्टेन नयति ब्रह्माणमिति प्रणवः' जो सुनिश्चित और सम्यक् रूप से ब्रह्म को प्राप्त करा देता है वह प्रणव है। वह प्रणव रूप ॐकार विराड् आदि वाचकत्वेन ब्रह्म वाचक और प्रापक होता है। प्रणव स्वरूप ॐकार तीन मात्राओं में विभक्त हैं—अः + ऊः + मः = ॐ (ओम्) इस रूप से उसे समझना चाहिये। 'अः' ऋग् वेद और भूलोक तथा विराड् वाचक है। ऊः यजुर्वेद अन्तरिक्षलोक हिरण्यगर्भ वाचक है और 'मः' सामवेद सूत्रात्मा ब्रह्मलोक वाचक

हितम्-स्वर्गसुखम्।
हिततरम्-वैराग्यमम्।
हिततमम्-स्वात्मबोधः।



है। तीनों मात्राएँ एकात्मरूपता प्राप्त करने पर ब्रह्मलोक को प्राप्त कराता है। यह तटस्थ लक्षण ब्रह्म है। स्वरूप लक्षण ब्रह्म 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' कहा है। जो सत्य स्वरूप-ज्ञानस्वरूप-आनन्द स्वरूप ब्रह्म है वही स्वरूप लक्षण है। उस स्वरूप लक्षण ब्रह्म को प्राप्त कराने के कारण ही प्रणव प्रतीक ब्रह्म कहलाता है। श्रुति कहती है—'ओंकारेण विद्वान् सोन्वेति' ओंकार से विद्वान् ब्रह्म को प्राप्त करता है। अतः प्रतीकोपासना का महत्त्व अपने जगह महत्त्वपूर्ण है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि प्रतीक साधन है और ब्रह्म साध्य है। यह नियम है कि साधन के द्वारा साध्य प्राप्तव्य होता है। (अनु.प्र. ७)

सामन्य सुख स्वर्ग का सुख है। उससे उत्तम सुख वैराग्य सुख है और सर्वोत्तम सुख स्वात्मबोध सुख है। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' मनुष्य शरीर द्वारा अर्जितपुण्य से स्वर्ग प्राप्त होता है। वहाँ उत्तम विषय भोग के करते रहने पर अर्जित पुण्य क्षीण हो जाते हैं और जीवात्मा पुनः जीवलोक में शरीर प्राप्त करता है। इसलिए यह स्वर्ग सुख सबसे अनुत्कृष्ट (अधम) है। वैराग्य सुख मध्यम सुख है, यह भी वैराग्य विमुखता होने पर क्षीण ही होता है। स्वात्मबोध उत्तमोत्तम है 'न स पुनरावर्त्तते' (श्रुति) वह फिर आगमन नहीं करता। उसका फिर जन्म नहीं होता। वह ध्रुव लोक है इसलिए स्वात्मबोध (ब्रह्मज्ञान) सर्वोत्कृष्ट-उत्तमोत्तम सुख कहा गया है।

जीवात्मा के चार पद होते है—प्राण-बुद्धि—पञ्चकर्मेन्द्रिय और पञ्चज्ञानेन्द्रिय। ये चारों पदों (पैरों) के द्वारा इस भौतिक (पञ्च भौतिक) शरीर को ढोता है। जन्म से मरण तक ढोके थक जाता है। ढ़ोना कष्टकारी होता है, क्योंकि वह बोझ है। बोझा से मुक्ति वह ढ़ोने वाला अवश्य चाहता है, परन्तु बोझा में काम-लोभ के कारण उसे वह त्यागना नहीं चाहता। वह अज्ञान के सूत्र द्वारा दृढ़ता पूर्वक बद्ध होता है, इसलिए वह बोझा छोड़ नहीं पाता और अधम सुख के लिए-क्षणिक सुख के लिए महान् दुःख को ढ़ोते रहता है। उसे

प्रतीतिकस्य जगतो भानाभावो लयोमतः।
प्रतीतिकत्वं वेदान्त,-सिद्धान्ते जगतः स्फुटम्।।
अतः सुप्तौ जगल्लीनं, प्रबोधे जायते पुनः।।६४।। (अनु.प्र.-८)

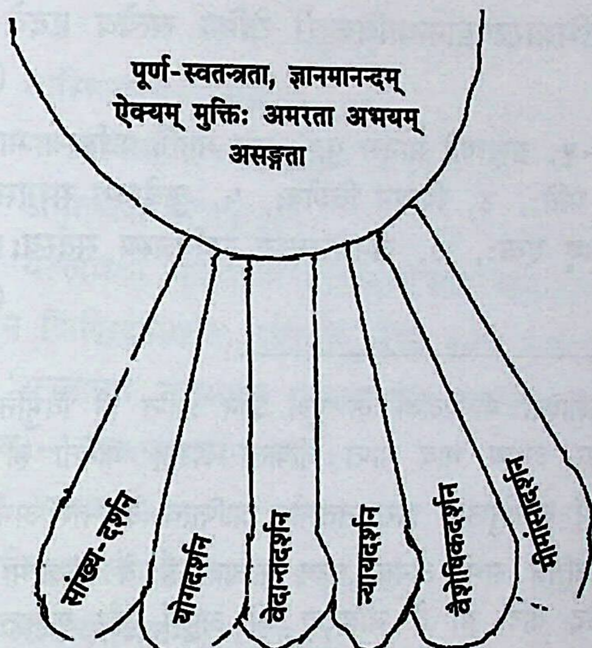
प्राणेनात्मोपलक्ष्यते।।६५।।

प्रबोधे स्वात्मनोऽक्षाणि, जायन्ते विस्फुलिङ्गवत्।
तेभ्योऽभिमानिदेवाः स्यु, र्देवेभ्यो विषया इमे।।६६।।

दृष्टि-सृष्टिमिमां ब्रह्मा, नुभवी बहुमन्यते।
स्वप्नबोधात् स्वसंसारो, लीयते स्वप्नवद्यतः।।६७।।

त्याग देना वैराग्य सुख है जो तत्काल दुःख से निवृत्त करता है। परन्तु पुनः काम-मोह के उत्थित होने पर शिर पर उठा के चल देता है, पुनः दुःख ग्रस्त होता है। जब तक त्याग तब तक सुख और जब-तक मोह-लोभ तब-तक दुःख की स्थिति बनी रहती है। अतः मध्यम सुख है। स्वात्मबोध में बोझा (पोटरी) जल जाता है। बीज के भूँग जाने पर अंकुर नहीं होते यह ध्रुव सत्य है। इसमें ध्रुवता है इसलिए भविष्य के भय नहीं होते 'न विभेति कदाचन' वह कभी किसी से भय नहीं करता-भय नहीं पाता। अतः वैराग्य से प्राप्त सुख सुखतम (सर्वोत्कृष्ट) है।

वेदान्त के तात्त्विक विचार उत्पन्न हो जाने पर जब जगत की प्रतीति का अभावात्मक बोध प्राप्त हो जाता है तो साधक का यह जगत् प्रपञ्च लय (नाश) हो जाता है और ब्रह्म प्रतीति (भान-अनुभव) मात्र ही रहता है परन्तु यही जगत् अज्ञानियों के ब्रह्म प्रतीति के अभाव के कारण नानात्व रूप से संसार (मैं-हम-तूँ-तुम) दिखाई देता है। परन्तु सुषुप्ति काल में जगत् का अभाव (भानाभाव) ही रहता है और वही सुषुप्ति के भंग होने पर जाग्रत् अवस्था में प्राणाभिमुख (प्राणसम्पत्) होने पर जगत् प्रपञ्च का पूर्ववत् नानात्व दर्शन होने लगता है। प्रबोध काल (जाग्रदवस्था) में इन्द्रियाँ अग्नि के प्रज्वलन कालिक स्फुलिङ्ग के समान प्रज्वलित हो जाती है, जिससे उस-उस इन्द्रियों के अभिमानी देवतागण प्रपञ्च को 'यह मेरा विषय है' इत्याकारक बुद्धि से उसमें प्रवृत्त हो जाते हैं। कर्ता के दृष्टि के भावानुकूल सृजन से ही यह जगत् विषय रूप से अथवा ब्रह्म रूप से प्रतीति का विषय होता है। सो कर जगने पर संसार और सो जाने पर जैसे संसार का लय (अभाव) होता है उसी प्रकार ज्ञानियों की ब्रह्म दृष्टि से जगत् का लय (अभाव) और अज्ञानियों के लिए भाव रूप से प्रकट होता है। जगद्भावाभाव में दृष्टि ही हेतु है ब्रह्म दृष्टि से जगत् का अभाव और व्यवहार (संसार) दृष्टि से भाव रूप से जगत् प्रतीत होता है। (अनु.प्र. ८/६४/६६/६७)



यहाँ प्रतीक चित्र द्वारा षड्दर्शन के मूल उद्देश को प्रतीक चित्र सूत्र द्वारा कहा गया है। आस्तिक दर्शनों में ये छः दर्शन प्रचलित है—

१. सांख्य दर्शनः—इस दर्शन में पचीस तत्त्व से सृष्टि का सर्जन माना गया है। प्रकृति विकारी है इसलिये वह बाँधती है पुरुष अविकारी है परन्तु वह भोक्ता और द्रष्टा मात्र है, स्वतन्त्र है। वह निरवयव और अकर्ता ही आत्मा को मानते है और प्रकृति की सारी की सारी वस्तुएँ पुरुष भोग्य मानते हैं तथा पुरुष के प्रसन्नता (आनन्द) के लिए ही होते है। वहाँ भोगापवर्गसुख अनुभव के उपरान्त प्रकृति और पुरुष का सम्बन्धाभाव नित्य रूप से हो जाता है यही मोक्ष है।

२. योग दर्शन में ध्याता ध्येय ऐक्यता ही मोक्ष है। यम नियम प्राणायाम प्रत्याहारादि साधन द्वारा समाधि सम्पन्न साधक केवल भाव को प्राप्त होता है यही मुक्ति है।

३. वेदान्त दर्शन में तो आत्मा स्वयं ब्रह्म है। वह स्वतन्त्र विज्ञानमय, आनन्दमय, अद्वितीय, अमृत, निर्भय और असङ्ग है। इसलिए उनके यहाँ पूर्ण मुक्ति है। यहाँ तो पूर्णत्व विज्ञान भी मुक्ति है।

४. न्याय-में अमरता मुक्ति है वहाँ जीव-ईश्वर भेद है। वे भेदवादी हैं जीवात्मा-परमात्मा भेद से जीव का जनम-मरण नित्यरूप से स्वीकृत है और यहाँ पदार्थ विज्ञान द्वारा अमरत्व ही मुक्ति है।

अभिन्नाखण्डानन्याविकारी प्रेमिन सत्येव हृदये सत्तत्वं ज्ञायते।

(हनु.उ.प्रो.प्रेमद.उपो.)

सप्तनारदाः–१. ब्रह्माणो मानस पुत्रः, २. महर्षि पर्वतस्य मातुलः, ३. अरुन्धत्या भ्राता, सत्यवत्याः पतिः, ४. पिशुन विशेषः, ५. कुबेरस्य सभासद्, ६. भगवद्रामस्य सभायाः धमशास्त्रिषु एकः, ७. जनमेजयस्य सर्पयज्ञस्य सदस्यः।

(हनु.उ.प्रो. प्रेमद.टी.)

---

५. न्याय वैशेषिक में पदार्थों के पूर्ण ज्ञान प्राप्ति ही विभुक्ति है। पदार्थों के पूर्ण विज्ञान प्राप्ति पुरस्सर अभय भाव प्राप्त जीवात्म असङ्ग धर्मिता हो विमुक्त होता है।

६. मीमासा में कर्मानुष्ठान द्वारा तत्तलोक प्राप्तित्व अनन्तर अभय ही मुक्ति पाता है।

उपर्युक्त वेदान्तभिन्न सभी अनेक पुरुष कल्पक हैं वे जीवात्मा और परत्मा में भेद करते है इसलिए भेद वादी हैं। वे जीवात्मा को अपूर्ण और परमात्मा को पूर्ण मानते हैं और अपनी-अपनी सिद्धान्त रीति से परमात्मा के सामीप्य-सारूप्यादि प्राप्त कर पूर्णता अनुभव करते है और मुक्ति को पाते है, परन्तु वेदान्त में विशेषकर अद्वैत मत जीवात्मा-परमात्मा में भेद नहीं मानते। वे जीवात्मा भाव को अज्ञानवश स्थिति प्राप्त अवस्था कहते है। वे अपने स्वरूप को अज्ञानावरण के कारण विस्मृत हो परतन्त्र अनैक्य-मरभाव-दुखसुखानुभवकर्ता आदि अनर्थ को स्वीकार करते हैं। परमार्थतः यह स्थिति नहीं है। वे परमार्थ (वास्तविक) स्वरूप के बोध को ही मुक्ति मानते है। आत्मा स्वतन्त्र-सर्वप्रकाशक सवैश्वर्य सम्पन्न-पूर्णकाम-आनन्दस्वरूप-ज्ञानस्वरूप-अद्वितीय स्वरूप वाला है केवल अज्ञानावृत्त होने के कारण भ्रमोत्पत्ति के हेतु (अज्ञान) की निवृत्ति ही मोक्ष-मुक्ति-निर्माण आदि पदवाच्य स्थिति को सिद्धान्ततः स्वीकृत करते हैं।

उपास्य के साथ अभिन्न-अखण्ड-अनन्य-विकाररहित (शुद्ध-तद्भाव) को प्राप्त होने पर ही प्रेमी के हृदय में सत् तत्त्व का ज्ञान होता है। (हनु.उ.प्रेमद.उपो.)

नारद के सम्बन्ध में शास्त्रगत कई स्वरूप और व्यक्ति प्राप्त होते है—१. ब्रह्मा के मानस पुत्र नारद है जो परमज्ञानी-विरक्त हैं। २. महर्षि पर्वत के मामा नारद हैं जो ऋषि हैं और ज्ञानी तथा परम तपस्वी एवं त्यागी पुरुष है। ३. ब्रह्मर्षि वशिष्ठ की पत्नी अरुन्धती के भाई तथा सत्यवती के पति नारद हैं जो ज्ञानी-ऋषि और तपस्वी भी है। ४. पिशुन (चुगल खोर) रूप से लोक में प्रयुक्त नारद है जो इधर-उधर बातों को पहुँचा कर लोगों में भ्रान्ति उत्पन्न कर विवाद उत्पन्न करने में कुशल हैं। ५. धनाध्यक्ष कुबेर की सभा के एक सदस्य विशेष नारद हैं, कुबेर देवताओं के धनाध्यक्ष (कोषपति) हैं। ६. भगवान राम की धर्मसभा के धर्मशास्त्र विशेषज्ञ-विशिष्ट धर्म विज्ञान वेत्ता नारद हैं। ७. महाभारत काल

भक्तिः-नारदः

'सा त्वस्मिन्परमप्रेमरूपा'।।२।।

१. 'न कामानां निरोधरूपा'।।७।।

२. 'अमृतरूपा च'।।३।।

३. 'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धोऽमृतस्तृप्तो भवति'।

४. न किञ्चिद्वाञ्छिति, शोचति, द्वेष्टि रमते उत्साही भवति'।।४।।

५. 'यज्ज्ञात्वा मत्तस्तब्ध आत्मारामो भवति'।।६।।

निरोधः–'लोकव्यापारन्यासः'।

तस्या साधनानि–

१. विषय संगयोस्त्यागः।।३५।।

२. अव्यावृतभजनम्।।३६।।

त्यागः–स्नेहस्य विषयानां च त्यागः। (महाभा.शा. १९२/१७)

के कुरुवंशीय राजकुल वंशपरम्परा में उत्पन्न परीक्षित पुत्र महाराज जनमेय के सर्पयज्ञ में एक यज्ञकर्म के विशिष्टवेत्ता ऋत्विजों में एक सदस्य नारद हैं। (हनु.प्र.प्रो.प्रेमद.टी.)

नारद भक्ति सूत्र में नारद मुनिने भक्ति का विशद और निर्दुष्ट लक्षण किया है— वह भक्ति इस चराचर सम्पूर्ण जगत् में परमात्मा के स्वरूप दर्शन रूप परमप्रेम स्वरूप ही है। वह कामनाओं के निरोध स्वरूप नहीं है वल्कि निखिल सृष्टि में भगवद्दर्शन रूप लालसा (अभिलाषा) विशेष है। वह अमृत के समान प्रिय और अलभ्य परम प्राप्तव्य स्वरूप ही है। जिस भक्ति को प्राप्त कर मानव सिद्ध हो जाता है, अमृत (अमरता) को प्राप्त कर लेता है, तृप्त हो जाता है अर्थात् पूर्ण काम हो जाता है। उसे कोई सांसारिक पदार्थ की इच्छा नहीं रह जाती है, वह चिन्ता मुक्त हो जाता है, वह किसी से द्वेष नहीं करता क्योंकि उसे परमात्मामय जगदृष्टि हो जाती है। वह सर्वत्र सभी वस्तुओं में भगवद्दर्शन प्राप्त करता हुआ उसमें रमन करता हुआ उत्तरोत्तर प्राप्त पदार्थों (वस्तुओं) में भगवद्दर्शनाभिलाषी होता हुआ उत्साही हो जाता है। इस प्रकार की भक्ति को प्राप्त करने वाला साधक भक्त ईश्वर दर्शन कर प्रेम मद में मत्त हो जाता और जैसे कोई मद्यपी अपनी स्थिति को भूल कर उससे भिन्न स्थिति को प्राप्त कर अन्यथा आचरण करता है वैसे ही भगद्प्रेममद में कभी-नाचता-कभी-गाता हुआ भगवन्नाम के प्रेम में मत्त हो जाता है कभी स्तब्ध होता है और कभी अन्तरात्मा में प्रभु को पाकर उसी में ध्यानमग्न हो आत्माराम की स्थिति में मग्न रहता है और आनन्द में डूब जाता है। वह भक्ति लोक व्यवहार के त्याग बुद्धि से प्राप्त

भगवद्गुणश्रवण कीर्तनम्।।३७।।

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुष पशुः।

नयत्कर्णपथोपेतः, ज्ञातुनाम गदाग्रजः।। (श्रीमद्भाग. २/३/१९)

भक्तिलब्धवतः साधोः, किमन्यदवशिष्यते।

मय्यन्तगुणे ब्रह्म, ण्यानन्दानुभवात्मनि।। (११/२६/३०)

३. मुख्यस्तु महत्कृपयैव भगत्कृपालेशाद्वा। (ना.भ.सू. ३८)

होती है। लोक में मैं—हम तूँ-तुम जो व्यवहार है वह शरीर सापेक्षक होता है इस शरीर सापेक्ष बुद्धि के निरोध होने पर ईश्वर के प्रति कामना (इच्छा) होती है जो प्रेम स्वरूपा भक्ति कहलाती है और उस भक्ति के द्वारा परमात्मा का दर्शन सम्भव हो पाता है। उस भक्ति को प्राप्त करने के लिए साधन है कि—१. विषय और उसके संग का त्याग हो। २. निरन्तर भगवान् का भजन हो और विषयों के प्रति जो स्नेह बना है उसका सर्वथा त्याग हो। भगवद्गुण कीर्तन ही भजन है। भगवान् के गुणों का निरन्तर कीर्तन (गान करना) रूप कर्म भजन कहलाता है। (ना.भ.सू. २,७,४,६,३५,३६,३७, महाभा. १९२/१७)

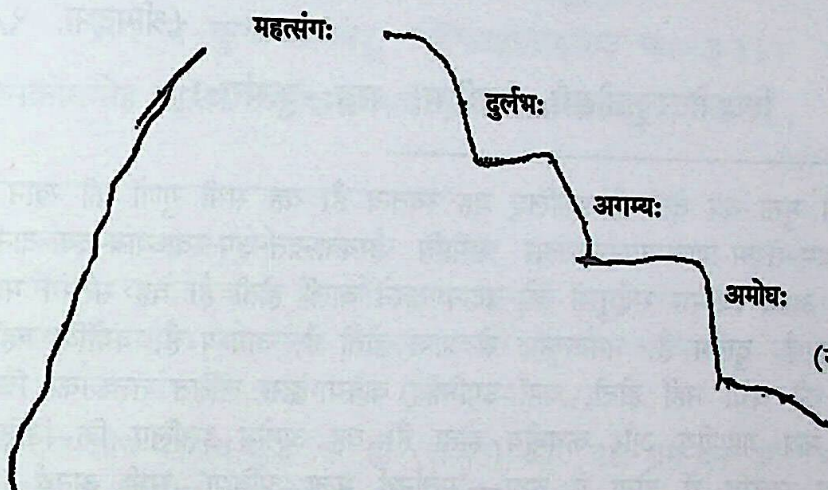
जिस पुरुष ने परमात्मा भगवान् नारायण की भक्ति को प्राप्त नही किया, उनका भजन-सेवा-स्तुति मन्त्र जप भक्तिलक्षण कर्म नहीं किया, के समान है और उसका जन्म कुत्ता-सूकर-उष्ट्र (ऊँट) गदर्भ (गदहा) के तुल्य केवल भार बहन करने मात्र के समान होता है। वह शरीरान्तर्गत हाथ पैर-आँख-कान-नाक आदि अंगों को ढ़ोकर मात्र इन पशुओं के समान जीवन व्यतीत कर रहा होता है। जिसने भगवान् की भक्ति को प्राप्त किया है, जिसने सन्तों के समागम को प्राप्त किया है, जिसने विषयों के संग का त्याग किया है और परमात्मा श्रीकृष्ण का अपने आत्मा में अनुभव का आनन्दानुभव कर लिया तथा उनके अनन्त स्वरूप और गुण में लीन हो सर्वत्र उनका व्यापक स्वरूप का दर्शन कर लिया उसी का जन्म सार्थक है वही सन्त है—वही साधु है, वही योगी है, वही मानव जन्म की सार्थकता को सिद्ध किया। उसे सब कुछ प्राप्त हुआ जानना चाहिये। उसे कुछ भी अप्राप्तव्य शेष नहीं रह गया। वह पूर्णकाम हो जाता है। (श्रीमद्भा. २/३/१९/११/२६/३०)

ऐसे भक्त भगवान् की महत्कृपा प्राप्त करने का जो सफल प्रयास किया-साधना की-भजन-कीर्तन-जप-स्वाध्याय-व्रत-दानादि की उससे भगवान् की अगर महत्कृपा प्राप्त हुई तो वही जीवन का मुख्य पुरुषार्थ है अथवा भगवान् की इससे कृपालुता को प्राप्त किया तो मुख्य उद्देश्य प्राप्त कर धन्य-धन्य हो परम पुरुषार्थ लब्ध हो गया ऐसा जानना चाहिये। (ना.भ. सू. ३८)

सत्संगः-सर्वसंगापहः। (श्रीमद्भा. ११/१२/२)

भगति सुतन्त्र सकलगुणखानी।

बिनु सतसंग न पावहिं प्राणी।। (संत तुलसीदास)



(ना.म.सूत्र-३९)

सत्सङ्ग-सन्तों और साधु पुरुषों के सङ्ग को कहते हैं। सङ्ग से उनके भाव-उनके कर्म-आचरण-धर्म-व्रत का एकीभाव प्राप्त होता है, क्योंकि वह अनेकत्व के संग भाव को निर्मूल करती है। (श्रीमद्भाग. ११/१२/२)

मज्जनफल पेखिअ तत्काला। काक होहिं पिक वकहिं मराला'।। (तुलसीकृत मानस)

संग का फल तत्काल दिखाई देता है कि पिक के समूहगत कौवा पिक के समान दिखाई देता है और हंस समूहगत बगुला हंस सदृश हो जाता है। संग मज्जन जैसा है। मज्जन उसमें डूब जाना समाहित हो जाना-एकता को प्राप्त करना-उनके गुणानुगुणी हो जाना रूप होता है। ऐसा सन्तों का संग दुर्लभ होता है। यदि ऐसा सत्संग प्राप्त हो जाय तो सभी प्रकार के संग (पापकारक संसर्ग) को दूर कर देता है। विषय ही विष है जो मृत्यु प्रदान करता है अर्थात् अज्ञानाधिक्य के कारण अपने स्वरूप की पहचान से दूर कर देता है और अमृत (अमर) स्वरूप आत्म-परमात्म ऐक्यरूप भक्तिलक्षण ज्ञान-विज्ञान से मानव को पृथक् कर देता है। इसलिये कहा है—'सुखभिच्छसि चेत्तात, विषयाणि विषवत्त्यज। क्षमार्जवं दयां शौचं, सत्यं पियूषवत्पिव।।' ऐसा ज्ञान-ऐसी भक्ति-ऐसा विवेक सन्तों के संग से प्राप्त होता हैं जो सभी प्रकार के अनर्थमूलक दोष से अपनी रक्षा करता है वही भगद्भक्ति में नितान्त रूप हेतु होता है। इसलिए सन्त शिरोमणि तुलसी का कथन है भक्ति स्वतन्त्र है। उससे रागवद्धता नष्ट हो जाती है। विषयों में राग ही बन्धन है। राग परतन्त्र बनाता है।

साधवो हृदयं मह्यं, साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति, नाहं तेभ्यो मनागपि।।
मन्माहत्म्यं मत्सपर्यां, मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ, नान्ये जानन्ति तत्त्वतः।।

(श्रीमद्भा. ९/४/६८)

शिश्नोदरकृतोद्यमै,-रसद्भिः सङ्गः-कुसंगः।

भक्ति राग से मुक्त कर देती है इसलिए वह स्वतन्त्र है। वह सभी गुणों की खान (खजाना) है। यम-नियम-संयम-प्राणायाम-प्रत्याहार समाधि अथवा-व्रत-जप-स्वाध्याय-दया-दान अहिंसा भजन-कीर्तन आदि विभिन्न सद्गुणों को प्रदान करने वाली होती है। वह सत्संग महान् लोकों के संगस्वरूप है, दुर्लभ है, भगवत्कृपा से प्राप्त होती है, अगम्य है, क्योंकि वहाँ साधारण ज्ञान-विज्ञान की चर्चा नहीं होती, वहाँ उपनिषद् वाक्य द्वारा लक्षित तत्त्व का चिन्तन होता है, परमार्थ मात्र ग्रहणीय और कथनीय होता है। वह अमोघ इसलिए कि निश्चित उपाय का प्रतिपादन सत्संग में होता है यथा—'सर्वानर्थ मूला अविद्या' सभी अनर्थ (दुःख) का कारण अविद्या (अज्ञान) है। 'तत्त्वमसि', 'रूपं-रूपं प्रतिरूपं वभूव', 'नेह नानास्ति किञ्चन' आदि। अपने ब्रह्मात्म दर्शन का अचूक औषधि सत्संग और सन्तवचन होते है। इसलिए इस अमोघ सत्संग का आश्रय परम करणीय है। (संत तुलसीदास)

श्री भगवान् नारायण स्वयं कहते हैं कि हे दुर्वासा जी! साधु मेरा हृदय ही है और साधु का हृदय मैं ही हूँ। जो अभक्त हैं वे भक्त और भगवान् के इस रहस्य के विज्ञान को नहीं जानते हैं। अभक्त (भक्तिभावनागुण से रहित) संसार में आसक्त-विषयलम्पट जीवात्मा को ज्ञानदृष्टि नहीं होती। वे स्थूल बुद्धि के लोग केवल विषयरूपी विषकृमि के समान भोग करने की मात्र दृष्टि रखते हैं। आपने अम्बरीष पर क्रोध करके मेरा (परमात्मा) का अपमान किया है। महाराज अम्बरीष-मन-वचन कर्म से मेरा भक्त है इसलिए वह साधु हैं-सन्त हैं और साधु-सन्तों का अपमान मेरा ही अपमान है, यही भावार्थ है। हे पार्थ! मेरे माहात्म्य-चरित्र-मुझसे सम्बन्धित श्रद्धा को तथा मेरे हृदयगत लीला को व्रज की राधा आदि गोपिकाएँ तात्विक रूप से जानती हैं। जो लोग विषयासक्त हैं वे मेरी लीला चरित्र को नहीं जानते, वे मोह ग्रसित इन्द्रियासक्तजन भ्रमवश अन्यथा अर्थग्रहण कर संसार सागर में डूबते-उतराते दुःखभाक् होते हैं। जो शिनन (जननेन्द्रिय) और उदर से सम्बन्ध बना रखें हैं और उसी के लिए उद्यमशील रहते हैं वे कुसंगी हैं। कुसंग को प्राप्त कर उसके वशीभूत होकर नाना प्रकार के पाप करते रहते हैं तथा संसार के असत्कर्मजाल में फँस कर मृग के समान-हाथी के समान एवं पतंग के समान क्रमशः नाद-स्पर्श और अग्नि की ज्वाला में फँस

सत्यशौचं दया मौनं, बुद्धिः श्रीर्ह्रीयशःक्षमा।।

(श्रीमद्भा. ३/३१/३२)

शमो दमो भगश्चेति, यत्साङ्गाधाति संक्षयम्।।३२।।

तेष्वशान्तेषु मूढ़ेषु, खण्डितात्मस्वसाधुषु।

संगं न कुर्याच्छोच्येषु, योषित्क्रीडामृगेषु च।।३३।।

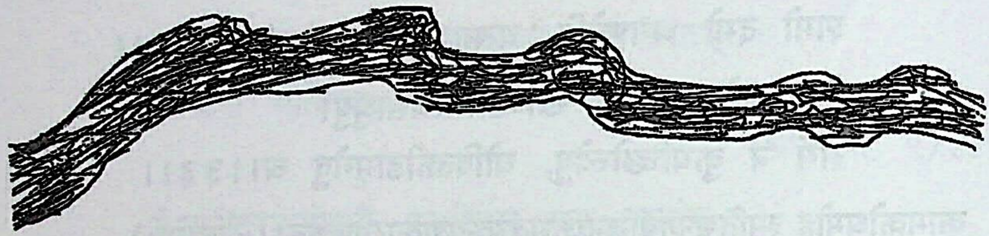
कामक्रोधमोह स्मृतिभ्रन्शबुद्धिनाशसर्वस्वनाशकारणत्वात्।। (कुसंगः)

(ना.भ.सू. ४४)

कर आत्म पतन को प्राप्त होते रहते है। इसलिए सन्त लोग अपने दुर्लभ मानव जीवन को सत्संग में ही व्यतीत करते हैं। जो मानव साधुओं सन्तों के संग प्राप्त कर भगवान् की लीला कथा के रहस्य को सुनते हैं मनन करते हैं और आत्मधारण करते हैं वे साधु ही हैं, और उनका संग ही सत्संग है। (श्रीमद्भाग. ९/४/६८)

सत्य-दया-शौच-मौनित्व-बुद्धि श्री ह्री (लज्जा) और यश-शम-दम और भग (ऐश्वर्य) ये सभी कुत्संग से विपरीत फल देते हैं और सत्संग से उत्तम (आत्मोद्धारक) फल को प्रदान करते हैं। दया अपने शरीरपुत्रादिमात्र के प्रति कुसंगफल और निखिल भूतादि के प्रति सत्संग फल को देने वाला होता है। कुसंग से अपने आत्मा मात्र को सत्य मानना कुसंग फल और जगन्मात्र को ईश्वर बुद्ध्या सत्य प्रतीति करना सत्संग का फल होता है। श्री (धनधान्यादिलक्षणा) स्वहित प्रयोग कुसंगफल और ईश्वरार्पण बुद्ध्या जीव मात्र के लिए ही सत्संग फल है। इसी तरह मौन-बुद्धि, ह्री-यश-शम-दम आदि के विषय में जानना चाहिये। कुसंग से अहंकार कारक ये सभी उपर्युक्त ऐश्वर्य नष्ट हो जाते हैं सत्संग से मानव निरंकारी होकर पवित्र हो जाते हैं और उनके सारे कर्म पवित्र हो जाते हैं जिससे निर्मल भक्ति की प्राप्ति होती है और वह भगवान् का भक्त हो जाता है तथा नित्य आनन्दानुभूति को प्राप्त हो जाता है। इसलिए दुर्जनों का संग कदापि नहीं करना चाहिये जिससे सत्य-शौच-दया-मौनित्व-बुद्धि-श्री-ह्री (लज्जा)-यश-शम (इन्द्रिय निग्रह)-दम (मनो निग्रह) भग (ऐश्वर्य) नाश हो। उन अशान्त चित्तवाले-अनेकात्माबुद्धिवाले असाधुजन (दुर्जन) का संग नहीं करना चाहिये, ये योषितकीड़ा में मृग के समान रमण करने वाले विषयासक्त-कामक्रीडा वद्ध लोग सर्वनाश की ओर अग्रसर अपने संग के दुष्प्रभाव से लोगों का पतन करने वाले हैं। (श्रीमद्भाग. ३/३१/३२/३३) नारद जी भक्ति सूत्र में कहते हैं कुसंग से काम-क्रोध की उत्पत्ति होती है और उससे स्मृति भ्रंश होते हैं, स्मृति भ्रंश से बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धिनाश से सर्वस्वनाश हो जाता है इस कारण से काम-क्रोध का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये तथा काम-क्रोध जिस संग से प्राप्त हो वही कुसंग है उसे भी त्याग देवें। (ना.भ.सू. ४४)

कस्तरति मायां यः सङ्गंस्त्यजति, महानुभावान् सेवते, निर्ममो भवति।।
(ना.भ.सू. ४६)



निमज्योन्मज्यतां घोरे, भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ताः, नौ दृढे वाप्सु मज्जताम्।।
(श्रीमद्भाग. ११/१२/३२)

कौन इस माया निर्मित दुस्पार भवसागर को पार करने में समर्थ हो सकता है? ऐसा कोई संसारी नहीं जो सन्तों के संग से रहित हो और इसे पार करने की चेष्टा करता हो वह यदि इस दुर्लङ्घ्य संसार सागर तितीर्षु हो तो कथमपि पार नहीं कर सकता। जिसने कुसंग का त्याग किया है और सन्तों-महात्माओं-भक्तों के साथ सत्संग किया है वही इस भवसागर को पार करने में समर्थ हो सकता है। जिसने महात्माओं, सन्तों महानुभावों का संग नहीं किया वह इस भवसागर में डूबता-उतराता हुआ महान् कर्मजन्य दुःख को भोगता हुआ अनन्त काल तक जनमता मरता हुआ जघन्य और घोर-नरक का भोग भोगता रहता है। जो इन महानुभावों के साथ सत्संग प्राप्त किया वही मानव हैं वह निर्ममभाव को प्राप्त होकर परमगति को प्राप्त करता है और गोस्पद के समान संसार सागर को पार कर जाता है। (ना.भ.सू. ४६) श्रीमद्भागवतपुराणान्तर्गत पुरुरवा मोह प्रसंग में इसी को उद्धृत किया जाता है कि जो संसारी जीव कुसंग को प्राप्त होकर घोर संसार सागर के दुर्गम उफान में धस गया है वह कभी नीचे कभी ऊपर होता हुआ महान् कष्ट को प्राप्त करता है। यह संसार एक भयंकर नदी के समान है। इसे पार कराने के लिए प्रारब्धवश अथवा परम कृपालु भगवान् मुकुन्द की कृपावश कोई शान्तचित्त ब्रह्मवेत्ता सन्त यदि प्राप्त हो जाता है तो नदी में डूबते हुए को नाव के समान रक्षा कर देता है और उसे उस नदी से पार कर देता है। ब्रह्मवेत्ता सन्त कृपालु होते हैं मिथ्या संसार में आसक्त जीव जब कभी प्रारब्धवश उनके संयोग (सत्संग) को पाता है तो वे अपने सदुपदेश रूप कृपालुता प्रदान कर उसे उस घोर संसार से उबार देता है। (श्रीमद्भाग. ११/१२/३२) गृहासक्त प्राणियों की गति अत्यन्त दयनीय होती है। वे इस भयङ्कर संसार सागर में स्त्री-पुत्र-कलत्रादि विभिन्न विषयों में रागवश बद्ध होकर महान् दुःख को भोगता है और उससे त्रस्त होता हुआ भी उससे निकल नहीं पाता। कभी प्रारब्ध संयोग को पाकर किसी सन्त के चरणों के पवित्र रजों

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽवेकं, निष्किञ्चमानां न वृणीत यावत्।।
(श्रीमद्भा. ७/५/३२)



यो विविक्तस्थानं सेवते लोकबन्धमुन्मूलयति निस्त्रैगुण्यो भवति योगक्षेमं त्यजति।
(ना.भ.सू. ४७)

यः कर्मफलं त्यजति कर्माणि संन्यस्यति ततो निर्द्वन्द्वो भवति।। (ना.भ.सू. ४८)

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।। (ना.भ.सू. ५१)

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।।
(ना.भ.सू. ५४)

का स्पर्श पाकर वह पवित्रान्तःकरण होकर इस दुःखद संसार को पार करने में समर्थ हो पाता है। यह सत्य है कि विभिन्न शास्त्रों उपनिषदों को पढ़कर-अध्ययन करके भी संसार का तरण नहीं हो पाता। यहाँ भक्त प्रह्लाद के प्रसंग को उद्धृत कर प्रह्लादमुखेनैव (प्रह्लाद के मुख के वचन से ही) कहा जा सकता है कि—जब तक जीवात्मा मानव निष्किञ्चन (विषयाभिमान रहित) महात्मा के परमपावन चरणरज का स्पर्श नहीं करता है अथवा उसकी मति वैसी नहीं होती है तब-तक तत्त्व विनिश्चय नहीं हो पाता है और तत्त्वविनिश्चय बुद्धि के विना मोक्ष की प्राप्ति कथमपि नहीं होती है। इसलिए परम कारुणिक विषयासक्ति से विरत ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न सर्वसन्यस्त ब्रह्मविद् सन्त के चरणों की शरणागति से तत्त्वविनिश्चय प्राप्त करना चाहिये अन्यथा ग्रन्थाध्ययन से कभी भी मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकेगी। (श्रीमद्भागवत ७/५/३२)

जो भक्त साधक विविक्त (शून्य-निर्जन-निश्छद्म एकान्त) स्थान का सेवन करता है वह लोकबन्ध को उन्मूलित (उच्छेदित-नाश) कर देता है। वह तीनों गुणों और उसके कार्य से परे हो जाता है और योगक्षेम (वस्तु प्राप्ति करना और रक्षण करना) को त्याग देता है। जो भक्त साधक कर्म के फल में राग न रख कर उसे त्याग देता है वे सर्वकर्म सन्यस्त हो जाता अर्थात् सम्पूर्ण कर्म में कर्तृत्वाभाव प्राप्त कर लेता है जिससे निर्द्वन्द्व (सर्वदुःखाभाव) हो जाता है। (ना.भ.सू. ४७,४८)

प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय (जिसका ऐसा है, वैसा है कह कर निर्वचन-उपदेश नहीं किया जा सकता) होता है। वह सभी गुणों (सत्-रज-तम) से रहित सभी प्रकार की कामनाओं

अति सूक्ष्म अतिकोमल अतिपतरो अतिदूर।
रसमय स्वाभाविक विना, स्वारथ अचल महान्।।
सदा एक रस बढ़त नित, शुद्धप्रेम रसखान।।

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति, शृणोति, भाषयति, चिन्तयति। (ना.भ.सू. ५५)

जित देखौं तितश्याम मयी है।
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।। (गी. ६/३०)

से रहित प्रतिक्षणवर्धनशील अविच्छिन्न (अखण्ड) सूक्ष्मतर (सूक्ष्म से भी सूक्ष्म) अनुभव विशेष रूप होता है। यह नारद ऋषि का कथन है, कुछ इसी प्रकार का कथन रसखान कवि का भी कथन है कि—प्रेम अत्यन्त सूक्ष्म होता है, अत्यन्त कोमल और अत्यन्त पतला होता है और बहुत दूर का विषय अर्थात् उसे प्राप्त करना सुलभ नहीं है—कठिन है। वह रसमय है, स्वाभाविक होता है, स्वार्थ रहित होता है और अचल तथा महान् भी होता है। वह प्रेम रस एकरस होता है अर्थात् उसमें विकार नहीं होता है, परन्तु निरन्तर बढ़ने वाला होता है और शुद्ध (निर्मल) होता है। (रसखान) नारद जी अपनी भक्ति सूत्र में कहते है कि प्रेमी भक्त अपने प्रेमरस के परिपाक से अपने प्राप्तव्य भगवान् को प्राप्त कर सर्वत्र उन्हीं का दर्शन करता है, सर्वत्र शब्दध्वनि से उन्हीं का श्रवण करता है और जो बोलता है वह उन्हीं से बोलता है, जो भी चिन्तन करता है वह उन्हीं का चिन्तन करता है अर्थात् उन भगवान् से अन्य का दर्शन कहीं भी नहीं करता, कहीं भी श्रवण नहीं करता, अन्य किसी से भी सम्भाषण नहीं करता, किसी का चिन्तन नहीं करता। उसके द्वारा मन-वचन-कर्म सब के सब भगवद्समर्पण कर दिया जाता। वह सर्वत्र दर्शन श्रवण-सम्भाषण-चिन्तन भगवान् से करता अनुभव करता है, क्योंकि सर्वत्र भगवान्-परमात्मा के सिवा कुछ भी वह नहीं जानता अतः सर्वत्र उन्हीं को अनुभव करता है। (ना.भ.सू. ५.५) श्रीकृष्ण भगवान् गीता अध्याय-छः के तीसवें श्लोक में इस भक्ति के सम्बन्ध में स्वयं अर्जुन को कहते है—हे अर्जुन जो मुझे सम्पूर्ण चराचर में देखता है और सम्पूर्ण चराचर को मुझमें देखता है उससे मैं अदृश्य नहीं हूँ और न ही वह मुझसे अदृश्य है। गोपियों को उद्धव कहते हैं श्याम (श्रीकृष्ण) यहाँ नहीं हैं वे मथुरा में हैं और उसे आत्मा में अनुभव कर ही देखा जा सकता है। इस पर गोपियाँ उन्हें दुत्कार कर कहती हैं—हे उद्धव आप ठीक नहीं कह रहे हो हम तो देख रही हैं कि-मेघ श्याम हैं, कोयल श्याम हैं आँख की पुतरियाँ श्याम हैं सबके सब तो श्याम ही दिखाई दे रहे हैं तो फिर यह झूठ क्यों कहते हो कि श्याम यहाँ नहीं हैं हम तो सर्वत्र श्याममय ही देख रही हूँ। यही भक्ति (प्रेम) की पराकाष्ठा है। इसलिए हम कह सकते हैं कि—

ज्ञानिहिभक्तिहिं नहि कछु भेदा। उभय हरहि भव संभव खेदा।। (रामचरित मानस)

यत्रान्यत्पश्यति-श्रृणोति-विज्ञानाति स भूमा'। (छा.उ. ७/७४/१)

लोक हानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात्। (ना.भ.सू. ६१)

स्त्री-धन-नास्तिक वैरि चरित्रं न श्रवणीयम्।।६३।।

तदर्पिताखिलाचारः सन् काम-क्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्।।६५।।

देहं-गेहं-भोगं-मोक्षं च विस्मृत्य प्रियतम भाववति समर्थिता भक्ता भवन्तिः।।

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते, चरणमीयुषां संस्मृतेर्भयात्।
करसरोरूहं कान्तकामदं, शिरशि देहि नः श्रीकरग्रहम्।।

(श्रीमद्भा. १०/३१/५)

ज्ञान और भक्ति दोनों धाराओं का प्राप्तव्य एक ही है साधन भले ही दोनों का अलग अलग क्यों न हो पर दोनों का फल परम पुरुषार्थ मोक्ष ही है। (ना.भ.सू., गीता)

जिस भूमा तत्त्व में दृश्य जगत् से भिन्न कोई अन्य द्रष्टा किसी अन्य द्रष्टव्य विषय को अन्य इन्द्रिय के द्वारा नहीं देखता और न ही सुनता ही है तथा न ही सुनाता ही है तथा जो और कुछ सुनता-देखता और जानता है वह स्वल्प है। जो अमृत है वही भूमा है, जो अल्प है वही मर्त्य है। (छा.उ. (७/७४/१)

लोक व्यवहार की हानि हो रहा हो तो भगवान् के भक्त (प्रेमी) को चिन्ता नहीं करनी चाहिये, क्योंकि भक्तों द्वारा सम्पूर्ण आत्मा तो निवेदित ही है। परमात्मा आत्मा रूप से सभी प्राणियों में प्रतिष्ठित हैं और भक्तों द्वारा नित्य वे निवेदित होते हैं और परमात्मा द्वारा उस निवेदन को जान लिया जाता है। (ना.भ.सू. ६१)

स्त्री-धन-नास्तिक और वैरी (शत्रु) के चरित्र का श्रवण भक्त को नहीं करना चाहिये, क्योंकि वे भक्त सभी आचार-व्यवहार को हरि को समर्पित कर ही प्रभु की कृपा प्राप्त कर सकता है। प्रभु के प्रेमी को काम-क्रोध-अभिमान-ईर्ष्या-द्वेष-लोभ-मोह आदि असाधु (दुर्गुण) को नहीं देखना चाहिये। केवल प्रभु समर्पण भाव से लोक यापन करना चाहिये। देह-गेह (गृह) भोग और मोक्ष को विस्मृत कर केवल प्रियतम परमात्मभाव में लीन रहना ही भक्तों के लक्षण (स्वरूप) होते हैं। (ना.भ.सू. ६३,६५)

हे वृष्णिकुलश्रेष्ठ श्रीकृष्ण! संसार के विपद्भय से आक्रान्तजन भक्ति भाव से आपके शरण में आने पर—शरणापन्न हो जाने पर अभय हो जाता है अर्थात् वह निर्भयता को प्राप्त कर जाता है। अतः हे कान्त! कामद वर को वह प्राप्त करता है उनकी सारी कामनाएँ पूर्ण हो जाती है। वह पूर्णकाम हो जाता है। इसलिए वह आपके जो श्रीविग्रहाङ्ग करोरूह (करकमल) हैं, वह हमारे शिर पर आप रख दो तो हम कृतार्थ हो जाऊँगी। (श्रीमद्भाग. १०/३१/५)

कामं क्रोधं भयं स्नेहं, ऐक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विद्धतः, यान्ति तन्मयतां हि ते।।

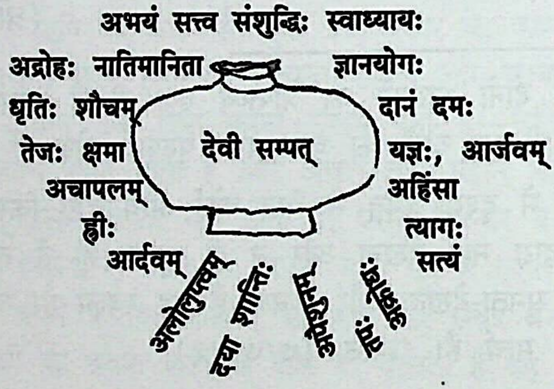
(श्रीमद्भा. १०/१९/१५)

तीर्थो कुर्वन्ति तीर्थानि, स्वान्तस्थेन गदाभृता।।

(श्रीमद्भा. १/१०/१०)

विष्णु शस्त्रेषु युष्मासु, मदि चासौ व्यवस्थितः।
दैतेयास्तेन सत्येन, माक्रमन्त्वायुधानि च।। (वि.पु. १/१७/३३)

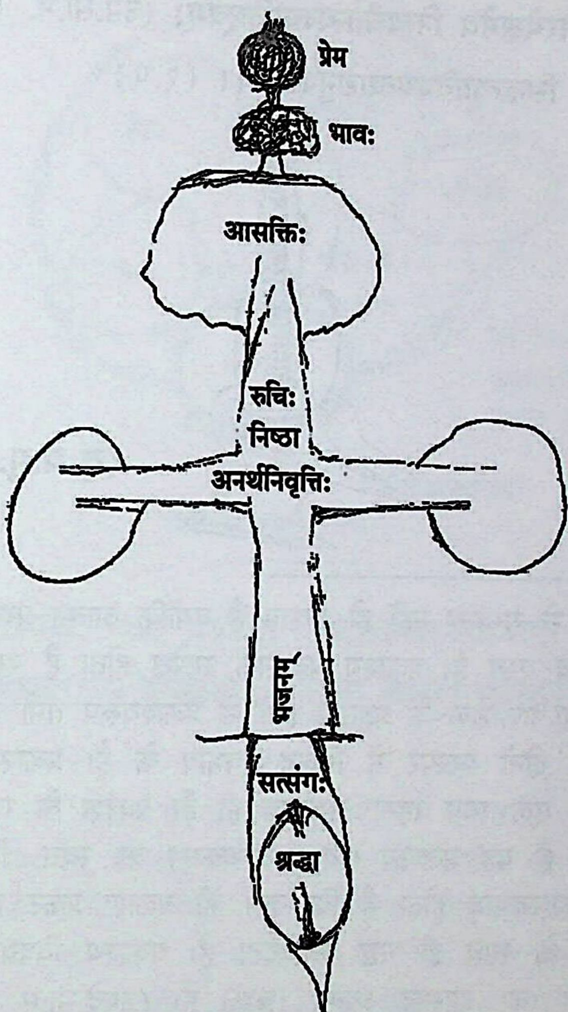
(प्रहलादः)



काम-क्रोध-भय-स्नेह-ऐक्य-सौहार्द इन सभी भावों द्वारा भगवान् से सम्बन्ध बनाने वाले जो भक्त होते हैं वे श्रीकृष्ण हरि के स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। कौमोदकी गदाधारी भगवान् अपने हृदय में धारण कर उसे तीर्थ के समान पवित्र कर देते हैं अथवा भगवान् हरि के स्वान्तस्थ्य को प्राप्त वह भक्त जिस स्थान को प्राप्त होते हैं उसे तीर्थ बना देते हैं। (श्रीमद्भाग. १०/१९/१५)

अपने पिता द्वारा मारने के लिए नियुक्त उन दैत्यों से प्रह्लाद ने कहा—हे दैत्यगण! जो भगवान् विष्णु आपके शस्त्रों में अधिष्ठित हैं वही मुझमें भी विराज रहे हैं क्योंकि वे हरि व्यापक हैं। वे सभी वस्तुओं में विराजते हैं इस लिये ये आपके शस्त्र मुझे मत मारे अर्थात् ये मुझे नहीं मारेगा। (श्रीमद्भाग. १/१०/१०)

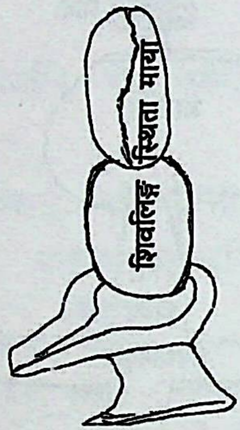
देवी सम्पत् ये हैं—सत्त्व की शुद्धि, अभयता (भय रहित), स्वायाध्य (आत्म चिन्तन), ज्ञानयोग, दान, दम (मनोनिग्रह), यज्ञ, आर्जव (शीलता), अहिंसा, त्याग, सत्य, अक्रोध (क्रोध का नहीं होना), तप, अपैशुन्यता (चुगली नहीं करना), शान्ति, दया, अलोलुपता (लालच नहीं होना), मार्दव (कोमलभाव), ह्री (लज्जा), अचपलता (चंचलता का अभाव), तेज, क्षमा, धृति (धैर्य), शौच (वाह्य-आभ्यन्तर शुद्धि), अद्रोह (शत्रुता का अभाव), नातिमानिता (अहंकार से रहित) ये छब्बीस दैवी सम्पत् हैं।



प्रेम रूपी फल की उत्पत्ति श्रद्धारूपी बीच से होता है। श्रद्धाबीज से सत्सङ्ग का अंकुर होता है और संत्सङ्ग रूप अंकुर भजनरूपी तना का रूप धारण कर लेता है उस भजन रूप तने से अनर्थ की निवृत्ति हो जाती है। उससे असत्त्वापादक तथा अभावानावादक अविद्या की दोनों शाखायें नष्ट हो जाते हैं। असत्वापादक 'ईश्वर नहीं है' ऐसा अज्ञान रूप है और अभानापादक उनकी सत्ता (स्थिति) मालूम नहीं पड़ती है ऐसा अज्ञान (अविद्या) रूप है। इन दोनों की निवृत्ति हो जाने पर निष्ठा और रूचि रूपी तना स्फुट होता है उस निष्ठा रूपी तने में आसक्तिरूपी कली की उत्पत्ति होती है और वह कली जब खिलती है तो भाव रूपी सुगन्धित पुष्प प्रकट होता है। उस भावरूपी पुष्प के परिपक्व होने पर प्रेम रूपी फल का उदय होता है। प्रतीक चित्र द्वारा इसी क्रम को दर्शाया गया है। चित्र देखकर भी कल्पना करनी चाहिये जिससे नये-नये अर्थभाव उदित हो सके।

आत्मनः अन्यनिरपेक्षमेव नित्यचैतन्यज्योतिष्ट्वम्। (उप.सा.म. १.१)

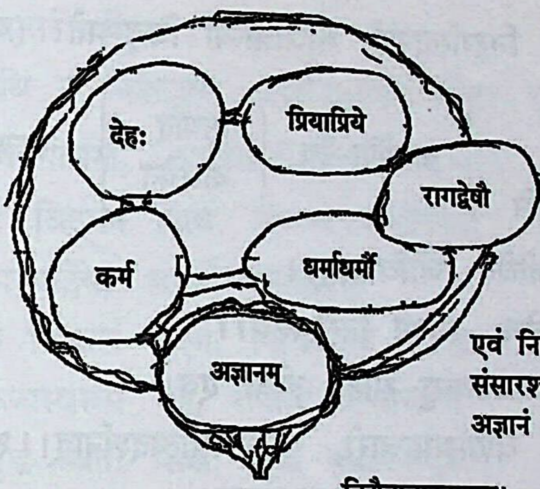
अन्यस्य स्वतः सिद्धत्वाविषयत्वाद्यनुपपत्तेः।। (१.५)



(वृ.ध.पु. ५४)

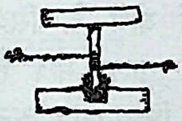
आत्मा का कर्म से सम्बन्ध नहीं हो सकता है क्योंकि आत्मा प्रकाशक है और आत्मा से अन्य (भिन्न) प्रकाश्य वस्तु है। प्रकाश्य प्रकाशक सापेक्ष होता है परन्तु प्रकाशक प्रकाश्य सापेक्ष नहीं होता। अथवा प्रकाशक के प्रज्ञात्मा होने से प्रकाश्यरूप तमो स्वरूपात्मा से सम्बन्ध सम्भव नहीं है क्योंकि दोनों परस्पर में विरुद्ध स्वभाव के हैं। प्रकाश और अन्धकार का एकाधिकरणक काल में एक साथ रहना असम्भव ही है। प्रकाश के रहने पर अन्धकार दूर तक दिखाई नहीं देता है यह प्रकाश्य (विषय-अन्धकार) का स्वतः सिद्ध स्वभाव है और प्रकाशक का स्वतः सिद्धस्वभाव होता है कि जहाँ भी प्रकाश प्रकट होता है तो अन्धकार को अपने प्रकटीकरण के साथ ही नष्ट कर देता है। प्रकाश्य विषय स्वरूप 'त्वं' पदार्थ है और प्रकाशक 'अहं' का आस्पद आत्मा (ब्रह्म) है। (उपदे.सा.म. १०२,१०५)

शिवलिङ्ग में माया की स्थिति होती है। 'शिव एव लिङ्गः शिवलिङ्गः' शिव स्वयं लिङ्ग स्वरूप है अथवा 'शिवश्चासौ लिङ्गः = शिवलिङ्ग' दृष्टवस्तु है और शिव निरवयव सकल उपाधिरहित निखिल सृष्ट्याधार-सर्वाधिष्ठान-ब्रह्म वस्तु है। माया शिव की शक्ति दृश्य जगत् है 'कारणकार्ययोरभेदत्वात्' कारण और कार्य का अभेद होता है। वस्त्र कार्य में सूत्र का कारणात्मना-कार्यात्मना सहकृतबोध देखा जाता है अथवा कारण ही कार्य है, कारण भिन्न कार्य सत्ता नहीं होता है। अतः मायात्मना जगदृश्य माया ही है। लिङ्गपुराण में कहा है—अलिङ्गो लिङ्गमूलं तु अव्यक्तं लिङ्गमुच्यते। अलिङ्गः शिव इत्युक्तो लिङ्गं शैवमिति स्मृतम्।।१।। प्रधानं प्रकृतिश्चेति यदाहुर्लिङ्गमुत्तमम्। गन्धवर्णरसैर्हीनं शब्दस्पर्शादिवर्जितम्।।२।। अगुणं ध्रुवमक्षय्यमलिङ्गं शिवलक्षणम्। गन्धवर्णरसैर्युक्तं शब्दस्पर्शादिलक्षणम्।।३।। जगद्योनिं महाभूतं स्थूलं सूक्ष्मं द्विजोत्तमाः।। विग्रहो जगतां लिङ्गमलिङ्गादभवत् स्वयम्।।४।। (लिङ्ग पु.पु.पू. अ. १) अतः अलिङ्ग शिव है और लिङ्ग माया (प्रकृति) है। (वि.ध.पु. ५४)



एवं नित्यप्रवृत्तोऽयं,
संसारश्चक्रवद्भृशम्।
अज्ञानं तस्यमूलं स्यात्।
(उप.सा. १/४)

विद्यैवाज्ञानहानाय।
निर्विकारात्मबुद्धि-र्विद्या।



अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तरकारणम्।
तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः, श्रुतीनां कारणं पृथक्।। (वाक्य प.ब्र. ४६)

संसार चक्र का मूल अज्ञान है। अज्ञान बीज से कर्म का उद्भव होता है और पुण्यापुण्य कर्म ही देहरूप फल का हेतु है। देह प्राप्ति से प्रिय और अप्रिय का चिन्तन (अनुभव) होता है। प्रियाप्रिय चिन्तन से ही प्रिय (अभीष्ट) में राग उत्पन्न होता है। अप्रिय में द्वेष भाव होता है। जिसमें राग होता है उस प्रिय वस्तु की प्राप्ति के लिये क्रिया होती है तथा अप्रिय वस्तु के लिये उससे दूर होने-रहने रूप क्रिया होती है। इस तरह अनन्त काल तक यह चक्र चलता रहता है। देह धारण करना, कर्म करना फिर मृत्यु होना यही संसार चक्र कहा जाता है। इस चक्र से निवृत्ति विद्या ही प्रदान कर सकती है। विद्या ज्ञान को कहते हैं और ज्ञान से ही मुक्ति सम्भव है 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' (श्रुति) विद्या निर्विकार आत्मबुद्धि को कहते हैं। आत्मा स्वरूप मैं हूँ। मैं शरीर नहीं हूँ। आत्मा मेरा स्वरूप है और सभी विकारों से रहित है इस प्रकार की आत्मबुद्धि ही विद्या कही गयी है। (उपदे.सा. १/४)

अरणि में जिस प्रकार अग्नि छिपी हुई अप्रकट रूप में रहती है और प्रयत्न द्वारा (मन्थन करके) उसका प्रत्यक्ष किया जाता है और उससे अन्य लकड़ियों का सम्बन्ध करके प्रकाशान्तर को प्रकट किया जाता है, उसी प्रकार बुद्धि में शब्द छिपे हैं और आभ्यन्तर तथा वाह्य प्रयत्नों द्वारा उस शब्द का प्रत्यक्षीकरण होता है। वही शब्द श्रवणादि के कारण (हेतु) होते है। श्रवण शब्दरूप ही है और एक व्यक्ति बोलता है तो दूसरा सुनता है। इस तरह समस्त व्यवहार का कारण शब्द ही है। परन्तु वेदरूप शब्द का कारण इससे भिन्न है। (वाक्य प.ब्र. ४६)

सर्गो निरर्गलानर्थ, बोधान्नान्यो विजृम्भते। (योग बा. ३/२०/५)

आशां युक्तानि हिंसायुक्तानि लोकसंगहयुक्तानि	कर्माणि-नैव	कुर्यात् कारयेत्	नारद प.व्रा.उ. ५/२१।।

नोपजीवेत जीविकाम्।।

एकोदेवः साक्षी निर्गुणश्च।।

सर्वाष्ववस्थासु साक्षी त्वेक एव।

यस्य वर्णाश्रमाचारो, गलितस्वात्मदर्शनात्।।१२।।

इस सर्ग (सृष्टि) की ब्रह्मरूप आकाश में जीवभाव की भ्रान्ति होने के कारण ही यह सब नानात्व प्रतीत होता है। इसलिए कौन सृष्टिभ्रम स्वरूप है और कौन भ्रम रहित है यह कहना कठिन है, लेकिन सुतरां यह सारी सृष्टि ही अनर्गल-अनर्थ बोध के सिवा दूसरा कुछ नहीं है। यह जगद्रूप सृष्टि तो जल के तरङ्गवत् दिखाई देने वाला मात्र है। तरङ्ग एक स्वरूप विशेष भले ही दृष्टि गोचर हो परन्तु वह जल सत्ता से भिन्न कुछ अन्य नहीं है। तरङ्गरूपता सर्वथा मिथ्या होती है। वैसे ही ब्रह्माकाश में जीवरूपता ब्रह्म का जृम्भण (स्फुरण) मात्र है। वह ब्रह्मातिरिक्त नहीं है। ब्रह्मातिरिक्त सम्पूर्ण प्रपञ्च मिथ्या है। अतः अनर्गल-अनर्थ ही है। (यो.वा. ३/२०/५)

आशा से (ऐसा हो) युक्त, हिंसा से युक्त तथा लोक संग्रह युक्त कर्म प्रेमी भक्त न तो स्वयं से करे और न ही अन्य द्वारा करवावे और न ही इससे युक्त जीविका ही ग्रहण करे, क्योंकि इससे भक्ति मार्ग में स्थित भक्तों की भक्ति खण्डित-दूषित होती है। (नारद प.ब्रा.उ. ५/२१).

जगत् के सभी वस्तुओं में एक ही साक्षी परमात्मा स्थित है। वह परमात्मा निर्गुण रूप से स्थित होने के कारण इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं होते वे इन्द्रियातीत है। परन्तु वह सभी अवस्थाओं में साक्षीरूप से वर्तमान होता है। इसलिए भक्तों के लिए उपर्युक्त कर्म को वर्जित करने का विधान नारद पञ्चरात्र में कहा गया है। इस लिए कहा गया है कि जिसने वर्णाश्रम आचार-विचार से अतीत स्थिति को प्राप्त कर लिया है अर्थात् 'मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, ब्रह्मचारी हूँ, गृहस्थ हूँ वानप्रस्थ-सन्यासी हूँ इत्यादि रूप से बन्ध के कारण सभी उपाधि जिसके मलिन (नष्ट) हो गये हैं और जो सभी अवस्थाओं में मात्र आत्मा को ही देखता है तथा आत्मस्थ ही सारे कर्मों को करता हुआ है उसके लिए न तो विधि (कर्तव्य) है और न ही निषेध (अकरणीय) ही कुछ रह जाता है। उसका तो कर्तापन और भोक्तापन गलित हो जाने के कारण सदा-सर्वदा-आनन्दैकरस नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप परमात्म स्थिति को प्राप्त हो जाता है और वह प्रत्येक कर्म को प्रकृति का कार्य देखता हुआ बरतता है। आत्मा न तो कभी कर्ता था और न ही

स स्वात्मनि स्थितः।।१६।।

न विधि र्न निषेधश्च, ब्रह्मविज्ञानिनामस्ति।।१५।।

परिपूर्णमनाद्यन्तं, अप्रमेयमक्रियम्।।४६५।।

सद्घनं चिद्घनं नित्यं, आनन्दघनमक्रियम्

अहेयमनुपादेय, मनाधेयमनाश्रयम्

निर्गुणं निष्कलं सूक्ष्मं, निर्विकल्पं निरञ्जनम्

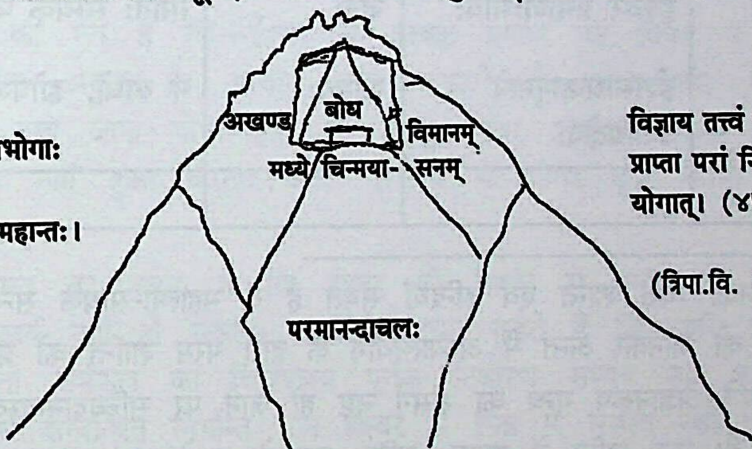
अनिरूप्यस्वरूपं यन्, मनोवाचामगोचरम्

सत्समृद्धं स्वतः सिद्धं, शुद्धं बुद्धमनीदृशम्

प्रत्यगेकरसं पूर्ण, मनन्तं सर्वतोमुखम्।।४७२।। (वि.चू.)

एकमेवाद्वयं ब्रह्म नानास्ति किञ्चन।।

निरस्त रागा
विनिवृत्तभोगाः
शान्ता सुदान्ताः
यतयो महान्तः।



विज्ञाय तत्त्वं परमे तदन्ते,
प्राप्ता परां निर्वृतिमात्म
योगात्। (४७३)

(त्रिपा.वि. महानारा.उ./६)

अभी है तथा न ही कभी होगा। इस सुनिश्चित ब्रह्म विज्ञान में निमग्न वह साधक विधि-निषेध से परे स्वतन्त्र-स्वतन्त्र ब्रह्म में स्थित होता है। (नारद प.ब्रा.उ. ५/१२)

जो सर्वत्र परिपूर्ण, अनादि, अनन्त, अप्रेय, अविकारी, घनीभूत सत्-चित् और आनन्द है, एक, नित्य, अक्रिय, अन्तरात्मा, एकरस, परिपूर्ण, अनन्त और सर्वव्यापक है, जो न त्याज्य, न ग्राह्य और न ही किसी में स्थित होने योग्य है और जिसका अन्य कोई आधार भी नहीं है, जो गुण तथा कला से रहित, सूक्ष्म, निर्विकल्प और निर्मल है एवं जिसका रूप वर्णन नहीं किया जा सकता तथा जो मन-वाणी का विषय नहीं है, जो सत्य, वैभवपूर्ण, स्वतःसिद्ध, शुद्ध, बोधस्वरूप और सकल उपमाओं से रहित है ऐसा अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है उसमें नानात्व पदार्थ कुछ भी नहीं है। (वि.चू. ४६५/६६/७२)

जिनका किसी भी जगद्वस्तु में राग नहीं है और भोगेच्छा का सर्वथा अन्त हो चला

कुसुमाञ्जलिः

स्तवकाः	तर्काः	वादिनः	प्रतिवादः
२१-१	अदृष्टं नास्ति	चार्वाक-	चिरं ध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना ०९।।
०४-२	ईश्वरं विना कर्मफलदः	पूर्वमीमांसा	प्रमाया परतन्त्रत्वात् १/३
२३-३	अमुपलम्भेनेश्वराभावः	बौद्धः	योग्यादृष्टिः कुतोऽयोग्ये ३/१
०६-४	ईश्वरे प्रमाणाभावः	जैनः	मितिः सम्यक् परिच्छित्तिः ०५।
१९-५	ईशसाधकानुमाने उपाधिदोषः	सांख्यः	न बाधो, ह्योपजीव्यत्वात् २।
७२			

है तथा जिनका चित्त शान्त एवं इन्द्रियाँ संयत है वे महात्मा-साधक सन्यासीजन ही इस परमात्मतत्व को जानकर अन्त में अध्यात्मयोग के द्वारा परम शान्ति को प्राप्त हुए है और होते हैं। अपने अज्ञानरूप बन्ध का संसर्ग नष्ट हो जाने पर सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा की प्राप्ति होती है। उक्त प्राप्ति में शास्त्र, युक्ति, गुरु के उपदेशरूप वाक्य और स्वान्तःकरण से सिद्ध होने वाला अपना अनुभव प्रमाण (हेतु) है। श्रुतिवाक्य के समान ही गुरु का उपदेश भी ब्रह्म का मात्र तटस्थरूप का ही बोध कराता है, अतः विद्वान् साधक को ईश्वरानुगृहीत बुद्धि से परमात्मा का साक्षात् कर संसार सागर का सन्तरण करना चाहिए। अपने स्वानुभव द्वारा अखण्ड आत्मा को स्वयं जानकर सिद्ध हुआ साधक पुरुष निर्विकल्पभाव को प्राप्त हो आनन्दैकरसानुस्वाद पूर्वक नित्य आत्मा में स्थित रहे, यही परमानन्द अचलानुभूति मोक्ष-मुक्ति-निर्माण-विदेहभाव आदि नामों से वेदान्त-उपनिषदादि सिद्धान्त सिद्ध स्वरूप परमात्मा-जीवात्मा का अभेद ब्रह्मात्म्येक भाव है। (त्रिपाद वि.महा ना.उ. ३०/६)

प्राचीनन्याय दर्शन के मिथिला देशीय महान् विद्वान् आचार्य उदयन न्याय उसुमाञ्जलि के निर्माता हैं। इसमें पाँच स्तवक हैं। प्रकृत प्रसंग में ईश्वर सिद्धि परपक्षखण्डन पूर्वक की गयी है—

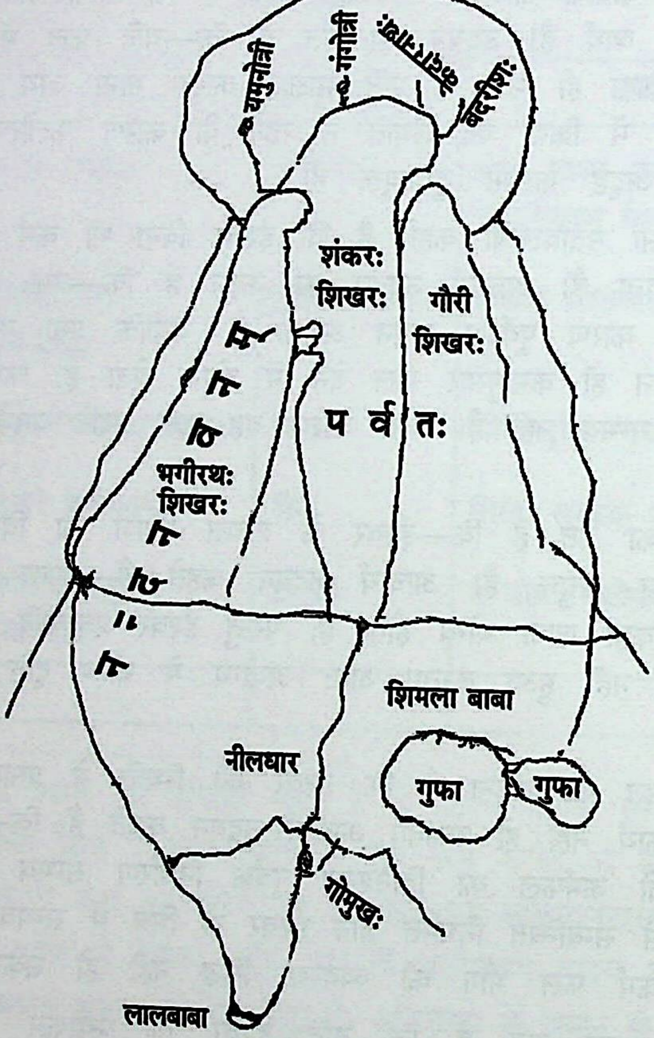
१. चार्वाक—चार्वाक नास्तिक पक्ष का कहना है कि क्रिया और फल के मध्य अदृष्ट की कल्पना व्यर्थ है। उदयन का मत है कि—यदि फल में अदृष्ट को न माना जाय और क्रिया ही फल के प्रति साक्षात् कारण माना जाय तो वैसी स्थिति में फलोत्पत्ति वेला में क्रिया की स्थिति न रहने के कारण फलोत्पत्ति सम्भव नहीं होगा अतः यहाँ अदृष्ट कल्पन युक्तियुक्त है।

२. पूर्वमीमांसा मतावलम्बी कहते हैं कि ईश्वर विना भी कर्म फल को उत्पन्न करने में समर्थ होता है। आचार्य उदयन का कहन है कि—प्रमा कर्त्ता के अधीन होने (परतन्त्र) के कारण पूर्वपक्ष कथन अयुक्त है, क्योंकि प्रमा का आधार चेतन होता है और चेतन ही कर्मानुसार फल देने में योग्य होता है। कर्म के जड़ होने से प्रमाश्रय होना सम्भव नहीं है। जिस कारण वह फल प्रदान करने में योग्य नहीं माना जा सकता।

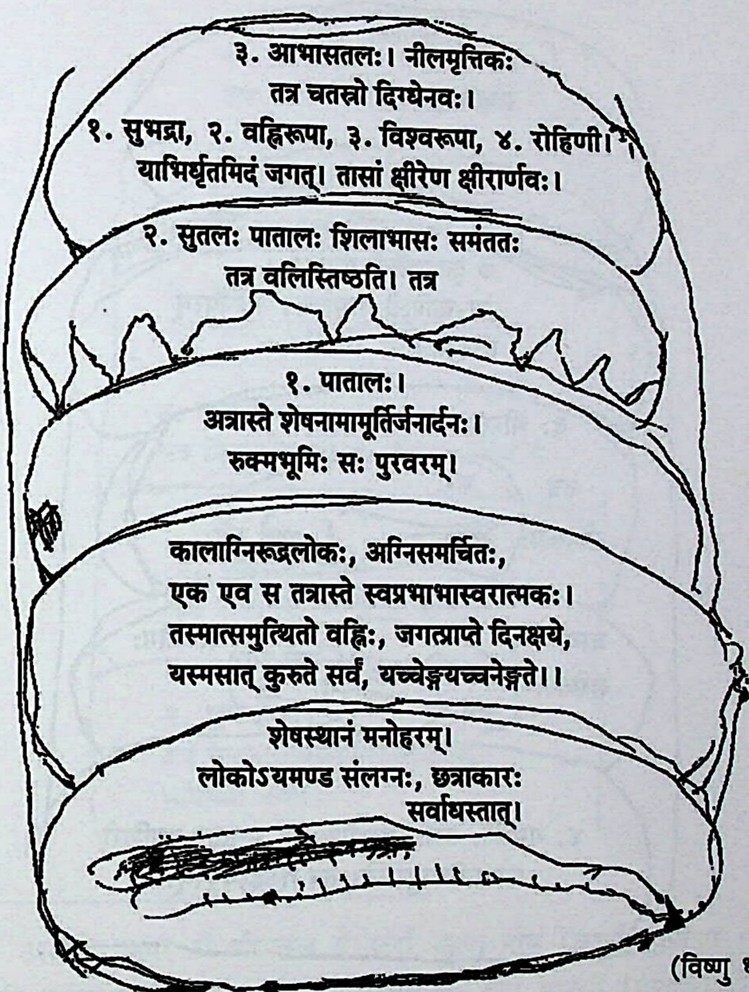
३. बौद्ध का मत है कि—ईश्वर के प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय न होने से ईश्वर की कल्पना अयुक्त है। आचार्य उदयन कहते हैं—प्रमाण वेद्य में प्रमाण विषयत्वाभाव का कहा जाना योग्य होता है; परन्तु ईश्वर प्रत्ययादि किसी भी स्थूल प्रमाण का विषय नहीं हुआ करता। अतः अयोग्य में योग्य दृष्टि करना युक्तियुक्त नहीं है।

४. जैन मत का कहना है कि ईश्वर की स्थिति में प्रमाणभाव के कारण उसकी सत्ता स्वीकार्य नहीं हो सकता। आचार्य उदयन कहते हैं कि—यदि ईश्वर को न माना जाय तो कर्मफल का विनिश्चय पूर्वक निर्धारण सम्भव नहीं हो सकेगा। क्योंकि कर्मफल से सम्बन्धित निर्भान्त ज्ञान ईश्वर से भिन्न में सम्भव नहीं हो सकता। इस स्थिति में कर्म फल भोग की व्यवस्था सिद्ध नहीं हो सकेगी।

५. साख्य का मत है कि यदि ईश्वर को स्वीकार करेंगे तो ईश्वर की उपाधि स्वीकार करनी होगी क्योंकि जगत् कर्तृत्वादि उपाधि के विना सम्भव नहीं है। आचार्य उदयन कहते हैं कि—कार्य कारण विज्ञान विशिष्ट ईश्वर ही जगत्कार्य के प्रति कर्त्ता है, क्योंकि ज्ञानेच्छाकृति विशिष्ट को कर्त्ता कहते है और प्रकृत प्रसंग में जगत् पक्ष है कार्यत्व साध्य है और कर्तृजन्यत्व हेतु है। कर्तृजन्यत्व में ज्ञानेच्छा कृति रूप उपाधि है अतः सोपाधिक हेतु होने के कारण ईश्वर जगत् के कार्य के प्रति कारण नहीं हो सकता किन्तु ईश्वर में नित्य सम्बद्ध ज्ञानेच्छा कृति कर्तृत्वरूप हेतु में कारणात्मक उपजीव्य रूप से सन्निविष्ट है। अतः प्रकृत में उपाधि दोष उपस्थित नहीं हो सकता है। कारण से व्यतिरिक्त रूप में उपाधि जहाँ पर हेतु का विशेषण बनता है वहीं पर उपाधि दोष माना जाता है, परन्तु प्रकृत में ऐसा नहीं है। (न्याय कुसुमाञ्जलि)

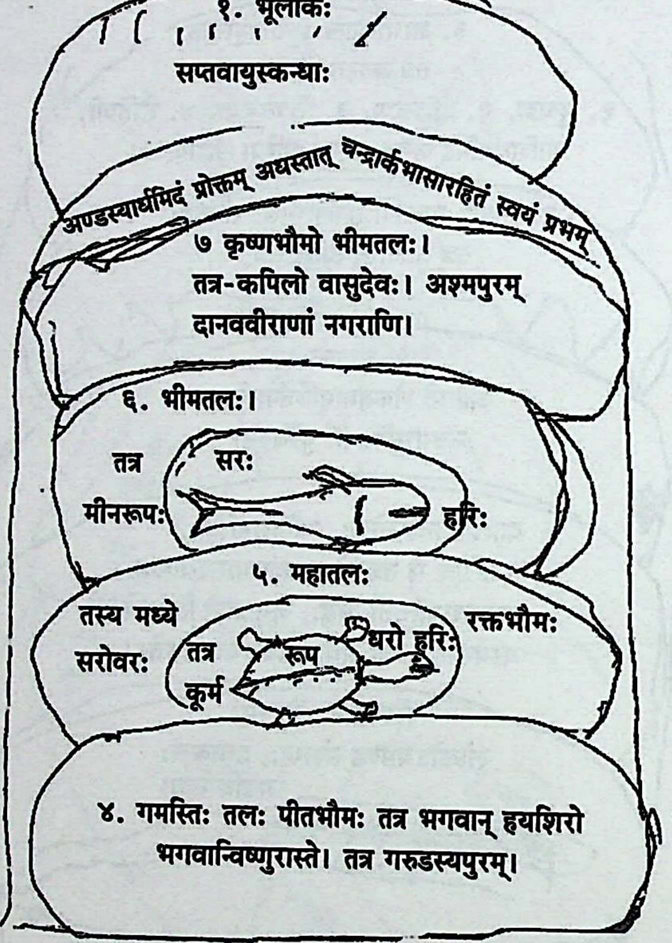


इस प्रतीक चित्र द्वारा हिमपर्वत पर स्थित तीर्थों एवं पवित्र नदियों को दर्शाया गया है। पर्वत शिखर पर शंकर जी का स्थान केदारेश्वर और विष्णु का स्थान बदरीश (बदरीनाथ) है। यह पर्वत शिखर हरिहरात्मक स्थानीय है। उक्त हरिहरात्मक तीर्थ के पश्चिम दिशा में यमुनोत्री और गंगोत्री पवित्र देवनदी है। वहीं अधोभागस्थल में गौरीशिला स्थान है। पर्वत के पश्चिम भाग में नन्दन वन है। उसी वन में भगीरथतीर्थ शिखर है जहाँ पर सूर्यवंशी सगर के दस हजार पुत्रों के उद्धार के लिये उन्हीं की सन्तति महात्मा भगीरथ ने गंगा को पृथ्वी पर लाने के लिए घोर तपस्या की थी। उसके अधोभाग में नीलधारा और उसके नीचे गोमुख तीर्थ है जहाँ से माँ गंगा गोमुख से निकलती है। गोमुख से पूर्व उत्तर तथा नीलधारा से पूर्व की ओर दो गुफाएँ हैं जो शिमला बाबा स्थान के नाम से प्रसिद्ध है। इन सबों से नीचे लाल बाबा का आश्रम है।



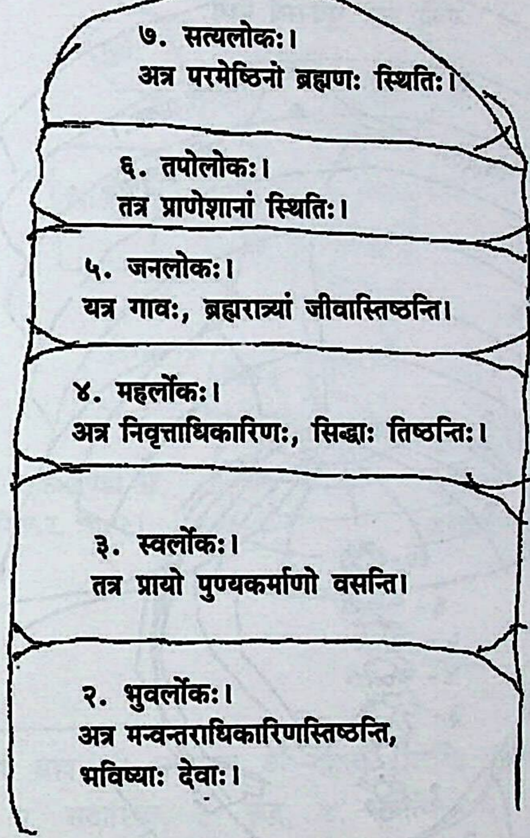
(विष्णु ध.उ.पु. १/४)

आभासतल नीले रंग की मृत्तिका वाला है। वहाँ चार दिग्धेनुएँ हैं जो सुभद्रा, वह्निरूपा, रोहिणी, विश्वरूपा नाम से वहाँ विराजती हैं। इन दिग्धेनुओं के क्षीर (दूध) से यहाँ क्षीर सागर समुद्र की स्थिति है। इन सबों के द्वारा ही यह जगत् धारित है। इसे आभासतल इसलिये कहा जाता है क्योंकि यहाँ दिव्य ज्योतियों के आभास (प्रकाश) से यह लोक नित्य प्रकाशित रहता है। आभासतल के नीचे सुतल नामक पाताल है। जहाँ पर शिलाओं (दिव्य ज्योतिर्मय पाषाणों) से चारों ओर जगमग होते रहता है। यहा दैत्यराज बलि विराजते हैं। उसके नीचे पाताल लोक है जहाँ पर भगवान् जनार्दन शेष स्वरूप से विराजते हैं। इस लोक की भूमि स्वर्णआभामय है इसलिए यह नगर अन्य नगरों से श्रेष्ठ है। उसके नीचे कालाग्नि रूद्र लोक है। इस रूद्रलोक में प्रलयकालीन अग्नि प्रज्वलित है। वहाँ भास्वर नामक अपने प्रभा (प्रकाश) से एक मात्र रूद्र विराजते, इसलिए वहाँ पर सृष्टि के क्षयकाल में वह कालाग्नि समुन्नत प्रज्ज्वलित होकर सम्पूर्ण लोकों को भस्म कर देती है। वह अग्नि



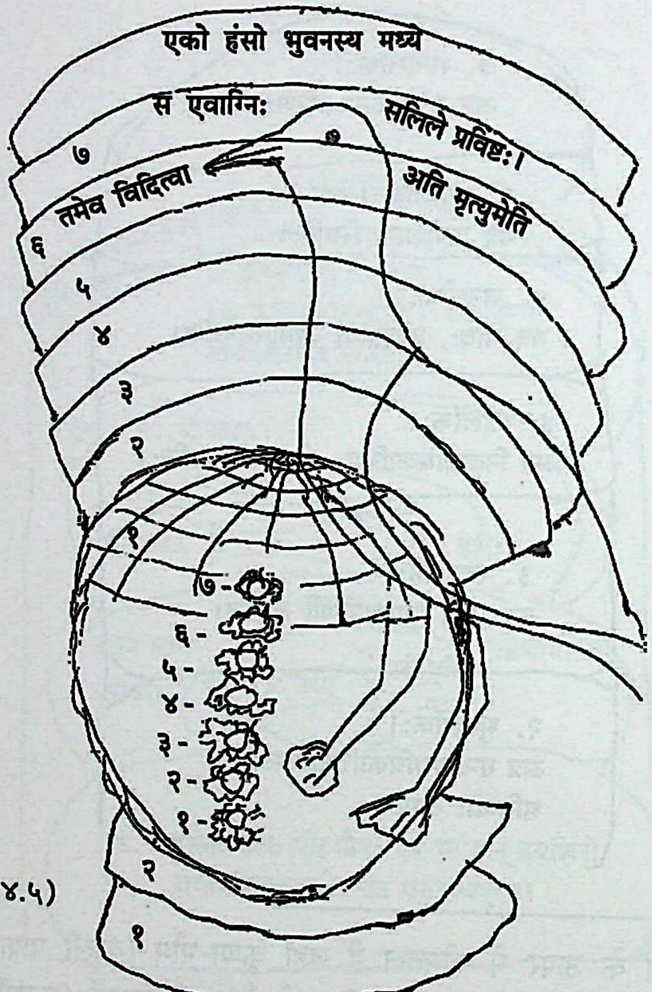
कभी धधकती है और कभी शान्त भाव में रहती है। जब प्रलय काल आता है तब वह धधककर जलने लगती है। संहार कर्ता भगवान् रूद्र यहाँ कालाग्नि रूप से रहते हैं। उसके नीचे शेष स्थान है जों परम मनोहर है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (प्रत्येक लोक) संलग्न होकर, जिससे लोकों की स्थिति छत्राकार (फैले हुए छाते के समान) लगते हैं। यह सभी लोकों के नीचे है अत: सभी लोकों का आधार स्वरूप है। इससे भिन्न लोकों की स्थिति और उनकी विशेषता आगे कहा जा रहा है। (वि.ध.पु. १/४)

गभस्तितल वाला पाताल लोक में पीत भौम अर्थात् पीली मिश्रित मृतिका वाली भूमि है। वहाँ भगवान् विष्णु हयग्रीव विराजते हैं और वहीं पर भगवान विष्णु के वाहन गरुड़ की नगरी है जहाँ वे रहते हैं। उसके ऊपर महातल है जो रक्त भौम (लाल रंग की मृत्तिका वाली) है उसके मध्य में एक सरोवर है जिसमें भगवान् हरि कूर्म स्वरूप से विराजते हैं। उसके ऊपर भीमतल है वहाँ भी एक रम्य सरोवर है, उस सरोवर में भगवान् हरि मीन (मत्स्य) स्वरूप



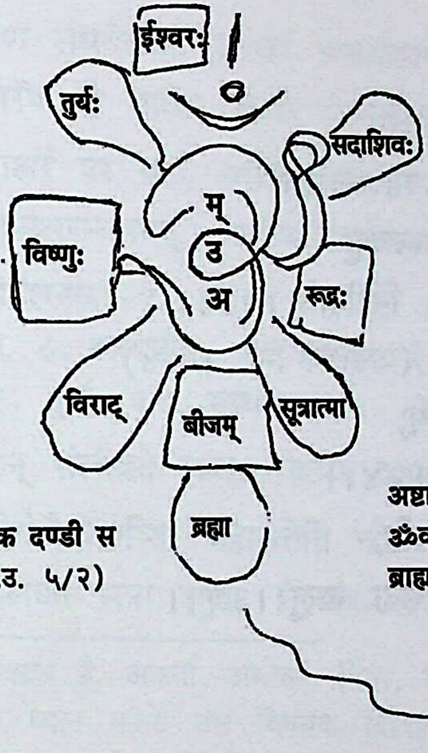
से विराजते हैं। उस के ऊपर में भीमतल है जहाँ कृष्ण-भौम (काली पाषाण वाली भूमि) है, वहाँ भगवान् हरि कपिलमुनि के स्वरूप में विराजते हैं। वहाँ प्रस्तरों (पत्थरों) से बने हुए नगर हैं। उक्त नगर में दानववीरों के नगर भी हैं जो पाषाणमय है। उसके ऊपर में जिसे ब्रह्माण्ड का मध्यभाग माना गया है, मध्यतल है। वह मध्यतल सूर्य और चन्द्र से रहित परन्तु अपनी प्रभा से प्रकाशित है। इसके नीचे सात लोक हैं और ऊपर में पृथिवी आदि सात लोक है। मध्यतल से ऊपर भूलोक है जो वायु के सात स्कन्ध वाला है। (विष्णु ध.पु. १/४)

भूलोक के ऊपर भुवर्लोक है। यहाँ पर मन्वन्तरों के अधिकारीगण रहते हैं तथा उन-उन मन्वन्तर में होने वाले देवगण वास करते हैं। उसके ऊपर स्वर्गलोक है जहाँ पर प्रायः पुण्यकर्म करने वाले पुण्यात्मा लोग निवास करते हैं। उसके ऊपर महर्लोक है जहाँ पर अपने अधिकार और कर्त्तव्य कर्म से निवृत्त हो चुके सिद्धगण निवास करते हैं। उसके ऊपर जनलोक है जहाँ पर कामधेनु गौओं एवं ब्रह्मा की रात्रि में निवास करने वाले जीवगणों के निवास हैं। उसके ऊपर के लोक तपोलोक है जहाँ पर योगीजनों का निवास स्थान है। उस तपोलोक के ऊपर सत्यलोक है जहाँ परमेष्ठी ब्रह्मा जी विराजते हैं। (विष्णु ध.पु. १/४)



(विष्णुधमोत्तर पु. १/४.५)

प्रतीक चित्राङ्कन चौदहों भुवनों के दिये गये हैं। इन चौदहों भुवनों के अधार शेषशायी भगवान् परब्रह्म परमात्मा हैं। वे हंस स्वरूप से सभी भुवनों में व्याप्त हैं। हंस परमात्मा हैं। परमात्मा सृष्टि के सभी वस्तुओं में आत्मारूप से व्याप्त हैं। परमात्मा ही आत्मा है। वही अग्नि हैं और वे जल में प्रविष्ट हैं। जल में प्रविष्ट अग्नि को वडवानल कहते हैं। परमात्मा सम्पूर्ण सृष्टि में अग्निरूप से विराजमान हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा— हे अर्जुन! 'अहं वैश्वानरो भूत्वा पचाम्यन्नं चतुर्विधम्' मैं वैश्वानर नामक अग्नि के स्वरूप होकर प्रत्येक प्राणियों के द्वारा खाये गये अन्न को उनके उदर में पचाता हूँ। स्पष्ट है कि सम्पूर्ण जगत् उस अग्नि स्वरूप परमात्मा से जीवन धारण करते है। जो उस अग्नि स्वरूप परमात्मा (ब्रह्म) को जानता है वह मृत्यु के बन्ध से मुक्त होकर अमरत्व को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् परमपुरुषार्थ मोक्षपद को प्राप्त करता है। (विष्णुध.पु. १/४/५)

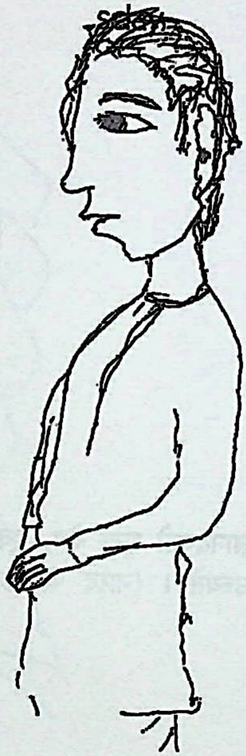


ज्ञानदण्डो धृतो येन, एक दण्डी स उच्यते।। (नारद परिव्रा.उ. ५/२)

अष्टाङ्गं चतुष्पादम् पञ्चदैवतम्
ॐकारं यो न जानाति,
ब्राह्मणो न भवेद्धि सः।।
(महावा.र. ३/८ टी.)

यहाँ ॐकार ब्रह्म की उपासना के महत्त्व दर्शाया गया है। ॐकार ब्रह्म के आठ अङ्ग—१. ईश्वर, २.. सदाशिव, ३. रूद्र, ४. सूत्रात्मा, ५. ब्रह्मा, ६. विराट्, ७. विष्णु और ८. तुर्य कहे गये हैं। ॐकार की उपासना इन आठों अङ्गों के रूप में उपासनीय है। अत: साधक भक्त ॐकार की उपासना उक्तस्वरूप में हो करे। उस ॐकार ब्रह्म के चार पाद हैं—१. ईश्वर, २. रूद्र, ३. ब्रह्मा और ४. विष्णु। इसके पाँच देवता हैं—१. 'अः', २. 'उः', ३. 'मः', ४. ॅ (चन्द्र) और ५. '०' (विन्दु)। प्रथम 'अः' अक्षर के विष्णु देवता और विराट् स्वरूप हैं। द्वितीय 'उः' अक्षर के रूद्र देवता और सदाशिव स्वरूप है। तृतीय 'मः' अक्षर के ईश्वर देवता तथा तुर्यावस्था स्वरूप है। यह ॐकार इसी तीन स्थान वाला प्रणव ब्रह्म है। यह प्रणव 'ॐ'कार ब्रह्म ही जगद्बीज है। इसी 'ॐ'कार प्रणव बीज से जगत् उत्पन्न होता है, इसी में स्थिति को प्राप्त करता है और अन्त में इसी में लय को प्राप्त करता है। इस 'ॐ'कार ब्रह्म को जो जानता है वही ब्राह्मण कहलाता है। जो 'ॐ' ब्रह्म को नहीं जानता है वह ब्राह्मण नहीं है। साधक-भक्त-योगी-यति अष्ट अङ्गों वाला, त्रिस्थानी तथा पञ्चदैवत 'ॐ'कार ब्रह्म की उपासना उनके इसी स्वरूप को जानता हुआ करें। (नारदपरिव्रा.उ. ५/२)

इस प्रकार 'ॐ'कार ब्रह्म के ज्ञानवान् पुरुष (यति) मात्र ही एकदण्डी कहा गया है। ज्ञान को यहाँ दण्ड का रूपक दिया गया है। दण्ड से ताडन कर्म सम्पादन होता है।



भासमानमिदं सर्वं, सर्वगं
भानरूपं परं पदम्। सच्चिदानन्दं
पश्यन्वेदान्तमानेन, ज्ञानचक्षु
सद्य एव विमुच्यते।। निरीक्षते।।१८।।

(वाराहोप नि. २/१४)

स्वस्वरूपं तु चिन्मात्रम्;
सर्वदा सर्वे देहिनाम्।।२४।।
प्रपञ्चानुभवः सदा न हि,
स्वस्वरूपबोधानुभवः सदा खलु।।३१।।

अनर्थकारी तत्त्व के ताडनार्थ दण्ड का प्रयोग लोक प्रसिद्ध ही है। अविद्या ही सभी अनर्थों का मूल कहा गया है—'सर्वानर्थमूलाविद्या' (भामतौ वाचस्पतिः)। अतः अविद्या (अज्ञान) निवृत्ति के लिये ज्ञान दण्डस्वरूप है ऐसा समझना चाहिये। (महावा.र. ३/८टी.)

साधक वेदान्त वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट नानात्व निषेधक वाक्यों को तथा सृष्टि के प्रत्येक वस्तुओं में ब्रह्म की व्यापक स्मारक वाक्यों को ध्यानगत रखकर उपासना करें जिससे कि 'नेह नानास्ति किञ्चन' द्वारा नानात्व निषेध बुद्धि पूर्वक 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' द्वारा निखिल वस्तुओं में ब्रह्म की ही आधिष्ठानिक स्थिति की बुद्धि दृढ़ हो; का निरन्तर चिन्तन-मनन करे। इस तरह निरन्तर अभ्यास के द्वारा सभी भासमान (प्रतीयमान) वस्तुओं में उस व्यापक ब्रह्म की नित्य दृष्टि (ज्ञान) प्राप्त होता है वह ब्रह्म सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है इस तरह आभ्यन्तर और वाह्य वस्तुओं में अनुभूति प्राप्त करे। प्रत्यत्न तथा युक्ति एवं गुरु तथा वेदान्त वाक्य की सहायता से सभी वस्तुओं में ब्रह्म दृष्टि को प्राप्त होने पर वह साधक मुक्त हो जाता है। (वाराहोपनि. २/१४)

उस ब्रह्म का स्वरूप वस्तुतस्तु चिन्मात्र ही है और वह सभी देहधारी प्राणियों में व्याप्त है। इस संसार प्रपञ्च का बोध निरन्तर नहीं होता परन्तु अपने स्वरूप का बोध निरन्तररूप से अनुभव होता है। 'अहं अस्मि' प्रतीति नित्य होती है, क्योंकि 'अहं नास्मि' प्रतीति किसी को भी किसी काल में नहीं होती। वही 'अहं' प्रतीति का आस्पद आत्मा

स्वरेण संधयेद्योगं, अस्वरं भावयेत्परम्।
अस्वरेण हि भावेन, भावो नाभाव इष्यते।।७।। (ब्रह्म विन्दूपनि.)
शब्दाक्षरं परं ब्रह्म, यस्मिन्क्षीणे यदक्षरम्।
तद्विद्वानक्षरन्ध्यायेत्, यदीच्छेच्छान्तिमात्मनः।।१६।।

ब्रह्मप्रणवः षोडशमात्रः-१. अः, २. उः, ३. मः, ४. ।।, ५. ०, ६. नादः, ७. कला, ८. कलातीतः, ९. शान्तिः, १०. शान्त्यतीतः, ११. उन्मनी, १२. मनोन्मनी, १३. तुर्या, १४. मध्यमा, १५. पश्यन्ति, १६. परा।

यस्मिन् संलीयते शब्दः, तत्परं ब्रह्मगीयते। (महावा.र. ६/४६)
महाचिदेकैवेहास्ति, महासत्तेति चोच्यते।
निष्कलंका समा शुद्धा, निरहंकाररूपिणी।।९।।

ब्रह्म है, सच्चिदानन्द स्वरूप है, अकर्ता, अभोक्ता, नित्य, सूक्ष्म और निरञ्जन है ऐसा आत्मा के विशेष स्वरूप का ध्यान करके उस विषयक विनिश्चयात्मिका बुद्धि को दृढ़ करके ब्रह्मानुभव प्राप्त साधक मुक्त हो जाते हैं। (ब्रह्मविन्दूपनि.)

प्रणव 'ॐ' स्वर के द्वारा आत्मा और परमात्मा का एकाकारता कर पुनः प्रणवातीत परम तत्त्व की भावना करके स्वयं तद्भाव को प्राप्त होकर तद्रूप हो जाय। सभी भावों को त्याग कर परमात्मभाव के चिन्तन से भावस्वरूप ब्रह्म की ही उपलब्धि होती है अभाव की नहीं यह साधक ध्यान रखे क्योंकि उस ब्रह्मभाव के विना समाधि शून्य रूप होने के कारण उसकी प्राप्ति भी शून्यस्वरूप ही होती है। वही परमात्मा कलाओं से रहित अर्थात् अवयव हीन, विकल्पशून्य एवं निरञ्जन मायारूप मलरहित ब्रह्म है। इस प्रकार 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार जानता हुआ साधक निश्चय ही ब्रह्म हो जाता है और परमशान्ति को प्राप्त करता है। इसलिए मूल श्रुति वाक्य में कहा गया कि 'विद्वान् यदि आत्म शान्ति चाहता है तो उस अक्षर ब्रह्म को जाने।' (ब्रह्मविन्दूपनि.)

ब्रह्म प्रणव 'ॐ'कार षोडश मात्रा वाला है—१. 'अः', २. उः, ३. मः, ४. ।। (अर्धमात्रा), ५. '०' (विन्दु) है। ६. नाद, ७. कला, ८. कलातीत, ९. शान्ति, १०. शान्ति से अतीत, ११. उन्मनी, १२. मनोन्मनी है, १३. तुर्या, १४. मध्यमा, १५. पश्यन्ति और १६. परा है।

जिसमें शब्द का लय हो जाय उससे परे ब्रह्म है ऐसा श्रुति-स्मृति का कथन है। वह महाचित् नामक ब्रह्म इस प्रपञ्च जगत् में महासत्तात्मक है। वह सभी पापों से रहिता-अद्वितीया-शुद्धा-निरहंकार स्वरूपिणी-एका-प्रकाशस्वरूपा-विमला-नित्या उदयवती और शुभा

सकृद्विभाता विमला, नित्योदयवती शुभा।।११।।

सा ब्रह्म परमात्मेति, नामभिः परिगीयते।।१२।।

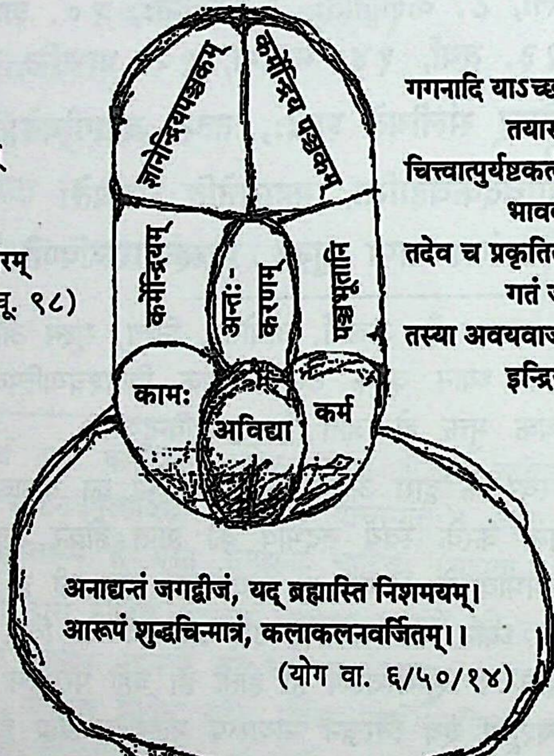
अनाद्यानन्द कूटस्थः ज्ञानानन्तसदात्मने।

अभूतद्वैतजालाय, साक्षिणे ब्रह्मणे नमः।। (पञ्चापादि. १)

शरीराणि एकेनात्मना आत्मवन्ति जीवशरीरत्वात् प्रतिवादिशरीरवत्। (टी.)

पुर्यष्टकम्

सूक्ष्मशरीरम्
(विवेक चू. ९८)



गगनादि याऽच्छाचित्,
तयारूपं स्वमात्मना।
चित्त्वात्पुर्यष्टकत्वेन,
भाववृत्यैव भावितम्।।१०।।
तदेव च प्रकृतितां,
गतं जगदवस्थिते।
तस्या अवयवाज्जातं,
इन्द्रियादि घटादि च।।११।।

नाम से जो कही जाती है वही ब्रह्म और परमात्मा नाम से वेदान्त के श्रुति वाक्यों द्वारा गायी गई है।

उस अनादि-आनन्दस्वरूप-कूटस्थ-ज्ञानस्वरूप-अनन्तर-सदात्मा द्वैतरूप से भासित-सबके साक्षी ब्रह्म को नमस्कार है। (पञ्चापादि. १)

इन शरीरों के जीवात्मा होने के कारण एक आत्मा से ही सभी सत्तावान् हैं जैसे प्रतिवादियों (बौद्धादिकों) के शरीर में भी उसी स्वरूप से वे सत्तावान् हैं। (टीका)

वागादि पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, श्रवणादि पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, प्राणादि पञ्चप्राण, आकाशादि पंचमहाभूत, बुद्ध्यादि अन्तःकरण चतुष्टय, अविद्या, काम और कर्म यह पुर्यष्टक अथवा सूक्ष्म

अहुतं च हुतं चैव, प्रहुतं प्राशितं तथा।
ब्राह्मं हुतं पंचमं च, पंच यज्ञा इमे शुभाः।। (स्क.पु. ४०/६१)
१. जपः। २. होमः। ३. भूतवलिः। ४. श्राद्धम्। ५. द्विजार्चनम्।

शरीर कहलाता है और इसी को लिङ्ग शरीर भी कहते है। यह सूक्ष्म शरीर अथवा लिङ्ग शरीर अपञ्चीकृत महाभूतों से उत्पन्न हुआ है। यह सूक्ष्म शरीर वासना से युक्त होकर कर्मफलों को अनुभव करने वाला होता है तथा इसे अपने स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण यह आत्मा की अनादि उपाधि है। इस सूक्ष्म-शरीर की अभिव्यक्ति स्वप्नावस्था है, जहाँ यह स्वयं बचा हुआ भासता है। स्वप्न में, जहाँ यह स्वयं प्रकाश परात्मा शुद्ध चेतन ही (भिन्न-भिन्न पदार्थों के रूप में) भासता है। बुद्धि जाग्रत्कालीन नाना प्रकार की वासनाओं से युक्त होकर कर्ता आदि भावों को प्राप्त होती हुई स्वयं ही प्रतीत होने लगती है। बुद्धि ही जिसकी उपाधि है, ऐसा वह सर्वसाक्षी परात्मा उस बुद्धि के कर्तृत्वादि धर्म से नित्य अलिप्त रहता है, क्योंकि सर्वसाक्षी यह चेतन असंग है इसीलिये यह उपाधिकृत बुद्ध्यादि द्वारा किये गये कर्मों से तनिक भी लिप्त नहीं होता है। यह लिङ्ग शरीर (सूक्ष्म शरीर) चिदात्मा पुरुष के सम्पूर्ण व्यापारों का कारण है, जिस प्रकार बढ़ई का बसूला काष्ठ च्छेदनादि वापारवान् दृष्ट होने पर भी वह उसके कर्तृत्वादि से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार यह आत्मा असङ्ग होने के कारण लिङ्ग शरीर द्वारा किये गये उन-उन कर्मों से लिप्त नहीं होता है। यह ब्रह्म निरामय-अरूप-शुद्ध-चिन्मात्र-सकल व्यापारादि कलाओं से रहित होते हुए भी सम्पूर्ण जगत् का बीज स्वरूप है। इस संसार में विशुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म के सिवा इन्द्रिय चित्त और घट आदि तथा अन्य किसी भी पदार्थ का पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है, वह विज्ञानघन परमात्मा ही प्रकृति वन गया है और उसी के अंश से इन्द्रियादि तथा घटादि (शरीरादि) उत्पन्न हुए हैं। यह अज्ञानी जीवात्मा ही अज्ञानवश अपनी भावना के अनुसार संसार का रूप धारण कर लेता है। वह अहंभाव से 'अहंकार' संकल्पभाव से 'मन' निश्चयभाव से 'बुद्धि', इन्द्रियों के भाव से 'इन्द्रिय', देह भाव से देह, और घट के भाव से 'घट' बन जाता है। इस प्रकार अपनी भावना के अनुसार ही यह जीवात्मा पुर्यष्टक बन जाता है। (विवेक चू. ९८) तथा (यो.वा. ६/५०/१४)

गृहस्थों के लिये नित्य कर्मान्तर्गत पञ्च यज्ञ अवश्य करणीय है और वे पंचयज्ञ हैं— १. अहुतयज्ञ—जिसके अन्तर्गत देव मन्त्रों का जप, पूजन-अर्चन, उन-उन देवताओं और पर्वों के निमित्तक धार्मिक क्रियाएँ। २. हुतयज्ञ—इसमें नित्य हवन एवं नैमित्तिक हवन आते हैं। उन-उन देवताओं-ग्रहों के निमित्तक तथा पर्वादि परक हवन कर्म उन्हें उद्देश्य कर किये जाते है और अङ्गभूत दानादि भी दिये जाते हैं। ३. भूतवलियज्ञ—इसमें प्रत्येक भूतों के प्रति सेवा के दायित्व को मानव के लिए कहा जाता है जिसमें प्रतीकभूत कतिपय

ध्यानं शौचं तथा भिक्षा, नित्यमेकान्तशीलता। यतेश्चत्वारि कर्माणि।
(स्क.पु.का. ४१/२)

अभियोगात्सदाभ्यासात्, तत्रैव च विनिश्चयात्।
पुनः पुनरनिवेशात्, योगः सिद्ध्यति न चान्यथा।।४५।।
आत्मक्रीडस्य सततं, सदात्ममिथुनस्य च।।
आत्मन्येव सुतृप्तस्य, योगसिद्धिर्न दूरतः।।४६।।
अत्रात्मव्यतिरेकेण, द्वितीयं यो न पश्यति।।
आत्मारामः सः योगीन्द्रो, ब्रह्मीभूतो भवेदिह।।४७।।
संयोगस्त्वात्ममनसो, योग इत्युच्यते बुधैः।।४८।।

पिपीलिकादिको को भोजन देने का प्रावधान है। इसके व्यापक अभिप्राय को सम्मुख रखकर विचार किया जाय तो यह तथ्य सामने आयेगा कि जीवमात्र के प्रति कर्त्तव्य है कि उसकी रक्षा हेतु मानव प्रयत्नशील हो। ४. श्राद्धयज्ञ—इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के करणीय श्राद्ध आते हैं जो मुख्यरूप से पितरों के प्रति श्रुति स्मृति वाक्योच्चारण पूर्वक श्रद्धा से अर्पित किये जाते हैं। ५. द्विजार्चन यज्ञ—इसमें ब्राह्मणादि श्रुतिधरों की पूजा अर्चना-भोजन और दानादि श्रद्धा-भक्ति पूर्वक अर्पित किये जाते हैं। ये उपर्युक्त पंचयज्ञ गृहस्थों के लिए परम कर्त्तव्य तथा शुभकारी हैं। (स्क.पु. ४१/२०)

संन्यासियों के मुख्य चार कर्म हैं—१. परमात्मा का निरन्तर ध्यान करना। २. वाह्य और आभ्यन्तर की निरन्तर शुचिता बनाये रखना। ३. यतियों के लिये शास्त्र द्वारा प्रतिपादित विधिपूर्वक निर्धारित यताहारयुक्त भिक्षा मात्र का ग्रहण करना और ४. निरन्तर एकान्तवास का स्वभाव बनाये रखना। इसके अतिरिक्त भी यह कि नित्य रूप से योगाभ्यास कर ब्रह्मतत्त्व का विनिश्चय करने के लिए शास्त्र गुरु और युक्तियों के सहारे समाधिपूर्वक ब्रह्म प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहना आदि। जो साधक यति ब्रह्म साक्षात्कार हेतु विहित साधन की सहायता से अनन्यभाव से उपर्युक्त रूप से प्रयत्नशील है उसके लिए योग की सिद्धि निश्चय प्राप्त होती है। इस प्रकार से ब्रह्म साक्षात्कार को प्राप्त कर लेनेवाले साधकों भक्तों-सिद्धों-कर्मठों के द्वारा सतत् आत्मानन्द में क्रीड़ा करने वाले आत्मा-परमात्मा के ऐक्यभाव को प्राप्त साधक सदा आत्मा में ही सन्तुष्ट रहने वाले के लिए योग की सिद्धि कोई दूर की बात नहीं रह जाती है। वह साधक आत्मा-अनात्मा के विवेक पूर्वक सर्वत्र ब्रह्म दृष्टि को प्राप्त ब्रह्म के सिवा अन्य को नहीं जानता है—अन्य को नहीं देखता है, वह तो सदा आत्मा में रमण करने वाला योगीन्द्र

वृत्तिहीनं मनः कृत्वा, क्षेत्रज्ञं परमात्मनि।।

एकीकृत्य विमुच्येत, योगयुक्तः स उच्यते।।५१।।

आसनेन वपुर्दार्ढ्यं, प्राणायामैर्दहेत् दोषान्।।९१।।

प्रत्याहारेण पातकम्। मनो धैर्यं धारणया।।९२।।

ध्यानेन ईश्वर दर्शनम्। समाधिनालभेन्मोक्षम्।।९३।।

त्यक्त्वा कर्मशुभाशुभम्।। (स्कन्द पु.का. ४१)

समाधेः परतो ज्योतिः अनन्तं स्वप्रकाशकम्।।९६।।

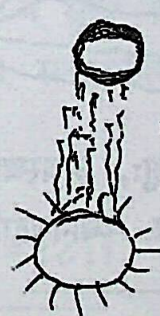
नाभिदेशे वसेद्भानुः, तालु देशे च चन्द्रमा।

वर्षत्यधोमुखोचन्द्रः।।१०३।।

ग्रसेदूर्ध्वमुखो रविः।

ऊर्ध्वं नाभिरधस्तालुः,

ऊर्ध्वं भानुरधः शशी।

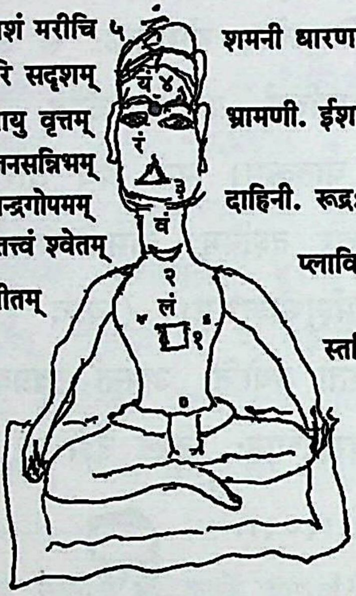


करणं विपरीताख्यं,

अभ्यासादेव जायते।।१०४।।

ब्रह्मभूत ही होता है। आत्मा और मन के संयोग को योग कहते हैं। वह योग मन की वृत्ति को रोककर क्षेत्रज्ञसंज्ञक परमात्मा में लीन कर एकीभाव प्राप्त करने पर साधक योगयुक्त कहा जाता है और मुक्त कहा जाता है। (स्क.पु. ४१/२/४५ से ५१)

अब योग साधना का क्रमिक कर्तव्य कहा जा रहा है—किसी भी उपयुक्त सुलभ-सुखद आसन की साधना करके प्राणायाम के द्वारा नाड़ियों में स्थित दोषों को जलाकर तथा प्रत्याहार के द्वारा पापों को नष्ट कर धारणा द्वारा मन को स्थिर और पवित्र कर ले। मन की स्वच्छता को प्राप्त साधक ध्यान के द्वारा ईश्वर का चिन्तन करते हुए भावनया उनका दर्शन करे तथा उस भावनामय सविकल्पक दर्शन को त्यागता हुआ परमेश्वर में लय कर निर्विकल्पक स्वरूप समाधि को प्राप्त कर आत्मा-परमात्मा का लय करके एकीभाव प्राप्त कर तस्थ होता हुआ ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करे और मोक्ष का लाभ प्राप्त कर ले। स्थिति को प्राप्त करने के लिये पूर्व में शुभाशुभ कर्म का त्याग करे। शुभाशुभ कर्म और उसके फल का त्याग प्रत्याहारादि द्वारा सम्पन्न किया जाता है। इस तरह समाधि से परे परमज्योतिःस्वरूप परमात्मा एक-अनन्त सर्वप्रकाशक-परमेश ब्रह्म में लय को प्राप्त होवे। उक्त के लिए क्रम यह है कि—नाभि देशगत सूर्य और तालु देशगत चन्द्रमा होते हैं, और प्राणायामादि साधना तथा समाधि साधना की



अन्तःचेतो वहिश्चक्षुः, अवस्थाप्य सुखासनम्।
समत्वं च शरीरस्य, ध्यानमुद्रातिसिद्धिदा।।१२१।।

परिपक्वता के हो जाने पर तालु देशगत चन्द्रमा को अधोमुख करके अमृत वर्षण रूप प्रावल्य वर्षण किया जाय तथा ऊर्ध्व मुख नाभिदेशस्थ सूर्य का ग्रसन करके विपरीताख्य करण द्वारा आभ्यन्तर प्रयत्न के अभ्यास से नाभिगतसूर्य को अधःदेश (नाभिदेश) तथा तालुदेशगत चन्द्रमा को उर्ध्वदेश (तालुदेश) में स्थापित करे। यह साधना कर्म निरन्तर अभ्यास से प्राप्त होता है। (स्क.पु.का. ४१/९१ से १०४)

प्रतीक चित्राङ्कन द्वारा योगाभ्यास पूर्वक समाधि विषयक विषय वस्तु को दर्शाया गया है। साधक हृदयदेश में 'लं' बीज का जप और पृथिवी तत्त्व पीतवर्ण ब्रह्मा का स्तम्भनीधारणा द्वारा ध्यान करे। कण्ठ देश में जल तत्त्व 'वं' बीज प्लाविनी धारणा द्वारा श्वेतवर्ण विष्णु का ध्यान करे। मुखदेश में 'रं' बीज श्रेष्ठ अग्नि वर्ण रूद्र की धारणा दाहिनी द्वारा करे। दोनों भ्रुवों के मध्य 'यं' बीज द्वारा वायु सदृश ईश का ध्यान भ्रामणी धारणा से करे और ब्रह्मरन्ध्र (आकाश) में वारिसदृश सदाशिव का ध्यान 'हं' बीज का जप करते हुए शमनी धारणा द्वारा करे। यह ध्यान वहिर्गत इन्द्रिय को अन्तः चेतना में स्थापन करके और सुखासनारूढ़ हो शरीर को समभाव में स्थिर करके करना चाहिये। इस तरह करने पर ध्यान वृत्ति का उदय होता है और इसी को ध्यान मुद्रा कहा जाता है जो सभी प्रकार की सिद्धियों को प्रदान करने वाली होती है। (स्क.पु.का. ४१/८१/१२१)

धारणा पञ्चनाडीका, ध्यानं स्यात्षष्ठिनाडिकम्।
दिनद्वादशकेन स्यात्, समाधिरिह भण्यते।।
जलसैन्धवयोः साम्यं, यथा भवति योगतः।। (२४.१२७)
तथात्ममनसोरैक्यं, समाधिरिहभण्यते।।
यदा संक्षीयते प्राणो, मानसं च प्रलीयते।
तदा समरसत्वं यत्, स समाधिरिहोच्यते।।
यत्समत्वं द्वयोरत्र, जीवात्मपरमात्मनोः।
स नष्टसर्वसंकल्पः, समाधिरभिधीयते।।
नात्मानं न परं वेत्ति, न सुखं न सुखेतरम्। (स्क.पु.का. ४१)
न शीतं नोष्ममेव च। समाधिनिष्ठो योगीन्द्रः।।



त्रिकण्टकमितीरितम्।
एतत्त्रयं न प्रभवेद्,
आनन्दवनवासिनाम्।।१८८।।

पाँच नाडीकाल (लगभग २४ मिनट की नाड़ी होती है) तक लक्ष्याकार वृत्ति की निरन्तर स्थिति को धारणा समझनी चाहिये। इसी तरह साठ नाड़ी का ध्यान तथा बारह दिन तक इस तरह का अविच्छिन्न स्थिति को साधक द्वारा प्राप्त किये जाने पर समाधि की स्थिति होती है। जल में सैन्धव (सेंधा नमक) जिस तरह घुल कर अपने स्वरूप को जलाकार रूप से प्राप्त होता है उसी प्रकार आत्म-परमात्मैक्य भाव आपन्नता को समाधि कहते हैं। मन और आत्मा का ऐक्य हो जाना समाधि है। जब प्राण वायु का आत्मा में लय हो जाय तथा मानसिक चित्तवृत्ति भी आत्मलय प्राप्त कर ले तो समाधि की स्थिति होती है। आत्म परमात्म का समरसत्व स्थिति ही समाधि है। सभी संकल्प का नष्ट (अभाव) हो जाना समाधि है। जब आत्मा को परमात्मा रूप से प्रत्यक्ष बोधानुभव हो जाय और न सुखानुभूति की स्थिति रहे और न दुःखानुभूति की स्थिति रह जाय तो समाधि की स्थिति होती है। जब शीत और उष्ण का बोधाभाव की स्थिति हो जाय तो श्रेष्ठ योगी समाधि में होता है जानना चाहिये। ये उपर्युक्त सभी लक्षण समाधि को समझने के लिये कहा गया है। (स्क.पु.का. ४१/१८८)

शास्त्रीय विज्ञानुसार काशी नगर भगवान शिव के त्रिशूल पर स्थित है। त्रिशूल में तीन संख्या का शूल हैं और जीव के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीन प्रकार के ताप (दुःख) हैं। इन तीनों के उन्मूलनक्षम त्रिशूल है। प्रकृत प्रसंग में कलि-काल

काश्यां स्वदेह संयोगः, सम्यग्योग उदाहृतः।।१७१।।

विश्वेश्वरो विशालाक्षि, द्युनदीकालभैरवः।

श्रीमान् ढुण्डिदण्डपाणिः, षडङ्गो योग एष वै।।१७२।।

गंगा स्नानं महामुद्रा,

काशी वीथिषु संचारो, मुद्राभवति खेचरी।

उड्डीय सर्वतो देशात्, यानं वाराणसीं प्रति।।

उड्डीयानो महाबन्धः, एष मुक्त्यै प्रकल्पते।

जलस्यधारणं मूर्ध्नि, विश्वेशस्नानजन्मनः।।

एष जालन्धरो बन्धः।

कृतो विघ्नशतेनापि, यन्न काशीं त्यजेत्सुधीः।

मूलबन्धो स्मृतो ह्येष, दुःखमूलनिकृन्तनः।। (स्कन्द पु.का. ४१)

और कृतकर्म इन तीन अपायों के छेदन (नाश) हेतु त्रिशूल समर्थ है ऐसा कहा। यही तीन शूल त्रिकण्टक है। कण्टक काँटे को कहते है। काशी का नाम आनन्दवन है और इस आनन्द वन में निवास करने वाले जीवों को इन तीनों त्रिकण्टक अर्थात् कलि-काल और कृतकर्म के दुःख प्रभावित नहीं करते।

इसका सूक्ष्म अर्थ यह समझना चाहिये कि जो साधक-भक्त-योगी-ज्ञानी-सन्त-महात्मा गृहस्थ उपर्युक्त धारणा-ध्यान-समाधि द्वारा जलसैन्धव की भाँति मन और आत्मा का समरसत्व प्राप्त कर सकल संकल्पधर्मों को नष्ट कर आत्ममात्र में लीन हो नित्य आनन्द में रमण करता हुआ आत्माराम स्वभाव को प्राप्त कर लिया है उसे कलि-काल और कृतकर्म का भय (दुःख) नहीं होता। वह इन दुःखों से अतीत ब्राह्मीभाव प्राप्त मानव ब्रह्म ही हो जाता है। वह पाषाणवत् स्वभाव का साधक सभी द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है।

काशी में देह का संयोग होना ही उत्तम योग है। विश्वेश्वर (विश्वनाथ), विशालाक्षी, गंगा, कालभैरव और श्रीमान् दुण्डिराज तथा दण्डपाणि (गणपति) ये योग के छः अंश कह गये हैं। गंगा का स्नान ही महामुद्रा है, काशी की गलियों में परिभ्रमण ही खेचरी नामक महामुद्रा है, सभी ओर से वाराणसी के प्रति प्रस्थान ही उड्डीयान बन्ध है जो मुक्ति प्राप्ति का हेतु है। श्री विश्वेश्वर भगवान् शिव के ऊपर गंगाजलधारा से अभिषेक और अभिषिञ्चित जल का अपने ऊपर उत्क्षेपन ही जालन्धर बन्ध है। सैकड़ों प्रकार के विघ्न उपस्थित होने पर भी जो काशी की भूमि का परित्याग नहीं करते वही मूलबन्ध है और सभी प्रकार के दुःखोच्छेद का हेतु है। (स्क.पु.का. ४१)

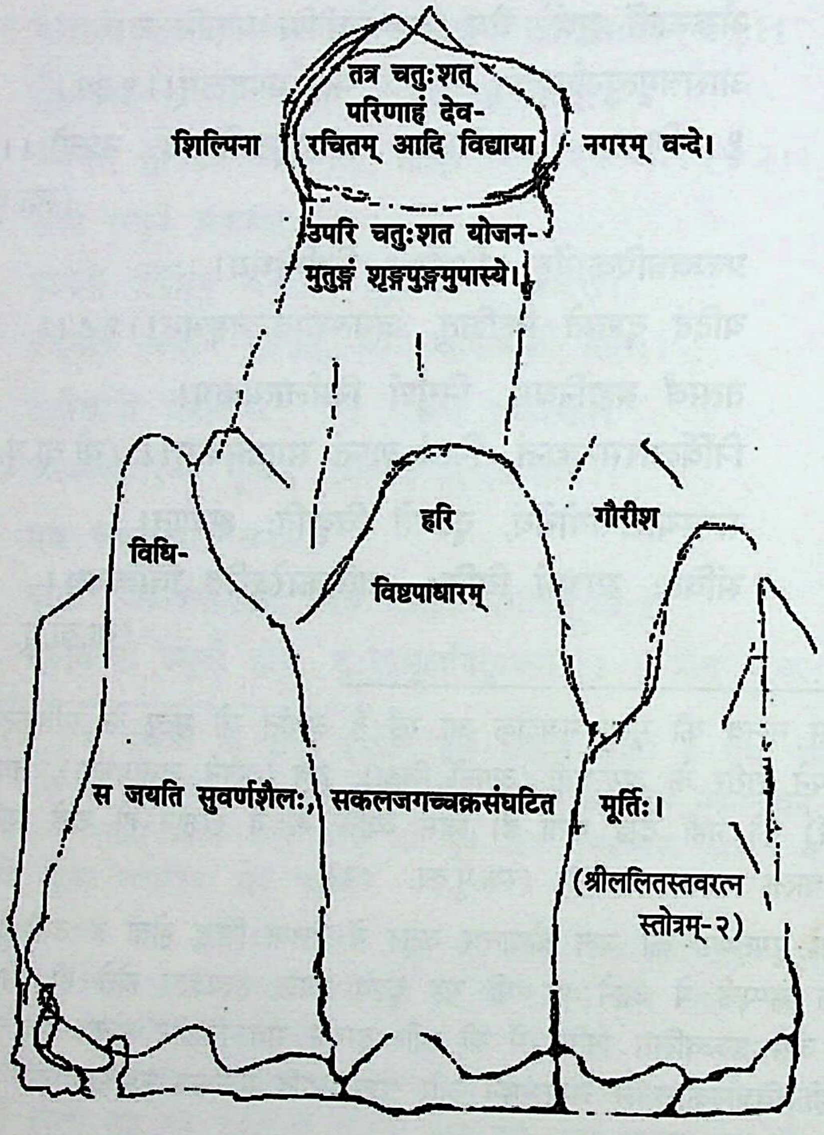
अरून्धतीं[1] ध्रुवं[2] चैव विष्णोस्त्रीणि[3] पदानि च।
आसन्नमृत्युर्नापश्येत्, चतुर्थं मातृ[4]मण्डलम्।।१३।।
१. जिह्वा, २. नासाग्रम्, ३. भ्रूमध्ये, ४. नत्रयोः।।
(स्क.पु.का. ४२)

प्रज्ज्वन्नपिकार्येषु, निर्वाणो निर्ममोभव।
यदिदं दृश्यते किञ्चित्, जगत्स्थावरजङ्गमम्।।१८।।
तत्सर्वं ब्रह्मनिधर्म, निर्गुणं निर्मलात्मकम्।
निर्विकारमनाद्यन्तं, नित्यं शान्तं समात्मकम्।। (यो.वा.पू. ४८/१९)
समस्याद्यन्तयोर्येयं, दृश्यते विकृतिः क्षणात्।
संविदः सम्भ्रमं विद्धिः, नाविकारेऽस्ति विक्रिया।।
(यो.वा.पू. ६/४९/५)

जिस मानव की मृत्यु नजदीक आ गई है अर्थात् जो मृत्यु के सन्निकट पहुँचा हुआ है वह अपने शरीर के अरुन्धती (अपनी जिह्वा), ध्रुव (अपने नासाग्रभाग), तथा मातृमण्डल (दोनों नेत्रों) को नहीं देख पाता है। जिस व्यक्ति के ये लक्षण हों उन्हें सन्निकट भविष्य में मरने वाला जानना चाहिये। (स्क.पु.का. ४२)

यथा मृगतृष्णा का जल बोधान्तर काल में मिथ्या सिद्ध होता है उसी प्रकार बारम्बार इन्द्रियों के सम्पर्क में आने पर भी यह दृश्य प्रपञ्च तत्त्वज्ञान होते ही मिथ्या सिद्ध हो जाता है। जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि में घी और इन्धन सब विलीन होकर एक रूप हो जाते है, वैसे ही विज्ञानकाल में जगत्-मन और द्रष्टा आदि एकमात्र ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाते हैं। (यो.वा.पू. ४८/१८,१९)

कारण में कार्य की उत्पत्ति पाँच प्रकार से होती है—१. प्रागवस्थ, २. प्रतिबद्धप्रागवस्थ, ३. प्रच्छन्न प्रागवस्थ, ४. अप्रच्छन्न प्रागवस्थ, ५. विनष्ट प्रागवस्थ। पहला मृतिका से घटादि की उत्पत्ति प्रागवस्थ है। दूसरा जल से हिमकर भाव, तीसरा रज्जु आदि में सर्पभाव, चौथा जल में तरङ्गभाव और पाँचवाँ दुग्ध से दधिभाव हैं। इनमें अन्त्यभाव ही जन्मादिभावविकार और परिणाम भी हैं। जिस प्रकार मित्तिका से उत्पन्न घट की सत्ता भिन्न नहीं होती, जल से हिमकण की सत्ता भिन्न नहीं होती, रज्ज्वादि से सर्पादि सत्ता भिन्न नहीं होती जल से तरङ्ग सत्ता भिन्न नहीं होती और जिस प्रकार दूध से परिणामी दधि की सत्ता भिन्न नहीं होती उसी प्रकार सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च सत्ता की भी अपने कारण ब्रह्म सत्ता भिन्न सत्ता नहीं



होती है अर्थात् कारण सत्तातिरिक्त सत्ता भ्रान्ति है। इस तरह कारण ब्रह्म के ज्ञात होने पर और संसार के मिथ्यात्व बोध हो जाने पर सारी वासनाएँ शान्त हो जाती है, क्योंकि अविक्रिय ब्रह्म में कोई विक्रिया नहीं होती और यह दृश्य जगत् मिथ्या-क्षणिक विवर्तस्वरूप आदि-मध्य तथा अन्त रूप से विनिश्चित होते हैं। (यो.वा.पू. ६/४९/५)

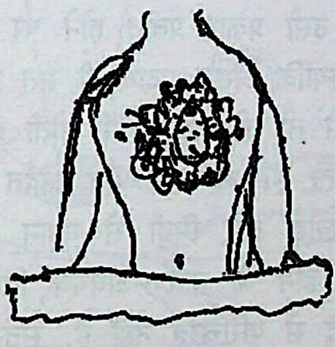
उस शृङ्गपर्वत के मस्तक भाग पर आदि विद्या भगवती ललिता देवी का जो नगर है और जिसका निर्माण देव शिल्पी विश्वकर्मा द्वारा किया गया है तथा जिसका विस्तार चार योजन है एवं जहाँ पर आदि विद्या भगवती ललिता विचरण करती है उस नगर की मैं वन्दना करता हूँ और उपासना करता हूँ।



शीर्षाम्भोरुहमध्ये, शीतलपीयूषवर्षिणीं भवतीम्।
अनुदिंनचिन्तयतां, आयुष्यं भवति पुष्कलमवन्याम्।।

(ललितस्तव. २११)

किरन्तीमङ्गेभ्यः किरणनिकुरम्बामृतरसं,
हृदि त्वामाधत्ते हिमकरशिलामूर्तिमिव यः।
स सर्पाणां दर्पं शमयति शकुन्ताधिप इव,
ज्वरप्लुष्टं दृष्ट्या सुखयति सुधासार सितया।। (सौन्दर्य लहरी १९)



उस त्रिशृङ्ग पर्वत पर ब्रह्मा-हरि और गौरीश भगवान् शिव इन तीनों देवगणों की प्रास्थिति श्री ललिता देवी के त्रिविष्टप (तीन आसन) रूप से है अथवा त्रिविष्टप का अर्थ स्वर्ग होता है। अतः स्वर्ग तुल्य अनुपमेय आधार रूप से ब्रह्मा-हरि और शिव आसनीभूत है। वह त्रिशृङ्गशैल स्वर्णमय और अति उन्नत तथा सर्वश्रेष्ठ भी है ऐसे निखिल जगत् चक्र के संघटन से संघटित मूर्ति अतिशयेन उत्कर्ष को प्राप्त हों। (श्रीललितास्तवरत्नस्तो. २)

हे मातः ललिते! जो साधक शीर्षस्थानी सहस्रदल कमल में नित्य आपका शीतलपियूष का वर्षण करने वाली स्वरूप का चिन्तन करता है वह इस पृथिवी पर अमरता को प्राप्त हो जाता है।

हे मातः जो साधक भक्त अपने हृत्कमल में नित्य हिमकर शिलामूर्ति के समान मूर्ति

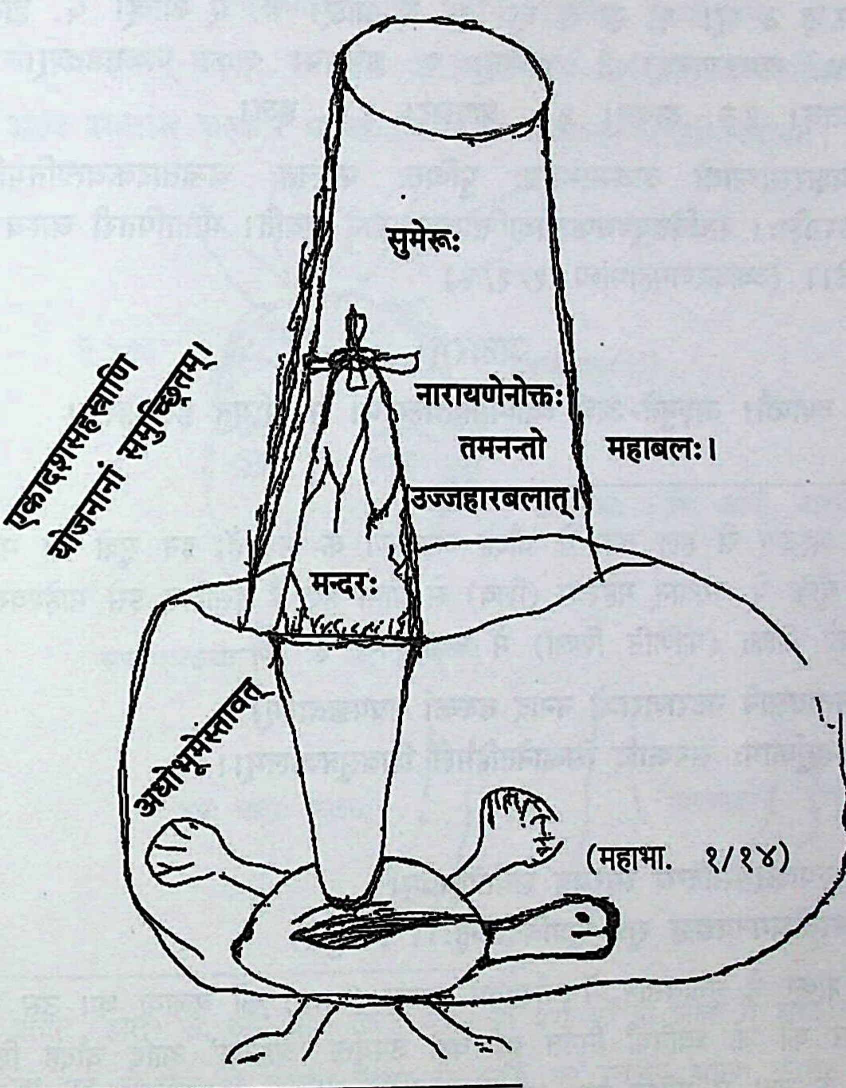
जगज्जान्विषयान्त्यक्त्वा, काये त्वं तिष्ठ निर्मले।।१२।।
असन्मयमविद्याया रूपमेव तदेव हि।
यद्वीक्षिताऽसती नूनं, नश्यत्येव न दृश्यते।।

(योग वा. ६/५१/१२/१३)

का ध्यान करता हुआ तथा समाधि अवस्था विशेष में विभिन्न प्रकार के अलौकिक ध्वनियों को प्राप्त होते हुए आपके प्रकाश पुञ्ज अमृतरस को हृदय में धारण कर हिमकर शिला की मूर्ति के समान होकर आप परमात्मा में स्थित हो जाता है, वह जिस तरह सर्पों के समूह के दर्प को गरुड़ पक्षी नष्ट कर देता है उसी प्रकार संसार के दुःखरूपी ज्वर से सन्तप्त को आप सुधा सागर के हंसी के समान सुखी कर देती है अथवा शुद्ध शीतल अमृतरस से शान्त कर देती है। (सौन्दर्यलहरी-१९)

इस संसार के सकल विषयों को त्याग कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ। उस अपने आत्मस्वरूप में स्थिति प्राप्ति के लिये उसके स्वरूप का अन्वेषण करना होता है, वास्तव में परमात्मा से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है जैसे मृगतृष्णा जल को सतत् प्रयत्न के द्वारा भी कोई नहीं पाया है उसी प्रकार प्रतीत होने पर भी जो अभावरूप से पदार्थ हैं, वे कैसे पाये जा सकते है? क्योंकि असत् पदार्थ ही सत् प्रतीत होता है। उसकी सत्यता असद्रूप अविद्या से ही है, ज्ञान से तो जो वस्तु जैसी होती है वह उसी प्रकार से अनुभूत होती है और भ्रान्ति नष्ट हो जाती है। यह द्वैत एवं अद्वैत जगत् उसी परमात्मा से ही बना है, जैसे ईख के रस से खाँड और मिट्टी से महान घट बना है। खाँड़ एवं घट में देश-काल आदि से परिच्छिन्न होने के कारण-अवयव विन्यास-विकार आदि हो सकते हैं, परन्तु ब्रह्म तो देश-काल आदि से परिच्छिन्न नहीं है, सुतरां उसमें विकार आदि वास्तव में हो ही नहीं सकते।. केवल ब्रह्म में जगत् की कल्पना मात्र है, क्योंकि जिस प्रकार से आभूषण में सुवर्णत्व और कटकत्व-कुण्डलत्व रूप सत्य और असत्य उभय रूप स्थित होते हैं उसी प्रकार परमात्मा में भी चेतनता और जङ्गमता दोनों रहती है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्वर्ण ही आभूषण रूप में प्रतीत होता है उसी प्रकार परमात्मा ही जड़ जगत् रूप में प्रतीत होता है।

अतः हे साधक! प्रकृत्यांश जडांश रूप जगत् का त्याग कर परमात्मास्वरूप चेतनांश स्वस्वरूप में स्थित हो जाओं। क्योंकि वहीं तुम्हारा अपना स्वरूप है जिसे भूल जाने के कारण असज्जगत् के भयंकर दुःख का अनुभव कर तुम दुःखी हो रहे हो। तुम्हारा स्वरूप आनन्द स्वरूप है, दुःख स्वरूप नहीं। (यो.वा. ६/५१/१२,१३)



प्रतीक चित्राङ्कण के माध्यम से समुद्र मन्थन के रहस्य का उद्घाटन किया गया है। जब समुद्र मन्थन का उपक्रम सुर और असुरो द्वारा किया जाना था तो यह एक महती समस्या थी कि मन्थन के लिये उपकरण क्या और कौन सा हो? सभी देव-दानव चिन्तित थे। भगवान् नारायण ने कहा कि सुमेरु पर्वत की अगर मथानी बने तो काम बने। परन्तु सुमेरू का उत्पाटन कैसे हो तो मेरी जानकारी में अनन्त (शेष) महावली है उन्हें कहा जाय। सुर-असुर के प्रस्ताव को स्वीकार कर भगवान् शेष ने सुमेंरु पर्वत का उत्पाटन कर समस्या का समाधान कर दिया और कमठ पीठ पर सुमेरु पर्वत को रख कर, शेष को मथानी की रस्सी बनायी गयी और रस्सी की एक ओर देवगण तथा दूसरी ओर असुरगण मन्थन व्यापार (प्रयत्न) कर समुद्र (क्षीरसागर) का मन्थन किये, जिससे चौदह रत्नों को प्राप्त किये गये। सुमेरु पर्वत ग्यारह हजार योजन ऊँचा था और उसे कमठपीठ का आधार देकर वे मन्थन कार्य सम्पन्न किये। (महाभा. १/१/१४)

१. अ इ उ ण्। २. ऋ लृ क्। ३. ए ओङ्। ४. ऐ औच्। ५. ह्यवरट्। ६. लण्। ७. ञमङणनम्। ८. झभञ्। ९. घढधष। १०. जबगडदश्। ११. खफछठथचटतव्। १२. कपय्। १३. शषसर्। १४. हल्।

योऽयमक्षरसाम्नायो वाक्साम्नायः पुष्पितः फलितः चन्द्रतारकवत्प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः। सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्यज्ञाने भवति। मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोकं महीयते।। (व्याकरणमहाभाष्य १/१/२)

अक्षरम्

अशूङ् व्याप्तौ। अश्नुते-अर्थं व्याप्नोतीत्यक्षरम्। न क्षीयत इत्यक्षरम्।

उपर्युक्त अइउण् से हल् तक ये चौदह व्याकरण के सूत्र हैं। इन सूत्रों को माहेश्वर सूत्र कहते हैं। चूँकि ये भगवान् महेश्वर (शिव) से प्राप्त हुए हैं इसलिए इसे माहेश्वर कहा जाता है। इसको शिक्षा (पाणिनि शिक्षा) में कहा गया है कि—

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादि सिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्।।

तथा—

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवत् सर्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदोविदुः।। (कौमुदी)

भगवान् शंकर ने नृत्तावसान में चौदहवार ढक्का (डमरु) को बजाया था। उस ढक्का की चौदह प्रकार की जो ध्वनियाँ निर्गत हुई वही उपर्युक्त 'अइउण्' आदि चौदह शिवसूत्र (माहेश्वर सूत्र) के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस सूत्र को पाकर ही महर्षि पाणिनि ने बहूद्देश्यक शब्दशास्त्र संस्कारक ग्रन्थ व्याकरण की रचना की जिसका नाम पाणिनि व्याकरण के नाम से प्रसिद्धि है।

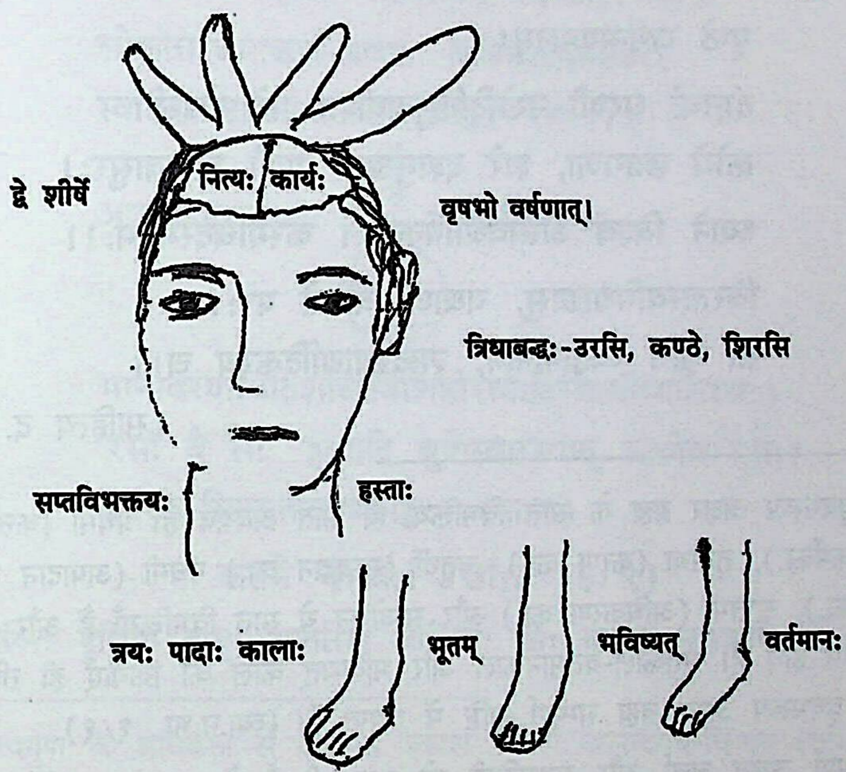
वही यह अक्षर समाम्नाय ही वाक्समाम्नाय के रूप में पुष्पित-फलित चन्द्रतारकवत्प्रति-मण्डित अक्षब्रह्म समूह है ऐसा जानना चाहिये। वेदोक्त समस्त पुण्यफल के दायक इस शब्दब्रह्म के परिज्ञान हो जाने पर ज्ञाता और उनके माता-पिता स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं।

अक्षर शब्द अशूङ् व्याप्तौ धातु से निष्पन्न होता है। 'अश्नुते अर्थं व्याप्नोति इति अक्षरम्' अर्थात् जिसके द्वारा अर्थ का परिबोध प्राप्त किये जाते हैं उसे अक्षर कहते हैं अथवा जो क्षय को प्राप्त न हो उसे अक्षर कहा जाता है।

प्रतीत पदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः। (व्या.म.भा. १/१)

यो वा इमाम् पदशः स्वरशोऽ क्षरशश्च वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति।

अस्य शब्दस्य चत्वारि पदजातानि-नाम-आख्यात् उपसर्ग-निपाताः। शृङ्गाः।



प्रतीत (ज्ञात) पद और अर्थ वाली ध्वनि वा वर्ण को ही लोक में शब्द कहा जाता है।

जो पद से-स्वर से अथवा अक्षर से वाणी का स्वरूप धारण करता है तथा वैदिक हवनादि कर्म करने योग्य हो जाता है अथवा लोक पूज्य हो जाता है। (व्या.म.भा. १/१)

नाम-आख्यात-उपसर्ग और निपात ये उस शब्दात्मक पद से उत्पन्न चार शृङ्ग स्वरूप चार सन्ततियाँ हैं। नित्य और अनित्य दो प्रकार के शब्द ही उसके दो शिर है। नित्य (नित्यरूप और कार्यरूप व्यावहारिक प्रयोगरूप) हैं। नित्यशब्द परा-पश्यन्ति और मध्यमा है और कार्यरूप शब्द वैखरी है। ऐसा वह शब्दरूप ब्रह्म को वृषभ कहा गया है। वृषभ इसलिए कहा गया, क्योंकि वह प्रत्येक उच्चार्यमाण शब्द के अर्थ का वर्षण करता है। अर्थात् उसके अर्थ को प्रकट करता है अथवा अर्थ के रूप को धारण कर वक्ता के समक्ष उपस्थित होता है इसलिए यह अक्षरब्रह्म वृषभ है। वह तीन जगह हृदय-कण्ठ और शिर में बँधा है। यही तीन स्थान अक्षर उच्चारण स्थान हैं। यहीं से वाह्य अथवा आभ्यन्तर प्रयत्न द्वारा प्रघात पाकर अक्षर ध्वनित होते

काव्यालापाश्च ये केचित्, गीतकान्यखिलानि च।
शब्दमूर्तिधरस्यैते, विष्णोरंशा महात्मनः।। (वि.पु. काव्य प्र. १)

यस्यालीयत शल्कसीम्नि जलधिः,
पृष्ठे जगन्मण्डलम्।
दंष्ट्रायां धरणी नखेदितिसुताधीशः पदे रोदसी।
क्रोधे छत्रगणा, शरे दशमुखः, पाणौ प्रलम्वासुरः।
ध्याने विश्वं असावधार्मिककुलं कस्मैचिदस्मैनमः।।

विरतास्वमिधाद्यासु, यथार्थो वोद्यते परः।
सा वृत्ति र्व्यञ्जनानाम, शब्दस्यार्थादिकस्य च।।

(साहित्य द. २/१२)

हैं। उस वृषभरूप अक्षर ब्रह्म के सात विभक्तियाँ ही सात अवयव हैं। प्रथमा (कर्त्ता कारक), द्वितीया (कर्मका.), तृतीया (करण का.), चतुर्थी (सम्प्रदान का.) पंचमी (अपादान का.) षष्ठी (सम्बन्ध का.), सप्तमी (अधिकरण का.) और सम्बोधन ये सात विभक्तियाँ हैं और यही उनके अवयव रूप हाथ हैं। भूतकाल-वर्तमानकाल और भविष्यत् काल की क्रियाएँ ही तीन पैर हैं। इस तरह वृषभरूप अक्षर ब्रह्म सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। (व्या.म.भा. १/१)

सम्पूर्ण काव्य चर्चा और रागरागिनी जो कुछ भी है वे सब शब्दमूर्तिधारी परमात्मा विष्णु का ही अंश है। (वि.पु.का.पु. १)

जिस भगवान् मत्सावतार भगवान् हरि के चर्म में स्थित छिलके की सीमा में समस्त समुद्र समा जाता है और जिस कच्छपावतार हरि के पृष्ठभाग पर सम्पूर्ण भुवन टिके हुए हैं एवं वराहावतार हरि के द्रंष्ट्र (थुथुनी) जिस पर सम्पूर्ण पृथ्वी स्थित है तथा जिस हरि के पाद नख में दितिसुताधीश (इन्द्र) समाये हुए है, जिनके पद में समस्त पृथिवी से लेकर आकाश तक की स्थिति (वामनावतार) है तथा क्रोध में क्षत्रिय, शर में दशमुख (रावण) पाणि (हाथ) में प्रलम्बषासुर, ध्यान में विश्व की स्थिति है, ऐसे विचित्र सामान्य धर्मों से भिन्न जैसे भी वे है वैसे भगवान् हरि को मैं प्रणाम करता हूँ।

शब्द, बुद्धि (ज्ञान) और कर्म के अपने विषय को उपस्थापन करके उपक्षीण (विराम) हो जाने पर जिसके (वृत्ति विशेष के) द्वारा अर्थ का बोधन होता है वह वृत्ति विशेष को व्यञ्जना कहते हैं। (साहित्य द. २/१२)

रसः-साहित्यदर्पणे। ३ परि.।

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्व, प्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो, ब्रह्मास्वाद सहोदरः।।२।।
लोकोत्तरचमत्कार-प्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।।३।।

आस्वादाङ्कुरकन्दः  स्थायीभावः

भग्नावरणचितिशक्तिविशिष्टोरत्यादिस्थायीभावोरसः।
'रसो वै सः' इत्यादि श्रुतिस्वारस्यात् आत्मैव रसः।
चर्वणा-चिद्गतावरणभङ्गः। (भा.प्र.)

कतमे वसवः! (छा.उ. ३/९)

अग्निः पृथिवी वायुः अन्तरिक्षं आदित्यः द्यौः चन्द्रमा नक्षत्राणि।।८।।

सत्त्वगुण के अधिकता से अखण्ड प्रकाश स्वरूप आनन्दमय-चिन्मय (ज्ञानमय) अन्य संवेद्य पदार्थज्ञान रहित ब्रह्मसाक्षात्कार के सदृश तथा अलौकिक चमत्कारस्वरूप प्राणयुत् रस का स्वरूप होता है। कुछ प्रमापक विद्वान् आत्म स्वरूपवत् भेदरहित अभिन्न स्वरूप रस के स्वरूप को पतिपादन करते हैं और उसका आस्वादन करते हैं। अर्थात् अनुभव करते हैं।

विच्छिन्नआवरशक्तिविशिष्टरत्यादि स्थायीभावयुत् रस कहा जाता है। श्रुति कहती है कि 'वह ब्रह्म रस स्वरूप है'। 'अयं आत्मा स्वयं ब्रह्म' इस तरह श्रुतिवाक्य प्रमाणबलात् आत्मा ब्रह्म ही रस है। चिद्गत अविद्या का जो अनादि आवरण है वह चर्वण (आस्वादन) करने से भङ्ग (नष्ट) हो जाता है। वह रस आस्वादाङ्कुरकन्द स्वरूप आत्मा है और आत्मा स्थायीभाव स्वरूप है। (भाव प्र.)

शकल ऋषि के पुत्र शाकल्य कहलाते है वह विदग्ध विशेषणयुत् शाकल्य ऋषि ने ब्रह्मविद्यानिष्णात विद्वान् याज्ञवल्क्य ऋषि से पूछा हे याज्ञवल्क्य! वसु कितने और कौन हैं? याज्ञवल्क्य ऋषि ने उत्तर दिया—अग्नि पृथिवी-वायु- अन्तरिक्ष-आदित्य-द्युलोक-चन्द्रमा और नक्षत्र। ये वसु हैं और इसी में ये सम्पूर्ण जगत् निहित हैं इसलिये इन्हें वसु कहा जाता

एतेषु हीदं सर्वं हितम्।।
कतमे रूद्राः।
दशेमे पुरुषे प्राणाः मनः।।४।।
कतम आदित्याः!
द्वादश मासाः।।५।।
बुद्धिन्द्रियमनः प्राणान् जनानामसृजत्प्रभुः।
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकलानाय च।।
(श्रीमद्भा. १०/८७/२)

(विषया कर्म। लोकान्तर गामिने। मुक्तये। अर्थ-धर्म-काम-मोक्षार्थम्।) (श्रीधर)

है। अभिप्राय यह है कि अग्नि से लेकर नक्षत्रपर्यन्त ये वसु इसलिए हैं क्योंकि ये प्राणियों के कर्म फल के आश्रय होकर उनके निवास स्थान देहेन्द्रिय संघातरूप से विपरिणाम को प्राप्त होकर इस सम्पूर्ण जगत् को वसाये हुए हैं और स्वयं भी वसते है यही उनके वसुत्व है। वे चूँकि दूसरों को अपने में वसाये हुए हैं और स्वयं दूसरों में वसते भी हैं इसीलिए वसु हैं। (छा.उ. ३/९/८)

पुनः शाकल्य ऋषि का प्रश्न है कि 'रूद्र कितने है?' याज्ञवल्क्य जी का उत्तर है— पुरुष में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ ये दश प्राण हैं और ग्यारहवाँ आत्मा (मन) ये प्राण जिस समय प्राणियों के कर्म का लोप तथा भोगों के क्षय होते हैं उस समय इस मरणशील शरीर से उत्क्रमण करते हैं। उस समय उसके सम्बन्धियों को रूलाते हैं। चूँकि उस समय सम्बन्धियों को ये रूलाते हैं, इसलिये रोदन में निमित्त होने से रूद्र कहलाते हैं।

फिर शाकल्य जी का प्रश्न है कि 'आदित्य कौन कौन हैं'? याज्ञवल्क्य जी का उत्तर है—सम्वत्सर के अवयवभूत ये बारह मास ही आदित्य हैं क्योंकि ये सबका आदान (ग्रहण) करते हुए चलते है, इसलिये आदित्य हैं। आदान (ग्रहण) का तात्पर्य है कि वे बारह मास जो सम्बत्सर के है वे पुनः पुनः परिवर्तित होते हुए प्राणियों की आयु और कर्मफल का आदन-ग्रहण यानी उपादान करते हुए चलते हैं। 'सर्वं आददाना यान्ति यस्मात् तस्मादादित्याः' जिस कारण से ये सभी प्राणियों के कर्मफलों को ग्रहण करते हुए चलते है जिस कारण से ये आदित्य कहलाते हैं। (छा.उ. ३/९/८,११)

ईश्वर ने जीवों के मात्रार्थ और भवार्थ तथा लोकान्तर गमन और भोग के लिये बुद्धिन्द्रिय-मन और प्राणों के सृजन किये। मात्रा विषय को कहते हैं। भव जन्मलक्षण कर्म को कहते हैं। अतः ईश्वर ने जीवों के प्रयोजन के लिये उनके इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य विषय

लक्षणपरैक्यपरनिषेधपरोपसनपरसृष्टिपराः पञ्चविद्याः श्रुतयः।
तासां गुणावलम्बनं निर्गुणे पर्यवसानम्।। (वंशीधरी)

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्,
तेने ब्रह्म हृदा आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारि मृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा,
धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहुकं सत्यं परं धीमहि।।

(श्रीमद्भा. १/१/१)

और लोकान्तर तथा देहान्तर लक्षण कर्म के भी सृजन किये ताकि जीव अपने बुद्धि और कर्त्तव्य कर्म का सम्पादन करके उत्तम फल को प्राप्त करे। परन्तु जीव अज्ञान के वशीभूत हो विषय में आसक्त होकर यथाशास्त्र नियत कर्त्तव्य कर्म को न करके अनिष्टकारी फल के भोक्ता हो जाते हैं जो दुर्भाग्य का विषय है। (श्रीभद्भा. १०/८७/२ तथा श्रीधरी टीका)

अब वंशीधरी का अभिप्राय कहते हैं—जिसके द्वारा गुणात्मक कार्य के गुणातीतात्मक विषय का बोध हो वह मात्रा कहलाता है वह मात्रा श्रुति (वेद) स्वरूप है और उस श्रुति के तात्पर्यात्मक अर्थ को धारण करने योग्य बुद्धि का सृजन ईश्वर किये। उसके बाद ईश्वर ने त्रिवर्ग अर्थ-धर्म-कामों के अभ्युदय प्राप्ति के प्रयोजन से उसके साधनभूत यज्ञादिकर्मोपादनयोग्यता वाले श्रोत्र-वाणी आदि ज्ञानेन्द्रियों के भी सृजन किये। उसके बाद लोकान्तर को प्राप्त करने में सक्षम सभी प्रकार के विकारों से मय उसके सम्पादक मन का सृजन किये ताकि कल्पनातीत निराकार तथा साकार ब्रह्म का चिन्तन भी हो सके। श्रुति पंचविध है—लक्षणावर-ऐक्य-परनिषेध-परोपसन और सृष्टिपरा। इनके गुणों का आलम्बन करने से निर्गुण ब्रह्म में ही उसके पर्यवसान होते हैं। (वंशीधरी)

मैं परम सत्यस्वरूप परमात्मा का ध्यान करता हूँ। जिस परमात्मा ब्रह्म में माया के तमो-रजः-सत्त्व-गुणों के सम्पृक्तता से देहेन्द्रिय देवता के समान सत्य के समान प्रतीत होते हैं अर्थात् जिस परब्रह्म परमात्मा के सत्यस्वरूप संग के प्रभाव से भूतसंघातरूप देहादि सत्य ही है' ऐसा प्रतीति कारक होता है। जैसे तैजसवस्तु काचादि में जल का विनिमय (व्यत्यय अर्थात् अन्य में अन्य का अवभास) होते हैं तथा तेज अर्थात् मरीचि (मरुमरीचिकादि) में वारिबुद्धि होती है। इस तरह मृत्तिका और काचादि में वारिबुद्धि तथा वारि में काचादिबुद्धि होती है। इस तरह यथायथ उह्य करना चाहिये। इस प्रसिद्ध दृष्टान्त द्वारा सर्ग का मिथ्यात्व भी सिद्ध हो जाता है। यहाँ तक ब्रह्म का स्वरूप लक्षण दृष्टान्ताभिकथन प्रतिपादित है। तटस्थलक्षण से विचार इत्थंभूत है—इस विश्व का जन्म-स्थिति-लय जिस परमेश्वर के कार्य हैं। वह कार्य मृत्सुवर्णादिवत् जानना चाहिये। यथा मृदादि से घटादि और सुवर्णादि से

वयं तन्मायाक्षेत्रं धीमहि। यत्र कनखल हरद्वारकुब्जाभ्रकक्षेत्राणां सर्गेऽमृषा। यथा विनिमयो मृषा। 'मायाक्षेत्रं समाख्यातं हरद्वारे सुपुण्यजे' ब्रह्मणः स्थानतोयावद्योजनानि दशद्वयम्।। (स्कन्दे)

इदं क्षेत्रं महापुण्यं, यावद्दैयज्ञभूमिका। यत्र माया निमित्तं वै, जातं सर्वं प्रजापतेः। तस्मादिदं महाक्षेत्रं, मायासंज्ञं भविष्यति। (इति स्कान्दे)

यत्र तेजोवारिमृदाभिद्य य तेजः

सर्वदेवतेजोरूपस्य मायादेहस्यजन्म, मायापरपर्याय दुर्गाया देहो यथा तेजोरूपं तथा प्रपञ्चितं (मार्कण्डेये) 'ततोऽति क्रोधपूर्णस्य चक्रिणो वदनात्ततः। निश्चक्राम महत्तेजो

कनचकुण्डलादि कार्य 'यत्सत्त्वाद्यत्सत्त्व:' जिस प्रकार मृत्तिका और सुवर्णादि के सत्त्वप्रभावात् घट-कुण्डलादि सत्त्व प्रतिष्ठित होते है उसी प्रकार तटस्थलक्षण सविकल्पब्रह्मात्मना सृष्टि का ऊह्य करना चाहिये। श्रुति स्मृति वाक्य भी कहती है—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति' स्मृति—यत: सर्वाणि भूतानि प्रभवन्त्यादियुगागमे। यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये' इत्यादि। ऐसे स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मा ने ब्रह्म (वेद) को प्रकाशित किये। उस ब्रह्म को जानने में ज्ञानीजन भी मोह को प्राप्त कर जाते हैं। ऐसे जो ज्ञानस्वरूप-स्वप्रकाश स्वरूप परमात्मा है उनकी कृपा से ही माया (अविद्या) के कार्य मिथुनीभावजगद्रूप अन्यथा बोधरूप अज्ञान को च्छेदन करने में समर्थ है। अत: उनकी कृपा प्रसाद प्राप्त करने के लिये ही हम उनका ध्यान करते हैं। यही मुख्य भाव है। (श्रीमद्भा. १/१/१)

हम उस मायाक्षेत्र हरद्वार का ध्यान करते है अर्थात् नमन करते हैं। जहाँ पर कनखल-हरद्वार कुब्जाभ्रक क्षेत्र हैं और माया के प्रपञ्चात्मक अविद्याजन्य दोषों से रहित है, अत: वह अमृषा अर्थात् पारमार्थिक सत्य है। जिस तरह अविनिमय अर्थात् परस्पराध्यास से रहित शुद्ध ब्रह्म है। वह मायाक्षेत्र हरद्वार के पवित्र भूमि में स्थित है और ब्रह्मा के स्थान से द्वादश योजन यावत् परिमाण का क्षेत्र है। (इति स्कान्दे)

यह क्षेत्र महान् पुण्य को प्रदान करने वाला है, क्योंकि यहाँ देवताओं ऋषियों-महर्षियों द्वारा यज्ञों के सम्पादन हुए हैं। जहाँ पर प्रजापति ब्रह्मा नें यज्ञानुष्ठान के सम्पादन करके उस पुण्यकर्म के प्रभाव से माया के प्रभाव को इस क्षेत्र से दूर किया था इसलिये सभी क्षेत्रों से यह क्षेत्र महान् है अत: इसे महाक्षेत्र और मायाक्षेत्र की संज्ञा ब्रह्मा द्वारा प्राप्त हुई। जहाँ पर तेज-वारि-मृतिका आदि में प्रकाश पुञ्ज प्रविष्ट हुए है। (मार्कण्डेय)

सभी देवताओं के तेज से माया की उत्पत्ति हुई है और माया का ही पर्याय जगदम्बा दुर्गा देवी है यह मार्कण्डेय पुराणान्तरर्गत उपस्थित कथा से प्रसिद्धि है महिषासुर के भय

ब्रह्मणः शंकरस्य च' इत्यारभ्य 'अन्येवां चैव देवानां सम्भवस्तेजसा शिवा' इत्यन्तं ग्रन्थेन। यस्यान्वयात् सेवनात्पुमान् स्वराट् कृत्यकृत्यो भवेत्। दर्शनादस्य तीर्थस्य कृत्यकृत्यो भवेन्नरः (इति स्कान्दे) इतरत इतरतोऽपि तथोर्थष्वभिज्ञः सर्वार्थदत्वस्य सर्वार्थदमिदं क्षेत्र'मिति स्कान्दे' इतरेषां शम्बूकप्रभृति शूद्रादीनामपि तथात्वं प्रपञ्चितं चैतन्माहात्म्ये यो देश मायाक्षेत्ररूपः कवये विवेकिने विदुरायादि सनातनं ब्रह्म तेने। यद्यपि द्वारिद्युनद्या ऋषभः कुरुणां मैत्रेयमासीन मगाधवोधमित्यादिना मैत्रेय संगतिं विदुरस्योक्त्वा मैत्रेयस्तस्मै श्रीभागवतरूपं ब्रह्म तेने सोऽहं क्षुल्लसुखाय दुःखमहङ्गतानां विरमाय तस्य। प्रवृत्तये भागवतं पुराणमित्यादिना तथा तत्र क्षेत्रे स्थितत्वात्तेनैव दत्तमिति बोध्यम्। यद्यस्मिन् क्षेत्रे सूरयो विद्वान्सोऽपि पूर्वदुष्कृत्वशान् मुह्यन्ति श्रद्धां न कुर्वन्ति। किं भूतं क्षेत्रं स्वेन धाम्ना प्रतापेन निरस्तं कुहुकमस्माचित्तादीनां चौर्यादिलक्षणं येन तं एतद्वृत्तमेतन्माहात्म्ये प्रपञ्चितमिति पुनः किं भूतं सदा सत्यं न कदाचिदप्यसत्फलदम्। पुनः सर्वोत्कृष्ट-मनेकेशलिंगतीर्थशिलादिभिरधिष्ठितत्त्वान्महाफलमिति ईश लिंगानि श्रीभरतलक्ष्मण-मूर्त्यादीनि। यद्वा दक्षेश्वर-राजेश्वर-तिलभाण्डेश्वर-विल्बेश्वर-नीलेश्वर-भूतेश्वरादीनि तीर्थानि-विष्णुतीर्थकुशावर्त्तादीनि शिला नारायणीशिलाद्या अत्र सन्ति इति मायाक्षेत्रपक्षः।।५३।।

से त्राण प्राप्ति के लिए देवताओं के द्वारा स्तुत भगवान् हरि (विष्णु) के क्रोधाविष्ट होने पर उनके मुखमण्डल से तेज निकला और उसी प्रकार ब्रह्मा और भगवान् शंकर एवं इन्द्रादिक अन्यान्य देवों के मुखमण्डलों से भी तेज के आविर्भाव हुए और वे समवेत तेजपुञ्ज उन-उन देवों के तेज के प्रभाव से सम्पन्न होकर एक विशिष्ट नारी के रूप में प्रकट हुआ। जिसके शरीर प्रकाशमान पर्वत के समान प्रज्वल्यमान थे।' (मार्कण्डेय पु.)

उस मायाक्षेत्र के सम्बन्ध से और उसके सेवन करने से नर (मानव) स्वराट् होकर कृत्य-कृत्य हो जाते हैं, स्कन्द पुराण में भी कहा है—इस मायाक्षेत्र के दर्शन मात्र से पुमान् (मानव) कृत्य-कृत्य हो जाते हैं। शूद्र-शम्बूकादि अधम योनि प्राप्त महान् पापी भी इस क्षेत्र को प्राप्त करने पर धन-धन्य हो जाते हैं। यह क्षेत्र अनेक कवि-विवेकी-विद्वान् आदि को आत्मबोध (ब्रह्मज्ञान) प्रदान किया है। यद्यपि हरद्वार स्थित पावन गंगा के तट पर कुरुवंश के ऋषभ ने अगाधज्ञान सम्पन्न मैत्रेय के संगति को प्राप्त कर भागवतरूप ब्रह्मज्ञान का विस्तार किये।

व्रजः

व्रजनं व्राजितरित्युक्त्या, व्यापनाद् व्रज उच्यते।
गुणातीतं परं ब्रह्म व्यापकं व्रज उच्यते।।
तस्मिन्नन्दात्मजः कृष्णः, सदानन्द विग्रहः।।२१।।

(स्का.मा.मा. १/१९)

आत्मारामश्चाप्तकामः, प्रेमाक्तैरनुभूयते।
आत्मा तु राधिका तस्य, तयैव रमणादसौ।।२२।।
आत्मारामतयाप्राज्ञैः प्रोच्यते गूढ़वेदिभिः।।२३।।
आविर्भवन्ति देशेऽस्मिन्, भारते त्वज नामके।
सर्वे देवाश्च रूद्राद्याः सशक्तय उशत्तम!।।
श्रीविष्णुतथानेकैः स्वरूपैरिह जायते।। (आदि पुराणे)

व्रजनं-क्रीडा-भ्रमन-चलन-गमन आदि क्रियात्मकरूप को कहते है और जहाँ पर आनन्दकन्द परमात्मा परं ब्रह्म श्रीकृष्ण स्वयं क्रीड़ा करें या जहाँ पर स्वयं के ब्रह्मानन्दरूप से कीडित हो रहे हों वह व्रज है अथवा व्यापक स्वभाव के कारण यह आत्मा व्रज है। आत्मा में जब निरतिशयानन्द ब्रह्म सुख के कारण क्रीडन-कम्पन अर्थात् स्पन्दन हो तो उसे व्रज कहते हैं। इसलिये गुणातीत परंब्रह्म परमात्मा जो व्यापक स्वरूप वाले हैं वही व्रज हैं। परमात्म सुख ही नन्द है वह आत्मसुख जब ब्रह्मात्मैक्यता को प्राप्त कर स्पन्दनैक्य को प्राप्त कर ले तो व्रज की स्थिति होती है। उसको रूपक अथवा प्रतीक रूप में कहा जा रहा है कि—उस. व्रज में नन्द के आत्मज श्रीकृष्ण नित्य आनन्द के विग्रहावतार-आत्माराम-आप्तकाम विहार करते हैं—नृत्य करते हैं—क्रीड़ा करते हैं जिसे प्रेम रस में निमग्न जन ही अपने अन्तःकरण में अनुभव करते हैं। उस आनन्दकन्द परमात्मा श्रीकृष्ण की आत्मा स्वरूपा राधिका हैं, राधिका में रमण करने के कारण ही वह श्रीकृष्ण आत्माराम के नाम से प्रसिद्ध है। यह गूढ़तत्त्ववेत्ता विद्वानों द्वारा कहे जाते हैं।

इस भारत वर्ष नामक पुण्य देश में ब्रह्मा-विष्णु-रूद्र तथा अन्य देवतागण अपने शक्तियों के साथ अनेक रूपों में आविर्भूत होते रहते हैं, क्योंकि यह भारत भूमि कर्म भूमि है। कर्म भूमि में कर्त्ता अपने भाग्य-कर्म-प्रारब्ध बुद्धि के अनुसार कर्म करके अपने आत्मोत्थान करने के लिए स्वतन्त्र रूप से अवसर प्राप्त करते हैं और वे कर्मानुष्ठान के बल से अपने-अपने कृत कर्मानुष्ठान फल को प्राप्त कर अभ्युदय प्राप्त करते हैं।

'यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।' (श्रीमद्भगवद्गीता)

चतुर्वर्गस्य सम्प्राप्ति, र्नान्यथा भारतं विना।
केवलं भोगभूमित्वात्, अन्यवर्षाणि मानद!।
सर्वाणि काममुख्यानि, कर्मभूमिश्च भारतम्।। (विष्णु पु.)

'सोहम्'

हकारः पुरुषः प्रोक्तः, स इति प्रकृतिर्मता।
पुंप्रकृत्यात्मको हंसः, तदात्मकमिदं जगत्।। (आचार्याः)

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं अर्जुन से अपने आविर्भाव (अवतरण) की बात कही है। इस पुण्य-पवित्र भारतवर्ष के अतिरिक्त जो देश हैं वे सभी देश भोग भूमि मात्र है। वहाँ कर्म का अवसर नहीं है अतः आत्मपतन की प्रबल सम्भावना उन भोगभूमि में जन्म लेने बालों को रहती है। इस भारत वर्ष में उत्पन्न मानव को कर्मानुसार चतुवर्ग फल प्राप्ति का अवसर प्राप्त होता है, क्योंकि—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय।।' (गीता)

यह धर्म क्षेत्र है और कुरुक्षेत्र है। कुरुक्षेत्र इसलिए कि यह क्षेत्र करने के लिए ही है। जो क्षेत्र कर्म करने के लिए आदेश दे, प्रेरित करे अथवा जिस क्षेत्र में कर्मठ के अतिरिक्त अन्य का रहना विहित न हो वह कुरुक्षेत्र है ऐसा समझना चाहिये। इस भारत देश में वेद-पुराण-स्मृति-वेदान्त-मीमांसा-न्याय आदि ग्रन्थों के द्वारा कर्म आदि तत्त्वों के विवेचन और उसके फल को कहने के लिए ही वे प्रवृत्त हुए हैं। सारे के सारे आगम-निगम ग्रन्थ कर्माभिमुख करके जीवों के अभ्युदय के मार्ग को कहने के लिए ही प्रयत्नशील होते हैं। जबकि भोग भूमि में प्रवृत्त ग्रन्थ भोगोपलब्धि के साधनभूत ही हैं। अतः भारतभूमि से भिन्न अन्य देश की भूमि भोगभूमि मात्र है ऐसा जानना चाहिये और भारत भूमि में उत्पन्न जनों को अपनी इस भूमि-कर्म और चतुवर्ग फल को प्राप्ति के उद्देश्य करके ही जीवन प्रर्वतन करना चाहिये अन्यथा वे हाथ में आये हुए मणि को अज्ञानवश फेक कर काचादि ग्रहण के समान जन्म की निष्फलता को ही प्राप्त होंगे।

'सोहम्' यह आत्ममन्त्र है। आत्म मन्त्र सभी मन्त्रों में श्रेष्ठतम मन्त्र है। अन्य मन्त्र परम्परया परम लक्ष्य को प्राप्त करा पाता है। परन्तु आत्ममन्त्र साक्षात् परम लक्ष्य को प्राप्त कराने में सक्षम है। अंन्य मन्त्र द्रविण प्राणायाम (कर्माधिक्यलघुफलक) के समान है जबकि आत्ममन्त्र 'दशमस्त्वमसि' के समान सद्यः फल को देनेवाला है। इसलिए यह सर्वमन्त्रों से श्रेष्ठतम मन्त्र है। 'सोहम्' मन्त्र में 'सः' और 'अहम्' ये दो पद हैं 'सः' पद ब्रह्म वाचक और 'अहम्' पद जीव वाचक है और जप का फल ब्रह्म और जीव का ऐक्य है।

आत्ममन्त्रः- ऋषिः-ब्रह्मा,

सःशक्तिः,	**गायत्रं-छन्दः,**
हं बीजम्,	**आत्मैव-देवता,** (सूत सं.य. ४/७/१)

जहदजहल्लक्षणा वृत्ति के बल के द्वारा उभय पदवाच्य पदार्थगत विशेषण त्याग पूर्वक विशेष्य पदार्थ ग्रहण ही मन्त्र का परम फल है। जीवात्मागत देश-काल-अल्पज्ञत्वादि तथा परमात्मगत-देश-काल-कला-सामर्थ्य और सर्वज्ञत्वादि धर्म त्याग पूर्वक विशुद्ध ब्रह्म (आत्मा) पदार्थ का बोध करना ही जहत्-अजहत् लक्षणा का प्रयोजन होता है। आत्म मन्त्र में जो 'अहम्' पद गत हकार है वह पुरुष (आत्मा) है और 'सः' प्रकृति है तथा यह पुरुष प्रकृत्यात्मक हंस (जीवात्मा) है। पुरुषप्रकृत्यात्मक ही समस्त जगत् की सृष्टि है अर्थात् पुरुष प्रकृत्यात्मक ब्रह्मा से स्तम्ब पर्यन्त सृष्टि है ऐसा जानना चाहिये। प्रसंगगत होने के कारण प्रकृति के विशेष स्वरूप को कहा जा रहा है—

प्रकृष्टवाचकः प्रश्च, कृतिश्च सृष्टिवाचकः।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी, प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता।।
गुणे प्रकृष्टसत्त्वे च, प्रकाशो वर्तते श्रुतौ।
मध्यमे कृश्च रजसि, ति शब्दः तमसि स्थितः।।
त्रिगुणात्मस्वरूपा या, सर्वशक्तिसमन्विता।
प्रधानसृष्टिकरणौ, प्रकृतिस्तेन कथ्यते।। (ब्रह्मवैवर्त पु.प्र. खण्डे)

प्रकृति शब्द में जो 'प्र' वर्ण है वह प्रकृष्ट वाचक और कृति शब्द का अर्थ सृष्टिवाचक है। सृष्टि में जो प्रकृष्टरूप से स्थित देवी है वही प्रकृति कही गयी है। द्वितीय अर्थ है कि प्र से गृहीत, प्रकृष्ट अर्थ से गुण-सत्त्व और श्रुति (वेद) का ग्रहण है और वेद ज्ञान का तथा ज्ञान प्रकाश का वाचक है। प्रकाशात्मक सतोगुण है अतः प्रकृति शब्दगत 'प्र' वर्ण का अर्थ सतोगुण निर्धारित अर्थ है। प्रकृतिशब्द के मध्य वर्ण जो 'कृ' है वह रजोगुण का वाचक है तथा प्रकृति शब्द के अन्तिम वर्ण 'ति' का अर्थ तमोगुण का वाचक है। इस तरह सृष्टि की रचना (सृजन) ही है प्रधान कार्य जिसकी, ऐसी प्रकृति देवी है। यहाँ तक प्रकृति के सम्बन्ध में कहा गया अब पुरुष को कहा जा रहा है—

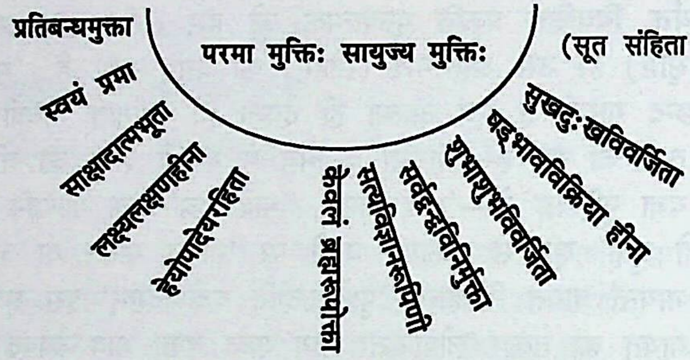
नवद्वारं पुरं पुण्यमेतैर्भावैः समन्वितम्।
व्याप्यशेते महात्मा यस्तस्मात् पुरुष उच्यते।। (महाभा.शा.प. १/७०/९६)

नौ द्वार है जिस पुर (नगर) में ऐसे पवित्र पुर में जो महात्मा (महांश्चासौ आत्मा=महात्मा, परमेश्वरः) शयन करते हैं उसे पुरुष कहते हैं। पुरं=शरीरं (तस्मिन्) शेते यः सः पुरुषः, अर्थात् पुर शरीर को कहते हैं और उस शरीर में शयन करने के कारण आत्मा को पुरुष कहते हैं।

उस उपर्युक्त विवक्षित प्रकृति पुरुषात्मक जो हंस (जीवात्मा) उस जीवात्मामय यह सम्पूर्ण जगत् (सृष्टि) है। उस आत्ममन्त्र (सोहम्) का ऋषि ब्रह्मा हैं, 'सः' शक्ति और 'हं' बीज है तथा छन्द गायत्री है एवं आत्मा ही देवता है। प्रसंगात् गायत्री शब्द (पद) वाच्य (अर्थ) को भी कहा जा रहा है—संस्कृत वाङ्मय में गायत्री शब्द का तीनों लिङ्गों में प्रयोग होता आया है यथा पुल्लिङ्ग में—'गायं गानः', 'भावे घञ' उक्त पाणिनि सूत्र से घञ प्रत्यय करने पर 'आतो युक्' सूत्र से युकागम करने पर 'गायेन गानेन वा त्रायते' अथवा गायन् इति गायत् तं गायन्तं त्रायते विग्रहोत्तर 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इस सूत्र से आकृतिगणगत पाठ मान कर गायत् का तकार लोपानन्तर गाय शब्द बना। गाय उपपद पूर्वक 'त्रैङ् पालने' धातु से 'सुपिस्थः' पाणिनि सूत्र से 'क' प्रत्यय कर अनुबन्ध लोपोत्तर 'आदेच उपदेशेऽशिति' सूत्र के द्वारा 'ऐ' को 'आ'कार कर दिया पुनः 'आतो लोट इति च' आकार लोप कर विभक्ति कायानन्तर गायत्रं शब्द बना कर 'गायत्रं स्तोत्रमस्यास्तीति' ऐसा विग्रह करके 'ब्रीह्यादिभ्यश्च' सूत्र से 'इन्' प्रत्ययानन्तर 'सौ च' सूत्र से 'इन्' के इकार को दीर्घ कर न कार और विभक्ति लोपानन्तर गायत्री शब्द निष्पन्न हुआ। अपि च—'गायत्री ज्ञायतेः स्तुतिकर्मणः' (निरुक्त-७/१२/५) से गायत्री शब्द उद्गाता (सामवेद के मन्त्र का गायक) तथा खदिर वृक्ष भी विकल्प से अर्थ होता है।

स्त्रीलिङ्ग में गायत्री शब्द—'गायन्तं त्रायते या सा गायत्री' ऐसा विग्रह करने पर 'त्रैङ्' धातु से 'आतोऽनुपसर्गे कः' पाणिनि सूत्र से 'क' प्रत्यय अनुबन्ध लोप आत्व के 'अकार' लोप कर 'गौरादित्वात् ङीप्' से ङीप् और अनुबन्ध लोपोत्तर विभक्ति कार्य करने पर गायत्री शब्द निष्पन्न हुआ। इसका अर्थ ब्रह्मभार्या-ब्रह्माणि-ब्राह्मी आदि अर्थ फलितार्थ हुआ।

नपुंसलिङ्ग में गायत्रीशब्द—'गायन्तं त्रायते यत्तद् ब्रह्म' ऐसा विग्रहानन्तर 'पृषोदरादित्वाद्' सूत्र से तकार लोप पुनः 'सुपिस्थः' सूत्र के द्वारा योग-विभाग करके 'त्रैङ्' धातु से 'क' प्रत्यय होकर 'आदेच उपदेशेऽशिति' सूत्र से आकार करके 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ और 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' सूत्र के द्वारा आकार का ईकार कर विभक्ति कार्यानन्तर 'सुपां सुलुक्' वैदिक सूत्र से सु का लुक् होकर गायत्री शब्द बना है। मन्त्र शब्द 'मन्त्रि गुप्त सम्भाषणे' धातु से बना है और इसका अभिप्रायार्थ है कि—गुप्त सम्भाषण सन्निकृष्ट-अभेद सम्बन्ध में ही होता है और आत्मा सबसे सन्निकट और अभेद वस्तु है और आत्मा ही ब्रह्म (परमात्मा) है 'अयमात्मा स्वयं ब्रह्म' श्रुति भी कहती है कि आत्मा ही ब्रह्म है। इस तरह आत्मा और ब्रह्म विषयक अभेद चिन्तन (गुप्त सम्भाषण) ही मन्त्र है और उस चिन्तन की निरन्तरता ही गायत्री है जो ब्रह्म स्वरूप ही है। अतः गायत्री मन्त्र ब्रह्म ही है क्योंकि मैं ब्रह्म ही हूँ इस प्रकार के श्रुति द्वारा प्रतिपादित वाक्य का अविच्छिन्न चिन्तन ही गायत्री मन्त्र है और तत्प्रकारक (ब्रह्म विषयक) ज्ञान ही ब्रह्म है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' वह ब्रह्म सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप और अनन्तस्वरूप वाला है यह श्रुति भी कहती है। अतः गायत्री मन्त्र ही ब्रह्म है यह विचार का फलितार्थ निष्पन्न होता है। गायत्री मन्त्राक्षर जप



(सूत संहिता मुक्ति ख. २)

पौरोहित्यं रजनिचरितं ग्रामणीत्वं नियोगो,
माठापत्यं ह्यनृतवचनं साक्षिवादः परान्नम्।
ब्रह्मद्वेषः खलजनरतिः प्राणिनां निर्दयत्वं,
माभूतदेवं पशुपते! जन्मजन्मान्तरेऽपि।।

और पाठ में मात्रा के उच्चारण भेद पर ध्यान देना चाहिये। मन्त्रगत 'वरेण्यं' पाठ में और 'वरेणियं' ऐसा जप में उच्चारण करना चाहिये—

वरेणियं विरलं जप्यं जपकाले विशेषतः।
पारायणे तु युक्तं स्यादन्यन्था निष्फलं भवेत्।।

वरेणियं जपे प्रोक्तं वरेण्यं वेदपादके।
स याति नरकं घोरं, वरेण्यमिति यो जपेत्।।

जपे पारायणे चैव विरलं युक्तमेव च।
क्रमेण प्रजपेन्मन्त्रमन्यथा निष्फलं भवेत्।। (याज्ञवल्क्य-विश्वामित्र स्मृति)

सायुज्य मुक्ति ही परमा मुक्ति है। ब्रह्म वस्तु की सायुज्यता आकारता को आत्म्यैक्यरूप से प्राप्त कर तस्थता की स्थिति को ही परमा मुक्ति कहते हैं वह मुक्ति कैसी है? उसका क्या स्वरूप है? सो कहते हैं—वह मुक्ति-प्रतिबन्धमुक्ता, स्वयं प्रमारूपा, साक्षात् आत्मभूता, लक्ष्य और लक्षण से रहिता, हेयोपादेय रहिता, केवल ब्रह्म स्वरूपा, सत्य और विज्ञान स्वरूपिणी, सर्व द्वन्द्व विनिर्मुक्ता, शुभाशुभविवर्जिता, षड्भाव विक्रिया (विकार) हीना और समस्त सुख-दुःख विवर्जिता स्वरूपिणी है।

पूज्यपाद भगवान् शंकराचार्य भगवान् पशुपति शिव से क्षमापराध में प्रार्थना करते हैं कि हे पशुपते, आशुतोष! शिव! यदि मुझे अन्य जन्म में कर्मक्षेत्र प्राप्त हो तो हमको पौरोहित्य कर्म, चौरकर्म अथवा अन्य रात्रिकालीन कर्म, गाँव का मुखिया, मठ का मालिक,

(क्षमापराधस्तोत्रं भगवान् शंकराचार्यः)

शांकर ग्रन्थावली-वाणीविलास प्रेस का संस्करण (श्री रंगम्) स्तोत्राणि लघुप्रकरणानि च) १२ खण्डों में।

भासमानमिदं, सर्वं, भानरूपं परं पदम्।
पश्यन् वेदान्तमानेन, सद्य एव विमुच्यते।।

प्रशान्तसर्वसंकल्पं, विगताखिलकोतुकम्।
विगतशेषसंरम्भं, चिदात्मानं समाश्रय।।२३।।

एवं पूर्णधियो धीराः समानीरागचेतसः।
न नन्दन्ति न निन्दति जीवितं मरणं तथा।।२४।।

(अन्नपूर्णा उ./५)

असत्यवचन, गवाही, परान्न भोजन, ब्राह्मण से द्वेष, दुष्टजन की संगति, हिंसा वृत्ति आदि से सम्बन्ध न हो अर्थात् आप सामर्थ्यवान् हैं इसलिये इन उपर्युक्त से मुझे रक्षित करें। (शंकराचार्य)

यह दृश्यमान जगत् प्रतिभास मात्र है अर्थात् मिथ्यारूप ही है और भान (अनुभव विज्ञान रूप ब्रह्म) इससे परे है अतः वेदान्त सिद्धान्त के प्रमाणों के द्वारा इसे जानना चाहिये। वेदान्त ब्रह्मसूत्र गीता आदि श्रेष्ठ ग्रन्थों तथा प्रमुखतः उपनिषदों में गर्भित विद्याओं और सद्गुरु एवं स्वात्म प्रयत्न एवं युक्तियों से सतत् प्रयास (चिन्तन-मनन) के द्वारा साक्षात् ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। आत्मा-परमात्मा का अभेद (अपरोक्ष) ज्ञान ही मोक्ष अथवा मुक्ति है यह ध्यान रहना चाहिये।

सभी प्रकार के संकल्पों से रहित और समस्त चेष्टा (क्रिया) से रहित एवं सकल विक्षोभ से शून्य जो चित्स्वरूप आत्मा है, जो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव-अज-निराकार-निर्विकार नीरस-निर्द्वद्व और परमानन्द स्वरूप है ऐसे स्वरूप का आश्रय करो। उसमें स्थित होओ अर्थात् आत्मस्थ होओ। क्योंकि इस प्रकार से जो आत्मा को जानता है वही पूर्णधी है। जो पूर्णधी होता है वे समा अवस्था को प्राप्त पुरुष है अर्थात् शोक-दुःख-सुख-हानि-लाभ-मान-अपमान-निन्दा स्तुति उसके लिए समान होता, क्योंकि वह नीराग (राग रहित) हो जाता है उसके (नीराग-रागरहित के लिए) जीवन और मरण सभी व्यवहार व्यावहारिक (मिथ्या) मात्र होता हैं। वह न किसी की निन्दा करता है और न ही प्रशंसा ही करता

सुखदं संविदः स्वास्थ्यं, प्राणसंरोधनं विदुः।
चित्तोपशान्तिफलदं, परमं विद्धिकारणम्।। (अन्नपूर्णा उ. ४/४५)

संवेद्यवर्जितमनुत्तममाद्यमेकं,
संवित्पदं विकलनं कलयन्महान्तम्।
हृद्यैवतिष्ठकलनारहितः क्रियां त्वं,
कुर्वन्नकर्तृपदमेत्यसमोदितः श्रीः।।९२।।

हृत्पुण्डरीके-विरजं विशुद्धं अव्यक्तमचिन्त्यं अनन्तं शिवं प्रशान्तं अमृतं आदिमध्यान्तहीनं एकं विभुं चिदानन्दरूपम् ब्रह्मयोनिम्।।६।।

है और वह न किसी से निन्दित तथा प्रशंसित ही अपने को अनुभव करता है। वह निन्दा-स्तुति रूप जगद् व्यवहार से परे हो जाता है।

प्राणवायु के संरोध करने से स्वास्थ्य लाभ होता है और संविद् (ज्ञान) निर्मल होता है इसलिए प्राण का संयमन सुखद (सुखकारी) है। इस प्राणों के संरोधन (संयमन) से चित्त के मल धुल जाते है और वह निर्मल हो जाता है और शुद्ध चित्त द्वारा किये गये श्रवण-चिन्तन-मनन ध्यान-धारणादि उत्तम शुद्ध फल को देनेवाला अर्थात् आत्म साक्षात्कार का कारण होता है। (अन्नपूर्णा उ. ४/४५)

जो शब्दादि करणों से जानने योग्य नहीं है मात्र स्वानुभूति ही जिसका मान है जिसका (स्वानुभूत्यैकमानाय नमः शान्ताय तेजसे) ऐसे—सभी करणों से असंवेद्य अनुत्तम (सर्वोत्कृष्ट) आद्य (सबका मूल), एक (अद्वितीय), जो संवित्पद (आत्म विज्ञान मात्र का स्थान) सभी काल (क्रियाओं) से रहित और अपनी महिमा से जो अपने में संकलित अधिष्ठित कर रखा है, जो हृत्कमल में रहता है, उस आत्मा में स्थित होओ। वह निखिल कलना रहित है, उस आत्मा को जानता हुआ ही तुम कर्म-क्रिया व्यवहार का आचारण करो। जिससे तुम्हारी ऐश्वर्य वृद्धि होगी। यदि आत्मा के कर्ता-भोक्ता रूप में स्वीकार करोगे तो तुम्हारी श्री (ऐश्वर्य) का उदय सम्भव नहीं होगा, क्योंकि तुम आत्मा स्वरूप हो और आत्मा किसी का कर्म-क्रिया का कर्ता-भोक्ता नहीं है। आत्मा का कर्तृत्व भोकृत्व मिथ्याज्ञान मात्र ही है। अतः उपनिषद् वाक्यों का स्मरण-मनन कर अपने स्वरूप को जानता हुआ सांसारिक निखिल व्यापार को प्रकृति का विकार मात्र जानो।

हृदयरूपी पुण्डरीक (कमल) में वास करने वाले विरज (सकल पाप रहित), विशुद्ध (निर्मल) अव्यक्त (सूक्ष्म) अचिन्त्य (वागादि इन्द्रियों से जानने में अयोग्य), अनन्त (व्यापक), शिव (कल्याण स्वरूप) प्रशान्त (निश्चल), अमृत (नित्यस्वरूप), आदि-मध्य और अन्त

उमा सहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं ध्यात्वा मुनिर्गच्छति समस्त साक्षिं तमसः परस्तात्।।७।।

पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवः, ततः सुजातं सकलं विचित्रम्।



आधारमानन्दमखण्डबोधं यस्मिंल्लयं याति पुरत्रयं च।।१४।।

यत्परंब्रह्मसर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्।

सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं, सत्वमेव त्वमेव तत्।। (कैवल्योप. २६)

रहित (असीम), एक (अद्वितीय), विभु (व्यापक) सत्-चित् आनन्द स्वरूप जो सभी भूतों की योनि है ऐसे ब्रह्म को जानो। ऐसे परब्रह्म परमात्मेश्वर-त्रिलोचन-नीलकण्ठ शिव को जो सर्वसाक्षी तमोगुण से रहित भगवान् शिव है, उनको मुनिजन उमा की सहायता से जानते हैं। उमा 'ॐकार' स्वरूपा हैं (उमाविपर्ययासः ओमिति) क्योंकि उमा का विपर्यास (विपरीत-उलटा) वर्ण ओम् है यथा = आ + उ + म् = ओम् ऐसा जानना चाहिये। 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' (गीता) ओम् ही ब्रह्म है 'वाच्य-वाचकाभेदात्' = वाच्य-वाचक का अभेद होता है यह स्मरण रखना चाहिये।

'पुरं = शरीरम्' पुर शरीरवाचक शब्द है अतः स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीर और कारणशरीरों में जो समान रूप से अहं (मैं अनुभूति अर्थात् आत्मालम्बन) का आस्पद है वही जीव है। जीव अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य या अन्तःकरणोपहित चैतन्य को कहते हैं। उसी अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के अनन्त विचित्र संकल्प से यह जगत् विचित्र रूप में भासित होता है। वही जीव जब उपाधि रहित स्वरूप से साधक को विज्ञात होता है तो उसका वास्तविक-पारमार्थिक स्वरूप आनन्दमय-अखण्डबोधस्वरूप से प्राप्त होता है। जिस उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य आत्मतत्त्व में सम्पूर्ण सृष्टि लीन (लय को प्राप्त) होता है। यह आत्मतत्त्व सकल सृष्टि का अधिष्ठानभूत होने के फलस्वरूप उसके बोध होने पर वे तीनों शरीर भी उसी में लय (विलीन) हो जाता है। जैसे नदी के तरंग और बुद-बुद जलधारा में उत्पन्न और लय को प्राप्त होते रहता है और उस तरङ्ग और बुद-बुद की स्वस्वरूपसत्ता जलसत्ता ही होती है। जलसत्ता भिन्न सत्ता नहीं होती, परन्तु अज्ञानवश हम उसे तरंग और बुद-बुदादि रूप से जानते और समझते हैं, लेकिन विचार करने पर वह जलसत्ता स्वरूप ही प्राप्त होता है। उसी प्रकार शरीरत्रयाधिष्ठानभूत चैतन्य में ही यह शरीरादि कल्पित है और अज्ञानवश उसकी प्रतीति शरीरादि रूप से होती है। (कैवल्योपनि. १६)

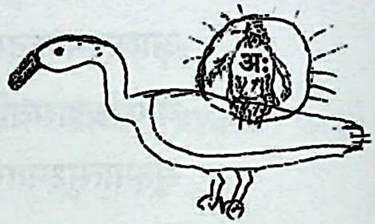
यद्यत्सम्भाव्यते लोके सर्वं संकल्पविभ्रमः। (तेजोवि.उ. ५/४८)

सदा समाधिं कुर्वीत, हंसमन्त्रमनुस्मरन्। (ब्रह्मविद्योप. ६५)

प्राणायामः। (साण्डिल्योपनिषद्) **प्राणापानयोगः।**

रेचक-पूरक-कुम्भक भेदेन स त्रिविधः। ते वर्णात्मकाः। तस्मात्प्रणव एव प्राणायामः।

पद्मासनस्थपुमान् नासाग्रे शशभृद्बिम्ब ज्योत्स्नाजालवितानिताकारमूर्ती रक्ताङ्गी हंसवाहिनी दण्डहस्ता बाला गायत्री भवति।



जो वह परंब्रह्म परमात्मा है वही सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च का आयतन (आधार) है इसलिए वह महान् है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है और नित्य (तीनों कालों में सत्य) है। इसलिए उस नित्यपरमात्मा ब्रह्म को स्वात्मा ही जानो क्योंकि तुम वही परमात्म स्वरूप ही हो। 'अयमात्मा स्वयं ब्रह्म' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' रूपं-रूपं प्रतिरूपं बभूव इत्यादि श्रुतियाँ इसी का बोधक है। (तेजोवि.उ. ५/४८)

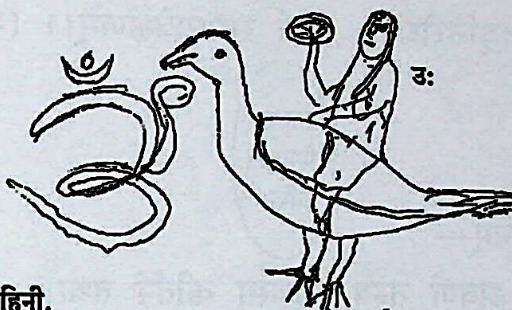
इस लोक में जो भी उत्पन्न हैं, हुए है और जो होने वाले हैं वे जीवात्मा के मन संकल्प का विलास (प्रातिभासिक) मात्र ही है। इसलिए समाधि अर्थात् पारमार्थिक चिन्तन मनन पूर्वक धारणा के द्वारा आत्म साक्षात्कार करना चाहिये ताकि प्रातिभासिक (मिथ्या) ज्ञान से छुटकारा पाकर यथार्थ—पारमार्थिक सत्य (आत्मा) का बोध हो सके। उस पारमार्थिक (त्रैकालिक सत्य) का बोध प्राप्त करने हेतु हंस मन्त्र का जप करते हुए प्राणायाम करना चाहिये। वह प्राणायाम-रेचक पूरक और कुम्भक भेद से तीन प्रकार के हैं तथा वर्णात्मक (वर्ण = अक्षर स्वरूपवाला) प्रणव (ॐ) स्वरूप है। अब प्रश्न उठता है कि उसका क्रम क्या हो? क्रम यह है कि साधक सर्वप्रथम पद्मासन में स्थित होकर नासाग्रभाग पर दृष्टिपात करते हुए शशभृद्ज्योत्स्ना (चन्द्रमा के वर्ण के प्रकाशवती) जाल (पुञ्ज) की विस्तारवाली रक्ताङ्गी-हंसवाहिनी-दण्डहस्ता (हाथ में दण्ड ली हुई) बाला (नवयौवना) गायत्री का ध्यान करें। प्रसंगात् प्राणायाम का लक्षण कहते हैं—**प्राणः स्वदेहजो वायुः, यमस्तस्य निरोधनम्। त्रिधा द्विजैर्यमः प्राक्तो मन्दोमध्योत्तमस्तथा। प्राणापाननिरोधस्तु प्राणायाम प्रकीर्तितः।**

(लिंग पु. ८/४५-४६)

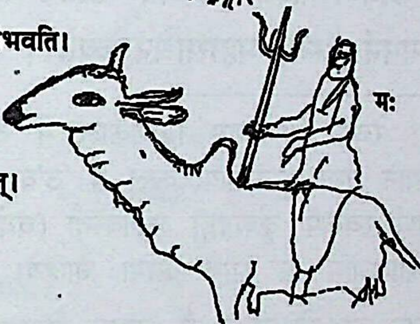
अपने शरीर के प्राणवायु और अपानवायु का निरोध करना प्राणायाम कहा जाता है—

सलिले सैंधवं यद्वत् साम्यं भवति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरमिधीयते।। (हठ दीपिका)

ॐकारमूर्तिश्वेताङ्गी तार्क्ष्यवाहिनी। युवती चक्रहस्ता सावित्री भवति।



मकारमूर्तिः
कृष्णाङ्गी वृषभवाहिनी,
वृद्धात्रिशूलधारिणी सरस्वतीभवति।



इति ध्यायेत्।

जल में सैन्धव (सेंधा नमक) को मिला देने पर जिस तरह जल के ही रूप को नमक धारण कर लेता है उसी तरह मन का आत्मरूपता प्राप्त करना समाधि कहा जाता है। अतः प्राणायामक्रिया को प्रारम्भ कर और प्रणव रूप परमात्मा को ध्येयाकाराकारित करके जल में नमक के समान लीन कर देना चाहिये।

संयुक्तस्य तथा सम्यक् प्राणायामेन धीमतः।
दोषात्तस्माच्च नश्यन्ति विश्वासस्तेन जीर्यते।।
प्राणायामेन सिद्धन्ति दिव्या शान्त्यादयः क्रमात्।। (लिङ्ग पु. ८/५७)

प्राणायाम के अभ्यास करने तथा परमात्मधारणा से प्राणगत जो दोष (पाप) होते हैं वे नष्ट हो जाते है और दिव्य शान्ति-प्रशान्ति-दीप्ति और प्रसाद ये चतुर्विध आध्यात्मिक सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। (ब्रह्मविद्योपनि., शाण्डिल्योपनि.)

इससे पूर्व गायत्री का स्वरूप कहा जा चुका है। अब सावित्री का स्वरूप वर्णन कहा जा रहा है—धवलवर्णा (स्वेतांगी) चक्रहस्ता और गरूड़वाहिनी युवती सावित्री का स्वरूप है। इसी प्रकार कृष्णवर्णा वृषभवाहिनी त्रिशूलधारिणी वृद्धावस्था वाली सरस्वती का स्वरूप है। ये तीनों स्वरूप वर्णात्मिका है। गायत्री रक्ताङ्गी ओंकार के प्रथम वर्ण 'अ' वर्णस्वरूपा रेचकस्था (रेचक प्राणायामगतध्येया) हैं। सावित्री श्वेत (धवल) वर्णा 'उ'कार वर्ण (अक्षर) स्वरूपा पूरकस्था (पूरक प्राणायामगत ध्येया) हैं तथा सरस्वती कृष्णवर्णा 'म'कारवर्ण (अक्षर) स्वरूपा कुम्भकस्था (कुम्भकप्राणायामगत ध्येया) हैं। (शाण्डिल्योपनि.)

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य, योगो ज्ञानं मुनीश्वर!।
योगस्तूद्वृत्तिरोधोहि, ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्।। (शाण्डिल्योपनि.)

साध्यं
शिवपद-
प्राप्तिः

तस्य सारभूतसाधनम्—

श्रोत्रेण श्रवणं तस्य, वचसा कीर्तनं तथा।
मनसा मननं तस्य, महासाधनमुच्यते।। (शि.पु. विश्वेश्वर ख. ५१)

साधक को क्रमशः रेचक प्राणायाम क्रियाकाल में अकारवर्णस्वरूपा रक्तवर्णा बाला (नवयौवना) गायत्री का ध्यान तथा पूरकक्रिया काल में 'उ'कार वर्ण स्वरूपा श्वेताङ्गी सावित्री का ध्यान एवं 'मकार' वर्ण स्वरूपा कृष्णाङ्गी वृद्धावस्था (वयोवती) सरस्वती का रेचक-पूरक और कुम्भक क्रियारूप प्राणायाम के साथ करना चाहिये। (गायत्रीउपा.)

चित्त (मन) के नाश का दो उपाय है—प्रथम योगाभ्यास तथा दूसरा ज्ञान मार्ग का आश्रयण। गुरूपदिष्ट मार्गतः आसन-प्राणायाम-यम-नियम-ध्यान-धारणा-समाधि पुरस्सर परमात्मान्वेषण पूर्वक ईश्वर साक्षात्कार योग मार्ग का परम उद्देश्य है और इस मार्ग के सम्यग् आश्रय से बन्ध मोचन उत्तर परम पुरुषार्थ कैवल्य पद की प्राप्ति होती है। इसी तरह ज्ञान मार्गाश्रयी साधक को सद्गुरूपदिष्ट तत्त्वमस्यादि वाक्य श्रवण-मनन-निदिध्यासादि पूर्वक शास्त्र वचन एवं युक्ति के द्वारा जीवात्मा-परमात्मा का ऐक्यरूप परमपुरुषार्थ स्वरूप बन्ध उच्छेदरूप मोक्षपद की प्राप्ति होती है। इसी अभिप्राय को पुष्पदन्ताचार्य ने कहा कि—

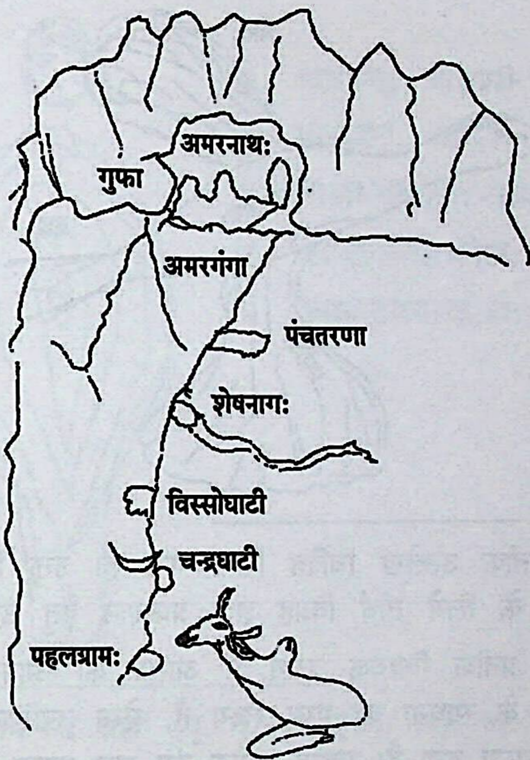
'त्रयी सांख्यं योगः, पशुपतिमतः वैष्णवमिति।
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
नृणामेकोगम्यः त्वमसि पयसामर्णवमिव।' (शिव महिम्न स्तोत्र)

और तुलसी दास ने भी कहा—

'ज्ञानिहिं भक्तिहिं नहि कछु भेदा।
उभय हरहि भव संभव खेदा।।' (राम च.मा.)

अतः मार्ग चाहे योग का हो चाहे ज्ञान का हो दोनों ही चित्त (अन्तःकरणरूप बन्ध) को नाश करने वाला होता है और सम्यक् रूप से कारण सहित चित्त का नाश (विलय) ही परमपुरुषार्थ ध्येय की प्राप्ति है।

साधक का ध्येय और प्राप्य वस्तु शिवपद होना चाहिये और वह वस्तु लिंग स्वरूप है। प्रतीक चित्र द्वारा लिङ्गात्मक ध्येय का चित्राङ्कन उपस्थित किया गया है। लिङ्ग के स्वरूप

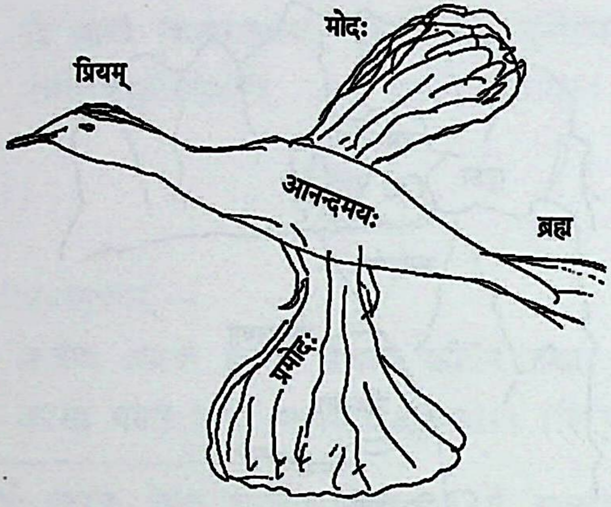


का लक्षण पूर्व में कहा जा चुका है, परन्तु साधक का प्रकरण से सम्बन्ध हेतु लिंग वस्तु का लक्षण दिया जा रहा है—

> **अलिङ्गो लिङ्गमूलं तु अव्यक्तं लिङ्गमुच्यते।।**
> **अलिङ्गः शिव इत्युक्तो लिङ्गं शैवमिति स्मृतः।।१।।**
>
> **प्रधानं प्रकृतिश्चेति यदाहुर्लिङ्गमुत्तमम्।।**
> **गन्धवर्णरसैर्युक्तं शब्दस्पर्शादिलक्षणम्।।३।।**
>
> **जगद्योनिं महाभूतं स्थूलं-सूक्ष्मं द्विजोत्तमाः।**
> **विग्रहो जगतां लिङ्गमलिङ्गादभवत्स्वयम्।।४।।** (लिङ्ग पु.पू.अ. ३)

भगवान् शिव के रूप-रस गन्धादि तथा शब्द स्पर्शादि से रहित अव्यक्त स्वरूप ही लिङ्ग है। उस लिङ्ग की आराधना ही साधक का साधना रूप कर्म है और वाच्य लिङ्गस्वरूप शिव पद हैं। उस शिव पद की प्राप्ति के लिये गुरुतः शास्त्रत उत्थित उपदेशरूप वाक्य का श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा श्रवण तथा वाक्यरूप कीर्तन एवं मनसा मनन रूप साधना कर्म है जो शिव पद प्राप्ति का महासाधन है। (शि.पु.वि.ख. ५१)

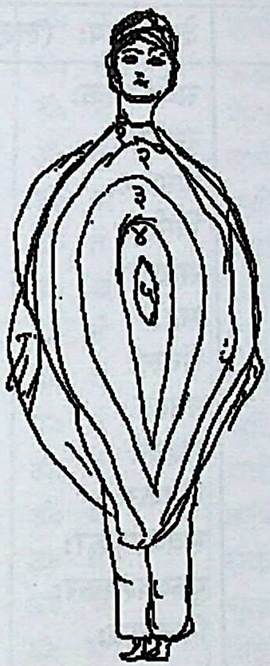
प्रतीक चित्रांकन के माध्यम से यहाँ हिमालय पर्वत देश में स्थित अमरनाथतीर्थ-गुफा-अमरनाथ-गंगा-पंचतरणी-पुण्यतीर्थ-शेषनागतीर्थ-पिस्सोघाटी-चन्द्रघाटी-पहलग्राम आदि



पौराणिक तीर्थों का प्रतीक उल्लेख चित्रित किया गया है। उक्त चित्रांकन श्रद्धालुओं-भक्तों और तपस्वियों सन्तों के लिये तीर्थ विग्रह ज्ञान प्रकाशन हेतु उपकारी है।

प्रकृत उपस्थित प्रतीक विषयक प्रसंग में आत्मा का आनन्दादि स्वरूप कह कर ब्रह्मात्म्यैक्य ही साधक के साधना का परम लक्ष्य है, ऐसा उपस्थित कर परम पुरुषार्थरूप मोक्षत्व का दिग्दर्शन कराया गया है। साधक प्रतीक हंस रूप आत्मा का ब्रह्मरूप से उपासना करें। वह ब्रह्म आनन्दमयात्मा स्वरूप है उसके दो पक्ष (पंख) है उत्तर पक्ष मोदरूप और द्वितीय दक्षिण पक्ष प्रमोद रूप है। मुख प्रियता रूप और पुच्छ में ब्रह्म की प्रतिष्ठा है। इस तरह आनन्दमय ब्रह्म में प्रियादि अवयवों का योग का शरीरत्व श्रवण होता है—

'तस्य प्रियेव श्तिरः, मोदो दक्षिणपक्षः, प्रमोद उत्तरपक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा।' (श्रुति) इष्ट वस्तु का दर्शन जन्य जो सुख विशेष उसे प्रिय कहा जाता है और वहीं ब्रह्मशिर है अर्थात् शिरःरूप ब्रह्म का ध्यान करणीय है। इष्ट वस्तु का लाभ जन्य जो सुख विशेष उसे मोद कहा जाता है और वह आनन्दमय जो सुख विशेष उसे-मोद कहा जाता है तथा वह आनन्दमय आत्मा का दक्षिण पक्ष मोद है। उक्त स्वरूप का ध्यान मोद रूप से ध्येय है। इष्टवस्तु का भोगजन्य जो सुख विशेष वह प्रमोद है और वह आनन्दमय आत्मा का वामपक्ष उक्तरूप से उपसनीय है। इस प्रकार प्रिय-मोद-प्रमोद अवय में सामान्य बुद्ध्या अनुगत जो सुखाभासरूप आनन्द है वही आनन्दमय आत्मा का आत्मा (स्वरूप) है। सबके अर्न्तभूत परब्रह्म आनन्दमय का पुच्छ (प्रतिष्ठा) है अर्थात् पुच्छरूप से ब्रह्म की प्रतिष्ठा का ध्यान करना चाहिये। कहने का अभिप्राय यह है कि जो विद्या कल्पित द्वैत प्रपञ्च का अवसादरूप है अर्थात् अधिष्ठान रूप अद्वितीय ब्रह्म है वही आनन्दमय ब्रह्म का पुच्छरूप से प्रतिष्ठा-अधिष्ठान रूप है—**'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्'** (तै.उ. ३-६)। **'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति'** (तै.उ. २/८)। **'आनन्दो ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन'**



१. अन्नमयः कोशः-भूतात्मा।
२. प्राणमयः कोशः-इन्द्रियात्मा।
३. मनोमयकोशः-संकल्पात्मा।
४. विज्ञानमयःकोशः-कालात्मा।
५. आनन्दमयःकोशः-लयात्मा।

(जबालोपनिषद्)

(तै.उ. २/९) **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** (बृ. ३.३/९/२८)। उसी को श्रुति वाक्यों द्वारा आत्मा का आनन्दमय स्वरूप विनिश्चित किया गया है।

यह पञ्चभौतिक शरीर पञ्च महाभूत विकारोत्पन्न होने से विकारमय है। आत्मा उन विकारों से जन्य पंचकोशों से आवृत है—**देहाभ्यन्तरः प्राणः प्राणादभ्यन्तरं मनः। ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा।।** (पंचदशी ३/२) इस अन्नमय शरीर के भीतर प्राणमय शरीर है, प्राणमय शरीर के भीतर मनोमय शरीर है, मनोमय शरीर के भीतर विज्ञानमय (कर्ता) शरीर है और विज्ञानमय शरीर के भीतर आनन्दमय (भोक्ता) शरीर है। **अन्नं प्राणो मनो बुद्धिरानन्दश्चेति पञ्च ते। कोशास्तैरावृतः स्वात्माविस्मृत्या संसृतिं व्रजेत्।।** (पंचदशी १/३३) इसी अन्नमयादि कोश से आवृत्त आत्मा के विस्मरण (विवेक के अभाव) से यह जीवात्मा संसृति (जननादि प्राप्ति रूप संसार) को प्राप्त होकर कर्तृत्व-भोतृत्वाहंकाराभिभूत होकर अत्यन्त दुःखमय भोग को भोगता है। साधक-ज्ञानी-भक्त जिज्ञासु जन इस पंचकोश के विवेक से अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक के (प्रत्यगात्मा के विवेचन पूर्वक पृथक्करण) द्वारा आत्मा का पृथक् बोध ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है—**अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पंचकोशविवेकतः। स्वात्मानं तत उद्धृत्य परं ब्रह्म प्रपद्यते।।** (पंचदशी १/३७) अतः साधक जिज्ञासुओं को पंचकोशविवेक दिशा में चिन्त-मनन कर आत्मा का इन कोशों से पृथक् बोध प्राप्त कर अपने परमात्म-परं ब्रह्म स्वरूप को ध्येय बना कर चिन्तनादि करना चाहिये। ध्येय है कि अन्नमय सभी कोषों में स्थूलतम और अन्य कोश पूर्ववर्ती कोशों से उत्तरोत्तर सूक्ष्मतम हैं।—अन्नमय कोष को भूतात्मा, प्राणमय को इन्द्रियात्मा, मनोमय को संकल्पात्मा, विज्ञानमय को कालात्मा, और आनन्दमय को लयात्मा कहते हैं। (जावालोपनिषद्)

क्र.सं.	बीजाक्षरमन्त्रः	देवसंज्ञा	देवस्वरूपः (लक्षणम्)
१.	ॐ अं	मृत्युञ्जयः	सर्वव्यापकः
२.	ॐ आं	आकर्षणः	सर्वगतः
३.	ॐ इं	पुष्टिदा	क्षेमकरः
४.	ॐ ईं	वाङ्प्रसादकरो	निर्मलः
५.	ॐ उं	सर्वबलदः	सारतरः
६.	ॐ ॐ	उच्चाटनोदः	सहः
७.	ॐ ऋं	संक्षोभकः	चंचलः
८.	ॐ ॠं	सम्मोहनो	नवलः
९.	ॐ लं	विद्वेषणो	मोहकः
१०.	ॐ लृं	मोहकरः	मोहकरः
११.	ॐ एं	सर्ववश्यकरः	सर्ववश्यकरः
१२.	ॐ ऐं	शुद्धसात्त्विकः	पुरुषवश्यकरः
१३.	ॐ ओं	अखिलवाङ्मयो	नित्यशुद्धः
१४.	ॐ औं	सर्ववाङ्मयो	वश्यकरः
१५.	ॐ अं	गजादिवश्यकरो	मोहनः
१६.	ॐ अः	मृत्युनाशकरो	रौद्रः
१७.	ॐ कं	सर्वविषहरः	कल्याणप्रदः
१८.	ॐ खं	सर्वक्षोभकरो	व्यापकः
१९.	ॐ गं	सर्वविघ्ननाशको	महत्तरः
२०.	ॐ घं	सौभाग्यप्रदः	स्तम्भनः
२१.	ॐ ङं	सर्वविषनाशको	उग्रः
२२.	ॐ चं	अभिचारघ्नः	क्रूरः
२३.	ॐ छं	भूतनाशको	भीषणः
२४.	ॐ जं	कृत्यादिनाशको	दुर्धर्षः
२५.	ॐ झं	भूतनाशको	मृत्युदः
२६.	ॐ ञं	मृत्युप्रमथनः	मृत्युञ्जयः

अज्ञानी-स्थूलदेहाभिमानी-द्वैत बुद्धिस्थ मूर्तिपूजक साधक के लिये स्थापित इष्ट मूर्ति में स्थूलोपचार सामग्री द्वारा स्थूल पूजन तत्तत् बीजाक्षर मन्त्रों से पूजनादि इसी क्रम में करना चाहिये। द्वैत बुद्धिबाले साधक भी यदि श्रद्धा-भक्ति-निष्ठा से स्थूल पूजन करता है तो अन्तःकरण की शुद्धि अनन्तर उसे भी यथाक्रम परम पुरुषार्थरूप मोक्ष प्राप्ति हो सकता है। वह द्वैतस्थ साधक साधना (श्रद्धा-भक्ति निष्ठादि) के द्वारा सूक्ष्म उपासना में स्वतः प्रविष्ट हो जाता है। 'कर्मणैव संसिद्धिमास्थिताः जनकादयः' (गीता) 'सर्वेषां शास्त्राणां परब्रह्मणि एव

२७.	ॐ टं	सर्वव्याधिहरः	सुभगः
२८.	ॐ ठं	चन्द्ररूपः	अमृतप्रदः
२९.	ॐ डं	गरुडात्मको	विषघ्नः
३०.	ॐ ढं	सर्वसम्पत्प्रदो	सुभगः
३१.	ॐ णं	सर्वसिद्धिप्रदो	मोहकरः
३२.	ॐ तं	धनधान्यादिसम्पत्प्रदः	प्रसन्नः
३३.	ॐ थं	धर्मप्राप्तिकरो	निर्मलः
३४.	ॐ दं	पुष्टिवृद्धिकरः	प्रियदर्शनः
३५.	ॐ धं	विषज्वरहरो	विपुलः
३६.	ॐ नं	भुक्तिमुक्तिप्रदः	शान्तः
३७.	ॐ पं.	सर्वविघ्ननाशनो	भव्यः
३८.	ॐ फं	अणिमादिसिद्धिप्रदो	ज्योतिरूपः
३९.	ॐ बं	सर्वदोषहरः	शोभनः
४०.	ॐ भं	भूतप्रशान्तिकरो	भयानकः
४१.	ॐ मं	विद्वेषि	मोहकः
४२.	ॐ यं	सर्वव्यापकः	पावनः
४३.	ॐ रं	दाहकरो	विकृतः
४४.	ॐ लं	विश्वम्भरो	भासुरः
४५.	ॐ वं	सर्वाम्यायनकरो	निर्मलः
४६.	ॐ शं	सर्वफलप्रदः	पवित्रः
४७.	ॐ षं	धर्मार्थकामदो	धवलः
४८.	ॐ सं	सर्वकारणः	सार्ववर्णिकः
४९.	ॐ हं	सर्ववाङ्मयो	निर्मलः
५०.	ॐ ठं	सर्वशक्तिप्रदः	प्रधानः
५१.	ॐ क्षं	परापरतत्त्वज्ञापको	परंज्योतिरूपः

तात्पर्यः' (आचार्योक्तिः) तथा च 'त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतः वैष्णवमिति प्रभिन्ने प्रस्थाने त्वमसि पयसामर्णवमिव' (शिव महिम्न) इत्यादि शास्त्रों और आचार्य मतों के अनुसार प्रत्येक साधक के शिव स्वरूप ब्रह्म पद प्राप्ति ही प्राप्तव्य पदार्थ है। परन्तु ज्ञानमार्गी (अद्वैतवादी) साधक तथा योगी एवं तन्त्रागम मार्गानुगामी स्वात्मा को ही लक्ष्य कर उपर्युक्त 'ॐ अं मृत्युञ्जयः सर्वव्यापकः' से 'ॐ क्षं परापरतत्त्वव्यापको परं ज्योतिरूपः' तक अपनी अपनी गुरुगत प्राप्त उपदेशानुसार चिन्तन-मनन-ध्यान धारणदि द्वारा परमात्म स्वरूप स्वात्मा की उपासना करे। इस तरह 'नृणामेको गम्यः तथा सर्वेषां शास्त्राणां परब्रह्मणि एव तात्पर्यः' की संगति सम्भव हो सकेगी।

।। स्कन्दोपनिषद् ।।

यत्रासंभिन्नतां याति, स्वातिरिक्तभिदाततिः।
संविन्मात्रं परं ब्रह्म, तत्स्वमात्रं विजृम्भते।।
ॐ सहनाववत्विति शान्तिः।।

अच्युतोस्मि महादेव तव कारूण्यलेशतः।
विज्ञानघनएवास्मि शिवोऽस्मि किमतः परम्।।१।।
न निजं निजवद्भात्यन्तःकरण जृम्भणात्।
अन्तकंरणनाशेन संविन्मात्रस्थितो हरिः।।२।।
संविन्मात्रस्थितश्चाह मजोऽस्मि किमतः परम्।
व्यतिरिक्तं जड़ं सर्वं स्वप्नवच्च विनश्यति।।३।।

परं ब्रह्म परमात्मा का स्वरूप संवित् (ज्ञान) मात्र ही है जो जीवात्मा के स्वात्मरूप से स्फुरित होता है और उस परं ब्रह्म परमात्मा के बोध हो जाने पर स्वातिरिक्त द्वितीय सत्ता (अनेकत्व) का नाश हो जाता है और उस परमात्मा का स्वात्मानुभूति मात्र शेष रह जाती है। ऐसे परं ब्रह्म परमात्मा 'स्वानुभूत्यैक मानाय नमः शान्ताय तेजसे' को नमस्कार करता हूँ। शान्ति मन्त्र पाठ द्वारा-गुरु शिष्य की रक्षा हो यह प्रार्थना है। अतः परं गुरु द्वारा शिष्य को ब्रह्मोपदेश (आत्मोपदेश) किया जा रहा है—

हे महादेव परंब्रह्म परमात्मन्! आपके करुण्यता के स्वभाव के लेश (सम्बन्ध) से मैं अच्युत हूँ। जो च्युत (जो नाश-मृत्यु को प्राप्त न होवे) न हो उसे अच्युत कहते है। अच्युत नित्य स्वरूप सत्य स्वरूप परमात्मा को कहते है। ऐसे अच्युत और शिव स्वरूप अहं पद (शब्द) का आस्पद मैं हूँ। उस परमात्मा अच्युत स्वरूप जो निज स्वरूप ही है, का अन्तःकरण के जृम्भण (स्फुरण) के कारण उसका भान नहीं हो पाता, क्योंकि आविद्यक अन्तःकरण तथात्व में अतथात्व और अतथात्व में तथात्व का विपरीत बोध कराने वाला होता है और जीव उसके अधीन (वशीभूत) है। अन्तःकरण को ज्ञान रूपी तलवार से काटकर अपने स्वरूप का बोध प्राप्त करो यही उपदेश का उद्देश्य है। अतः अन्तःकरण के नाश हो जाने पर तुम स्वयं हरि स्वरूप परमात्मा ही हो इस वास्तविक बोध (ज्ञान) का स्वयं उदय हो जायेगा। 'अयमात्मा स्वयं ब्रह्म' नेह नानाऽस्ति किञ्चन' (श्रुति) इस श्रुति समर्थित ब्रह्मज्ञानोदय को तुम प्राप्त हो जायेगा यही तात्पर्य है।

मैं (जीवात्मा) चेतनाधिष्ठान में स्थित हूँ। इसलिए अज (नित्य) स्वरूप हूँ। हम (चेतन स्वरूप) से भिन्न कुछ भी इस संसार में नहीं है। जो यह जगद्रूप संसार दृष्टि गोचर हो

चिज्जड़ानां तु यो द्रष्टा सोऽच्युतो ज्ञानविग्रहः।
स एव हि महादेवः, स एव हि महाहरिः।।४।।
स एव ज्योतिषां ज्योतिः, स एव परमेश्वरः।
स एव परब्रह्म तद्ब्रह्माणं न संशयः।।५।।
जीवः शिवः, शिवो जीवः, स जीवः केवलः शिवः।
तुषेण बद्धो ब्रीहि स्मात्, तुषाभावेन तण्डुलः।।६।।
एवं बद्धस्तथा जीवः, कर्मनाशे सदाशिवः।
पाशबद्धस्तथा जीवः, पाशमुक्तः सदाशिवः।।७।।

रहा है वे सभी चिद्रूप अधिष्ठानस्वरूप परमात्मा में अधितिष्ठित है और मैं वही परमात्मा हूँ। ये संसार मायाकृत कार्य भ्रमस्वरूप है अचेतन (जड़) है और स्वप्न में देखे गये पदार्थ के समान क्षणिक है। चित्त और जड़ से मिथुनीभाव को प्राप्त इस जगत् के द्रष्टा ज्ञानमय शरीर वाला अच्युत परमात्मा ही है और वही महादेव हैं और वही महाहरि स्वरूप भी हैं। वहीं सभी ज्योतियों (प्रकाशकों) के ज्योति (प्रकाशक) हैं और परमेश्वर हैं। वही परब्रह्म परमात्मा हैं और मैं वहीं परमात्मा ब्रह्म हूँ इसमें संशय नहीं है, क्योंकि जीव शिव हैं और शिव जीव हैं। वह जीवात्मा स्वरूप परमात्मा ही केवल (अद्वितीय) स्वरूप शिव हैं। जीवात्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है तुषा (छिलका-भूंसा) से आवृत्त तण्डुल (चावल) ब्रीहि (धान) कहा जाता है और तुषा से रहित धान को तण्डुल कहा जाता है बस अन्तर यही है कि परमात्मा शरीरादि से आवृत्त (ढका हुआ) होने के कारण जीवात्मा कहा जाता है और शरीरादि (उपाधि) से रहित शिव कहा जाता है। अतः कहा गया है कि—पाशबद्धः भवेज्जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः॥' उपाधि ही पाश है। जीवात्मा का शरीरादि त्रय, पंचकोश, मन के सहित पंचज्ञानेन्द्रिय और उसके विषय तथा मन (अन्तःकरण) के धर्म-काम-क्रोध-लोभ-मोह-घृणा-लज्जा-जुगुप्सा आदि पाश (आवरण) है और इससे जीवात्मा बद्ध (बँधा) है और परमात्मा इन पाशों (उपाधियों) से मुक्त है।

इस प्रकार ब्रीहिगत तण्डुल के समान कर्मादिक से बुद्ध यह आत्मा जीव कहा जाता है और कर्मादिक (आवरण) नाश हो जाने पर सदाशिव स्वरूप ही है। क्योंकि पाश बद्ध को ही जीव और पाश मुक्त को सदाशिव कहते हैं। पाश क्या है? पाश घृणादि आठ हैं—

'घृणा-लज्जा-भयं शंका, जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं-शीलं तथा जाति, रष्टौपाश प्रकीर्तिताः।।
पाशबद्धः भवेज्जीवः, पाशमुक्तः सदाशिवः।। (आगम)

शिवाय विष्णुरुपाय, शिवरूपाय विष्णवे।
शिवस्य हृदयं विष्णुः विष्णोश्च हृदयं शिवः।।८।।

यथा शिवमयो विष्णुरेवं विष्णुमयः शिवः।
यथान्तरं न पश्यामि, तथा मे स्वस्तिरायुषि।।९।।

यथान्तरं न भेदाः स्युः, शिवकेशवयोस्तथा।
देहो देवालयः प्रोक्तः, सजीवः केवलः शिवः।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं, सोऽहं भावेन पूजयेत्।।१०।।

अभेददर्शनं ज्ञानं, ध्यानं निर्विषयं मनः।
स्नानं मनोमलत्यागः, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।।११।।

ब्रह्मामृतं पिवेद्भैक्ष-माचरेद्देह रक्षणे।
वसेदेकान्तिको भूत्वा, चैकान्ते द्वैतवर्जिते।।
इत्येवमाचरेत् धीमान्, स एवं मुक्तिमाप्नुयात्।।१२।।

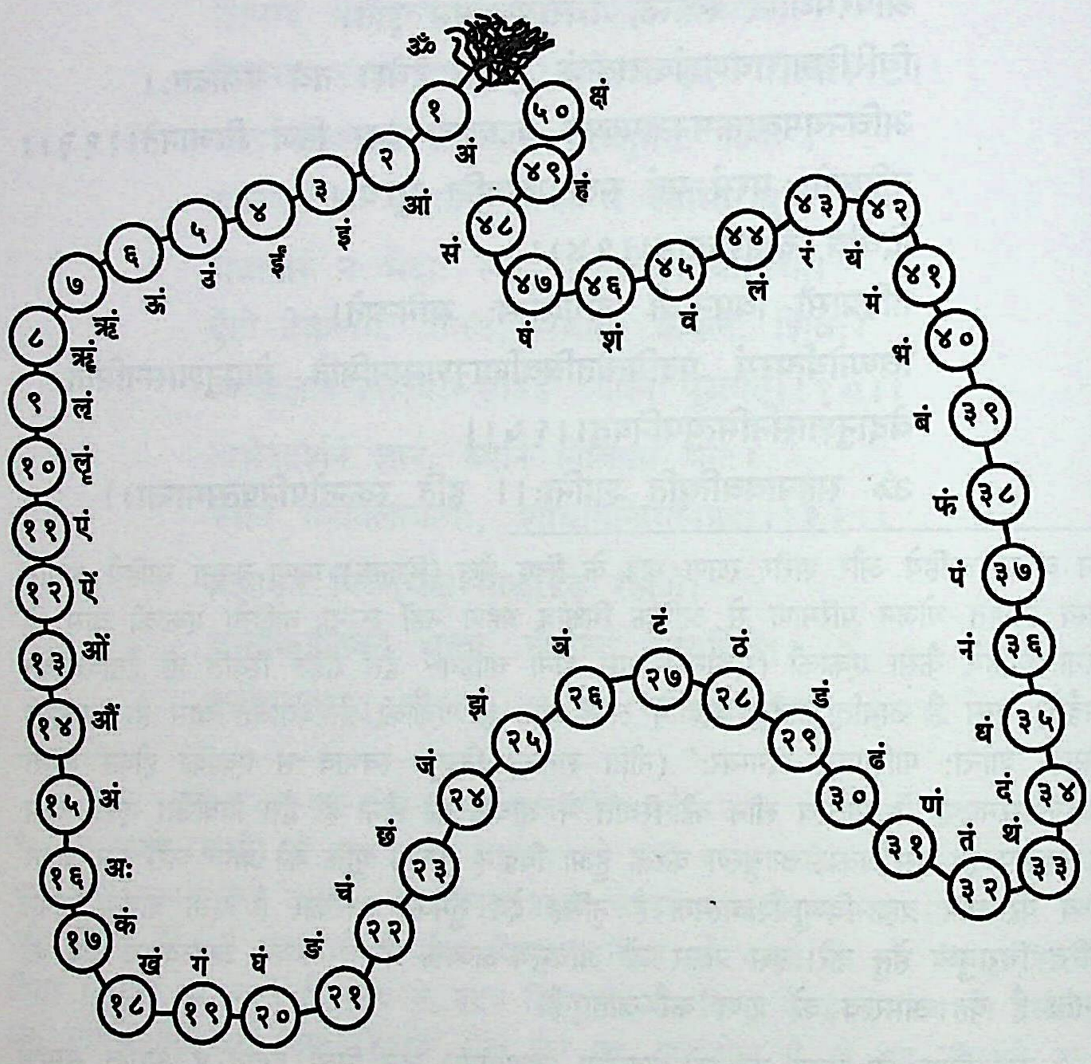
अतः घृणा-लज्जा-भय-शंका-जुगुप्सा-कुल-शील और जाति ये आठ पाश कहे गये हैं। इन पाशों (बन्धों) से मुक्त होना असम्भव तो नहीं परन्तु कठिन है। निर्मल गुरु की कृपा और साधना रूप स्वकीय आध्यात्मिक प्रयत्न से इसका उच्छेद (नाश) सम्भव है। शिव और विष्णु में कोई भेद नहीं है शिव विष्णुमय विग्रह को कहते हैं और विष्णु शिवमय विग्रह (शरीर) को कहते है। शिव के हृदय विष्णु है और विष्णु के हृदय शिव हैं। इसीलिये जब साधक अधिकारी 'नमः शिवाय' मन्त्र जप कर रहा होता है तो वह 'विष्णवे नमः' ही जपता है और 'विष्णवे नमः' जप करने पर 'नमः शिवाय' ही जपता है, क्योंकि दोनों के वाच्य पदार्थ अद्वितीय परमात्मा ही है। 'ऐको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्याप्ति सर्वभूतान्तरात्मा' (श्रुति) सभी भूतों में अद्वितीय परमात्मा ही अन्तरात्मा (हृदय) रूप से विराजमान हैं। यह देह शिवालय स्वरूप ही है और इसमें आत्मारूप से विराजमान अद्वितीय शिवस्वरूप परमात्मा ही हैं, अतः समस्त मल को ज्ञानगंगाजल से धोकर अथवा कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप वृक्ष को ज्ञानरूपी तलवार से काटकर 'सोऽहं' भाव से उपासना करनी चाहिये।

साधकों के अभेद दर्शन ही वास्तविक ज्ञान है। मन का विषय ग्राहिता का अभाव स्वरूप ही यथार्थ ध्यान है अर्थात् मन के संकल्प शून्यता (राहित्य) ही ध्यान है। मन के वासना रूप मल का त्याग ही वस्ततस्तु स्नान है और ज्ञानेन्द्रियों का विषयों के प्रति जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है, उसका निग्रह (रोकना) करना ही शौच (शुद्धि) है। ब्रह्मामृत (ब्रह्मज्ञान) रूप पेय का ही

श्रीपरमधाम्ने स्वस्ति, चिरायुष्योन्नम इति।
विरिञ्चिनारायणशंकरात्मकं नृसिंह देवेश तव प्रसादतः।
अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तमव्ययं वेदात्मकं ब्रह्म निजं विजानते।।१३।।
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्।।१४।।
तद्विप्रासौ विपन्यवो जागृवान्सः समिन्धते।
विष्णोर्यत्परमं पदमित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनमित्युपनिषत्।।१५।।
ॐ सहनाववत्विति शान्तिः।। इति स्कन्दोपनिषत्समाप्ता।।

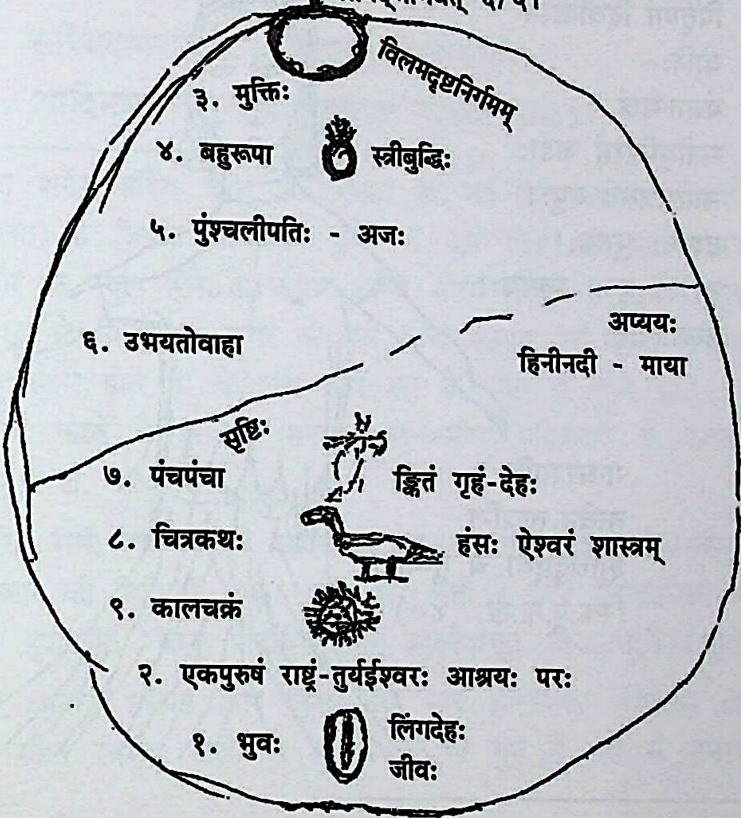
पान करना चाहिये और शरीर रक्षण मात्र के लिए भैक्ष (भिक्षान्न) ग्रहण करना चाहिये अर्थात् शास्त्र विहित भोजन परिमाण से अधिक भिक्षान्न ग्रहण नहीं करना चाहिये। एकाकी वास ही करना चाहिये कैसा एकाकी (एकान्त) वास होना चाहिये? द्वैत रहित स्थिति ही द्वैतविवर्जित (अद्वैत) वास है अर्थात् अद्वैत ब्रह्म में लीन होना ही एकाकी द्वैतविवर्जित वास है। 'एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः' (नीति शतक) निस्पृह स्वभाव से एकांकी होकर शान्त स्वरूप परमात्मा में सातत्य लीन की स्थिति में साधक का होना ही द्वैत विवर्जित एकान्तवास का स्वरूप है। इस प्रकार आचरण करता हुआ विद्वान् साधक मुक्ति को प्राप्त करें। इस प्रकार साध्य परमधाम ब्रह्मा-विष्णु-शिवात्मक है नृसिंह देव तुमको नमस्कार है ऐसी प्रार्थना अपने स्वस्ति चिरायुष्य हेतु करे। इस प्रकार जो अचिन्त्य-अव्यक्त-अंनन्त-अव्यय ज्ञानस्वरूप ब्रह्म को जानता है वह अमरत्व को प्राप्त कर जाता है।

उस विष्णु के उत्तम पद को ब्रह्मवेत्ता (ब्रह्मज्ञानी) जन नित्य देखते है अर्थात् सम्पूर्ण उच्चावच जगत् सृष्टि के प्रत्येक व्यक्ति में ब्रह्म दर्शन करते हैं। 'स ब्रह्मभूयाय कल्पते' (श्रुति) तथा 'तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः तस्मिंहतस्थुर्भुवनानिविश्वा' (शुक्ल यजुर्वेद पुरुषसूक्त) उस परमात्मा के योनि को (सर्वोत्पत्तिक कारण) विद्वान् ब्रह्मज्ञानी ज्ञानचक्षु की दृष्टि से सम्यग् देखते हैं कि उसमें सभी भुवन उत्पन्न होते-स्थिति प्राप्त करते और अन्त में लय को प्राप्त करते है। ऐसे साधक दिव्य चक्षु (ज्ञान) से सम्पन्न होकर विपत्ति (अज्ञान-आवरण) निवारण हेतु शक्ति सम्पन्नता को प्राप्त हो जाते है। विष्णु के पद प्राप्ति का अनुशासन इस प्रकार वेद ने किया है जो निर्माण स्वरूप है। यही वेदानुशासन है—यही वेदानुशासन है। दो बार अभिकथन अवधारणार्थ है या विषय सुदृढ़ी करण हेतु कहा है। अन्त में गुरु-शिष्य की साथ-साथ रक्षा हो यह ईश्वर से प्रार्थना गुरुकुल परम्परा का व्यवहारिक ऋषिगत शिष्टता और विचार औदार्य के लिए कहा है। (स्कन्दोपनि.)



उपर्युक्त बीजाक्षर मालामन्त्र प्रतीकात्मक है। साधक प्रत्येक सृष्टि वस्तु में परमात्मभावना से उपासना करे यही इसका मुख्याभिप्राय होना चाहिये। सृष्टि के प्रत्येक सृज्यमान वस्तु (जीवात्मा) संज्ञा वाला है और संज्ञा (वर्ण-अक्षर) स्वरूप ही होता है। अतः संज्ञा (अक्षर वस्तु) और सृष्टि वस्तु (माला का मनका) माला है दोनों की सहायता से ब्रह्म (परमात्मा) मन्त्र का जप कर आत्मलाभ किया जा सकता है। श्रुति भी कहती है—'रूपं रूपं प्रतिरूपं वभूव' तदैक्षत एकोऽहं बहुस्याम' इसका साधक को ध्यान रखना चाहिये। स्मृति भी है 'ईश्वरो हि सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'। सर्वतः पाणिपादं सर्वतोमऽक्षि शिरो मुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति' (गीता) इस तरह परमात्मा के व्यापक स्वरूप को ध्यान में रख कर उसे माला समझ कर संज्ञा (नाम) रूपी बीजाक्षर का जप (चिन्तन-मनन-ध्यान-धारणा) साधक करे।

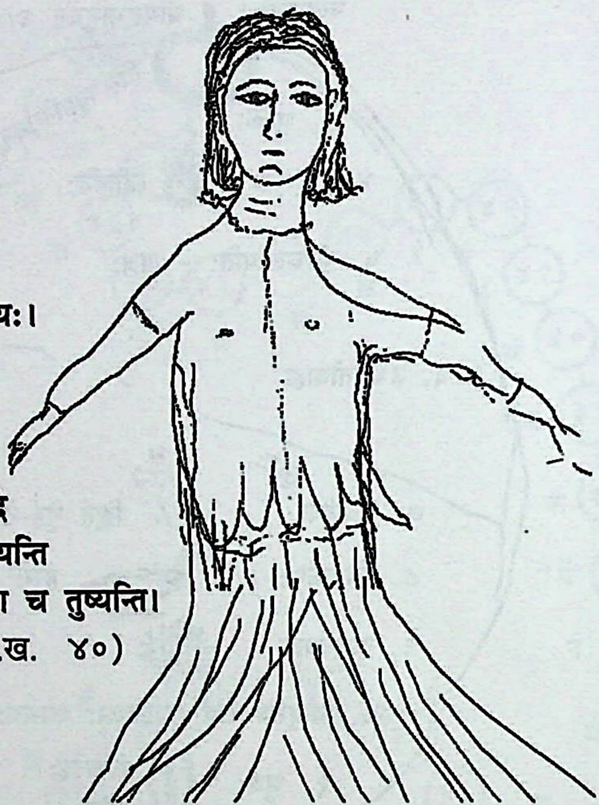
नवप्रश्नाः। श्रीमद्भागवत् ६/५।



प्रकृत प्रसंग भागवतमहापुराण के षष्ठ स्कन्धान्तर्गत पंचम अध्याय अन्तर्गत हर्यश्वादि को नारद जी उपदेश कर रहे हैं—यह बुद्धि स्त्री धर्मा बहुरूपा है यह विभिन्न संकल्पों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर घोर अन्धतम लोक में गिराने वाली है अथवा यह पुंश्चलीपति के समान अर्थात् जिस प्रकार पुंश्चली स्त्री के साथ संग करने से निखिल ऐश्वर्य और स्वातन्त्र्यता का नाश हो जाता है उसी प्रकार यह संसार में आसक्त बुद्धि पुरुष (आत्मा) के ऐश्वर्य-स्वातन्त्र्य स्वरूप को आच्छादि कर (आवृत्त) कर काम-क्रोध-लोभ-मात्सर्यादि रूप महापंक में निमज्जित कर आत्मा के ऐश्वर्यादि सम्पन्न स्वस्वरूप को नाश कर देती है। बुद्धिः (महान्-प्रकृति) सुख-दुःख लक्षणा है और वेगवती नदी के कूल (तट) के समान तपोविद्या आदि प्रवाह के प्रतिबन्धक अहंकारादि वेगवती बनकर बहती जैसी होती है।

यह पंचपंचा (पच्चीस तत्त्वों के संघात) शरीर गृह के रूपक हैं और इस गृह (शरीर) के अन्तर्यामी पुरुष (आत्मा) है जो कार्य-कारण संघात के अधिष्ठाता हैं। ऐसे शरीर रूपी सरोवर (रूपक) में चिज्जड़ रूप हंस (जीवात्मा) का निवास है, जो कालचक्र से प्रेरित होकर तत्तत् विषय वस्तु में (वासनाधीन) प्रवृत्त होकर तत्तत्कर्म करता हुआ तत्कर्मजन्यभोग्यवस्तु का भोक्ता होता है। इस तरह कर्तृत्व-भोक्तृत्व-जनन-मरण रूप संसार

पितृणां दिवौकसां
योनिः–
पंचतन्मात्रं,
मनोबुद्धिरहं जडाः
नवतत्त्वमयं वपुः।
दशमः पुरुषः।
दूरोक्तं पूजा स्तुतयः।
त्रिकालज्ञाः



गन्धरसादि
तत्त्वेन तुष्यन्ति
शुचिर्दृष्ट्वा च तुष्यन्ति।
(स्क.पु.मा.ख. ४०)

प्रवाह में प्रवहमान होता हुआ अनन्त काल तक सुख-दुःखात्मक-काम-क्रोध आदि अन्तःकरण के महद्दुःखों को भोगकर व्याकुल बुद्धि वाला वह जीवात्मा संसार चक्र को वहन करता है। परन्तु कदाचित् प्रारब्धवशात् परमकारुणिक सन्त गुरु को यदि वह प्राप्त हो जाता है तो उनके सद्रूपदेश से 'एक पुरुष परब्रह्मा परमात्मा का यह राष्ट्र (संसार) है और वह परमात्मा अखिल जगत् के नियन्ता होने के कारण 'एक पुरुषराष्ट्रः' है ऐसा बोध हो जाता है। 'एकः पुरुषः (परमात्मा) राष्ट्रे (यस्मिन्) सः एकपुरुषराष्ट्रः' एक ही पुरुष (परमात्मा) है जिस राष्ट्र (जगत्) के ऐसी व्युत्पति के द्वारा परब्रह्म परमेश्वर सम्पूर्ण जगत् के नियन्ता (शासक) हैं ऐसा ज्ञान गुरु तथा शास्त्र द्वारा प्राप्त हो जाने पर वह जीवात्मा उपासना के द्वारा सकल अदृष्ट-फल को प्रदान करने वाली मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। मुक्ति अदृष्ट है क्योंकि वह इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं हो सकती। भुवः लिंगदेह है यह ध्यान रहे। (श्रीमद्भा. ६/५)

पितरों की योनि दिव्य योनियों (दिवि भवः दिव्यः द्योतनशीलः इत्यर्थः) की होती है। उनके दिव्य शरीर हमलोगों के पार्विव शरीर से भिन्न और दिव्य तत्त्वों से बने होते हैं। पंच तन्मात्रा-मन-बुद्धि-अहंकार एवं जड़ तत्त्व कुल नौ तत्त्वों से बने होते हैं; जबकि पार्थिव शरीर पंचमहाभूत-पंचतन्मात्रा-पंचज्ञानेन्द्रिय-पंचकर्मेन्द्रिय-मन-बुद्धि-चित्त अहंकार-पुरुष कुल पचीस तत्त्वों से निर्मित है। इसलिए पार्थिव शरीर-दिव्य पितृ शरीर से स्थूलतर है

सर्वात्मभावनावन्तं, सेवन्ते सर्वसिद्धयः। (दक्षि. स्तो. वार्ति. २२)

सच्चिदानन्दरूपाय, विन्दुनादान्तरात्मने।
आदिमध्यान्तशून्याय, गुरुणां गुरुवे नमः।।

औंर दिव्य पितृ शरीर पार्विव शरीर से सूक्ष्मतर है। नव तत्त्व से बने पितरों के शरीर में भी पुरुष (आत्मा) है जिसके सम्मिलित होने पर दस तत्त्व की संख्या उनकी हो जाती है। पार्थिव शरीर के स्थूल होने के कारण इसके भोग्य वस्तु भी प्रायः स्थूल ही होते हैं। स्थूल भोग्य वस्तु के विना इस शरीर का बने रहना सम्भव नहीं होता जबकि दिव्य पितरों के भोग्य वस्तु सूक्ष्म होते हैं। वे गन्ध और रस के भोग से तृप्त होते हैं। पवित्रता को वे विशेष पसन्द करते हैं इसलिये मनसा-वाचा-कर्मणा पवित्रभाव से उनकी पूजा करनी चाहिये। (स्क.पु.मा.ख. ४०)

जो व्यक्ति सभी प्राणियों में अपनी आत्मा को ही देखता है—अनुभव करता है, उसको सभी प्रकार की सिद्धियाँ आकर वरण कर लेती हैं और मनोवाञ्छित फल को प्रदान करती है। 'स पूर्णकामः' यस्तु सर्वाणिभूतानि आत्मैवाभूत विजानतः'। (श्रुति)

सत्-चित्-आनन्द स्वरूप और विन्दु तथा नाद है स्वरूप जिसका तथा आदि-मध्य और अन्त से रहित स्वरूप वाले जो गुरुओं के भी गुरु हैं उसे मैं नमस्कार करता हूँ। गुरु कहते हैं—

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात् रूशब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वात् गुरुशब्दस्तदुच्यते।।

ईश्वरो 'गुरु आत्मेति', अहमः गुरु हि सः।
शिव प्रोक्तो यः शिवः सः गुरु स्मृतः।।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

'गु' शब्द अन्धकार वाचक है और 'रु' शब्द अन्धकार के निरोधक प्रकाशवाचक है। अन्धार को निरोध करने की शक्ति वाला जो प्रकाश उसे गुरु कहते हैं। अन्धकार अज्ञान का बोधक है और प्रकाश ज्ञान का बोधक है और जो उपदिष्ट ज्ञान के द्वारा अज्ञानी शिष्य के अज्ञान को निवृत्त करके यथार्थ तत्त्व (परमात्मा) का साक्षात्कार (अपरोक्ष बोध) करा दे वह गुरु कहता है। गुरु में शिव में कोई अन्तर नहीं होता वे दोनों तत्त्वतः एक ही होते हैं। गुरु ब्रह्मविष्णुशिवात्मक स्वरूप साक्षात्ब्रह्म ही है। इसलिये साधक को सर्वतो भावेन मनसा-वाचा कर्मणा पवित्र भाव से गुरु की सेवा-शुश्रुषा करनी चाहिये। (दक्षि.स्तो.वार्ति. २२)

श्वासाश्चरन्ति यावन्तो, मनुष्यस्य दिनं प्रति।
तावन्ति योजनान्यर्कः, श्वासे श्वासे प्रधावति।।२६।।

ध्यानास्पन्दनबुद्धेः, समाधिरमिधीयते।
अमनस्क समाधिस्तु, सर्वचिन्ताविवर्जितम्।।

विकल्पना- ३

मय्यनन्तमहाम्भोधौ, जगद्वीचिः।२
विश्वपोत इतस्ततः।
भ्रमति स्वान्तवातेन, न ममास्त्यसहिष्णुता।।



(अष्टवक्रशी. ७/१)

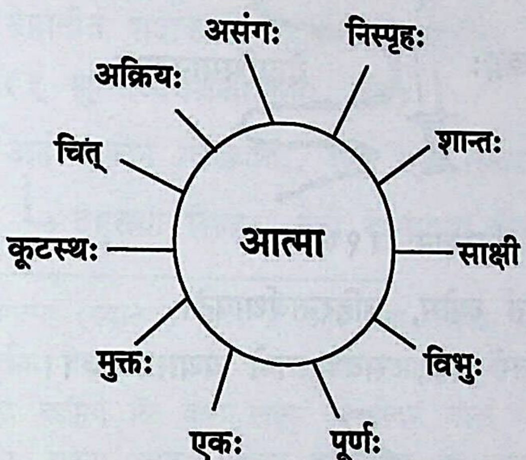
नात्मा भावेषु नोभावस्तात्रा
नन्ते निरञ्जने।।४।।

चिन्मात्रमेवाहं, इन्द्रजालोपमं जगत्।।५।।

मनुष्य के एक दिन में जितने श्वास चलते हैं। उतने वार सूर्य से सम्बन्ध बनता है, क्योंकि सूर्य प्रत्येक श्वास के साथ दौड़ता है। ध्यान में बुद्धि (ज्ञान) का जो स्पन्दन (स्फुरण) होता है वह समाधि से होता है। साधक ध्येय वस्तु की तदाकारित धारणा करके ध्यान करता है तो ध्येय वस्तु के आकार ज्ञान का स्फुरण होने लगता है, वह धारावाहिक रूप धारण कर लेता है वही ध्येय का धारावाहिक तदाकार स्वात्मबोध समाधि है और जब ध्येय वस्तु की चिन्ता निवृत्त हो जाती है तो उसे अमनस्क समाधि कहा जाता है।

साधक शिष्य को गुरूपदिष्ट उपदेश का चिन्तन मनन-ध्यान-धारणा-परिपक्व हो जाती है तो मन की विकल्पना (संकल्प) रूप संसार दुस्तर सागर के समान भयंकर प्रतीति होने लगती है और उसे संसार से विरक्ति होने लगती है। विरक्ति के परिपक्व होने पर मन की विकल्पना (संकल्पविकल्पात्मकता) नष्ट हो जाती है। 'संकल्प विकल्पात्मकं मनः' मन

असंगोसि निराकारो विश्वसाक्षी। (अष्टावक्र गीता १/५)



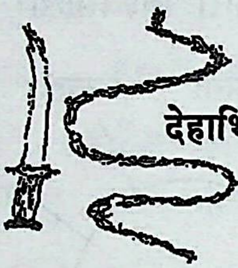
भ्रमात्संसारवानिव।।१२।।

संकल्प और विकल्प स्वरूप वाला होता है। अतः मन के स्वरूप का ध्येय आत्मा में लय हो जाने पर उसे जगद्रूपी सागर के तरंग में जीवरूपी पोत पर आरुढ़ मन इधर-उधर दिशाहीन तैरता हुआ प्रतीत होता है और पोत (जहाज) को अन्तकरण की वासनारूपी बात (वायु) यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ (इस इष्ट विषय वस्तु से उस इष्ट विषय वस्तु में) ले जाकर भ्रमाते रहता है। जब उसको संसार के भ्रम मूलक बोध हो तब वह यथार्थ बोध प्राप्त करने के लिये उस जगत् के मूलधार अधिष्ठानभूत परमात्मा का अन्वेषण करता है और वह शान्त चित्त को प्राप्त कर स्थिरता को प्राप्त करता हुआ अनुभव करता है कि यह जो जगद्भाव प्रतीत हो रहा है वह सत्य नहीं है, क्योंकि वह ब्रह्म निरञ्जन स्वरूप है—निरवयव है और सभी जगद्वस्तु का उपादान कारण है इसलिए उस उपादान ब्रह्म में इन्द्रजाल के समान भ्रमरूप से यह भासता है। अतः मैं जगद्रूप नहीं हूँ। शरीर नहीं हूँ। मैं चिन्मात्र स्वरूप ब्रह्म हूँ। इस प्रकार साधक को यथार्थ ज्ञानानन्तर दुःख से निवृत्ति हो जाती है।

ब्रह्मर्षि अष्टावक्र ने महाराज जनक से उपदेश वचन कहा—हे पुत्र तुम असंग आत्मा स्वरूप हो। आत्मा का किसी से संग नहीं होता। वह अणु से भी अणु परिमाण होने के कारण असंग-निराकार और सम्पूर्ण विश्व का साक्षी मात्र है।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदोविदुः।। (मु.उ. २/९)

वह आत्मा (ब्रह्म) हिरण्मय (ज्योतिर्मय) परम कोश में विद्यमान है। वह निर्मल और कलाहीन-शुद्ध और ज्योतिर्मय पदार्थों की भी ज्योति है जिसे आत्मज्ञानीजन जानते हैं। वे आत्मवेत्ताजन इस आत्मा को असंग-निस्पृह-शान्त-साक्षी-विभु-पूर्ण-एक (अद्वितीय)-मुक्त-

बोधोऽहं ज्ञानखड्गः  देहाभिमानपाशः

स्वप्रकाशो निरञ्जनः।।१५।।

एकं .सर्वगतं व्योम, वहिरन्तर्यथाघटे।
नित्यं निरन्तरं ब्रह्म, सर्वभूतगणे यथा।।२०।।



कूटस्थ-चित् (चेतन)-अक्रिय स्वरूप से जानते है। अतः तुम वैसा ही हो। भ्रमवश तुम अपने को संसार वाला अर्थात् देह-पिता-पुत्र-भाई-बन्धु आदि रूप से जानते हो जबकि यह तुम्हारा परमार्थ स्वरूप नहीं है। (१/१२)। अहंकार को ज्ञानरूपी खड्ग (तलवार) से काट दो क्योंकि अहंकार (देहाभिमान) पाश (बान्धनवाली रस्सी) है और उससे (अहंकार से) जीव बद्ध हो जाने पर अपने स्वरूप को विस्मृत हो जाता है और अपने को कर्ता-भोक्ता आदि रूप से भ्रमवश जानने लगता है, परन्तु हे वत्स जनक तुम स्वप्रकाश स्वरूप हो-निरञ्जन स्वरूप हो। तुम सर्वगत व्यापक आकाश की भाँति व्यापक हो, क्योंकि परमात्मा ब्रह्म स्वरूप ही तुम हो। जिस तरह घटाकाश और महाकाश में तात्त्विक भेद नहीं होता वह उपाधिभेद से व्यवहृत होता हुआ भी तात्त्विक दृष्टि से एक और अभेद स्वरूप ही होता है वैसे ही जीवात्मा और परमात्मा में आत्म तत्त्वेन अभेद है और उपाधि भेदेन वह भिन्नवत् दिखता है जो मिथ्या है। इसलिए तुम—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं, शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा, लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि।। (मु.उ. २/३)

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा, ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेधव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।।४।।

हे सौम्य उपनिषद् वेद्य महान् अस्त्र (ज्ञान) रूप धनुष लेकर उस पर उपासना द्वारा तीक्ष्ण (तेज) किया हुआ वाण चढ़ा कर और फिर उसे खींच कर ब्रह्मभावानुगत चित्त द्वारा उस अक्षर (ब्रह्म) रूप लक्ष्य का ही वेधन करो। क्योंकि उपनिषद् वेद्य प्रणव ब्रह्म (सोपाधिक)

अहो निरञ्जनः शान्तः, बोधोऽहं प्रकृतेः परः।। (अष्टाव.गी. २/१)
देहातीतं सदाकारं, सुदुर्दर्शं भवादृशैः। (अपरोक्षानु. ३०)
(१-श्रुत्याचार्यश्रद्धाशून्यैः, टी.)
अहं शब्देन विख्यातः, एक एव स्थिरः परः।।३१।।
→ दष्टृतया सिद्धः, देहो दृश्यतया स्थितः।।३२।।

नहीं है, और आत्मा (स्वात्मा) वाण है और ब्रह्म उसका लक्ष्य वस्तु है। उस लक्ष्य ब्रह्म का सावधानी पूर्वक वेधन कर दो तथा वाण (आत्मा) के समान तन्मय हो जाओ। यहाँ इस तरह समझना चाहिये कि वाण लक्ष्य को भेदन काल में लक्ष्य वस्तु के भीतर प्रविष्ट हो जाता है और अपना स्वरूप खोकर लक्ष्याकार हो जाता है। ठीक उसी तरह आत्मा रूपी वाण से परमात्मा रूप लक्ष्य ब्रह्म का भेदन कर स्वात्म (जीवात्मा) रूप को ब्रह्माकार कर स्थित हो जाओ। (अष्टावक्र गी. १/२०)

'अहो आश्चार्यें' अहो का अर्थ आश्चर्य और खिन्नता का बोधक अर्थ प्रकटन हेतु प्रयुक्त है। गुरु द्वारा उपदिष्ट होने पर स्वात्म बोध को प्राप्त साधक शिष्य दुःख पूर्वक कहता है कि—यह महद् आश्चर्य का विषय है कि मेरा जो निरञ्जन-शान्त और ज्ञान स्वरूप जो स्वरूप है वह प्रकृति से परे है लेकिन मैं इसे प्रकृति का कार्य शरीर रूप से जानता था। आज अपने स्वरूप को ब्रह्म रूप से जान और पहचान कर मुझे अपने पूर्व अज्ञान पर आश्चर्य और दुःख है। (अष्टावक्रगी. २/१)

मैं देहातीत हूँ। सदा सत्य स्वरूप हूँ। परन्तु श्रुति और आचार्य में श्रद्धा नहीं रखने वालों के लिये इस आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होना सम्भव नहीं है क्योंकि 'शान्तो दान्तः उपरतः तितिक्षुः समाहितः श्रद्धाचित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' (श्रुतिः) अर्थात् शान्त-दान्त-उपरत-तितिक्षु-समाहित-श्रद्धाचित्त पुरुष ही आत्मा में आत्मा को दर्शन करता है। **शान्त**—निषिद्ध शब्दादिक विषयों से मन को रोकने वाले पुरुष को कहते हैं। **दान्त**—निषिद्ध शब्दादिक विषयों से वाह्य चक्षुरादिक इन्द्रियों को रोकने वाले पुरुष को कहते हैं। **उपरत**—उपरति उपरामता या संन्यास है और उपरति वाले पुरुष को उपरत कहते है। तितिक्षु-शीत-उष्ण-सुख-दुःख द्वन्द्वों को सहन करने वाले पुरुष तितिक्षु है और **समाहित** स्थिर चित्त वाले को कहते हैं। **श्रद्धाचित्त** श्रीगुरु के वाक्यों तथा वेदान्त (श्रुति) वाक्यों में श्रद्धा ही है धन जिसका वह श्रद्धाचित्त है। (अपरोक्षानु. ३०)

अहं शब्द से एक अद्वितीय निश्चल आत्मा (ब्रह्म) का ही अर्थ प्रसिद्ध है और वह अहं शब्दवाच्य आत्मा सर्वद्रष्टा (देखने वाला) अर्थ को प्रकट करने वाला है यह भी विख्यात

चैतन्यस्यैकरूपत्वात्वाद्, भेदो युक्तो न कर्हिचित्।।४३।।

य आत्माऽपहतपाम्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघित्सोऽपिपासः। सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः।। (श्रुतिः)

यथा विविदिषा संन्यासिना तत्त्वज्ञानाय श्रवणादीनि सम्पादनीयानि, तथा विद्वत्संन्यासिनापि जीवन्मुक्तये मनो नाश-वासनाक्षयौ सम्पदनीयौ।। (जीवन्मु. वि.)

है तथा शरीर दृश्यतया (दृश्य रूप से) प्रसिद्ध है। अत: अहं का आस्पद आत्मा निश्चल-द्रष्टा (साक्षी) तथा शरीर दृश्य (विषय) जगद्रूप (मिथ्या) प्रकृति है ऐसा जानना चाहिये। (अपरोक्षानु. ३१,३२)

चैतन्य की एकरूपता (अद्वितीय) स्वरूप ही पारमार्थिक सत्य है। चेतन-आत्मा में भेद नहीं होता है। चेतन के आत्मस्वरूप होने से तथा अद्वितीय होने के कारण एकत्व (अद्वितीयत्व) ही सिद्ध होता है, क्योंकि एक में भेद नहीं होता अपितु दो में होता है। (अपरोक्षानु. ४३)

जो आत्मा सकल पापों (मलों) से रहित, अजन्मा, मृत्युरहित, शोक रहित, क्षुधा रहित, पिपासा रहित है और सत्यकाम, सत्यसंकल्प वाला है वह विशेष रूप से जानने योग्य है अत: उसे जानो। (श्रुति)

जिस प्रकार तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की इच्छा वाले सन्यासियों के गुरु और शास्त्र के द्वारा श्रवण मनन-निदिध्यासनादि कर्म का सम्पादन करणीय होता है उसी प्रकार विद्वान् संन्यासियों को भी जीवनमुक्ति के लिये मनोनाश और वासना के क्षय के लिए शास्त्रादि वचनों के मननादि और तदनुकूल युक्तियों का आश्रय कर्म सम्पादनीय होता है।

आत्मा वा रे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासतव्यः'। (श्रुति)

प्रत्येक श्रेणी के अधिकारी के लिए श्रवण-मनन निदिध्यासन कर्म ब्रह्मज्ञान के लिए आवश्यक है और ब्रह्म के लिए मन और वासना का क्षय होना आवश्यक है। मननादि कर्म से ही मन और वासना का क्षय सम्भव होता है। अत:—

यत्र-यत्र भक्ते तृष्णा संसारं विद्धि तत्र वै।
प्रौढ़ वैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णः सुखीभव।।३।।

तृष्णामात्रात्मकोबन्धस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते।
भवासंसक्तिमात्रेण, प्राप्तितुष्टिर्मुहुर्मुहुः।।४।। (अष्टावक्र, गीता-१०)

जहाँ-जहाँ तृष्णा है तहाँ-तहाँ संसार होता है। जहाँ तृष्णा है वहाँ बन्ध है। 'तदा मुक्तिर्यदा चित्तं, न वांछति न शोचति। न मुञ्चति न गृहणाति, न दृष्यति न कुप्यति।। (अष्टा.

यः शरीरेन्द्रियादिभ्यो, विभिन्नं सर्वसाक्षिणम्।
पारमार्थिकविज्ञानं, सुखात्मानं स्वयं प्रभम्।।
परं तत्त्वं विजानाति, सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्।।
महदादि जगन्माया, मयं मय्येव कल्पितम्।
केवलं चित्सदानन्दो, ब्रह्मैवात्मा यथार्थतः।।

वासना

द्विविधा— { शुद्धा-जन्मविनाशिनी-देहार्थं ध्रियते ज्ञात-ज्ञेया।
मलिना-पुनर्जन्मकरी-अज्ञानसुघनाकाराघनाहंकारशालिनी।

→ त्रिधा— { लोकवासना
शास्त्रवासना
देहवासना

८/२) जब तक इच्छा और विषय का चिन्तन है तब तक बन्ध है। जब तक आदान-प्रदान व्यवहार में आदर व्यवहार है तब तक बन्ध है। जब तक-क्रोध और हर्ष मनो धर्म है तब तक बन्ध है। अतः मोक्ष प्राप्ति की इच्छा वालों को ये सब त्यागना चाहिये। (जीवन्मु.वि.)

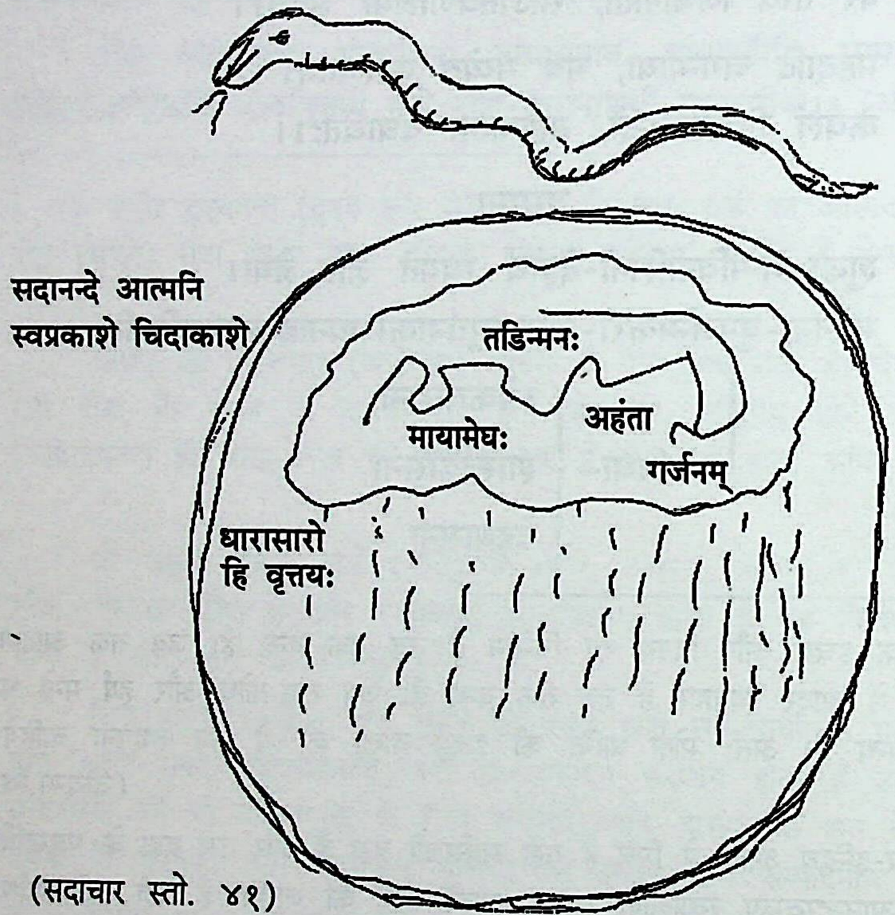
जो शरीर-इन्द्रिय आदि से भिन्न है वही सर्वसाक्षी ब्रह्म है और उस ब्रह्म के पारमार्थिक विज्ञान स्वरूप-आनन्दस्वरूप स्वप्रकाश स्वरूप आत्म तत्त्व को जानता है वही अतिवर्णाश्रमी (सन्यासी) होता है। अर्थात् ब्रह्मज्ञानी होता है। महत् (बुद्धि) आदि जो जगत् (संसार) है वह मायिक स्वरूप है और मुझ (आत्मा) में ही कल्पित है क्योंकि मैं (आत्मा) यथार्थतः सत्-चित्-आनन्द स्वरूप अद्वितीय ब्रह्म ही हूँ। ऐसा जानने वाले साधक के वासना और मन का क्षय हो जाता है।

वासना दो प्रकार के होते हैं—१. शुद्धा और २. मलिना।

१. शुद्धा जन्म विनाशिनी होती है और वह शुद्धा वासना देहरक्षण मात्र के ज्ञात-ज्ञेय व्यवहारवती होती है।

२. मलिना पुनजन्मकरी होती है और वह अज्ञानसुघनाकारा अहंकार शालिनी होती है। साधक के लिए यह मलिना वासना परमहेया है। पुनर्जन्मकरी मलिना वासना पुनः तीन प्रकार की होती है—१. लोकवासना, २. शास्त्रवासना और ३. देहवासना।

दुराशाक्षीरपानेन, भोगानिलबलेन च।
आस्थादानेन चारेण, चित्ताहिर्यातिपीनताम्।। (योगवाशिष्ठ)



(सदाचार स्तो. ४१)

दुराशा रूपी क्षीर (दुग्ध) को पीकर और भोगरूपी अनिल (वायु) को खाकर तथा उसमें आस्थारूपी चाल (गति) से विहार करके चित्तरूपी सर्पिणी सर्वदा पुष्ट हुआ करती है। (योगवाशिष्ठ)

जीवात्मा के हृदयाकाश में मायारूपी मेघ छाये हुए हैं और उस मायारूपी मेघ (बादल) के मध्य मनरूपी बिजली छिटकती रहती है। मन का संकल्प-विकल्प रूप कर्म ही चंचल बिजली है और वह माया मेघ जीवात्मा के अहंकार रूपी गर्जन भी करती है तथा अन्तकरण की चित्तवृत्तियाँ ही धारासार (सघनवृष्टि) है जिससे जीव के वासना रूपी क्षेत्र (खेत) को आर्द कर काम-क्रोध-लोभ-मोह-राग-द्वेष आदि फलों से लदे हुए वृक्ष को पुष्ट करती है। इसी माया मेघ में मन रूपी बिजली जब तेज छिटकती है तो जीवात्मा चकाचौध में पड़कर भ्रमित हो जाता है और पहचान शक्ति (विवेक) शून्य हो जाता है। (सदाचार स्तो.४१)

ज्ञानं-दिग् दृश्ययोर्भावं, विज्ञानं-दृश्य शून्यता।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म, नेह नानाऽस्ति किञ्चन।। (सदाचार स्तो. ४३)
परोक्षशास्त्रजं ज्ञानं, विज्ञानं चात्मदर्शनम्।
सश्वन्नश्वरमेवविश्वमखिलं, निश्चित्य वाचागुरोः।
नित्यब्रह्मनिरन्तरं विमृशता, निर्व्याजशान्तात्मना।।
भूतं भावि च दुष्कृतं प्रदहता, संविन्मये पावके।
प्रारब्धाय समर्पितं स्ववपुः, इत्येषा मनीषा-मनीषा मम।। (मनीषपञ्चकम्)
सदासर्वगतोप्यात्मा, न सर्वत्रावभासते।
बुद्धावेवावभासते, स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत्।। (आत्मबोध १६)
देहेन्द्रियगुणान्कर्मा-ण्यमले सच्चिदात्मनि।
अध्यस्यन्त्यविवेकेन, गगने नीलतादिवत्।।२०।।

ज्ञान दिग् (दिशा) और दृश्यभाव रूप होता है और विज्ञान दृश्य (सृष्टि) की शून्यता (मिथ्यात्व) को कहते हैं और ब्रह्म की नित्यत्व और सार्वकालिकत्व एवं सर्वगतत्व स्वरूप को स्वात्मरूप से विमर्श करके शान्त भाव को प्राप्त करना चाहिये ताकि मायिक व्याज समाप्त हो जाय। जो भी हुए और जो भी होने वाले पाप (मल) हैं उसे संविन्मय (विज्ञानमय) अग्नि में जला कर और प्रारब्ध से प्राप्त अपने शरीर को अपने प्रारब्ध के ही अधीन समर्पित करके यही ज्ञान ही ब्रह्म है और मैं ब्रह्मबोध स्वरूप हूँ यह विश्चिय ही साधकों के परम लक्ष्यप्राप्ति है। मैं अद्वितीय ब्रह्म हूँ और यहाँ अनेक नहीं है सब अद्वितीय ब्रह्म ही हैं। (सदाचार स्तो. ४३)

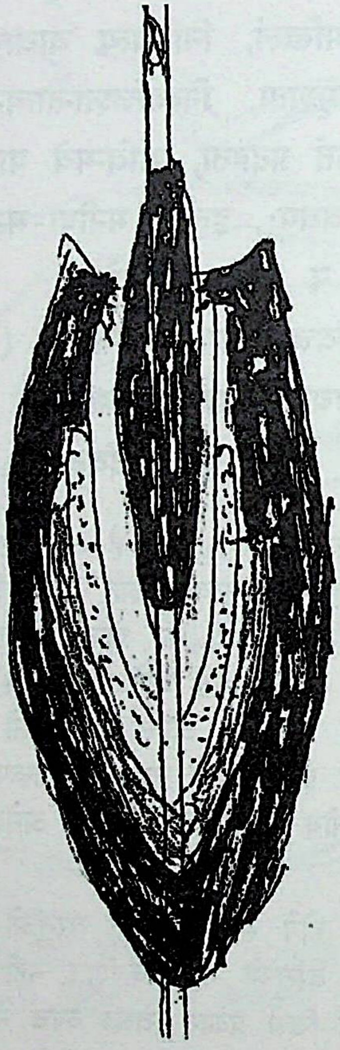
सर्वगत आत्मा के स्वरूप होने से वह सभी वस्तुओं में नित्य रूप से व्याप्त है, ऐसा होते हुए भी सर्वत्र (सभी वस्तुओं में) प्रकाशित नहीं होता है केवल बुद्धि में ही उसका स्फुरण (प्रकाशन) होता है जिस प्रकार स्वच्छ काच में ही वस्तु का प्रतिविम्बभासता है ठीक उसी प्रकार तैजस बुद्धितत्त्व में आत्मा का प्रतिविम्बन होने से अहं आलम्बन का विषय बनता है जो प्रतिभास मात्र ही है।

देह-इन्द्रियों और गुणों तथा कर्मों को निर्मल सत्-चित् स्वरूप आत्मा में ही अध्यस्त जानो जो कि विवेक (निर्मल ज्ञान) के नहीं रहने के कारण सूझ नहीं रहा है। इसलिये उसमें स्वात्मा का व्यवहार करते आ रहे हो। परन्तु विवेक विज्ञान के उदय हो जाने पर तो वह आत्मा में ही मिथ्या रूप से अध्यस्त है ऐसा बोध हो जायेगा जैसे आकाश के रूप नहीं होने पर भी नीलतादि (अज्ञान के कारण) प्रतीति का विषय होता है।

(आत्मबोध १६,२०)

प्रकाशोऽर्कस्य तोयस्य शैत्यमग्नेर्यथोष्णता।
स्वभावः सच्चिदानन्द-नित्यनिर्मलतागतः।। (आत्मबोध-२३)

अन्नप्राणमनोमयविज्ञानन्दपंचकोषाणाम्।
एकैकान्तरभाजां भजति विवेकात् प्रकाशतामाता
यः स्फुरति बिम्बभूतः सभवेदानन्द एव। (स्वात्मनिरूपणम्-८)
सकलात्मा। प्रागूर्ध्वमपि च सत्त्वात् विकारित्वादवाध्यमानत्वात्।।१४।।



१. वपुरिदमन्नमयात्मकोषः।
२. वपुष्यवच्छिन्नो वायुविशेषः प्राणमयः कोषः।
३. रागद्वेषविधेयो मनोमयःकोषः।
४. चित्प्रतिविम्बा बुद्धिः विज्ञानमयः।
५. सुप्तिगतसुखलेशे सुखमानी आनन्दमयकोशः।

जिस प्रकार सूर्य का स्वभाव प्रकाशमय है, अग्नि का स्वभाव (स्वरूप) दाहकता का है उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव सत्-चित्-आनन्द स्वरूप तथा सकलमल रहित स्वच्छ (निर्मल) और नित्य है। (आत्मबोध २३)

जीवात्मा के शरीर में पाँच कोष होते है इन पाँचों कोषों में आत्मा का स्पन्दन समान रूप से प्राप्त हुए भी प्रत्येक कोष का अपना विशेष लक्षण हैं, वे—१. अन्नमय, २. प्राणमय, ३. मनोमय, विज्ञानमय और ५. आनन्दमय—ये पाँच कोष हैं।

१. **अन्नमयकोष**—अन्न से उत्पन्न हुआ यह स्थूल देह ही अन्नमय कोश है। जो अन्न से ही जीता है और अन्न के विना नष्ट हो जाता है। यह त्वचा-चर्म-मांस-रुधिर-अस्थि और मल आदि का समूह स्वयं से नित्य एवं शुद्ध आत्मा नहीं हो सकता यही विवेक है।

२. **प्राणमयकोष**—पंच कर्मेन्द्रियों से युक्त यह प्राण ही प्राणमय कोश है। प्राण से युक्त यह अन्नमयकोश अन्न से तृप्त होकर सभी प्रकार के कर्मों को करने में सक्षम और प्रवृत्त हो पाता है।

३. **मनोमयकोष**—ज्ञानेन्द्रियाँ और मन ही 'मैं' और 'मेरा' (अहं-मम) आदि विकल्पों का हेतु है तथा यही मनोमय कोष कहलाता है। यह नाम आदि भेद कलनाओं से जाना जाता है और यह मनोमय कोष बड़ा बलवान् है तथा पूर्व के अन्नमय-प्राणमय कोषों को व्याप्त कर स्थित होता है।

४. **विज्ञानमयकोष**—ज्ञानेन्द्रियों के सहकृत वृत्तियुक्त बुद्धि ही कर्तापन के स्वभाववाला विज्ञानमय कोश कहलाता है, जो पुरुष के जन्म मरण रूप संसार का कारण होता है।

५. **आनन्दमयकोष**—आनन्द स्वरूप आत्मा के बिम्ब से प्रतिफलित प्रतिविम्ब से चुम्बित होकर तथा तमोगुण से प्रकट हुई वृत्ति आनन्दमय कोश है। वह प्रिय-आमोद-प्रमोद इन तीन गुणों से युक्त है और अपने अभिष्ट पदार्थ के प्राप्त होने पर प्रकट होता है। पुण्यकर्म के परिपाक होने पर उसके फलस्वरूप सुख का अनुभव करते समय भाग्यवान् पुरुषों को इस आनन्दमयकोश का स्वयं से ही अनुभव होता है, जिससे वह सम्पूर्ण देहधारी जीव विना प्रयत्न के ही अति आनन्दित होते हैं। आनन्दमयकोष की उत्कट अर्थात् तीव्र प्रतीति सुषुप्तिकाल में ही होता है तथापि जाग्रत् अवस्था और स्वप्नावस्था में भी इष्ट वस्तु के दर्शन (प्राप्ति) से यत्किञ्चित् भान होता ही है। यह परमात्मा आनन्दमय नहीं है, क्योंकि यह आनन्द सोपाधिक और प्रकृति का विकार है, और शुभ कर्मों के कार्य है और प्रकृति के विकारों के जो समूहभूत शरीर उसके आश्रित है। यही इसका विवेक है। श्रुति वचनों तथा गुरु द्वारा निर्दिष्ट उपाय और शास्त्र-गुरु तथा स्वविवेक के अनुकूल युक्तियों से पाँचों कोशों के निषेध कर देने पर उसके निषेध की अवधिरूप (शुद्ध) बोधस्वरूप साक्षी-आत्मा बचा रह जाता है।

इस प्रकार स्वयं प्रकाश जो आत्मा वह अन्नमयादि पाँचों कोशों से पृथक् (भिन्न) तथा जाग्रत-स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से पृथक सत्, निर्मल, निर्विकार और निरवयव स्वरूप वाला है, उसे ही विद्वान् पुरुष को अपना वास्तविक स्वरूप-आत्मा जानना चाहिये।

ज्ञाता मनोऽहङ्कृतिविक्रियाणां, देहेन्द्रियप्राणकृतक्रियाणाम्।
अयोऽग्निवत्ताननुवर्तमानो, न चेष्टते न विकरोति किञ्चन।। (विवेक चू. १३५)

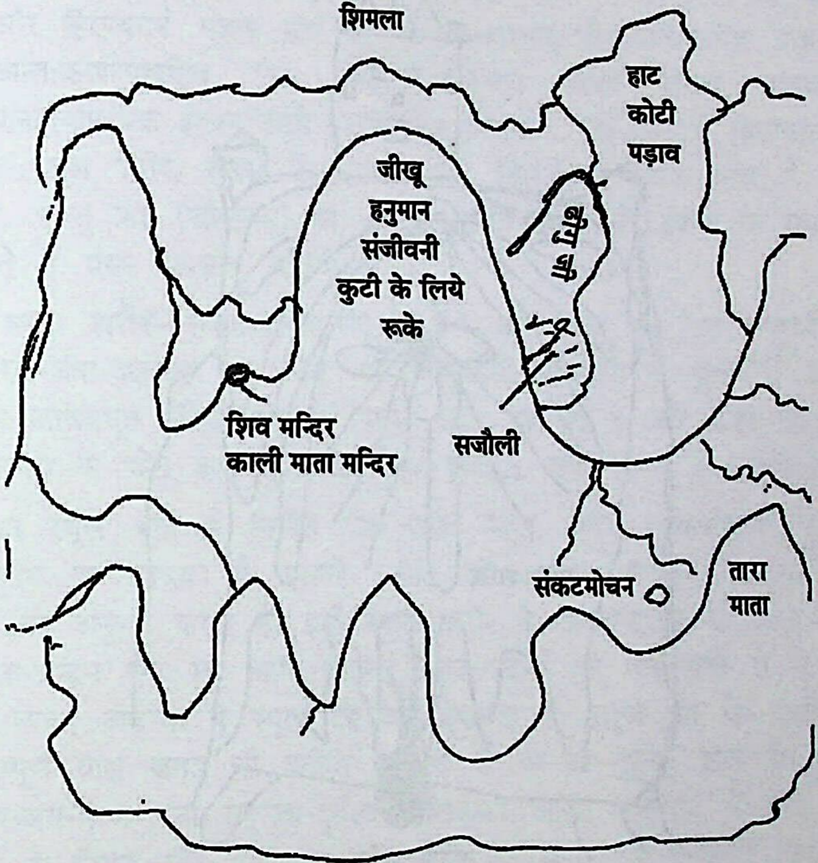
प्रत्यक्षाद्यनवगतं, श्रुत्या प्रतिपादनीयम्।
द्वैतं न प्रतिपाद्यं तस्य, स्वयमेव लोकसिद्धत्वात्।। (स्वात्मनि. ५४)

वह आत्मा मन और अहंकार रूप विकारों का तथा देह-इन्द्रिय और प्राणों की क्रियाओं का ज्ञाता है। वह तप्त हुए लोहपिण्ड के समान उनका अनुवर्तन करता हुआ भी न कुछ चेष्टा करता है और न विकार को ही प्राप्त होता है। इस चिन्तन के द्वारा आत्मा और प्रकृति के विकारभूत शरीरादि में विवेक करके आत्मानात्मा का विवेक करना चाहिये।

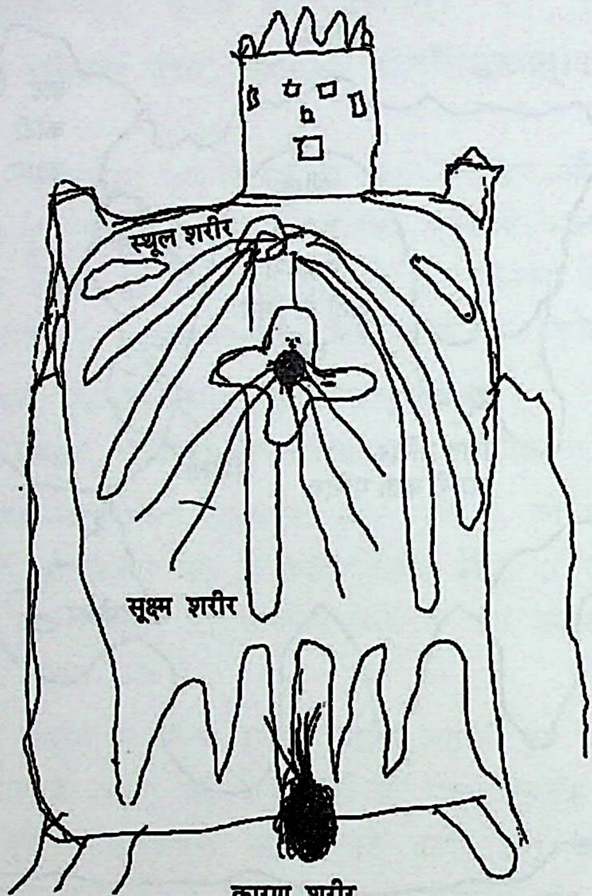
एषोऽन्तरात्मा पुरुषः पुराणो, निरन्तराखण्डसुखानुभूतिः।
सदैकरूप प्रतिबोधमात्रो, येनेषिता वागसवश्चरन्ति।। (विवेक चू. १३३)

यही नित्य अखण्डानन्दानुभवरूप अन्तरात्मा पुराण पुरुष है, जो सदा एकरूप-एकरस-एक स्वभाव वाला और बोधस्वरूप मात्र है तथा जिसकी प्रेरणा से वागादि इन्द्रियाँ और प्राण चलते हैं अर्थात् अपने व्यापार का सम्पादन करते हैं। इस प्रकार शरीरादि से पृथक् स्वात्मा का विनिश्चय साधक करे।

इस आत्मा को जानने के लिये प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का प्रथमतः आश्रय लेने पर यह अज्ञात ही होता है अर्थात् वह प्राप्त नहीं हो पाता। क्योंकि 'न तत्र वाग्गच्छति न मनो न चक्षुः' (श्रुति) उस आत्मा को न तो वाणी द्वारा जाना जा सकता है और न मन के द्वारा मनन कर्म से ज्ञात किया जा सकता और न ही चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय द्वारा उनका स्वरूप प्राप्त किया जा सकता। क्योंकि—यः पश्यति स्वयं सर्वं, यं न पश्यति कश्चन। यश्चेतयति बुद्ध्यादिं, न तु यं चेतयत्ययम्।। (विवेक चू. १२९) जो आत्मा सबको देखता है, किन्तु जिसको (आत्मा को) कोई नहीं देख सकता, जो बुद्धि आदि को प्रकाशित करता है परन्तु बुद्धि आदि जिसे प्रकाशित नहीं कर सकते हैं। 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कतोऽयमग्निः। तमेवभान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।। (कठोप. २/२/१५) वहाँ (आत्मलोक में) सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते और न ही ये विजलियाँ ही चमकती है, फिर अग्नि की बात करना तो वहाँ व्यर्थ ही है, क्योंकि वे सबके प्रकाशक हैं सूर्य-चन्द्र-तारा-बिजली सभी परतः प्रकाश है स्वतः प्रकाश स्वरूप नहीं हैं। तो फिर ये सूर्यादि किससे प्रकाशित होकर अर्थात् किसके प्रकाश से प्रकाशवान् हैं? कहते हैं—अस आत्मा के प्रकाशित होने से ही ये सभी प्रकाशित हैं और उसके प्रकाश से ही यह सम्पूर्ण जगत् सृष्टि भासती है। (स्वात्मनि. ५४)



प्रतीक चित्र के चित्राङ्कन शिमला पहाड़ और उस पहाड़ पर प्रमुख देवस्थान (मन्दिर) को जाने के अभिप्राय से दिया गया है ताकि यायावरीय साधकों के लिये जानकारी हो सके। शिमला के उच्च चोटी पर जीखू हनुमान जी का मन्दिर है जो अत्यन्त प्रसिद्ध है। वहाँ जाने के लिए संजीवनी कुटी एक स्थान है जहाँ पर लोग रात्रि विश्राम कर अगले दिन हनुमान जी के दर्शन के लिये प्रस्थान करते है। हनुमान जी के मन्दिर से नीचे ही शिव मन्दिर है जो शिवभक्तों और साधकों के लिए दर्शनीय है उससे पश्चिम दिशा में काली माता जी का पवित्र-प्रसिद्ध मन्दिर साधकों-भक्तों के आकर्षण का केन्द्र विन्दु स्वरूप है। उसके पूर्व पहाड़ी पर ढ़ीगू मन्दिर है जो सजौती होकर जाया जाता है यहाँ से ऊपर और सभी मन्दिर से ऊपर पर्वत चोटी पर हाटकोटी मन्दिर है वहाँ भी जाने के लिए बीच रास्ते में पड़ाव है। शिमला पर्वत के पूर्व दक्षिण अग्निकोण में प्रसिद्ध संकट मोचन तथा तारा भगवती का मन्दिर है जो भक्तों और साधकों के लिए उत्तम स्थान है। उपर्युक्त मन्दिरों में भक्त-साधक-पर्यटक और जिज्ञासु जन जाते रहते हैं। जगह-जगह-संत-महात्मा-स्थानीय लोगों के वास-स्थान भी है।



शरीर पाँच भूतों के संघात (समूह) से निर्मित है। वे पाँच भूत आकाश-वायु-तेज (अग्नि) जल और पृथिवी है। पाँचों भूतों में पाँच तत्त्व के सम्मेलन से उसकी स्थूलता और पंचतत्त्व धर्मत्व स्वभाव वाला वे तत्त्वाधिकांश वाले शरीर होते हैं। यथा—पार्थिव स्थूल शरीर में पार्थिव अंश की अधिकता (आधाभाग) होती है और शेष चार भूतांश (आधाभाग) समान अंश से सम्मिलित होते है—

द्विधा विधाय चैकैकं, चतुर्धा पथमं पुनः।
स्वे-स्वेतरद्वितीयांशै, र्योजनात् पञ्च-पञ्च ते।। (पंचदशी १/२७)

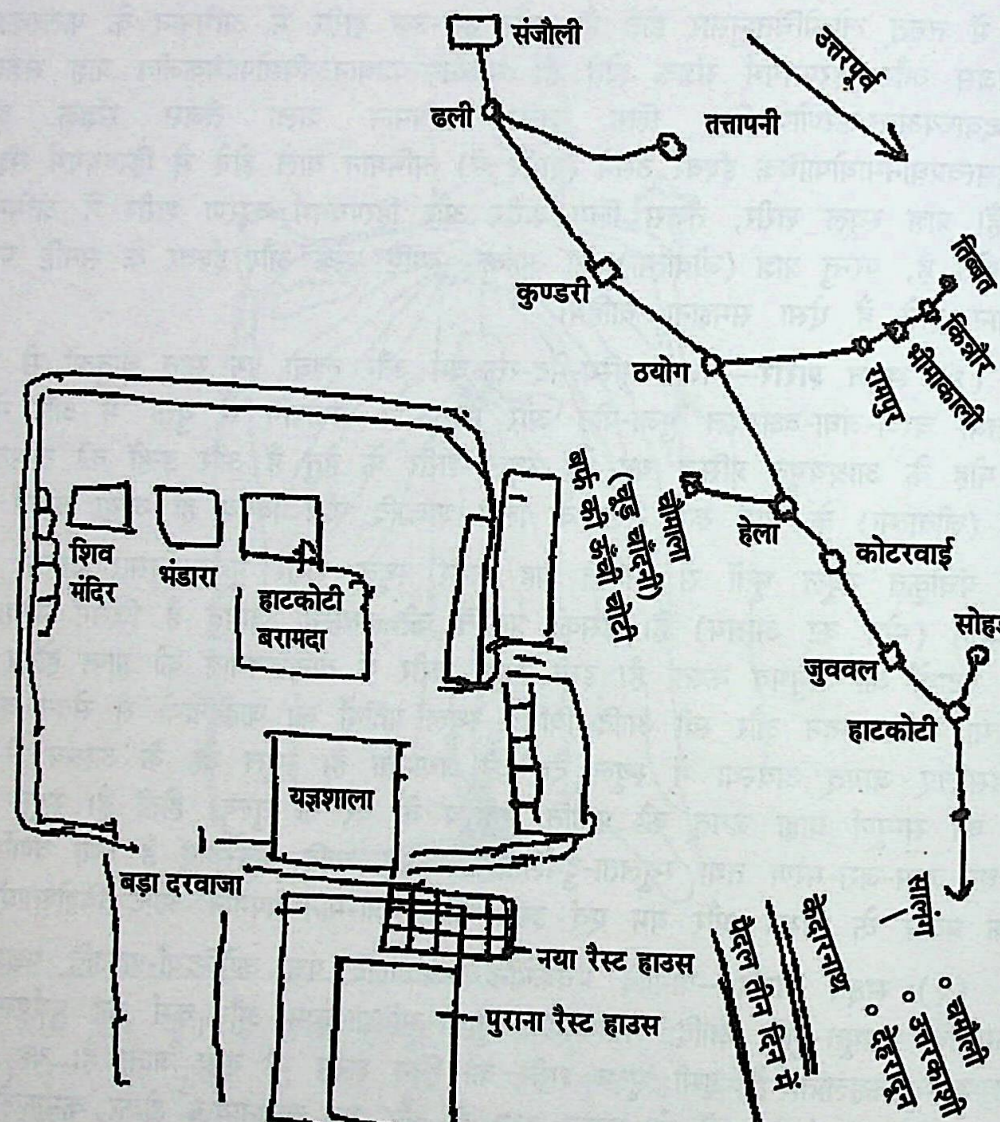
यथा—आकाश में आधा आकाशतत्त्व (आठ आना) और दो-दो आना शेष चार भूतों (४×२=८ आना) के सम्मिलित अंश आधा (मिल कर) भूतों को पंचीकरण कहते है और उसी पंचीकृत भूतों से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड सभी भुवन और उसके अन्दर निखिल-भोग और भोग्य वस्तु उत्पन्न होते है। संसार में दो ही वस्तु है भोग्य और भोक्ता। भोक्ता के भोगानुकूल पदार्थ को भोग्य वस्तु कहते हैं। उसी पंचीकृत भूतों से उत्पन्न स्थूलादि शरीर भी तत्तत्

लोकों में तत्तत् लोकोचितानुसार होते हैं, और उस-उस शरीर में अभिमान के फलस्वरूप प्राज्ञ-तैजस और हिरण्यगर्भ संज्ञक होते हैं। मलिनसत्त्वप्रधानअविद्योपाधिकजीव प्राज्ञ संज्ञक, तेजशब्दवाच्यअन्त:करणोपलक्षित लिंग शरीर अभिमान वाला तैजस संज्ञक और विशुद्धसत्त्वप्रधानमायोपाधिक ईश्वर उसमें (शरीर में) अभिमान वाले होने से हिरण्यगर्भ संज्ञक होते हैं। प्राज्ञ स्थूल शरीर, तैजस लिंग शरीर और हिरण्यगर्भं कारण शरीर में अभिमान वाले होते हैं, परन्तु प्राज्ञ (जीवात्मा) का अहंकार व्यष्टि परक और ईश्वर के समष्टि परक अभिमान होते हैं ऐसा समझना चाहिये।

(१) **स्थूल शरीर**—मज्जा-अस्थि-मेद-रक्त-चर्म और त्वचा इन सात धातुओं से बने हुए तथा चरण-जंघा-वक्षस्थल भुजा-पीठ और मस्तकादि अंगोपांग से युक्त 'मैं और मेरा' तथा मोह के आश्रयभूत प्रसिद्ध यह देह स्थूल शरीर के हेतु हैं और इन्हीं की तन्मात्राएं भोक्ता (जीवात्मा) के भोग रूप सुख के लिये शब्दादि पाँच विषय हो जाया करती है।

पंचीकृत स्थूल भूतों से निर्मित यह शरीर स्थूल शरीर पूर्वकर्मानुसार आत्मा का भोगायतन (भोग का आश्रय) है। इसकी प्रतीति की अवस्था जाग्रत् है जिसमें जीवात्मा स्थूल पदार्थों का अनुभव करता है। इसी स्थूल शरीर में तादात्म्यभाव को प्राप्त होकर ही जीवात्मा माला-चन्दन और स्त्री आदि विभिन्न स्थूल पदार्थों का वाह्येन्द्रियों से सेवन करता है। इसलिए जाग्रत् अवस्था में स्थूल देह की प्रधानता है। स्थूल देह के आश्रय से ही जीव को सम्पूर्ण वाह्य जगत् की प्रतीति (गृहस्थ के घर के तुल्य) होती है। स्थूल देह का धर्म-जन्म-जरा-मरण तथा स्थूलता-दुर्वलता-बालकपन आदि अवस्थाएँ हैं तथा वर्णाश्रम-अनेक प्रकार के नियम और यम एवं इसी भाँति पूजा-मान-अपमान आदि विशेषताएँ हैं।

(२) **सूक्ष्म शरीर**—वागादि पंचकर्मेन्द्रियाँ-श्रवणादि पंच कर्मेन्द्रियाँ-प्राणादि पञ्चप्राण-आकाशादि पञ्चभूत-बुद्धि आदि अन्तकरण चतुष्टय-अविद्या-काम और कर्म यह पुर्यष्टक ही सूक्ष्म शरीर कहलाता है। इसी सूक्ष्म शरीर को लिंग शरीर भी कहा जाता है। यह सूक्ष्म शरीर अपञ्चीकृत पंचमहाभूतों से उत्पन्न हुआ है और यह वासनायुक्त होकर कर्मफलों का अनुभव करनेवाला तथा यह स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण आत्मा की अनादि उपाधि है। स्वप्नकाल इस लिंग शरीर की अभिव्यक्ति की अवस्था है, जहाँ पर यह स्वयं बचा हुआ भासता है। स्वप्न में यह स्वयं प्रकाश परमात्मा (शुद्धचेतन) ही भिन्न-भिन्न पदार्थों के रूप में भासता है। बुद्धि जाग्रत् अवस्था की नाना वासनाओं से युक्त रहता हुआ कर्त्ता आदि भावों को प्राप्त होकर स्वयं प्रतीति होने लगती है। बुद्धि उपाधियुत् सर्वसाक्षी आत्मा बुद्धि द्वारा किये गये कर्मों से तनिक भी लिप्त नहीं होता है, क्योंकि वह असंग होने के कारण उपाधिकृत कर्मों से लिप्त नहीं होता। यह चिदात्मा पुरुष के सम्पूर्णम व्यापारों का करण मात्र है और बढ़ई के बसूला के समान यह आत्मा कर्म करता हुआ भी उस कर्म से लिप्त नहीं होता है।



(३) **कारण शरीर**—तीनों गुणों से निरूपित अव्यक्त इस कारण शरीर की अभिव्यक्ति की अवस्था सुषुप्ति है जिसमें बुद्धि बीजरूप ही स्थिर रहती है, वह सुषुप्ति अवस्था है जिसकी प्रतीति 'सुखमहमवाप्सं किञ्चिदपि नावेदिषम्' सुख पूर्वक मैं सोया और कुछ भी नहीं जान सका ऐसा लोक प्रसिद्ध अनुभव और उक्ति से होती है।

प्रकृत प्रसंग श्री केदारनाथधाम यात्रा का है। चित्रांकन द्वारा श्रीकेदारनाथ मुख्य यात्रान्तर्गत विभिन्न मन्दिरों के संकेत चित्र ठहराव स्थान पहाड़ी और उसके मार्ग को उधृत किया गया है। जब लोग पैदल जाया (पदयात्रा) करते थे उस समय प्राकृतिक स्थलों से परिचय के साथ वहाँ-वहाँ के सांस्कृतिक परिचय हुआ करता था, परन्तु आज यात्रा की

पूर्णमदः पूर्णमिदं, पूर्णात्पूर्णमुदत्त्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय, पूर्णमेवावशिष्यते।।

ब्रह्म		संसारः	
व	२३	स	३२
र	२७	अं	१५
ह	३३	स	३२
म	२५	आ	०२
योग =	१०८	रः	२७
		योग =	१०८

विधि अधिकांशतः परिवर्तित हो चुके हैं जिससे सनातन संस्कृति और प्राकृतिक रहस्यों के सम्पूर्ण आत्मा से परिचय नहीं हो पाता। प्रस्तुत चित्रांकन में मुख्य केदारनाथ क्षेत्र के साथ अन्य मुख्य मन्दिरों के भी मानचित्र (नक्शा) दिये गये हैं जिसे देखकर और उस पर विचार करके ठीक-ठीक ढंग से समझा जा सकता है।

वह (ब्रह्म) पूर्ण है और यह (सृष्टि-जगत्) भी पूर्ण है, क्योंकि पूर्ण से पूर्ण की उत्पत्ति होती है। पूर्ण में से यदि पूर्ण का ग्रहण कर लिया जाय तो वह पूर्ण स्वरूप से ही शेष रहता है। यथा—समुद्र से आप पूर्ण जल ग्रहण करें तो समुद्र में जल कम नहीं होता है वह पूर्ण ही रहता है उसी प्रकार पूर्ण ब्रह्म से ही जगत् की सृष्टि हुई है इसलिए वह (ब्रह्म) और यह (जगत्-सृष्टि) भी समुद्र जल से जल आदान (ग्रहण) के समान पूर्ण ही है। दूसरा उदाहरण संख्या मूलक है जो १०८ की संख्या की है। सौ को 'शत' कहते हैं और वह अनन्त वाचक होता है—'लक्षं शतं सहस्रञ्च सर्वमक्षय्य वाचकाः' अतः शत शब्द अनन्त अर्थात् ब्रह्म वाचक हैं। 'नमोस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये, सहस्त्रपादाक्षिशिरोरुवाहवे। सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते सहस्रकोटि युगधारिणे नमः।।' इस प्रार्थना द्वारा परमात्मा के अनन्त रूप का ही स्मरण-प्रार्थना-स्तुति हम करते हैं।

ब्रह्म शब्द में कुल चार वर्ण (अक्षर) है—१. बः, २. रः, ३. हः, ४. मः। 'बः' वर्ण वर्णमाला के 'अ' वर्ण से 'ब' तक की संख्या-२३ है, 'रः' में वर्णमाला के 'अ' से र तक २७ वर्ण के वाचक हैं इसी तरह 'हः' में ३३ और 'मः' में २५ संख्या होते हैं जिसका कुल योग १०८ है।

संसार शब्द में—१. सः, २. अं, ३. सः, ४. आ, ५. रः कुल पाँच वर्ण हैं जिसे उपर्युक्त दृष्टान्तानुसार—'सः' की ३२, 'अंः' की १५, 'सः' ३२, 'आ' की-२ और 'रः' की २७ संख्या होती हैं जिसका कुल योग—१०८ ही है। सौ (शत्) संख्या अनन्त वाचक

हरिः सर्वेषु भूतेषु, भगवानास्त ईश्वरः।
इति भूतानि मनसा, कामैस्तैः साधुमानयेत्।।
सर्वतीर्थमयी माता, सर्वदेवमयः पिता।
मातरं पितरं तस्मात्, सर्वयत्नेन पूजयेत्।।

(पद्म पु. सृष्टि ख. ५२/११)

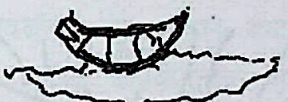
ब्रह्म है कहा जा चुका है जो पूर्ण है। संख्या आठ का विवेचन यह है कि—(१) वागादि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, (२) श्रवणादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, (३) प्राणादि पाँच प्राण, (४) आकाशादि पाँच भूत, (५) मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार अन्तःकरण चतुष्टय, (६) अविद्या, (७) काम और (८) कर्म इन पुर्यष्टक है। इसे पुर्यष्टक इसलिये कहते हैं कि जीवात्मा इन आठ पुरियों (नगरों) से आवृत्त है। अतः आठ पुरियों से आवृत्त यह जीवात्मा भी पूर्ण है क्योंकि इसकी संख्या भी ब्रह्म की संख्या के बराबर ही है। यहाँ उदाहरण केवल पूर्णता को कहने मात्र के लिये है।

भगवान् हरि सभी भूतों के हृत्कमल में निवास करते हैं इसी भाव से मनसा-वाचा-कर्मणा सभी भूतों से व्यवहार करना चाहिये। 'ईश्वरो हि सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया।।' (भगवद्गीता) 'एको देवः सर्व भूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।' (श्रुति) इन श्रुति-स्मृति वाक्यों से भी यह प्रमाणित है कि एक ही परमात्मा उच्चावच सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है। वे परमात्मा हरि इसलिए है कि—'हरिः हरति पापानि'। (स्मृति) हरति-नाशयति-आस्तिकानां-भक्तानां-साधूनां-ज्ञानिनां प्रपन्नानाञ्च दुःखरूपानि पापानि यस्मात्तस्मात् सः हरिः' वे हरि आस्तिकों-भक्तों-साधुओं और ज्ञानियों एवं शरणागतियों के दुःखरूप पाप को हरण करते हैं इसलिए हरि हैं। भगवान् इसलिए कि 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैरागयोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।' प्रवृत्तिं च निवृतिं च भूतानामगतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति। (पुराण) वे परमात्मा षडैश्वर्य सम्पन्न है प्रवृत्ति एवं निवृत्ति तथा विद्या तथा अविद्या के वेत्ता है और भूतों के गति अगति को सम्यक् ध्यान रख कर उन्हें यथा व्यवस्था फल प्रदान करते हैं इसलिए ईश्वर कहलाते हैं। (पद्मपु.सृ.ख. ५२/११)

माता सभी मोक्षदायिनी तीर्थ के समान हैं और पिता सभी देवों के समान हैं इसलिए मानव सभी प्रकार से यत्न करके उनकी तीर्थ भाव और देवभाव से सेवा पूजा करे। 'मातु सेवा गुरूच्छिष्टं ब्राह्मणानामङ्गमर्दनम्। गवां कण्डूयनं चैव ब्रह्महत्यां व्यपोहति।।' (स्मृति) माता की सेवा गुरु के उच्छिष्ट (जूठा प्रसाद) और ब्राह्मणों की चरण सेवा एवं गोमाता के शरीर का कण्डूयन (खुजलाना) ये ब्रह्म हत्या जैसे कठिन पापों को भी नष्ट कर देता है।

(पद्मपु.सृ.ख. ५२/११)

मातरं पितरं चैव, यस्तु कुर्यात्प्रदक्षिणम्।
प्रदक्षणी कृता तेन, सप्तद्वीपा वसुन्धरा।।
पतिव्रता च या नारी, पत्युर्नित्यं हितेरता।
कुलद्वयस्य पुरुषान् उद्धरेत् शतं शतम्।। (पुराणवचनानि)
न धर्मवर्जितं काम-मर्थं वा मनसा स्मरेत्।
धर्मोहि भगवान्देवो, गतिः सर्वेषु जन्तुषु।। (पुराणवचनानि)
सत्यपूतां वदेत् वाणीं, मनः पूतं समाचरेत्।
सत्यस्य नावं सुकृतं सुकृतमयी परन्'। (ऋग्वेद ९/७३/१)



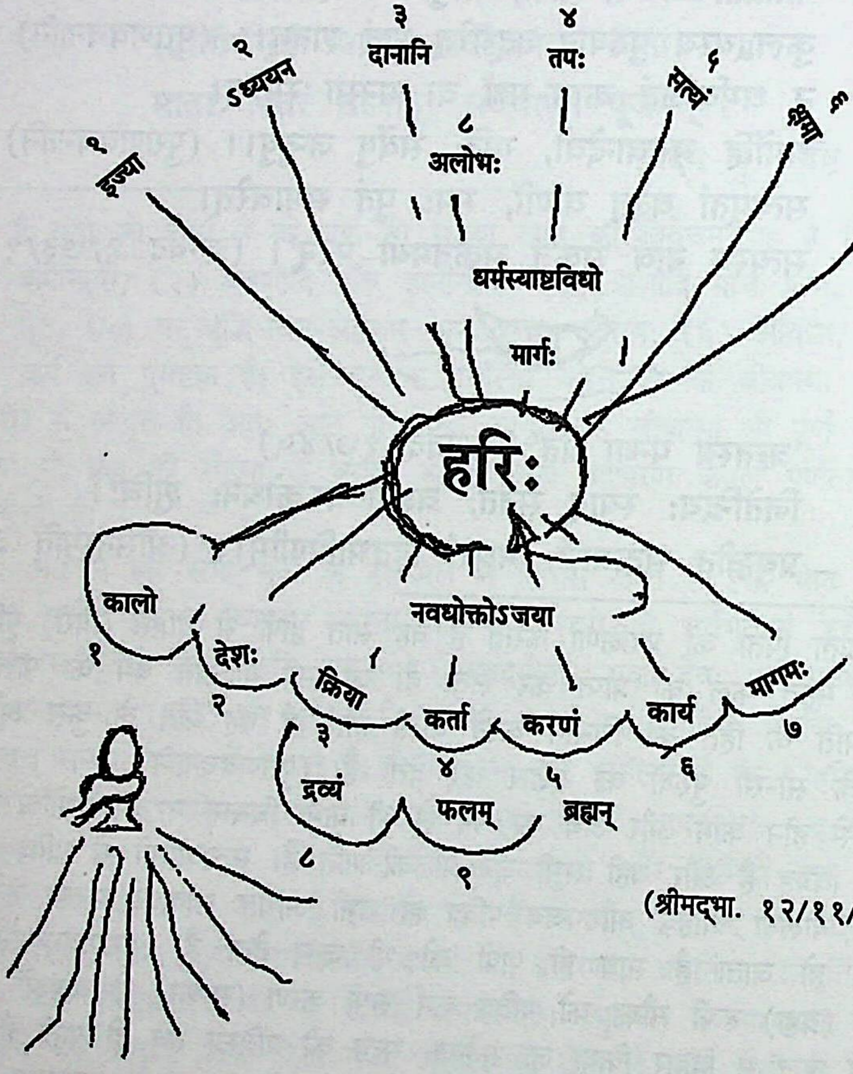
'ऋतस्य पन्था प्रेत' (यजुर्वेद १७/४५)
जितेन्द्रियः स्यात् सततं, वश्यात्माऽक्रोधनः शुचिः।
प्रयुञ्जीत सदावाचं, मधुरां हितभाषिणीम्।। (औसनस्मृति ३/१५)

जो माता पिता की प्रदक्षिणा करता है वह सात द्वीपों से वेष्टित (घिरी) पृथिवी की प्रदक्षिणा के महत् फल को प्राप्त कर लेता है। जो स्त्री पातिव्रत धर्म का पालन करते हुए नित्य पति के हित का चिन्तन करने वाली होती है वह पति के कुल और अपने पितृ कुल के सौ-सौ पुरुषों का उद्धार कर देती हैं। (पुराणवचनानि)

धर्म से हीन काम और अर्थ का मन से भी कभी चिन्तन न करें क्योंकि धर्म स्वयं भगवान् का विग्रह है और वही सभी जन्तुओं की गति हैं। सत्यवाक्यों से पवित्र जो वचन है उसी को बोलना चाहिये और जब पवित्र हो तभी आचार व्यवहार प्रारम्भ करे अन्यथा वह निष्फल हो जाता है साथ ही पापों को भी जन्म देता है। (पुराणवचनानि)

सत्य (ब्रह्म) रूपी नौका को पवित्र कर्म रूपी करण (साधन) से बनाओं जिस नाव से सत्यरूपी जल में बिहार किया जा सकेगा। सत्य की प्रतिष्ठा तब हो पाती है जब कर्म (व्यवहार) सत्य हो। यदि कर्म सत्य (पवित्र नहीं होंगे तो सत्यस्वरूप (ब्रह्ममय जगत्) में कैसे चल पायेगा। अतः भीतर-बाहर सत्य की प्रतिष्ठा हो सके इसके लिये सत्य (ब्रह्म) का चिन्तन-मनन के सांथ सत्यकर्म (ब्रह्ममय कर्म) भी हो तभी सत्यसंसार (ब्रह्ममय जगत्) में तरण सम्भव हो सकेगा। सत्यवाणी-सत्य अन्तःकरण-सत्यकर्म-सत्यजगत् अर्थात् ब्रह्ममय वाणी-ब्रह्ममयकर्म और ब्रह्मस्वरूप लक्ष्य (तरण) से सत्य (ब्रह्म) की प्रतिष्ठा हो सकेगा। (ऋग्वेद) यजुर्वेद मन्त्र भी यही कहता है कि सत्यरूपी पन्था (मार्ग) को प्राप्त करो। जितेन्द्रिय होकर अपने मन को वश में करके क्रोध को त्याग कर पवित्र वह साधक (मानव) सत्य और प्रिय वाणी का व्यवहार करे जिसमें हित सन्निहित रहता है। (ओनस स्मृति)

त्रयः पुरुषस्यातिगुरवो भवन्ति। माता-पिता आचार्यश्च।
(आपस्तम्ब धर्मशास्त्र ३१)



(श्रीमद्भा. १२/११/३१)

माता-पिता और आचार्य (शुरू) ये तीनों मानव के परम गुरु होते हैं। इसलिये अपने निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए निश्छल भाव से मनसा-वाचा-कर्मणा पवित्र होकर निष्ठा-श्रद्धा और भक्ति के साथ इनकी सेवा करे, अन्यथा 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्रुति) कोई अन्य मार्ग निःश्रेयस प्राप्ति के लिए नहीं है। (आपस्तम्ब धर्मशास्त्र ३१)

धर्म का मार्ग अष्टविध है और वही अष्टविध (आठ प्रकार) मार्ग परमात्मा हरि का स्वरूप है। 'धृ धारणपोषणयो:' धातु से धर्म शब्द बना है। जिससे लोक का धारण (स्थिति)

और पोषण (पुष्टि) हो उसे धर्म कहते हैं। भगवान हरि परमात्मा लोक के धारण-पोषण के हेतु रूप धर्म स्वरूप को धारण करते है और उस धर्मस्वरूप परब्रह्म परमात्मा भगवान् हरि को प्राप्त करने के लिए ये आठ मार्ग हैं—

१. **इज्याः**—वेद-शास्त्रानुकूल कर्तव्य कर्मरूप यज्ञादि इज्या है।

२. **अध्ययन**—उस परमात्मा धर्म पुरुष भगवान् हरि के व्यापक स्वरूप के बोध और उसके अनन्तर भगवद्मय जगत् की सेवा के लिए वेदों-पुराणों-स्मृतियों आदि धर्मग्रन्थों को श्रद्धा और निष्ठा पूर्वक श्रीगुरु के मुखारविन्द से उपदिष्टानुसार ग्रहण कर उसका आचरण करना अध्ययन है।

३. **दानम्**—दान मानवजीवन को सफल बनाने के लिए सर्वोत्तम साधन है। दान से अन्त:करण में सन्निविष्ट अनादि आविद्यात्मक मल रूप (राग) से निवृत्ति होती है। जगद्वस्तुओं में स्वाभाविक रूप से (अनादि आविद्यककर्म विपाक से) जीवों का राग होता है जो कि निर्मल-शुद्ध-स्वच्छ आत्मा पर मलरूप आवरण (लेप) कर देता है और जिससे उत्तरोत्तर जीवात्मा पाप कर्म के गर्त की ओर बढ़ते रहता है। अत: उस भयानक पाप और उसके अनिष्ट फल से रक्षण हेतु ऋषियों-मुनियों-महात्माओं ने परमात्मस्वरूप वेदादिक वचनों के उपदेश को अपने अभिप्राय से कहा है—'कर्त्तव्यो विनियोगश्च ईश प्रीत्यर्थमेव च' भगवान् हरि के प्रीत्यर्थ धन का विनियोग (दान) करना चाहिये। कितना करना चाहिये? कहते हैं—

न्यायोपार्जितवित्तस्य दशमांशेन धीमता।
कर्तव्यो विनियोगश्च ईशप्रीत्यर्थमेव च।। (स्कन्द पु. केदार ख. १२/३५)

न्याय से उपार्जित धन का दशवां अंश दान का अंश (भाग) है अत: भगवान् हरि की प्रीति के लिए दांन करे। इतना ही नहीं इस धनलिप्सा की निवृत्ति के लिए—

'यावद् भ्रियते जठरं तावत्सत्त्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति।।'

अपने पेट को भरने के लिए धन की जितनी आवश्यकता हो वही उसका धन है और उतने पर ही उसका अधिकार होता है, उससे अधिक पर जो अपना अधिकार मानता है वह चोर है, इसलिए वह दण्ड का भागी है। जो जीवात्मा मानव तीन-तिकड़म छल-प्रपञ्च से-दोहन-शोषण-भ्रष्टाचार से-उत्कोच से धन को इकट्ठा करता है उसे किस श्रेणी में रखा जाय यह विचारणीय है और उसे दण्ड का क्या प्रावधान हो यह भी विचारणीय है। परन्तु दुर्भाग्यवश इस पावन (पवित्र) भारत की भूमि में जिसे कर्मभूमि कहा गया है उसे पश्चिमी सभ्यता की भौतिक समृद्धि का आकर्षण ने इस तरह अपने आगोश में ले लिया है कि मानवता के वृत्तचित्र पर कालिख पुतता जा रहा है। अत: धार्मिकजनों-सन्तों-

महात्माओं-पण्डितों-सन्यासी-विरक्तो साधुओं को भगवान् श्रीहरि के प्रीत्यर्थ शीघ्र सार्थक उपाय सोचना चाहिये।

४. **तपः**—तप भगवद् प्रीत्यर्थ-व्रतोपवास-पंचाग्नि सेवन-इन्द्रियदमन आदि स्वरूप होता है जो भगवद्प्रीत्यर्थ परम साधन रूप है।

५. **सत्यम्**—सत्य भगवान् हरि के प्राप्ति और प्रीति के लिए मुख्य साधन स्वरूप है।

सत्येन तपते सूर्यः, सत्येन धार्यते मही।
सत्येन वाति वायुश्च, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्।।

सत्य सूर्य लोक को ऊष्मा और प्रकाश प्रदान करता है, सत्य से ही पृथिवी सम्पूर्ण सृष्टि को धारण करती है, सत्य से ही वायु बहता है इसलिए सत्य में ही सृष्टि की सभी क्रिया-कलाप संचालित होता है।

गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च, सतीभिः सत्यवादिभिः।
अलुब्धैर्दानशीलैश्च, सप्तभिर्धार्यते मही।। (ब्रह्म वै.पु.सृ.ख.)

गोमाता-विप्र-वेद-सती-सत्यवादी अलोभी और दानशील जनों के इस पृथिवी पर रहने के कारण ही यह पृथिवी टिकी है। इसलिए हमारा शास्त्र सदा सचेष्ट करता है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः।।

सत्य बोलो-प्रिय बोलो, परन्तु अप्रिय सत्य मत बोलो और प्रिय असत्य भाषण तथा आचरण मत करो, क्योंकि यही धर्म का सनातन (अनादि) स्वरूप है।

६. **क्षमा**—क्षमा दुष्टों-असाधुजनों और अज्ञानियों-बालकों द्वारा किये गये अपराध को सहन करना रूप स्वभाव है जो धर्म का ही स्वरूप है, इसलिये कहा गया है—

क्षमा सत्यं दया दानं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
देवपूजाग्निहरणं, सन्तोषोऽस्तेयमेव च।।

सर्वव्रतेष्वयं धर्मः, सामान्यो दशधा स्मृतः। (अग्नि पु. १७५/१०-११)

अतः क्षमाशील होना हरि प्राप्ति का ही मार्ग है।

७. **दया**—सभी भूतों में भगवान् हरि का स्मरण-दर्शन-अनुभव करते हुए उनके प्रति प्रेमार्द्रभाव (पह्वीभाव) ही दया है। अतः कहा गया है—

यं किञ्चिद् वीक्षसे पुत्र, भ्रममाणं द्विजोत्तमम्।
तस्यावश्यं त्वया कार्यं, विनयादभिवादनम्।।

जिस किसी को आप देखें उसे अवश्य ही आदर सहित प्रणाम करना चाहिये। दया वृत्ति भगवदारुढ़ चित्तवृत्ति विशेष है—

या देवी सर्वभूतेषु दया रूपेण संस्थिता।

जब-जब दया का भाव उत्पन्न हो चित्तवृत्ति द्रवित हो तब तब उस वृत्ति में हरि का प्राकट्य समझना चाहिये। तुलसी ने कहा है—

दया धर्म का मूल है नरक मूल अभिमान।
तुलसी दया न छाड़िये, जब लगि घट में प्रान।।

इसलिए जब तक इस घट (शरीर) में प्राण रहे तब तक दया का त्याग न करे।

८. **अलोभ**—जगत् के विभिन्न प्रकार के वस्तुओं में जीवात्मा को अनादि वासना के कारण लोभ प्राप्त होते रहता है जो पाप का कारण बनते जाता है और जीवात्मा पाप पर पाप कर बैठता है तथा भगवान् हरि के मार्ग से दूर होते जाता है। विषय वस्तुओं के प्रतित्याग की भावना ही अलोभिता है। भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः, सङ्गः तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः, कामात् क्रोधोभिजायते।।

क्रोधाद् भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।

अतः—

लोभो नैव कर्तव्यः, लोभः पापस्य कारणम्।
लोभात् कामश्च-क्रोधश्च, तस्माल्लोभं परित्यजेत्।।

सदा सर्वदा जीव को लोभ का त्याग करना चाहिये।

सूर्य परमात्मा ब्रह्म है—इसलिए व्यापक है और जगत् के सृष्टि के उपादान कारण है। श्रुति कहती है—'सूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च'। सूर्य जगत् की सृष्टि करके उस-उस सृष्टि के उस-उस रूप में उसमें प्रविष्ट हो गये। उस भगवान् परमात्मा हरि (सूर्य) की नौ क्रिया भेद से उपाधि है जो अजय है। वे नौ-काल-देश-क्रिया-कर्त्ता-करण-कार्य-आगम-द्रव्य और फल हैं। कालरूपधारी भगवान् हरि के द्वादश आदित्यरूप को प्रदर्शित करने के लिए ही क्रियोपाधिक सभी प्रकार के कर्म में प्रवृत्ति के हेतु मायाकृत उपर्युक्त ये नौ भेद कहे गये हैं। काल-प्रातः आदि है। देश = समादि रूप है। क्रिया = अनुष्ठानादि है। कर्त्ता = ब्राह्मणादि है। करण = स्रुवादि है। कार्य = यागादि है। आगम-मन्त्रादि है। द्रव्य = ब्रीह्यादि है और फल = स्वर्गादि रूप है। प्रकरण में हरिरूपपरमात्मा का अर्थ सूर्य है।

(श्रीमद्भा. १२/११/३१)

कृष्णमेनमवेहि त्व,-मात्मानं सर्वदेहिनाम्।।

अखिलात्मनाम्।

षडध्वा

१. कलाध्वा–व्योम रूपिणी-शान्त्यातीतकला[१], वायुरुपिणी-शान्तिकला[२], तेजोरूपिणी-विश्वाकला[३], जलरूपिणी-प्रतिष्ठाकला[४], पृथिवीरूपिणीनिवृत्तिकला[५]।

२. तत्त्वाध्वा–शिवतत्त्वाद् भूमिपर्यन्तं षड्विंशति तत्त्वानि।

३. भुवनाध्वा–आधारादुन्मनीपर्यन्तम्।

} शब्दरूपाः

४. वर्णाध्वा–रूद्रस्वरूपपञ्चाशत्वर्णः।

५. पदाध्वा–पदन्ति।

६. मन्त्राध्वा–उपमन्त्राः।

} अर्थरूपाः

शान्त्यतीता	१	व्योम	कलाः
शान्तिः	२	वायुः	
विश्वा	३	तेजः	
प्रतिष्ठा	४	जलम्	(शिवपुं.वायु.ख. १७)
निवृत्तिः	५	पृथिवी	

ये काल-कर्मादि उपाधिभूत सूर्य-चन्द्र तारागण नक्षत्रादि को श्रीकृष्ण का रूप ही तुम जानो। वे श्रीकृष्ण सभी देही जीवात्मा के आत्मा स्वरूप से उनके हृद्देश में निवास करते हैं।

शिव तत्त्व ब्रह्म की ये छः कलाये हैं—१. कलाध्वा, २. तत्त्वाध्वा, ३. भुवनाध्वा, ४. वर्णाध्वा, ५. पदाध्वा और ६. मन्त्राध्वा।

१. **कलाध्वा**—कलाध्वा के पाँच भेद हैं—(१) व्योमरूपिणी यह शान्त्यतीत कला है। (२) वायुरूपिणी—यह शान्तिकला रूपा है। (३) तेजोरूपिणी—यह विश्वाकला रूपा है। (४) जलरूपिणी—यह प्रतिष्ठाकला रूपा है। (५) पृथिवीरूपिणी—यह निवृत्तिकला है २. **भुवनाध्वा**—यह आधारशक्ति से लेकर अथवा अधिष्ठान विन्दु से लेकर उन्मनी (योगावस्था विशेष) पर्यन्त है। ४. **वर्णाध्वाः**—यह रूद्रस्वरूप पञ्चाशत् (५०) वर्ण है। ५. **पदाध्वा**—यह वर्णसमूह स्वरूप पदरूपा है। ६. **मन्त्राध्वा**—यह उपमन्त्र स्वरूपा है। यह शान्त्यातीता-व्योम, शान्ति-वायु, विश्वा-तेज, प्रतिष्ठा-जल, निवृत्ति-पृथिवी तत्त्व है।

अहिंसा सत्यमस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं, चातुवर्णोऽब्रवीन्मनुः।। (मनुस्मृ. १०/६३)
ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं, कृत्स्नमूरुदरं विशः।
पादौ यस्याश्रिताः शूद्राः, तस्मै वर्णात्मने नमः।।
(महाभा. शा. ४७/६८)

रोगस्तु दोषवैषम्यं, दोषसाम्यमरोगता।
मानसः पुनरूद्दिष्टो, रजश्च तम एव च।। (चरक सू. १/२८)
प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो, दैवयुक्ति व्यापाश्रयैः।
मानसो ज्ञान-विज्ञान-धैर्य स्मृति समादिभिः।।२९।।
समदोषः समाग्निश्च, समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रिमनाः, स्वस्थ इत्यभिधीयते।। (चरक सू. ७)

अहिंसा-सत्य-अस्तेय-शौच और इन्द्रियों का निग्रह करना ये संक्षेपतः धर्म के स्वरूप हैं और ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र इन चारों वर्णों के लिये कर्त्तव्य है। (मनु स्मृ. १०/६३) उस परब्रह्म परमात्मा भगवान् विष्णु के मुख-ब्राह्मण है, दोनों भुजाएँ क्षत्रिय, उरू (उदर) वैश्य है और उनके पैर में शूद्र का आश्रय है। इस प्रकार के जो वर्ण स्वरूप परमात्मा हरि हैं उन्हें प्रणाम करता हूँ। (महाभा.शा. ४७/६८)

मानव के शरीर मुख्य तीन दोषों से युक्त है। वे तीन दोष कफ-पित्त और वात रूप है। इसी की समता की अवस्था में मानव शरीर स्वस्थ रहता और इन तीनों की विषमता की स्थिति में रोग प्रकट होते हैं। इसी प्रकार मानस रोग में रजोगुण और तमोगुण की वैषम्यता होने पर रोग उत्पन्न होते है, जिसके प्रशमन (शान्ति-निवारण) के लिए प्रथमतः औषधि का प्रयोग करना चाहिये उसके बाद देवपूजा मन्त्र जपादि तथा मानस ज्ञान विज्ञान शम-दम-नियम ध्यान-धारणा आदि द्वारा उपशमन करना चाहिये। दोषों के सम रहने तथा अग्नि धातु और मल के साथ क्रिया के भी समान रहने पर आत्मा-इन्द्रिय और मन प्रसन्न रहते हैं इसी को चरक ऋषि ने अपने वैद्यक चरक सूत्र में स्वस्थ की संज्ञा दी है। क्रिया की विषमता से कफ-पित्त-वात यह जो तीन धातुएँ है इसमें विक्रिया होती है जो विक्रिया का होना ही रोगरूप है इसी तरह मानस रोग में रज और तम गुणों में वैषम्यता से मानस रोग होते है। जिसके रोकथाम के लिए विबिध उपाय वैद्यक शास्त्र में कहा गया है।
(चरक सू. १/२८, ७)

ईर्ष्याशोकभयक्रोध, मानद्वेषादयश्च ये।
मनोविकारास्तेप्युक्ता, सर्वे प्रज्ञापराधजाः।। (चरक सू. ७)
पितृदेवमनुष्यायां, वेदश्चक्षुः सनातनम्।। (मनु स्मृ. १२/९४)
ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं गणेश्वराय, ब्रह्मरूपाय चारवे।
सर्वसिद्धिप्रदेशाय, विघ्नेशाय नमो नमः।।
(ब्र.वै.पु. गणपति ख. २३/३२)

साध्वीस्त्रीभ्यः शतपुत्र समोपतिः। (ब्रह्म वै.पु.) **'तद्धतद्वनं नाम'।** (केनोपनिषद्) **'किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस'।** (ऋग् वे. १०८१/४)

'ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आस'



ईर्ष्या-शोक-भय-क्रोध-मान-द्वेष आदि ये मन के विकार रूप हैं और ये सभी ज्ञान के अपराध से उत्पन्न होते हैं अर्थात् ज्ञान रहते हुए भी प्रमाद-आलस्य आदि के कारण करणीय कर्म को नहीं करने से अथवा करणीय भिन्न कर्म के करने से उत्पन्न होते हैं। यथा—'रात्रौ दधिन्नभक्षयेत्' रात को दही नहीं खानी चाहिये, परन्तु खा लेते है जिससे कफ धातु की अधिकता होने पर धातु वैशम्यता होगी और रोग उत्पन्न होगा, यह जानते हुए भी भक्षण कर्म रूप दोष से रोग उत्पन्न होता है। (चरक सू. ७) पितृगणों-देवों और मनुष्यों के वेद (ज्ञान) ही सनातन चक्षुरेन्द्रिय है। (मनु स्मृ. १२/९४) ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं क्रमशः ऐश्वर्य बीज-लज़्जाबीज और काम बीज हैं इनसे युक्त सुन्दर स्वरूप ब्रह्मस्वरूप तथा सभी सिद्धियों को प्रदान करने वाले लोकों के ईश गणेश्वर को नित्य प्रणाम करता हूँ। (ब्रह्म वै.पु. गणपति ख. २३/३२) साध्वी (सती) स्त्री के लिए पति सौ पुत्रों के समान है। (ब्रह्म वै.पु.) वह परब्रह्म परमात्मा प्राणियों के प्रापनीय होने के कारण 'तद्वम' कहलाते हैं। आनन्दधन परमात्मा सभी के अभिलाषा के विषय और परमप्रिय हैं। इसलिए वह प्राणियों के उपासना के विषय हैं अर्थात् उपास्य हैं। (केनोपनिषद्) वह परमात्मा वन है और वृक्ष में भी वास करते हैं। (ऋग्वेद)

वह ब्रह्म ही परम प्रेमास्पद-आनन्दघन होने के कारण सभी प्राणियों के प्रापनीय है। वह वृक्ष के समान अचल (स्थिर) है और वही सबके आश्रयभूत हैं। वही सत्-चित्-आनन्द

येना वृतं विश्वमिदं हि सर्वं, ज्ञः काल कालो गुणी सर्वविद्यः।
तेनेशितं कर्म निवर्तते ह, पृथिव्यप्तेजोऽनिलखानिचिन्त्यम्।।
ज्ञात्वांदेवं मुच्यते सर्वपाशैः।। (श्वेताश्वरोपनि. ६/२)

प्रेम-काम

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तारनाम काम,
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा तार नाम प्रेम।
काम अन्धतम-प्रेम निर्मल भास्कर।
अत एव गोपी गणे नाहि काम गन्ध।
कृष्ण सुख हेतु मात्र कृष्णो सम्बन्ध।। (चैतन्य चरितामृत)

स्वरूप परब्रह्मपरमात्मा ही ईश्वर हैं अर्थात् सबके नियन्ता है तथा जगत्सर्जक ब्रह्मा-जगत्पालक-विष्णु और जगत्संहर्ता रूद्र हैं एवं वे शिव स्वरूप (आनन्द-मंगल स्वरूप हैं) वह परमात्मा ही गणेश और शक्ति प्रकृति स्वरूप है।

जिस परमात्मा से सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है और जो काल के भी काल अर्थात् कालातीत है। वह ज्ञान स्वरूप चिन्मय परमात्मा सुहृदता आदि सभी गुणों से सम्पन्न हैं और जो सम्पूर्ण जगत् के नियन्ता है तथा जिनके द्वारा यह संसारचक्र नियम पूर्वक चल रहा है। जिनकी शक्ति से ही पृथिवी आदि पाँचों भूत शक्ति प्राप्त किये हैं अर्थात् अपने गुण से कार्य करते हैं।
(श्वेताश्वरोप. ६/१६)

आत्मा का अर्थ यहाँ शरीर है। शरीर और इन्द्रियों में प्रीति और इच्छा तारनाम काम कहा जाता है। श्रीकृष्ण रूप परमात्मा में प्रीति और इच्छा तार (आसक्ति) को प्रेम कहते हैं। काम से अन्धतम अर्थात् अदर्शनात्मक अन्धकार (अज्ञान) की प्राप्ति होती है और प्रेम निर्मल भास्कर (सूर्य) के समान प्रकाशक होने से अन्धतम अन्धकार (अज्ञान) रूप अनर्थ को दूर भगाने वाला होता है। व्रजगोपियों के भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम था इसलिए उसे दूर-दूर तक काम का गन्ध नहीं था अर्थात् शरीर में इन्द्रिय में कोई आसक्ति नहीं थी—कोई वासना नहीं थी। प्रेम प्रकाश स्वरूप और काम अन्धकार स्वरूप होने के कारण एक अधिकरण में कैसे रह सकता सूर्योदय होने पर अन्धकार कैसे होगा? कभी नहीं। गोपियों का तो श्रीकृष्ण के सुख के लिये ही कृष्ण से मात्र सम्बन्ध था।

तत्सुखे सुखित्वं प्रेम्नः लक्षणम्। (नारदभक्तिसूत्र)

प्रेमी को जैसे भी सुखानुभूति प्राप्त हो उस कार्य व्यवहार और कर्म के द्वारा उन्हें मात्र सुख पहुँचाना ही प्रेम का लक्षण (स्वरूप) होता है। इससे भिन्न सभी व्यवहार काम की श्रेणी में आते हैं। यह भक्तों और साधकों को ध्याय देने योग्य बात है।
(चैतन्य चरितामृत)

(पुण्यकं व्रतम्?)

शिवतत्त्वम्

सत्यं ज्ञानमनन्तं च, निर्गुणानन्दमव्ययम्।
शुद्धो निरञ्जनो निरूपाधिः ब्रह्म।।

मोक्ष प्रदानि व्रतानि (शिवपु. को.रू.सं. ३७)

१. शिवपूजा, २. रूद्री जपः ३. शिवालये-उपवास, ४. काश्यां देह त्यागः। मोक्षस्य सनातनाः पन्थानः।

पुण्यक (पुण्य प्रदान करने वाला) व्रत कौन है?—

लक्षण दो प्रकार के होते हैं—१. स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण।

स्वरूप लक्षण में विशेषण (उपाधि) को ग्रहण नहीं किया जाता और विशुद्ध तावन्मात्र को कहा जाता है, परन्तु तटस्थ लक्षण में विशेषण (उपाधि) युक्त स्वरूप को कहा जाता है, जैसे—

कर्पूरगौरं करुणावतारं संसार सारं भुजगेन्द्रहारम्।
सदावसन्तं हृदयारविन्दे भवं भवानी सहितं नमामि।।

यहाँ शिव के सारे विशेषण हैं अथवा विष्णु के सभी विशेषण है। भवतीति भवः भवन्ति भूतान्ति यतो वा भवः।' इसी प्रकार—'भवं जगत् आनयति उत्पद्यते यस्याः (प्रकृतेः) सा भवानी'। ऐसी व्युत्पत्ति से शिव और विष्णु दोनों अर्थ में भव और भवानी शब्दों के अर्थ गमन करते हैं। इसी प्रकार भवानी शब्द की व्युत्पत्ति से पार्वती और लक्ष्मी दोनों में अर्थ का गमन होता है।

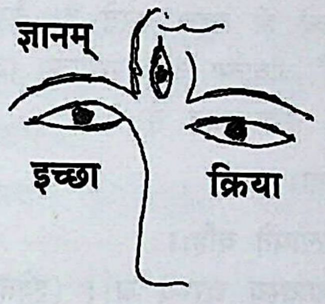
प्रकृत प्रसंग में ब्रह्म के स्वरूप लक्षण को कहा गया है—वह ब्रह्म सत्य-ज्ञान और अनन्त (आदि-अन्त रहित) हैं, सभी गुणों से रहित, आनन्दस्वरूप, अव्यय (अवयव रहित), शुद्ध (निष्पाप) निरञ्जन (निष्कलंक) और सकल उपाधि से रहित है। यही मूल में 'शिव पुण्यकं व्रतम्?' का उत्तर है कि वह व्रत शिवतत्त्व है और वह शिवतत्त्व ब्रह्म के स्वरूपलक्षण का अहंत्वेन बोधानन्तर तदात्म्यैकता रूप ही है।

मोक्ष को प्रदान करने वाले व्रत ये हैं—१. शिव पूजा, २. रूद्री जप, ३. शिवालय में भगवान् शिव के समीप उपवास पूर्वक शिवरात्रि आदि दिन को व्यतीत करना, ४. काशी में देह त्याग करना। यही मोक्ष के सनातन (नित्य-अक्षय) मार्ग हैं।

(शिवपु.को.रू.सं. ३७)

मुक्तिः

१. सारूप्या, २. सालोक्या, ३. सानिध्या, ४. सायुज्या, ५. कैवल्या शिवभक्ति ज्ञानजननी। 'सम्पूर्णं जगत् शिवमयः' एतज्ज्ञानमनुशीलनीयम्–



मुक्ति—मुक्ति पाँच प्रकार की यहाँ कही गयी है—

१. **सारूप्या**—साधक के द्वारा गुरु के उपदेश तत्त्वमस्यादि वाक्य का सतत् चिन्तन, शास्त्रों के वचनों के चिन्तन मनन, युक्ति तथा तर्कों को माध्यम बना कर शिव के 'सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म' के स्वरूप में अपने स्वरूप (जीवात्मा) का लय कर तद्रूप को प्राप्त करना रूप है।

२. **सालोक्या**—भगवान शिव के प्रति कैंकर्य कर्त्तव्य भाव उत्थान कर शिवलोक को प्राप्त करना रूप है।

३. **सानिध्यम्**—गुरु के उपदेश को प्राप्त कर उनके वचनों में श्रद्धा-निष्ठा रखकर शिवतत्त्व का भजन-कीर्तन-मनन-ध्यान पूर्वक उनके सानिध्य की स्वानुभूति प्राप्ति रूप है।

४. **सायुज्याः**—शिव विग्रह के स्मरण-मनन-धारणा ध्यान कर उनके स्वरूपाकारित स्वरूप (अपना स्वरूप) को प्राप्त करना सायुज्यता है।

५. **कैवल्या**—कैवल्या मुक्ति में प्रकृति और उनके गुणकृत कार्य के साथ पुरुष के अनादि अविद्याकृत संयोग का अभाव हो जाना और अपने केवल स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना है अर्थात् पुरुष का प्रकृति के सर्वथा सम्बन्धाभाव (विच्छेद) हो जाना रूप है—

'पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति'।

(पातञ्जलयोगसूत्र ४/३४)

गुणाधिकार समाप्तौ कैवल्यमुक्तम्, तत्स्वरूपमवधार्यते–कृतभोगापवर्गाणां पुरुषार्थशून्यानां यः प्रतिप्रसवः कार्यकारणात्मनां गुणानां तत्कैवल्यम्। स्वरूप प्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वाऽनभिसम्बन्धात् पुरुषस्य चितिशक्तिरेव केवला, तस्या सदा तथैवावस्थानं कैवल्यमिति। (पा.यो.सू. व्यास भाष्य ३४)

आचरितभोगापवर्ग, पुरुषार्थशून्य, कार्यकारणात्मक गुणों का जो प्रतिप्रसव (लय) है, वही कैवल्य है। अथवा वह स्वरूपप्रतिष्ठचितिशक्ति है, अर्थात् बुद्धिधसत्त्व के साथ पुनः पुरुष की अभिसम्बन्ध शून्यता के कारण चितिशक्ति केवल होती है और उसका इसी प्रकार शाश्वत अवस्थान ही कैवल्य है। परन्तु वेदान्तियों के कैवल्य मोक्ष के सम्बन्ध में विचार अलग है। वे श्रुतिमूलक मोक्ष को ही ग्रहण करते है। कैवल्य शब्द का अर्थ 'केवलस्य अद्वितीयस्य भावः कैवल्यम्' जहाँ जीवात्मा और परमात्मा (ब्रह्म) का एकात्म-अद्वितीय रूप से अपरोक्ष ऐक्य लाभ हो वह कैवल्यभाव है।

'न तत्र द्वितीयो भव' तथा।।

नवद्वारे पुरे देही हंस लोलायते वहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावस्य चरस्य च।। (श्वेताश्व.उ. ३/१८)

यो ह वै तत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।। (मण्डकोपनि. २/३/९)

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं-रूपं प्रतिरूपो वहिश्च।। (कठोप.नि. ३/२/१०)

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचम्।। (केनोपनि. १/२)

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमश्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।। (ईशावस्थोप. ८) इत्यादि।

श्रुति प्रतिपादित स्वरूपलक्षण ब्रह्म की सारूप्यता अर्थात् अद्वितीय (अद्वैत) भाव को प्राप्त करना ही कैवल्य है ऐसा समझना चाहिये।

भगवान् शिव की भक्ति ही ज्ञान की जननी है, क्योंकि भक्ति से ही ज्ञान का उदय होता है अर्थात् भक्ति से जीवगत अज्ञानावरण भङ्गानन्तर स्थिति ही ज्ञान है और 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' (श्रुति) ज्ञान के विना मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है। अज्ञानावरण भङ्ग होने के अनन्तर ज्ञान के उदय होने पर सर्वत्र भगवान् शिवमय देखना (अनुभव करना) ही भक्त-ज्ञानी-तपस्वी-योगी-साधक-सन्त के लिए अनुशीलन योग्य है। भगवान शिव के तीन नेत्र (आँखें) हैं। पहली आँख ललाट पर ज्ञान नेत्र है, द्वितीय नेत्र दक्षिण नेत्र इच्छा नेत्र है और तृतीय वाम नेत्र क्रिया नेत्र है। इस तरह क्रमशः ज्ञान-इच्छा और क्रिया नेत्रों से ही सृष्टि का सृजन-पालन और लयन होते रहते हैं।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।

(श्वेताश्वर उ.नि. ६/८)

भगवान् शिव के स्वात्मभूत ये तीन शक्तियाँ हैं—ज्ञान-बल और क्रिया। बल इच्छाशक्ति है ऐसा समझना चाहिये।

यथा धूमदर्शनेनाग्नेरनुमितिः, तथा प्रपञ्चदर्शनेन तस्य कर्त्तुरीश्वरस्य ज्ञानं भवति।।

(शिवपु.कै.सं. १५)

कलोप्तन्ति–१. ईशानात्–शान्त्यतीता, २. तत्पुरुषात्–शान्तिः, ३. अघोरात्–विद्या, ४. वामदेवात्–प्रतिष्ठा, ५. सद्योजातात्–निवृत्तिः।

ज्ञानम् | ज्ञानाधिक्ये-सदाशिव तत्त्वम्।
क्रिया | क्रियाशक्त्याधिक्ये महेश्वर तत्त्वम्।
समत्त्वे–विद्यातत्त्वम्।
समस्तभावपदार्थाः ईश्वराङ्गाः, तत्रभेदप्रतीतिः मायातत्त्वम्।

जिस प्रकार धूम को देखकर अग्नि का अनुमान करते हैं, उसी प्रकार जगत् प्रपञ्च कार्य को देखकर ईश्वर इसके करता हैं यह अनुमान होता है। (शिवपु.कै.सं. १५)

भगवान् शिव से कला की उत्पत्ति (जनन) हुई है। शिव के ईशान स्वरूप से शान्त्यतीता, तत्पुरुष से शान्ति, अघोर से विद्या, वामदेव से प्रतिष्ठा और सद्योजात से निवृत्ति कला का क्रमशः विस्तार हुआ है। कला को वाणी वाचक भी कहते हैं—'**माया बीजस्य नामानि, मालिनी शिववल्लरी। मायामूर्तिः कला वाणी बीजशक्तिश्च कुण्डली।।** अतः भगवान् शिव की मायाशक्ति के ही ये आठ भेद हैं जिसमें वाणी भी है। विद्वान् यहाँ चिन्तन कर कलाओं के शान्त्यतीतादि के साथ संगति बैठा सकते हैं।

ज्ञान भगवान् शिव के तृतीय नेत्र है पूर्व में कहा जा चुका है। नेत्र एक प्रतीक रूप में कहा जाता है, वह इसलिए कि नेत्र से पदार्थ (वस्तु) का सम्यग्दर्शन हो पाता है। नेत्र से साक्षात् अपरोक्ष व्यावहारिक वस्तु का बोध होता है परन्तु कुछ अतीन्द्रि वस्तु होते हैं जो इन्द्रियों से ज्ञात नहीं हो पाते हैं और वह ज्ञान-विज्ञान के द्वारा उसके बोध को प्राप्त करते हैं। इसलिए यहाँ नेत्र प्रतीक कहा गया और यहाँ ज्ञान कहा गया। नेत्र से व्यावहारिक वस्तु का साक्षात् बोध और ज्ञान-विज्ञान से अतीन्द्रिय परन्तु ब्रह्म का साक्षात् बोध सम्पन्न होता है। अतः गुण साम्य के कारण ज्ञान का प्रतीक नेत्र को पूर्व में कहा गया। अधुना ज्ञान को कहते हैं—ज्ञान के आधिक्य (परिपूर्णता-परिपक्वता) से शिवतत्त्व का अभेद (अद्वितीय) अपरोक्ष बोध होता है। इसी तरह क्रिया (शिव के वाम नेत्र) से महेश्वर तत्त्व का अपरोक्ष दर्शन होता है तथा दोनों ज्ञान और क्रिया की साम्यता से विद्यातत्त्व (शिव) का दर्शन होता है। समस्त भावपदार्थ में ईश्वर के अंग का दर्शन (अनुभव) कर उसकी शिव (ईश्वर) भाव से सेवा करना शिव की क्रिया शक्ति के बुद्धि में आविर्भाव से सम्भव होता है। समभाव (ज्ञान और क्रिया) के होने से अर्थात् इच्छाशक्ति के बुद्धि में आविर्भाव होने से शिव की विद्यातत्त्व का दर्शन (अनुभव) प्राप्त होता है। इसी प्रकार प्रत्येक जगद्वस्तु में भेद (नानात्व) की प्रतीति मायातत्त्व का दर्शन है। नानात्वरूप में प्रतीति ही माया अर्थात् अविद्या का कार्य है और सभी दुःखों का मूल है—'सर्वानर्थमूलाविद्या' (भामतीकार वाचस्पति)।

फट् अस्त्रमन्त्रः। (शिव पु.)

ॐ

१. अः। २. उः। ३. मः। ४. ०। ५. नादः।

नादः सर्वाक्षर समष्टिः।
प्राणवस्य षड्विधार्थाः–
प्रथम मन्त्ररूपः।
द्वितीयः यन्त्रभावितः।
तृतीय देवता बोधकः।
चतुर्थः प्रपञ्चरूपः।
पञ्चमः गुरुरूपः।



सभी अनर्थों-दुखों के मूल अविद्या है। इसलिए श्रुति भगवती जीवात्मा पर दया भाव से प्रवृत्त होती हुई कहती है कि—'नेह नानास्ति किञ्चन' अयमात्मा स्वयं ब्रह्म' सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि। यहाँ नानात्व नहीं है। आत्मा ही ब्रह्म है और वह सत्य-ज्ञान और आनन्द स्वरूप है।

'फट्' यह अस्त्र का मन्त्र है। पूजनादि में अस्त्रों की पूजा की जाती है उस पूजन काल (अस्त्र पूजा क्रम) में 'फट्' इस मन्त्र के द्वारा उसकी पूजा होती है। (शिवपु.)

'ॐ' यह शब्द ब्रह्म वाचक, वेद वाचक, मंगल वाचक आदि अनेक अर्थों में प्रयोग होते हैं—'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' (गीता) ओम् यह एक (अद्वितीय) अक्षर (अविनाशी) ब्रह्म ही है।

ओंकारोऽथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणो मुखात्।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ।।

पुराकाल में ब्रह्मा के कण्ठ को भेदन कर 'ओंकार' और 'अथ' शब्दों की उत्पत्ति हुई थी इसीलिए ये दोनों शब्द माङ्गलिक है और सनातन वैदिक और स्मार्त कर्मों तथा मन्त्रादि में 'ओंकार' अथवा 'अथ' शब्द प्रारम्भ में उच्चारण कर उसका प्रारम्भ करने की विधि परम्परा है। 'तस्य वाचकः प्रणवः' (पातञ्जल यो.सू.स.पा. २७)। उस परमात्मा सर्वेश्वर ब्रह्म के वाचक प्रणव 'ओम्' शब्द है। भाष्यकार लिखते हैं—

वाच्यः ईश्वर प्रणवस्य। अथ प्रदीपप्रकाशवदस्थितमिति। स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः। संकेतस्तु ईश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति, यथा अवस्थितः पिता पुत्रयोः सम्बन्धः संकेतेनावद्योत्यते–अयमस्य पिता अयमस्य पुत्र इति। (पातञ्जल यो.सू.व्या. भाष्य)

वाच्य वाचक सम्बन्ध प्रदीप-प्रकाश के समान अवस्थित है, परन्तु ईश्वर का संकेत उस अवस्थित विषय का ही अभिनय या संकेत से प्रकाश करता है। जैसे—पिता और पुत्र के अवस्थित सम्बन्ध को संकेत पूर्वक कहा जाता है कि यह इसके पिता और इसके पुत्र हैं। इस प्रकार वाच्य-वाचक शक्ति सापेक्ष संकेत किया जाता है।

अदृष्ट विग्रहो देवो, भावग्राह्यो मनोमयः।
तस्योद्धार स्मृतोनाम, तेनाहूतः प्रसीदति।। (योगि याज्ञवल्क्यः २/६१)

ईश्वर इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। वह अतीन्द्रिय वस्तु है और मनोमय (जीवात्मा) भावग्राहक मात्र होता है इस स्थिति में 'ओंकार' ईश्वर को स्मरण करने का साधन है और स्मरणरूप साधन से साध्य ईश्वर प्रसन्न होते हैं और प्राप्त किये जाते हैं।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रत्तेन वेधव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।।

प्रणव 'ॐकार' को कहते हैं और प्रणव को धनुष कल्पित कर तथा स्वात्मा को वाण की कल्पना करके ब्रह्म को लक्ष्य बनावे तथा अप्रमत्तभाव से अर्थात् सजगभाव से शर (आत्मा) से लक्ष्य (ब्रह्म) का वेधन करके तन्मय (ब्रह्ममय) हो जाय। श्रीमद्भागवतपुराण में ओम् की उत्पत्ति इस प्रकार कही गयी है—

समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
हृदयाकाशादभून्नादो, वृत्तिरोधात् विभाव्यते।।३७।।

ततोऽभूत्त्रिविधोङ्कारो, योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट्।
यत्तल्लिङ्गं भगवतो, ब्रह्मणः परमात्मनः।।३९।।

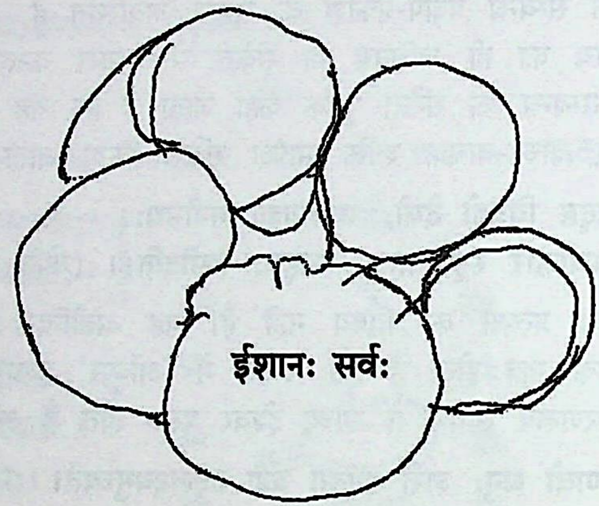
श्रृणोति य इमं स्फोटं, सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक्।
येन वाग् व्यज्यते यस्य, व्यक्तिराकाश आत्मनः।।४०।।

तस्य ह्यासंस्त्रयोवर्णा, अकाराद्या भृगूद्वह।
धार्यन्ते यैस्त्रयो भावा गुणानामार्थवृत्तयः।।४२।।

ततोऽक्षर समाम्नाय-मसृजद् भगवानजः।
अन्तस्थोष्मस्वरस्पर्श-हृस्वदीर्घादिलक्षणम्।।४३।।

तेनासौ चतुरो वेदांश्चतुर्भिवदनैविभुः।
सव्याहृतिकान् सोङ्कारांश्चातुर्होत्र विवक्षया।।४४।। (श्रीमद्भाग.पु. १२/६)

इस वाक्यप्रमाणानुसार समाहित (समाधिस्थ) ब्रह्मा के हृदयाकाश से नाद और नाद से ओंकार की उत्पत्ति हुई जो आँख और कान को बन्द कर अनुभव किये जा सकते हैं। जो स्फोट रूप से प्रतीत होता है और उससे वाक् (वाणी) और उससे आत्माकाश



कामक्रोधानृतद्वेष, रागतृष्णानुसारि यत्।
वाक्यं निरयहेतुत्वात्, तद्दुर्भावितमुच्यते।। (शिवपु.वाय.सं. १३)

तथा उससे क्रमशः अकारादि तीनों वर्ण उससे आर्थवृत्ति उससे अक्षर समाम्नाय ह्रस्व-दीर्घ-ऊष्मान-स्वर-स्पर्शादि एवं उससे चारो वेद उससे व्याहृति सहित ओंकार अग्नि होत्रादि के अभिप्राय से उत्पन्न हुए।

ओम् में अ-उ और म तथा बिन्दु (०) एवं नाद ये पाँच उपकरण हैं। नाद सर्वाक्षर रूप होने से समष्टि बोधक है। प्रणव (ॐ) के षड्विध (छः प्रकार के) अर्थ हैं—प्रथम-मन्त्ररूप, द्वितीय-यन्त्रभावित, तृतीय-देवता बोधक, चतुर्थ-प्रपञ्चरूप, पंचम-गुरुरूप और षण्ठम ॐ रूप सर्वाक्षर समष्टिरूप नाद है।

भगवान् शिव पंचवक्त्र (पाँच मुख वाले) है—१. सद्योजात, २. वामदेव, ३. अघोर ४. तत्पुरुष और ५. ईशान। ये पंचमुख महादेव पाँचों मुखों से अपनी विभूति धारण कर जगत् का पालन-सृजन और संहरण करते हैं।

१. सद्योजात—'ॐ सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमः। भवे-भवे नाति भवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः' (ऋग्)। और

प्रालेयाचलबिन्दुकन्दधवलं गोक्षीरफेनप्रभं, भस्माभ्यङ्गमनङ्गदेहदहनज्वालावलीलोचनम्। ब्रह्मेन्द्राग्निमरूद्गणैः स्तुतिपरैरभ्यर्चितं योगिभि, र्वन्देऽहं सकलं कलङ्करहितं स्थाणोर्मुखं पश्चिमम्।। शुभ्रं त्रिलोचनं नाम्ना सद्योजातं शिव प्रदम्। शुद्धस्फटिक संकाशं वन्देऽहं पश्चिमं मुखम्।। ॐ सद्योजाताय पश्चिमवक्त्राय नमः। (स्मृति)

प्रालेय (वर्फ) बिन्दु के समान सफेद और गोक्षीर (गोदुग्ध) के समान प्रभा (शोभा) वाले शुभ्र (धवल) वर्ण, शरीर में भस्म लेप किये हुए, अनङ्ग (कामदेव) के देह को अग्नि उपमित नेत्र (निष्काम-विज्ञानमय) से दहन करने वाले, ब्रह्मा-इन्द्र-अग्नि-मरूद्गण आदि देवों तथा योगीजनों से परिवृत तथा अर्चित, कलंकरहित (निष्कल) स्थाणु उपमित पश्चिम मुख सद्योजात नामक हे शिव! आपकी शरण को प्राप्त करता हूँ और आपको प्रणाम करता हूँ। हे रूद्रदेव अनेक बार जन्म लेने के लिए मुझे प्रेरित न करें, किन्तु जन्म से दूर करने के लिए मुझे तत्त्वज्ञान देकर प्रेरित करें। आप संसार से उद्धार करने वाले हैं ऐसा उद्देश्यकर आप पश्चिममुख सद्योजात को प्रणाम करता हूँ।

२. **वामदेव**—वामदेव नामक शिव उत्तर मुख है और उनका स्वरूप यह है—

गौरं कुंकुमपिङ्गलं सुतिलकं व्यापाण्डुगण्डस्थलं, भ्रूविक्षेपकटाक्षवीक्षणलसत्संसक्त-कर्णोत्पलम्। स्निग्धं बिम्बफलाधरं प्रहसितं नीलालकालङ्कृतं, वन्दे पूर्णशशाङ्कमण्डलनिभं वक्त्रं हरस्योत्तरम्।। वामदेवं सुवर्णाभं, दिव्यास्त्रगणसेवितम्। अजन्मानमुमाकान्तं वन्देऽहं ह्युत्तरं मुखम्।। (स्मृति)

वामदेवायनमो ज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः कालाय नमः कलविकरणाय नमोबलविकरणाय नमो बलाय नमो बलप्रमथनाय नमः सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नमः। (ऋग्)

हे उत्तराभिमुख वामदेव! शिव! उन्हीं के विग्रहस्वरूप ज्येष्ठ-श्रेष्ठ-रुद्र-काल-कलविकरण-बलविकरण-बल-बलप्रमथन-सर्वभूतदमन तथा मनोन्मन! इन पीठाधिष्ठित शक्तियों के स्वामियों के रूप में जो आप विराजमान हैं उन आपको उन-उन स्वरूपों के अनुसार नमस्कार करता हूँ। (ऋग्) पुनः स्मृति वाक्यों के द्वारा स्वरूप वर्णन और नमस्करण—गौरवर्ण पर कुंकुम लेप से पिङ्गलवर्ण वाले, सुन्दर तिलकधारी, गण्डस्थल से पिंगवर्ण वाले, भौहों के विक्षेप और कटाक्ष के वीक्षण (दृष्टि) कमलरूपी कर्ण को स्पर्शवान् नेत्रवाले, स्निग्ध और निम्बफल के समान अधरोष्ठवाले, नीलवर्ण के जटा-जूटवाले, पूर्णिमा के चन्द्र मण्डल के समान प्रहसित मुखमण्डल वाले उत्तरवक्त्र वामदेव को प्रणाम है।

३. **अघोर**—अघोर स्वरूप शिव दक्षिण मुखी हैं—

अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः।
सर्वेभ्यः सर्वशर्वेभ्यो नमस्तेऽस्तु रूद्ररूपेभ्यः।। (ऋग्)

कालाभ्रभ्रमराञ्जनाचलनिभं व्यावृत्तपिङ्गेक्षणम्, खण्डेन्दुद्वयमिश्रितांशुदशनप्रोद्भिन्न दंष्ट्राङ्कुरम्। सर्पप्रोतकपालशक्तिसकलं व्याकीर्ण सच्छेखरं, वन्दे दक्षिणमीश्वरस्य कुटिलं भ्रूभङ्गरौद्रं मुखम्। अघोराय दक्षिण वक्त्राय नमः।

उन दक्षिणाभिमुख सत्त्वगुणोपेत 'अघोर' नामक रूद्रदेव को नमस्कार है। इसी प्रकार राजस गुणोपेत 'घोर' तथा तामस गुणोपेत 'घोरतर' नामक रूद्र के लिए नमस्कार है। हे शर्व! (शिव!) आपके रूद्र आदि सभी गुणों के लिए भी नमस्कार है। अब लौकिक (पौराणिक) स्वरूप को कहते हैं—कृष्णवर्ण के मेघ एवं कृष्णवर्णभ्रमरवर्ण तथा कृष्णाञ्जनपर्वत (अञ्जनवर्ण के काले पर्वत) के समान आभावाले, पिङ्ग वर्णव्यापकनेत्र से दृष्टिपात करने वाले, खण्डेन्दु (लघुचन्द्रमा) द्वय के समान आगे के दोनों दाँतों से उज्झित (सटे हुए) मुखाग्रवाले, सर्पों को शरीर के विभिन्न अंगों में लपेटे हुए, कपाल और शक्ति कलाओं से सम्पन्न, सुन्दर जटाओं से सुशोभित शिरोभाग वाले, कुटिल (टेढ़े) भ्रूभङ्ग (भौंह सञ्चालन) से रौद्र (भयंकर) मुखवाले दक्षिणाभिमुख 'अघोर' नामक शिव को नमस्कार है।

४. **तत्पुरुषः**—पूर्ववक्त्र भगवान् शिव तत्पुरुष स्वरूप हैं—

तत्पुरुषाय विदमहे महादेवाय धीमहि। तन्नो रूद्रः प्रचोदयात्।। (श्रुतिः)

संवर्ताग्नितडित्प्रतप्तकनकस्पर्धितेजोऽरूणं, गम्भीरस्मितनिःसृतोग्रदशनं प्रोद्भासिताम्राधरम्। बालेन्दुद्युतिलोलपिङ्गलजटाभारप्रबद्धोरगं, वन्दे सिद्धसुरासुरेन्द्रनमितं पूर्वं मुखं शूलिनः।। बालार्कवर्णमारक्तं पुरुषं च तडित्प्रभम्। दिव्यं पिङ्गजटाधारं वन्देऽहं पूर्वदिङ्मुखम्।। ॐ तत्पुरुषाय पूर्ववक्त्रायनमः।।

उन तत्पुरुप पूर्ववक्त्र शिव को हमलोग गुरु के उपदेश और शास्त्र के वचनों के अनुशीलन मनन करके जानते हैं और उन महादेव का ध्यान करते हैं। इसलिए वे रुद्र हमको ज्ञान-और ध्यान के लिये प्रेरित करें। (श्रुति) अब स्मृति द्वारा उक्त स्वरूप को कहते हैं—प्रलयकालीन संवर्त नामक मेघ में उत्थित विद्युतप्रभा के समान, अग्नि सदृश तथा प्रतप्त स्वर्ण की आभा की स्पर्धा करनेवाले तेज के समान अरुण (लालवर्ण), मुखारविन्द पर मधुर और गम्भीर मुस्कान से निकले हुए दाँत से प्रकाशित अरुण वर्ण अधर वाले, बाल चन्द्रमा की द्युति (छटा-प्रकाश) से चंचल पिशङ्गवर्ण के भारी जटाओं से बँधे हुए सर्प वाले, सिद्ध-देवता असुरगण के राजाओं आदि से प्रणमित पूर्वमुख तत्पुरुष महादेव श्रीशिव को हम प्रणाम करते हैं।

५. **उर्ध्वमुखः**—**ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदाशिवोम्।।** (ऋग्)

व्यक्ताव्यक्तगुणोत्तरं सुवदनं षड्विंशत्तत्त्वाधिकं, तस्मादुत्तरतत्त्वमक्षयमिति ध्येयं सदा योगिभिः। वन्दे तामसवर्जितेन मनसा सूक्ष्मातिसूक्ष्मं परं, शान्तं पञ्चममीश्वरस्य वदनं खव्यापि तेजोमयम्।।

ईशानं सूक्ष्ममव्यक्तं तेजः पुञ्जपरायणम्। अमृतश्रावि चिद्रूपं वन्देऽहं पञ्चमं मुखम्।। ॐ ईशानाय ऊर्ध्ववक्त्राय नमः।। (स्मृति)

हमलोग उन उर्ध्वमुख (उर्ध्ववक्त्र) ईशान नामक भगवान् सदाशिव को प्राणाम करते हैं, जो ईशान-वेद-शास्त्र-विद्याएँ एवं चौंसठ कलाओं के नियामक तथा सम्पूर्ण प्राणियों के स्वामी, वेद के अधिपति और हिरण्यगर्भ के स्वामी हैं। वे साक्षात् परं ब्रह्म परमात्मा स्वरूप शिव हमारे लिए कल्याणकारी हों अर्थात् उनकी कृपा से हम उनके उस स्वरूप को प्राप्त करूँ। (ऋग्)

अब स्मृत्युक्त स्वरूप कहते हैं—व्यक्त और अव्यक्त गुणों से परे, सुन्दर वदन वाले, षड्त्रिंशत् (छत्तीस) तत्त्वों से अधिक अर्थात् परे ईशान हैं, इसलिए वे उत्तरतत्त्व और अक्षय्य तत्त्व कहे जाते हैं जिसके तामसवर्जित मनसा से योगीजन उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मा-आकाश के समान व्यापक तेजोमय (ज्ञानमय) पञ्चम उर्ध्वमुख की वन्दना करते हैं। (स्मृति)

उपर्युक्त पंचमुख शिव के स्वरूप को उद्धृत कर उपासना करने को कहने का तात्पर्य स्थूलोपासना से सूक्ष्मोपासना में साधकों की प्रवृत्ति और परंब्रह्मपरात्मा शिव के व्यापक स्वरूप को कहने में तात्पर्य है। क्योंकि उनके मुख (सत्ता) हर दिशाओं में है—

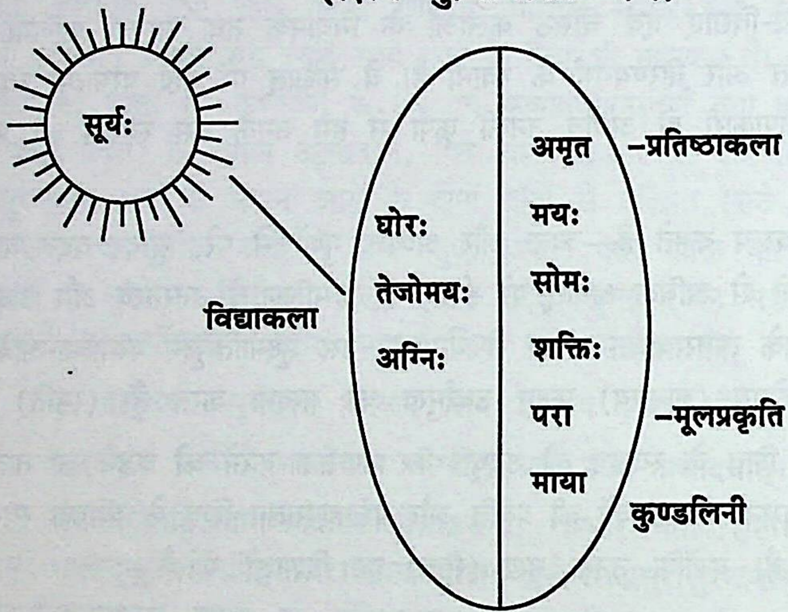
सर्वतः पाणि पादं सर्वतोऽक्षि शिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।। (गीता)

उनके हाथ-पैर-आँख-शिर-मुख कान हर जगह हर पदार्थ में व्याप्त है। ऐसा ध्यान में रखकर स्थूल से सूक्ष्म की ओर उपासंना को अग्रेतर करना चाहिये अथवा स्थूल में सूक्ष्म उपासना करनी चाहिये। परन्तु प्रथमावस्था में बुद्धि स्थूल हो तो स्थूल उपासना से ही प्रारम्भ करनी चाहिये।

सद्योजात पश्चिमवक्त्र विषयों से निवृत्ति प्रदान करने वाले है और इसी प्रकार उत्तरमुख वामदेव साधना में श्रद्धा-विश्वास और निष्ठा को वृद्धिकर साधकों की प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। दक्षिण वक्त्र अघोर गुणों की साम्यावस्था के कारण विद्या प्रदान करते है। पूर्व वक्त्र तत्पुरुष शान्ति प्रदान करते हैं और उर्ध्ववक्त्र ईशानोपासना से शान्त्यतीतावस्था अर्थात् मोक्ष पद की प्राप्ति होती है। इसी तरह साधक-धर्मात्मा सन्त-ज्ञानियों को ऊह्य करना चाहिये।

काम-क्रोध-अनृत (असत्य)-द्वेष राग-तृष्णा का अनुसरण कर जो वाक्य प्रयोग होते हैं अथवा इनके आवेश से जो वाक्य मुख से निकलते हैं वे वाक्य दुर्भाषित कहलाते हैं। दुर्भाषण दूषित वाक्य या दुष्टवचन या अपवित्र भाषा को कहते हैं। अतः इन दुभार्षित से नरक की प्राप्ति होती अर्थात् यही दुर्भाषण नरक का हेतु है। इसलिए मानव-साधक-साधु-उपासक आदि जनों को इससे बचना चाहिये। (शिव पु. वायु.सं. १३)

(शिव पु.वाय.सं. २९)



पूर्व में परमात्मा महादेव भगवान् शिव जी के पञ्चवक्त्रों की क्रमोपासना (स्थूल से सूक्ष्म क्रम) कही है। अब उनकी पञ्चमूर्ति (जिसे पूर्व में पञ्चवक्त्र कहा गया है) की इस तात्त्विक भावना से उपासना को कहा जा रहा है—यह आत्मा शिव स्वरूप परमात्मा ब्रह्म ही है। 'अयमात्मा स्वयं ब्रह्म' 'आत्मानं ब्रह्मैव विजानीयात्' (श्रुति) यह आत्मा पवित्र निश्चल-निश्छल-निरञ्जन-अव्रण-अव्यय-क्षेत्रज्ञ और सर्वद्रष्टा शिव स्वरूप ब्रह्म ही है। उन शिव ब्रह्म के स्वरूप को आत्मा (हृदयाकाश) में इस प्रकार जानना चाहिये—घोर नामक शिव का स्वरूप तेजोमय अग्नि और सूर्य के समान है जिसे ब्रह्म की विद्याकला जाननी चाहिये। विद्या के ज्ञान-विज्ञान-प्रकाशस्वरूप होने से सूर्य और अग्नि के रूप में उपासना करने को कहा गया। या अग्नि और सूर्य ही उस ब्रह्म की दो कलाएँ हैं जिसे विद्याकला के भेद जाननी चाहिये। जो यह अमृतमय चन्द्रमा है वह प्रतिष्ठा कला है। अत: विद्याकला के द्वारा प्रतिष्ठा कला प्रापनीय है। ब्रह्म ही प्रतिष्ठा है। 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' (श्रुति) इस प्रकार श्रुति कहती है। ब्रह्म की पराशक्ति ही मूल प्रकृति है और अपरा शक्ति माया कुण्डलिनी शक्ति है—'अनिर्वाच्याविद्याद्वितयसचिवस्य प्रभवतो विवर्ता यस्यैते वियदनिलतेजोऽबवनयः यतश्चाभूत् विश्वं चरमचरमुच्चावचमिदं, नमामस्तद्ब्रह्मापरिमित सुखज्ञानममृतम्॥' (भामतीकार वाचस्पति) अत: ब्रह्म की दो शक्तियाँ मूलाविद्या और तूलाविद्या प्रसिद्ध है। यहाँ मूलाविद्या को मूलप्रकृति और तूलाविद्या को माया (कुण्डलिनी) समझना चाहिये या मूलाविद्या मूलप्रकृति अनादि अविद्या और माया को पूर्व-पूर्व संस्काररूपा अविद्या (अज्ञान) जानना चाहिये।

(शिवपु.वाय.सं. २९)

शिवस्य पञ्चमूर्तयः

१. ईशानमूर्तिः-क्षेत्रज्ञे व्याप्ता-श्रवण, वाणी शक्ति आकाशे।

२. तत्पुरुषमूर्तिः-अव्यक्ते व्याप्ता।

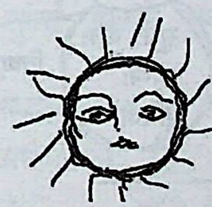
३. अघोरमूर्तिः-धर्मादि अष्टाङ्गेषु बुद्धितत्त्वेन व्याप्ता।

४. वामदेवमूर्तिः-अहंकारेण व्याप्ता।

५. सद्योजातमूर्तिः-मनसि व्यापारेण व्याप्ता।

ज्ञानं तदेवममलं, साक्षीविश्वस्य भवति परमात्मा।
सम्बन्ध्यते न धर्मैः, साक्षी तैरेव सच्चिदानन्दः।।

(स्वात्मनि. १०१)



ब्रह्मैवास्मीति व्यावृत्तिः, पूरकः प्राणायामः।
निषेधनं प्रपञ्चस्य-रेचकः प्राणायामः।
वृत्तिनैश्चल्यं-कुम्भकः प्राणायामः। (अपरोक्षानुभूति ११९)

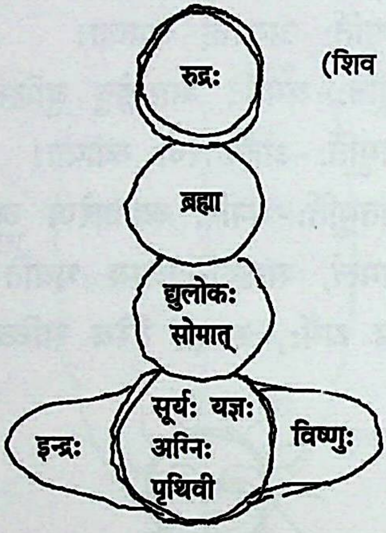
भगवान् शिव की पञ्चमूर्तियाँ हैं—१. **ईशानमूर्ति**—क्षेत्रज्ञ (परमात्मा) में श्रवणशक्ति व्याप्त है और वाणी शक्ति के आकाश में व्याप्त है। २. **तत्पूरुषमूर्तिः**—अव्यक्त (सूक्ष्म) में व्याप्त है। ३. **अघोरमूर्तिः**—धर्मादि आठो अङ्गों में बुद्धितत्त्व से व्याप्त हैं। ४. **वामदेवमूर्तिः**—यह शरीरान्तर्गत अन्तःकरण में अहंकार रूप से व्याप्त है। ५. **सद्योजातमूर्तिः**—मन में व्यापार रूप से व्याप्त है। इस तरह शिव की पञ्चमूर्तियाँ सम्पूर्ण सृष्टि शरीर में व्याप्त है। (शि.पु.वा.सं. २९)

ब्रह्म का अमल (शुभ्र-विशुद्ध) स्वरूप का बोध ही ज्ञान है अर्थात् विमल ज्ञान ही ब्रह्म स्वरूप है। सम्पूर्ण जगत् के साक्षी स्वरूप से बोध ही परमात्मता (परमात्मा का भाव) है। क्योंकि उस परमात्मा ब्रह्म का किसी धर्म (गुण) से सम्बन्ध नहीं है, वह तो सभी धर्मों के साक्षी मात्र है और उनके इसी स्वभाव के कारण वे सच्चिदानन्द हैं। प्रतीक चित्राङ्कन उसी स्वभाव का बोधक है। (स्वात्मनि. ७१)

ब्रह्म ही मैं हूँ इस प्रकार की जो चित्तवृत्ति वह पूरक प्राणायाम कहलाता है और प्रपञ्च की निषेधात्मक चित्तवृत्ति रेचक प्राणायाम है। वह निषेध रूप चित्तवृत्ति—'ब्रह सत्यं जगन्मिथ्या' 'अथात् ब्रह्म मात्र ही सत्य है और जगत् मिथ्या है'। इस प्रकार की चित्तवृत्ति

चित्तोन्मेष-निमेषाभ्यां, संसारप्रलयोदयौ।
मौर्ख्योन्मेषनिमेषाभ्यां, कर्मणां प्रलयोदयौ।।

(शिव पु.वा.सं. ८)



का उदयरूप है। अतः 'अस्ति भाति प्रियं रूपं, नाम चेत्यंश पञ्चकम्। आदौ त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्।। अस्ति = सत्ता, भाति = प्रतीति (अनुभव), प्रियं = सुख (आनन्द) ये तीन अंश का जो जगत् में बोध है वही ब्रह्मांश स्वरूप है और रूप तथा नाम ये दोनों जगत् का स्वरूप है इस तरह जगत् में पाँच अंश का मिथुनी भाव (मिला हुआ) रूप ही है जो देखा और अनुभव किया जाता है।

वृत्ति की निश्चलता को कुम्भक प्राणायाम कहते है। जब साधक को चित्तवृत्ति 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप चित्तवृत्याकारता की प्राप्ति हो तो 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'नेति-नेति', 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' आदि श्रुत्यादि वाक्यों के मनन द्वारा उस चित्तवृत्ति का रक्षण करना चाहिये और जब वह निश्चल (स्थिर-अचल) हो जाय तो उसे कुम्भकनामक प्राणायाम कहते हैं।

(अपरोक्षानु. ११९)

चित्त के उन्मेष (देखना) और निषेध (बन्द करना) से संसार का उदय (उत्पत्ति) लय (नाश) होता है यह ज्ञानियों के बोध हैं और चित्त के उन्मेष और निमेष से कर्मों (व्यापारों) के उदय अर्थात्—उत्पत्ति (प्रारम्भ) लय (समाप्ति) होते हैं ये मुर्खों के विचार हैं।

(शिवपु.वा.सं. ८)

देवों की सभा में भगवान् शिव ज्योतिलिङ्ग के स्वरूप से प्रकट हुए। देवताओं ने पूछा आप कौन हैं? कृपया परिचय दें। शिव ने कहा—मैं अद्वितीय पुरातन पुरुष (ब्रह्म) हूँ। मैं ही आत्मा रूप से सभी प्रपञ्चों में व्याप्त हूँ और आगे की सृष्टि में भी मैं ही एक मात्र आत्म सत्ता रूप से विद्यमान रहूँगा शेष रूप अनित्य और नाशवान् मायिक है जो रहता है और फिर नहीं रहता है। अतः मैं पहले जैसे था वैसा ही आज भी हूँ और

देवाः—↓

को भवान्?

रुद्र उवाच—अहमेकः पुरातनः।

आसं वर्तामि भविष्यामि च।

न मत्तोऽन्योऽस्ति किञ्चित्।

अहमेव जगत्सर्वं तर्पयामि स्वतेजसा।

मत्तोऽधिको समो नास्ति, मां यो वेद स मुच्यते।।

नमः शिवाय शान्ताय, सगणायादिहेतवे।

रुद्राय विष्णवे तुभ्यं ब्रह्मणे सूर्यमूर्तये।। (शिव पु.वा.सं. ८)

(शि.पु.वा.सं. २८)

प्रकृतिपरिणामः { शब्दभावना / अर्थभावना



स्थूला—श्रोत्रगम्या,
सूक्ष्मा—चिन्तनगम्या,
परा—अचिन्तनीयाशक्तिरूपा सैव
पराशक्तिः शिवतत्त्वाश्रया।

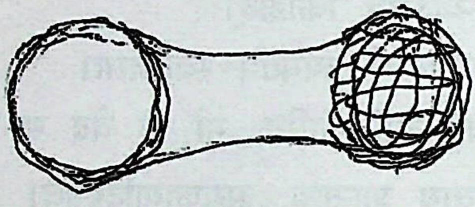
आगे भी उसी सनातन रूप में रहूँगा। इसलिए मैं पुराण पुरुष हूँ। मुझसे अन्य न कोई था न है और न कोई होगा। मैं ही रूद्र रूप से जगत् का संहार, ब्रह्मा स्वरूप से सृजन और मैं ही विष्णु स्वरूप से पालन करता हूँ। मैं ही सूर्यरूप से जगत् को ऊष्मा प्रदान करता हूँ। चन्द्रमा रूप से अमृत स्राव कर पोषण-बर्धन और आयु प्रदान करता हूँ। मैं ही अग्नि रूप से शरीर-जल वन और बादलों में उपस्थित होकर अन्नादि पाचन और तत्तत् शरीरों को धारण करने की क्षमता प्रदान करता हूँ। हमसे न कोई अधिक है न हमारे समान कोई है इसलिए मैं एक-अद्वितीय सनातन एवं पुरातन पुरुष रूप से जाना जाता हूँ। अतः मेरे इस तत्त्व स्वरूप को जो जानता है वह संसार के बन्धन से मुक्त हो जाता है। प्रतीक द्वारा इसी तत्त्व को कहा गया है।

मैं गणों के सहित सृष्टि के आदिकर्ता, शान्त (निश्चल) स्वरूप भगवान् श्रीशिव तथा विष्णु स्वरूप रुद्र, ब्रह्मा स्वरूप सृष्टि कर्ता तथा सर्यस्वरूप सविता (सवनात् सविता) स्वरूप पुरातन परमात्मा-पुराण पुरुष महादेव शिव को प्रणाम करता हूँ। (शिवपु.वा.सं. ८) -

प्रकृति के परिणाम दो प्रकार के प्रमुखतः होते है। (क) शब्द भावना और (ख) अर्थ भावना। शब्द भावना स्थूलरूपा है जो केवल श्रोत्र (कान) द्वारा ग्राह्य होती है। अर्थभावना

स्वाज्ञानाज्ञानहेतु जगदुदयलयौ सर्वसाधारणौ स्तो,
जीवेष्वास्वर्णगर्भं श्रुतय इति जगुर्हूयते स्वप्रबोधे।
विश्वं ब्रहमण्यबोधे जगति, पुनरिदं हूयते ब्रह्मतद्वत्,
शुक्तौ रौप्यं च रौप्येऽधिकरणमथवा हूयतेऽन्योऽन्यमोहात्।।

(शतश्लो. २२)

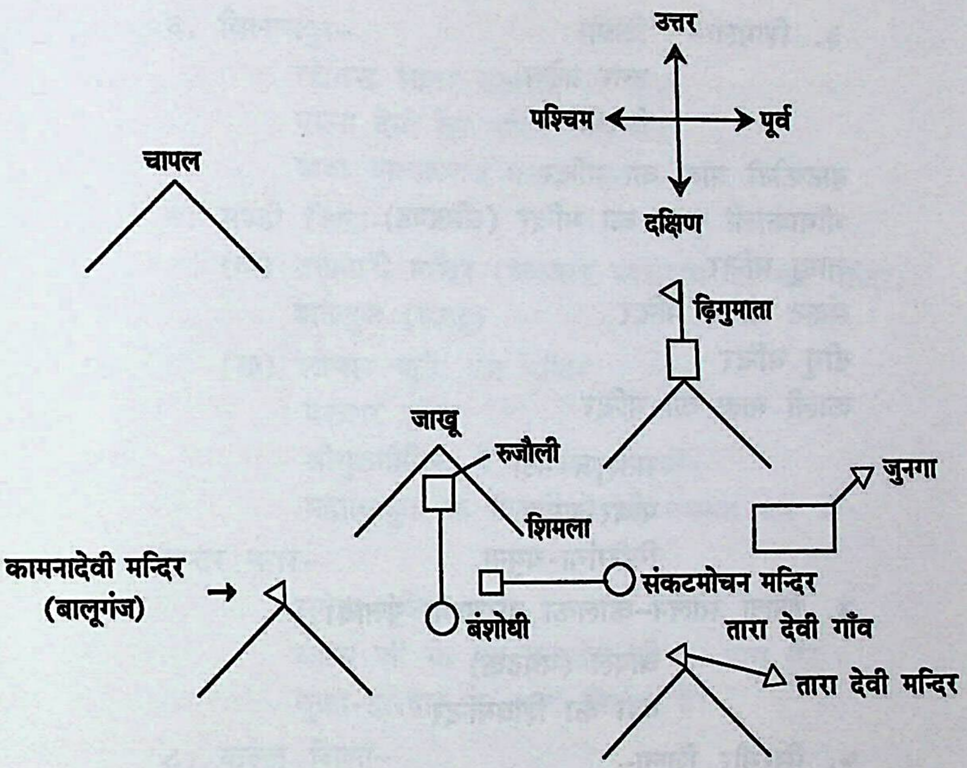


सूक्ष्मरूप है जो चिन्तन से प्राप्त योग्य होती है। इससे परे प्रकृति सूक्ष्मातिसूक्ष्मा परा वाग् रूपा है जिसे पराशक्ति भी कहा जाता है जो अचिन्त्य रूपा है और शिवतत्त्व के आश्रयीभूता है। (शि.पु.वा.सं. २८)

स्वात्मा सम्बन्धी अज्ञान (बोधाभाव) और जगत् सम्बन्धी ज्ञानाभाव ही जगत् के उदय (उत्पत्ति-आरम्भ) और लय (नाश-समाप्त) का हेतु है। जीवात्मा के तो हृदयाकाश में स्वयं परमात्मा हिरण्यगर्भ का निवास है ऐसा श्रुतिवाक्यों द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं—'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।' (श्रुति) ऐसा जानने वाले वे होते है जिन्हें स्वात्मप्रबोध हो गया है। ऐसे प्रबुद्ध ज्ञानी विद्वान् 'गुणा गुणेषु वर्त्तन्ते, ततो न सज्जते' (गीता) गुण (प्रकृति के गुण) ही गुण में वरत रहा है जो कार्य-कर्म-व्यापार रूप से दिखाई दे रहा है ऐसा जगत् को देखते और जानते हैं। उसी प्रकार प्रकृति का कार्य रूप संसार के जीव एक दूसरे में हवन कर रहे है ऐसा ज्ञानी जानते हैं। वहाँ होता-हव्य-हवन सभी ब्रह्म ही हो जाते हैं—

'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यः ब्रह्मकर्म समाधिना।।' (गीता)

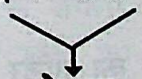
परन्तु अज्ञानी को 'सुक्तौ इदं रजतम्' की भाँति मिथ्या में मिथ्या प्रतीति रूप संसार का सत् स्वरूप से दर्शन होता है और इसलिए वे व्यवहार-व्यापार भी मिथ्या ही करते हैं, क्योंकि शुक्ति में रजताभाव के कारण वासना (लोभ) के वश ग्रहणरूप व्यापार भी मिथ्या ही होते हैं। ये सभी जगत् के हेतु अज्ञान का कार्य है। अतः वे अन्य में अन्य का हवन करते हैं वह स्व-में-स्व का अर्थात् ब्रह्मरूप सामग्री नहीं होते अतः अन्य में अन्य का हवन ही उनके सारे कार्य व्यवहार और व्यापार होते हैं जो मिथ्या है। प्रतीक चित्र इसी का वाचक है। (शतश्लो. २२)



बारह जिले

जनजातीय क्षेत्र १. किन्नौर
२. लौहला सपिती

चन्द्र + भागा नदी



जेहलम

किन्नर त्रिलोकपुर

बौद्ध

इन उपर्युक्त चित्रांकन द्वारा विभिन्न मन्दिर उसके मार्ग पहाड़ और स्थानों को दर्शाकर यातायात और पर्यटन एवं दर्शन पूजन तथा पदयात्रा आदि कर्म को सरल और सूझ-बूझ वाला बनाने का उत्तम प्रयास है। साधक-भक्त-साधु-सन्त-सन्यासी एवं धर्मानुरागीजन इसका लाभ लेकर जीवन को कृतार्थ कर सकते हैं।

प्रतीक चित्रांकन में झेलम और चन्द्रभागा को दर्शाया। यह कहा जा रहा है कि नदी के दो भाग में विभक्त होने के उपरान्त चन्द्राकाररूप धारण हो जाता है इसलिए इसे चन्द्रभागा

३. शिमला– किन्नौर
उत्तर प्रदेश
सिरमौर

हाटकोटी माता का मन्दिर
भीमाकाली माता का मन्दिर (श्रीखण्ड)
जाखू मन्दिर
संकट मोचन मन्दिर
ढीगू मन्दिर
काली माता का मन्दिर

सतलुज नदी
पव्वर-यमुना
गिरिगंगा-यमुना

४. जिला सोलन–कालका हरियाणा पंजाब।
चापल (पर्यटक)
पट्टा का शिवमन्दिर

५. सिरमौर जिला–
उत्तर प्रदेश देहरादून केवल
हरिद्वार के नजदीक
यमुना-नदी
(क) रेणुका माता का मन्दिर
रेणुका झील
(ख) त्रिलोकपुर माता का मन्दिर
(ग) चूड़ चाँदनी।

कहा जाता है। उक्त के साथ विभिन्न १२ जिलों का उल्लेख कर जनजातीय क्षेत्र सहित काली माता मन्दिर तक के क्षेत्र-स्थान और प्रसिद्ध मन्दिरों के उल्लेख कर दिये गये है जो उसके प्रयोजनार्थी के लिए लाभप्रद है। यहाँ तीन जिलों का वर्णन है शेष नौ जिलों को आगे कहा जायेगा।

इससे पूर्व तीन जिलों से सम्बन्धित तथ्य का उल्लेख किये गये। यहाँ जिला सोलन और सिरमौर में पाये जाने वाले प्रमुख स्थान-मन्दिर और नदियों को दर्शाया गया है जिससे तीर्थ सम्बन्धी उत्तम जानकारी प्राप्त होती है। यहाँ तक पाँच जिलों तक के तथ्यों की जानकारी दी गई शेष सात जिलों की जानकारी आगे दी जा रही है।

६. विलासपुर–

गोविन्द सागर-सतलज पर बाँध
नयना देवी का मन्दिर-शक्तिपीठ
बाबा बालकनाथ का मन्दिर

७. मण्डी जिला–

(क) तत्तापानी मन्दिर (भगवान परशुराम जी का मन्दिर)
शतलुज (शतद्रु)

(ख) लोमश ऋषि का मन्दिर
पराशर झील
श्रीगुरुगोविन्द ने तपस्या की थी।
महात्माबुद्ध के शिष्यों ने भी तपस्या की थी।

सुन्दर नगर–

सुकेत-सुकेती खड्ड
व्यास जी के पुत्र सुकदेव जी के नाम पर
गुफा-हरिद्वार के साथ मिलती हैं।

८. कुल्लू जिला–

मनाली के पास {
व्यास नदी-महर्षि व्यास
व्यास कुण्ड से व्यास नदी बनती है।
वशिष्ठ ऋषि ने तपस्या की थी।
}

गर्म पानी के चश्मे हैं।

हिडिम्बा मन्दिर–देवदारु के जंगलों से घिरी है।
डुंगरी देवी–भीम जी से शादी की थी।
देव टिब्बा–पाण्डव गये थे।
मनीकर्म (रमणि कर्ण)–पार्वती नदी–व्यास जी में मिलती है।
गर्म पानी के चश्मे
गुरु नानक देव जी ने तपस्या की थी।

यहाँ पर जिला विलासपुर और मण्डी में पाये जाने वाले स्थान-मन्दिर-झील-गुफा और जो महात्मा ने जहाँ तपस्या की उसका संकेत दर्शाया गया, जो सुगम होने के कारण अलग से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है अतः ऊपर में मूल देखें। यहाँ तक सात जिलों से सम्बन्धित तथ्य कहे गये शेष पाँच जिलों का उल्लेख आगे किये जायेगें।

यहाँ एक जिले का ऐतिहासिक-धार्मिक-पौराणिक पुरातात्त्विक तथ्यों का उल्लेख है।

९. ऊना जिला-गर्म है। पंजाब के साथ श्री चिन्त मुखर्जी का मन्दिर-मतान खड्डु।

१०. हमीरपुर जिला

११. कांगड़ा जिला

(क) माँ ज्वाला जी का मन्दिर

(ख) माँ चामुण्डा का मन्दिर

(ग) माँ वज्रेश्वरी जी का मन्दिर

(घ) बैजनैथ जी का मन्दिर

(ङ) दलाई लामा-मंगलोर गंज गोपा (मन्दिर) बुद्ध ऋषि

(च) भगशुनाथ जी का मन्दिर
व्यास नदी
धौलाधार की सफेद पहाड़ियाँ।

१२. चम्बा जिला-

(क) लक्ष्मी नारायण जी का मन्दिर

(ख) रावी नदी।

(ग) मनी महेश-छत्री शिवजी
भगवान् का मेला लगता है।



श्री तारा मन्दिरम् (शिमला)

जिसे मूल में देखकर समझा जा सकता है अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तक आठ जिलों के उल्लेख आ चुके शेष चार जिलों के वर्णन आगे हैं।

यहाँ ऊना-हमीरपुर और कांगरा जिलों और उसमें स्थित मन्दिरों आदि का वर्णन है जो सुपष्ट ही है। अतः अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तक कुल ग्यारह जिलों के वर्णन आ चुके हैं।

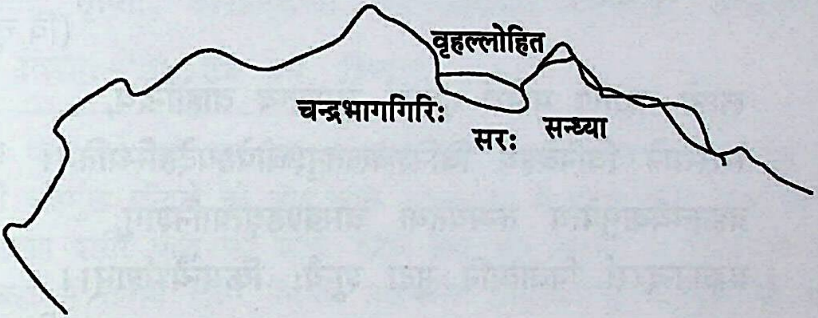
यहाँ चम्बा जिला में पड़ने वाले मन्दिर-नदी-पहाड़ मेला सहित शिमला के प्रसिद्ध श्रीतारा मन्दिर का चित्राङ्कन और वर्णन स्वयमेव स्पष्ट है।

श्री ब्रह्मा (शिव पु.रु.सं. १३)

सन्ध्या — कामः

मेधातिथि पुत्री

अरुन्धती



वैराजव्यष्टिरूपं जगदखिलमिदं नामरूपात्मकं स्यात्,
अन्तस्थप्राणमुख्यात्प्रचलति च पुनर्वेत्ति सर्वार्थान्पदार्थान्।
नात्मा कर्त्ता न भोक्ता सवितृवदिति यो ज्ञानविज्ञान पूर्णः,
साक्षादित्थं विजानन्व्यवहरति परात्मानुसंधानपूर्वम्।।

(शत श्लो. १३)

ब्रह्मा की दो सन्ततियाँ सन्ध्या (पुत्री) और काम (पुत्र) हुए। सन्ध्या पुत्री से मेधातिथि ऋषि हुए जिनकी पुत्री अरुन्धती थी। सन्ध्या ने चन्द्रभागगिरि पर वृहल्लोहित सर के तट पर घोर तपस्या की थी। उक्त विषय को दर्शाने के लिए प्रतीक चित्रांकन किया गया है ताकि समझने में सुगम हो।

वैराज से नाम रूपात्मक व्यष्टिरूप इस अखिल जगत् की सृष्टि हुई। जिसके अन्तस्थ (भीतर में स्थित) मुख्य प्राण के संचलन से यह व्यष्टिरूप शरीर चलता है और जीवात्मा सभी पदार्थों को जानता है। परन्तु यह आत्मा न तो किसी कर्म और कार्य का कर्त्ता है और न ही भोक्ता है परन्तु मात्र साक्षी ही बना रहना इसका स्वभाव है जैसे सूर्य जगत् का मात्र साक्षी है। जगत् में बहुतेरे कार्य-कर्म होते रहते हैं, परन्तु सूर्य उसका कर्ता-भोक्ता नहीं होता वह जगत् के सम्पूर्ण कार्य और कर्म के साक्षी (द्रष्टा) मात्र ही होता है। उसी प्रकार यह आत्मा (जीवात्मा) शरीर द्वारा किये गये क्रिया-कर्म-कार्य का मात्र साक्षी (द्रष्टा) मात्र ही है। वह उसके कर्त्ता-भोक्ता नहीं होता है। वह आत्मा 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' सत्य-ज्ञान और अनन्त स्वरूप है। वह ज्ञान-विज्ञानमय स्वरूप वाला होने के कारण सदा उससे

ज्ञाता मात्रोऽहं कृति विक्रियाणां, देहेन्द्रियप्राणकृतक्रियाणाम्।
अयोऽग्निवत्तानुवर्त्तमानो, न चेष्टते नो विकरोति किञ्चित्।।
(विवक चू. १३५)

वाह्ये निरुद्धे मनसः प्रसन्नता, मननप्रसादे परमात्मदर्शनम्।
तस्मिन्-सुदृष्टे भवबन्धनाशो, बहिर्निरोधः पदवी विमुक्तेः।।
(वि.चू. ३३७)

लक्ष्ये ब्रह्मणि मानसं दृढ़तरं संस्थाप्य वाह्येन्द्रियं,
स्वस्थाने विनिवेश्य विनिश्चलतनुश्चोपेक्ष्यदेहस्थितिम्।
ब्रह्मात्म्यैकमुपेत्य तन्मयतया चाखण्डवृत्यानिशम्,
ब्रह्मानन्दरसं पिवात्मनि मुदा शून्यैः किमन्यैर्भृशम्।।
(वि.चू. ३८०)

पृथक् ही है। उस ज्ञान-विज्ञानमय आत्मा को इस रूप में जानता हुआ साधक-योगी-ज्ञानी परमात्मा का अनुसंधान करता है। (शप्तश्लो. १३)

ज्ञाता-मन और अहंकार यह देहं-इन्द्रिय और प्राणकृत विक्रयाओं (परिणामों) के अनुकूल यह आत्मा अयोगोलक (अग्नि से तप्त लौह पिण्ड) में अग्नि के अनुवर्तन के समान प्रतीत होता है परन्तु इस आत्मा के निरवयव होने के कारण न तो इसमें चेष्टा हो सकती न कोई विक्रिया (परिणाम) ही हो सकती है। मन को वाह्य वस्तुओं से प्रत्याहरित (आत्माभिमुख) करने पर प्रसन्नता की प्राप्ति होती है और चित्तवृत्ति जब आत्मा को विषय करने लगती है तो प्रसाद (चित्तवृत्ति जब आत्मा को विषय करने लगती है तो प्रसाद अर्थात् चित्त की शुद्धि की प्राप्ति होती है तथा प्रसाद (चित्त की शुद्धि) को प्राप्त हो जाने पर परमात्मा का दर्शन सम्भव हो जाता है। परमात्मा में दृष्टि (वृत्ति) के सुदृष्ट हो जाने पर भवबन्ध का नाश (उच्छेद) हो जाता है और वाह्य वृत्ति के विरोध से विमुक्ति की पदवी (स्थान) की प्राप्ति होती है इसे क्रमबद्ध इस प्रकार समझना चाहिये मन का जो वाह्य वस्तुओं में अनादि राग है वह चित्तवृत्ति की विक्रिया का ही परिणाम है अतः प्रत्यहार वृत्ति द्वारा चित्त सहित उसकी वृत्तियों को ध्येय आत्मा की ओर अभिमुख करें जिससे चित्त वृत्ति ध्येय को विषय करने लगे। ध्येय आत्मा को विषय करते रहने पर उसके निरन्तर अभ्यास से चित्त के मल (पाप) नष्ट होकर शुद्ध हो जायेंगे और निर्मल चित्त परमात्मा में लीन हो जायेगा जिससे भवबन्ध रूप जो आत्मविषयक शरीर ज्ञान वह मिट जायेगा और 'अहं ब्रह्मास्मि' का अखण्ड बोध उत्पन्न होगा यही भवबन्ध मोक्ष या मुक्ति की पदवी नाम से यहाँ कहा गया है। (विवेक चू. १३५,३७)

दीक्षा

(१) शाम्भवी–दृष्टि-स्पर्श-संभाषणमात्रेण तत्काल पाशच्छेद कर्त्री।

(२) शाक्ती–योगमार्गेण ज्ञानप्रदा।

(३) मान्त्री–हवनादिक्रिया द्वारा तारिणी। (शिव पु. वाय.सं. १५)

सर्वज्ञता, तृप्तिः, अनादिबोधः, अलुप्तशक्तिः स्वातन्त्र्यं, अनन्तशक्तिः।

शैवी विद्याः–'ॐ ॐ नमः शिवाय ॐ।।'

लक्ष्य वस्तु जो ब्रह्म उस ब्रह्म में मानस वृत्ति को (मैं ब्रह्म हूँ ऐसा) दृढ़ करके और उसमें अपनी बहिर्मुख इन्द्रियों को लीन करके आत्मस्थान में प्रविष्ट होकर क्रिया रहित चित्तवृत्ति को करके तथाा शरीर बुद्धि की उपेक्षा करके ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य का स्थापन करे और उस ब्रह्म में तन्मय होकर निरन्तर तदाकारित (ब्रह्माकारित) चित्तवृत्ति को स्थापित कर ब्रह्मरूपी आनन्दरस को नित्यरूप से पियो। हे मानव! अन्य जो विषय जन्य आनन्द है वह मिथ्या है आभास मात्र है। इसलिए उसे आत्यन्तिरूप से त्याग दो तो दुःख की निवृत्ति सदा के लिए हो जायेगा और आत्मानन्द अमृत रस को पीते रहो जो मोक्ष पद स्वरूप ही है।

दीक्षा तीन प्रकार की शिवपुराण में कही गयी है। वे दीक्षा—

१. **शाम्भवी**—दृष्टि-स्पर्श और सम्भाषण इन तीन हेतुओं से सम्पन्न शाम्भवी दीक्षा तत्काल संसार पाश (बन्ध) को उच्छेद (नाश) कर देती है। यदि दीक्षा ग्रहण करने वाले साधक की दृष्टि शिवामय, स्पर्श शिवामय और सम्भाषण व्यवहार शिवामय हो जाता है तो वही मोक्ष का हेतु हो जाता है और भवबन्ध का उच्छेद कर देता है।

२. **शाक्ती**—शाक्ती दीक्षा में दीक्षा ग्रहीता योग मार्ग का अवलम्बन कर विशुद्ध ज्ञान प्राप्त कर जाता है और सम्पूर्ण इन्द्रियादिकों को आत्मस्वरूपा ब्रह्माणि में लय करके तद्रूप को प्राप्त करता हुआ तन्मय हो जाता है और वह भवबन्ध का नाश कर मुक्त हो जाता है।

३. मान्त्री—मान्त्री दीक्षा को प्राप्त करने वाला साधक हवनादि क्रिया द्वारा अभेद बोध प्राप्ति अनन्तर मोक्ष को प्राप्त करता है।

उपर्युक्त दीक्षा की साधना से परमात्मबोध हो जाने पर साधक को सर्वज्ञता, तृप्तिः, अनादिबोध, अलुप्त शक्ति, स्वातन्त्र्य और अनन्त शक्ति की प्राप्ति होती है।

शैवी विद्या—इस शैवी विद्या की दीक्षा ग्रहण करने वालों के लिये 'ॐ ॐ नमः शिवाय ॐ' यह मन्त्र गुरु द्वारा प्रदान किया जाता है और इसे शिवविद्या मन्त्र कहा जाता है। (शि.पु.वा.सं. १५)

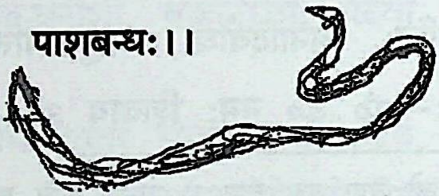
शक्ति विद्या–'ॐ ह्रीं नमः शिवायै ॐ।।'

श्रद्धाभक्तिध्यानयोगान्मुमुक्षोर्मुक्तिहेतून्वक्तिः साक्षाच्छ्रुतेर्गोः।

मोक्षोऽविद्याकल्पितादेह बाधात्' (विवेक चू. ४८)

'बन्धमोचनकर्ता तु स्वस्मादन्यन्न कश्चन।। (वि.चू. ५३)

अविद्याकामकर्मादि पाशबन्धः।।



अकृत्वा दृश्य विलयं
अज्ञात्वातत्त्वमात्मनः } क्कुतो मुक्तिः।।६५।।

बुद्धिर्विनष्टागलिताप्रवृत्तिः, ब्रह्मात्मनोरेकतयाधिगत्या।

एकमेवाद्वयं ब्रह्म, नेह नानाऽस्ति कश्चन। (वि.चू. १७१-४२३)

शाक्ती विद्या—शाक्ती विद्या दीक्षा ग्रहण करने वाले साधक जिज्ञासु को 'ॐ ह्रीं नमः शिवायै ॐ' यह मन्त्र गुरु द्वारा प्राप्त कराया जाता है और इसी मन्त्र को शान्ती विद्यामन्त्र कहा जाता है। (शि.पु.वा.सं. १५)

श्रद्धा-भक्ति-ध्यान और योग से मुमुक्षु को मुक्ति प्राप्त होती है अथवा श्रद्धा-भक्ति और ध्यान का परमात्म योग (सम्बन्ध) होने पर मुमुक्षु को मुक्ति प्राप्त होती है क्योंकि वह मुक्ति के हेतु है ऐसा श्रुति भगवती की वाणी (प्रमाण) है।

अविद्या (अज्ञान) के द्वारा कल्पित देह में आत्मबुद्धि का बोध हो जाने पर मोक्ष प्राप्त हो जाता है। बन्धन को छुड़ाने वाला कर्ता तो स्वयं आत्मा ही होता है अन्य कोई नहीं होता। अविद्या जनित काम क्रोधादि ही पाश है और उन पाशों में बँधे होने को पाशबन्ध कहते हैं। (वि.चू. ४८,५३)

जब तक जगद्दृश्य का विलय (नाश) नहीं कर दिया जाता और जब तक आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप (ब्रह्मत्वेन बोध) का अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो जाता है तब तक मुक्ति कहाँ हो सकती है? कथमपि नहीं हो सकती। (वि.चू. ६५)

जब शरीरादि विषयक आत्म बुद्धि नष्ट हो जायेगी और दृश्य जगत् वस्तु में तद्रूप में प्रवृत्ति गलित (नष्ट) हो जायेगी उसके बाद ही ब्रह्म और आत्मा का एकत्वेन अभेद बोध हो

सत्समृद्धं स्वतः सिद्धम् शुद्धं बुद्धमनीदृशम्। (वि.चू. १७१)

सद्घनं चिद्घनं नित्यमानन्दघनमक्रियम्। (वि.चू. ४६७)

अहेयमनुपादेयम् निर्विकल्पं निरञ्जनम्। (वि.चू. ४६९)

नहिप्रबुद्धःप्रतिभासदेहे, देहोपयोन्यपि च प्रपञ्चे।

करोत्यहंतां ममतामिदन्तां, किन्तु स्वयं तिष्ठति जागरेण।।

(वि.चू. ४५७)

निवृत्तिः परमातृप्तिः, आनन्दोऽनुपमः स्वतः।। (वि.चू. ४२२)

दृष्टदुःखेष्वनुद्वेगो विद्यया प्रस्तुतं फलम्।।

असतो निवृत्ति ।।४२४।। (॰४॰)

सकेगा और वह बोध 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' अर्थात् एकमेव अद्वितीय मैं हूँ और यह नानात्व मिथ्या है यहाँ इस जगत् में सभी एक ही ब्रह्म है द्वितीय तो मिथ्या ही है। (वि.चू. १७१,४२३)

वह ब्रह्म सत्यरूप से समृद्ध (परिपूर्ण) है और स्वतः सिद्ध स्वरूप है तथा शुद्ध (विमल-निर्मल) है तथा ज्ञान स्वरूप है इस प्रकार की बुद्धि ही मोक्ष है। अन्दर बाहर सर्वत्र एकमेव अद्वितीय ब्रह्म की बुद्धि ही मुक्ति है। (वि.चू. १७२)

वह ब्रह्म सद्घन-नित्य-आनन्दघन-अक्रिय-अहेय-अनुपादेय-निर्विकल्प और निरञ्जन स्वरूप है और मैं वही उपर्युक्त लक्षण ब्रह्म हूँ यही बोध मुक्ति है। (वि.चू. ४६७)

जो प्रबुद्ध हैं—विद्वान् हैं उन्हें इदन्तामात्र जगत् प्रपञ्च में प्राप्त वस्तुएँ प्रतिभास रूप से ग्रहण होते हैं। प्रतिभास-मिथ्या-भ्रान्ति-असत् ये सभी शब्द सामान्य रूप से पर्याय अर्थ का बोधक होता है अतएव वे विद्वान् उन प्रपञ्चरूप जगत् में अहंता और ममता बुद्धि नहीं रखते क्योंकि अहं एवं मम् शब्द का आस्पद आत्मा होता है और जगत् प्रपञ्चरूप वस्तु आत्म विषयक वस्तु नहीं है। वह आत्म विषयक वस्तु आत्मा के धर्म से भिन्न अज्ञान स्वरूप है तथा आत्मा का धर्म ज्ञानस्वरूप होने के कारण प्रकाशस्वरूप है। आत्मा प्रकाश है और जगत्प्रपञ्च वस्तु प्रकाश्य है, प्रकाश्य का रूप अज्ञान स्वरूप एवं अन्धकार स्वरूप होता है इसलिए वे विद्वान् (आत्मज्ञानी) सदा सचेत रहते हुए उन प्रपञ्च वस्तुओं को मिथ्या प्रतीति रूप से ग्रहण करते हैं। (वि.चू. ४५७,६७,६९)

जगत्प्रपञ्च में सत् बुद्धि के कारण निवृत हो चुके ऐसे विद्वान् (स्वात्मबोध) सदा आत्मा के अनुपम आनन्द में तृप्त रहते हैं। (वि.चू. ४२२) वे प्रबुद्ध-विद्वान् प्रारब्ध से प्राप्त दुःख

उपलब्धिः स्वयं ज्योति, र्दृशि प्रत्यक् सदक्रियः।
साक्षात्सर्वान्तरः साक्षी, चेता नित्योऽगुणोऽद्वयः।।
(वि.चू. १३४/२६)

जातिकर्मादिमत्त्वाद्धि, तस्मिन्शब्दास्त्वहं कृति।।
न कश्चिद्वर्तते शब्दः, तदभावात् स्वात्मनि।।२८।।
आभासो यत्र तत्रैव, शब्दाः प्रत्यक्दृशिं स्थिता।।
लक्षयेयुर्न साक्षात्तं, अभिदध्युः कथंचन।।२९।।
ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च।
अखण्डरूपस्थितिरेव मोक्षः।।४८०।।

दृशि स्वरूपं गगनोपमं परं, सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं, तदेव चाहं सततं विमुक्त ॐ।।
(उपदेश सा. १०/१)

(प्रतिकूल स्थिति) में उद्विग्न नहीं होते और वह यह प्रयास करते रहते हैं कि सम्पूर्ण रूप से अविद्या के कार्य असज्जगत् से निवृत्ति हो, क्योंकि विद्या का परम फल असत् प्रपञ्च के हेतु अविद्या से निवृत्ति ही है अर्थात् मोक्ष ही है। (वि.चू. ४२४)

जाति कर्म आदि सम्पन्नता, शब्द और अहंकार ये आत्मा के धर्म नहीं हैं इन सभी धर्मों से रहित या युक्त जो आत्मा की अनुभूति है वहीं स्व (आत्मा) का स्वरूप होता है क्योंकि जहाँ पर ये उपर्युक्त धर्मों के आभास होते हैं वहीं पर प्रत्यक् चेतन की दृष्टि होती है और उसी प्रत्यक् चेतन को लक्ष्य करके ध्यान करना चाहिये अन्य ध्यान का त्याग करके ब्रह्मभाव को ध्येय बनाकर विवेक की सहायता से इस आत्मा (ब्रह्म) की उपलब्धि होती है। क्योंकि जीव ही ब्रह्म है और सम्पूर्ण जगत् में ब्रह्मभाव की अखण्ड ज्ञान की स्थिति ही परमार्थ सत्य है और उसी को मोक्ष कहते हैं।

(वि.चू. ४२६,२८,२९,८०)

यह आत्मा दृष्ट-प्रपञ्च जगत् से परे ज्ञान स्वरूप, आकाश के सदृश निर्लिप्त है। यह आत्मा सदा एकमेव प्रकाशक, अज (जरा-मरण रहित), अद्वितीय, अक्षर, अलेपक स्वरूप, सर्वगत, अद्वय स्वरूप है और मैं वही आत्मा स्वरूप हूँ तथा 'ॐ' पद लक्षित ब्रह्म ही हूँ। (उपदे.सा. १०/१)

व्योमवत्सर्वभूतस्थो, भूतदोषैर्विवर्जितः।
साक्षी चेताऽगुणः शुद्धो ब्रह्मैवास्मीति केवलः।। (उप.सा. १२/५)
आत्मनः कर्तृता मृषा, देहात्मबुद्ध्यपेक्षत्वात्।
नैव किंचित्करोमीति सत्या, प्रमाणजात्वात्।। (उप.सा. १२/१६)

जिघत्सा पिपत्सा शोक मोहौ जरामृती।



न विद्यन्ते, शरीरत्वात् व्योमवद्व्यापि नो मम।। (उप.सा. १३/४)

रूपस्मृत्यन्धकारार्थाः, प्रत्यया यस्य गोचराः।
स एवात्मा समो द्रष्टा सर्वभूतेषु सर्वगः।। (उप.सा. १५/३४)



दीपः यथा अयत्नः सर्वं प्रकाशयेत्।
शब्दाद्याकार बुद्धीः ज्ञः
तद्वत् प्रकाशयेत्।।
पश्यति।। (उपदेश सा. १६/६)

यह आत्मा आकाश के समान व्यापक और सभी दोषों से विवर्जित है अर्थात् जिस प्रकार आकाश सर्वभूतगत रहतें हुए भी उनके दोषों से लिप्त नहीं होते हैं उसी प्रकार यह आत्मा (ब्रह्म) सर्वप्रपञ्चगत रहते हुए उनके धर्मों से निर्लिप्त है। वह आत्मा सर्वसाक्षी, चेतन, अगुण, शुद्ध स्वरूप है और मैं वहीं निर्मल स्वरूप आत्मा (ब्रह्म) हूँ यह सत्य प्रमाणों से निर्णीत विषय है। (उप.सा. ११/५)

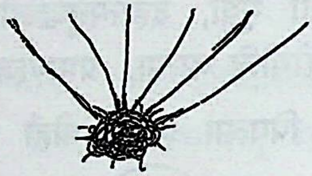
आत्मा के कर्त्तृत्व धर्म को स्वीकारना असत्य है उसे देहादि से सम्बन्ध नहीं है। मैं (आत्मा) कुछ भी नहीं करता हूँ यही प्रामाणिक है। (उप.सा. १२/१६)

भूख-प्यास-शोक-मोह-जरा-मृत्यु से रहित यह आत्मा है क्योंकि ये धर्म तो शरीर के हैं। आत्मा तो व्योमवत् (आकाश के समान) सर्व व्यापक है। शरीरादि व्याप्य है और आत्मा व्यापक है ऐसा जानना चाहिये। (उपदेश सा. १३/४)

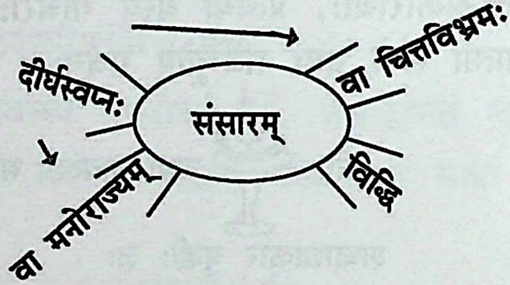
रूप-स्मृति-अन्धकार और अर्थ ये जिसके द्वारा प्रत्यय गोचर होते हैं वे ही आत्मा है और वह सभी विकारों से रहित द्रष्टा है तथा सभी भूतों में व्यापक रूप से प्रतिष्ठित है। (उप.सा. १५/३४)

जिस प्रकार दीप के प्रज्ज्वलित हो जाने पर वह दीपक-विना प्रयत्न के ही सभी को प्रकाशित करते रहता है उसी प्रकार यह आत्मा शब्दादि आकार से बुद्धि को प्राप्त

आत्मबुद्धिमनश्चक्षुर्विषयालोकसंगमात्।
विचित्रो जायते बुद्धेः प्रत्ययोऽज्ञानलक्षणः।। (उप.सा. १५/३५)



किं कुर्वन्तीह विषयाः मानस्यो वृत्तयस्तथा।
आधयो व्याधयो वापि, सम्यग्दर्शन सन्मतेः।।
सम्यज्ज्ञान समालोकः, पुमान् ज्ञानमयः स्वयम्।।



दृष्टेरात्मस्वरूपत्वात्, प्रत्यक्षं ब्रह्म तत्स्मृतम्। (उप.सा. १७/४०)

होकर ज्ञाता रूप से सभी प्रपञ्च वस्तुओं को प्रकाशित करते हैं और हम उसे उस उस रूप में देखते और जान पाते हैं। (उपदेश सा. १६/६)

आत्मा-बुद्धि-मन और चक्षु विषय दर्शन के संगम काल में उस उस विषयों की आकारता को धारण कर लेते हैं, क्योंकि बुद्धि स्वयं में जड़ वस्तु है और जड़ का स्वरूप अज्ञान होता है। (उप.सा. १५/३५)

वे विषय और मन की वृत्तियाँ क्या करेंगी तथा वे आधियाँ एवं व्याधियाँ क्या कर लेंगी जिनके सर्वत्र (सभी भूतों में) ब्रह्म बुद्धि की सम्यग् दृष्टि प्राप्त हो गयीं हैं। उसके सम्यग् ज्ञान से समान दृष्टि हो जाने से वे साधक (मानव) स्वयं में ज्ञानमय हो जाता है। यह जगत् दर्शन स्वप्न कालीन दर्शन के समान मिथ्या है, अथवा चित्त का विभ्रम (भ्रान्ति) है अथवा वाणी और मन के संकल्प (मिथ्या अभिलाषा) मात्र है। इस विभ्रम से निवृत्ति स्वात्मा में अपरोक्ष (साक्षात्) दृष्टि की प्राप्ति होने पर ही होती है। (उप.सा. १७/४०)

जिस साधक को ब्रह्म का सम्यग्दर्शन की बुद्धि दृढ़ हो चुकी हो ऐसे साधक-सन्यासी-यति और विरक्तों के ये पुरोदृश्य प्रपञ्च और मानस वृत्तियाँ तथा-आधियाँ और व्याधियाँ क्या विगाड़ सकते हैं? कुछ भी नहीं, क्योंकि—'तस्मिन् दृष्टे परावरे'। (श्रुति) 'लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' जिसने ब्रह्म दर्शन रूप सम्यग्दृष्टि प्राप्त कर ली है वह सूर्य

सत्यार्थी-शान्तं प्राज्ञं मुक्तं निष्क्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमाश्रयेत्।।
(उप.सा. १७/५२)

अजोऽहं चामरोऽजरोऽभयः सर्वज्ञः।
शुद्धः स्वतोमुक्तः इति बुद्धो न जायते।। (उपदे.सा. १७/५९)
सर्वावभासोज्ञः किञ्चिदायस्पशन्सदा। (उपदे.सा. १८/९४)

के किरणों के समान समभाव से सबको देखते हुए अर्थात् समान रूप से व्यवहार करते हुए जलगत पद्मपत्र के समान उसमें लिप्त नहीं होते अर्थात् उन दोषों से सदा अलिप्त ही रहते हैं। यतः वे सम्यज्ञान दृष्टि को प्राप्त होते अतः उनकी दृष्टि ज्ञानमय हो जाती हैं और वह इस संसार को दीर्घस्वप्न के समान अथवा चित्तविभ्रम या मनोराज्य मात्र की दृष्टि से देखता हुआ मिथ्या ही समझता है। (उप.सा. १७/४०)

जो सत्यार्थी (सत्प्रयोजनवाला) है विद्वान् शान्तस्वभाव वाले, जगत्प्रपञ्च से परे मुक्त स्वभाव, कर्तृत्व रहित, ब्रह्मनिष्ठ गुरु का आश्रय में जाये। जो इस प्रकार के गुरु को प्राप्त नहीं कर पाते वे निश्चितरूप से मिथ्याभूत संसार का तरण नहीं कर पाता है। अतः सर्वप्रकार से तत्त्व ज्ञान को प्राप्त ब्रह्म निष्ठ गुरु ही भवसागर से उद्धार करने के लिए सक्षम होते हैं।
(उप.सा. १७/५२)

साधक गुरु एवं श्रुति वाक्यों का सम्यक् श्रवण-मनन करके विवेक ज्ञान की सहायता तथा युक्तियों के बल से ही अपने आत्मस्वरूप को मैं अज (अजन्मा) हूँ, अमर हूँ, अजर (वृद्धादि अवस्था रहित) हूँ, अभय हूँ, सर्वज्ञ हूँ, शुद्ध (निर्मल) हूँ, स्वतः मुक्त हूँ ऐसा जान पाता है। यह आत्मविषयक बोध स्वात्मना ही स्वात्मा का होना सम्भव है अन्य विधि से यज्ञ-दान-कर्मानुष्ठानादि आत्मज्ञान में साक्षात् हेतु नहीं हो सकता। इन साधनों का प्रयोजन अन्तःकरणगत विषय संसर्गजन्य संस्काररूपमल से निवृत्ति पाना मात्र है। यथा ऐनकगतमलनिवृत्ति हेतु उसका प्रोक्षण करते है परन्तु दर्पण में आत्म दर्शन का हेतु वह प्रोक्षण कर्म नहीं हो सकता। वहाँ आत्मदर्शन तो आत्मारूप दर्पण के प्रति सम्मुखीकरण करके उस रूप की प्राप्ति ही हो सकता है। अतः स्वतः मुक्त स्वरूप आत्मा मिथ्या-अज्ञान प्रकल्पन के कारण बन्धवत् प्रतीत होता है। यथार्थतः आत्मा बन्ध या मुक्त विषयक विचारण का विषय नहीं हो सकता। इसलिए कहा है—

न निरोधो न चोत्पत्तिः, न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षु र्नवै मुक्त इत्येषा परमार्थता।।३२।। (मण्डू.उ.वै.प्र.)

अतः अन्ततः सभी व्यवहार कल्पना मात्र होने से मिथ्या ही है, विचार करने पर ये परमार्थ नहीं है। (उप.सा. १७/५९)

सभी जगत् प्रपञ्च आभास मात्र है, पारमार्थिक सत्य नहीं है। इस प्रकार का निश्चयात्मक बोध ही 'ज्ञ;' है जो बिना संसर्ग के ही बोधगम्य है। 'ज्ञः' आत्मा है वह सबका ज्ञाता होने के कारण 'ज्ञः' है। (उप.सा. १८/९४)

नाद्राक्षमहमिति सुषुप्ते प्रत्ययं निषेधति।
स्वां दृष्टिं न वारयति। (उपदे.सा. १८/९७)

अवगत्या हि संव्याप्तः, प्रत्ययो विषयाकृतिः। (उपदे.सा. १७/१२८)

सम्यक्संशयमिथ्योक्ताः प्रत्यया व्यभिचारिणः।
एकैवावगतिस्तेषु, भेदस्तु प्रत्ययार्पितः।। (उपदे.सा. १८/१२१)

आधिंभेदाद् यथाभेदो, मणेरवगतेस्तथा।। (उपदे.सा. १८/१२२)

अशुद्धिः परिणामश्च, सर्वं प्रत्ययसंश्रयात्।
प्रघनं ग्रहणं सिद्धिः, प्रत्ययानामिहान्यतः।। (उपदे.सा. १२३)

सुषुप्तिकाल (अतिगाढ़ी निद्रा) में 'मैंने कुछ भी नहीं जाना, कुछ नहीं देखा आदि निषेध वचन ही अद्वितीय आत्मा का प्रतिपादक स्वानुभव है। वहाँ भी आत्मा अपनी ज्ञान (प्रकाश) दृष्टि (स्वभाव) का त्याग नहीं करता। (उप.सा. १८/९७)

आत्मा के व्यापकत्व का स्वभाव सर्वगत है और दर्शनादि काल में विषयाकृति होकर वहाँ भी विद्यमान होता है। (उप.सा. १८/११८)

व्यवहार कालिक सम्यक् प्रत्यय (ज्ञान) भी व्यभिचारी होने के कारण मिश्रा ही है। अतः वहाँ जो अवगति (निर्विकल्प ज्ञान) वही एक मात्र सत्य है और बुद्धि प्रत्यय उपाधिगत होने से विचित्रता के कारण विभिन्नता को प्रकट करने वाला है अतः मिथ्या है। (उप.सा. १८/१२१)

आधिभेद से (उपाधि भेद से) ही भेद प्रतीति होती है परमार्थ रूप से भेद नहीं है। जिस प्रकार स्फटिक मणि के धवल वर्ण होते हुए भी जपाकुसुम की छाया पड़ने पर 'रक्तः स्फटिकः' लाल वर्ण का स्फटिक है अबुद्ध द्वारा व्यवहृत होता है। उसी प्रकार अनेकता (विभिन्नता) धर्म वाला आत्मा के स्वरूप नहीं होने पर भी उपाधि के भेद से उसके विरुद्ध धर्म का आभास होता है। (उप.सा. १८/१२२)

जो भी अशुद्धि और उसका परिणाम अर्थात् अज्ञान और उसके फल होते हैं वह प्रत्यय (अन्तकरण की वृत्ति) के आश्रय से होते हैं। जगत्प्रपञ्चवस्तु की सत्यता के मूल में अज्ञान कारण होता है और अज्ञान का परिणाम (फल) जगत्प्रपञ्च होता है। यह जगत्प्रपञ्च वस्तुओं में अनादि राग (आसक्ति) के कारण वैसा दीख पड़ते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि जगद्वस्तु का सृजन अन्तःकरण (चित्तवृत्ति) में विद्यमान होता है जो जगदाकार से परिणमित होकर जीव को दिखाई देता है। वह जगदृश्य ही अविद्या का परिणाम है और उस परिणाम के तथा रूप से दृष्ट होने के हेतु (कारण) अज्ञान ही है, जिससे प्रथम (विस्तार-फैलाव) और ग्रहण की सिद्धि (प्राप्ति) का व्यवहार एक दूसरे से होता प्रतीत होता है। (उप.सा. १८/१२३)

देहादाभिमानोत्त्थो, दुःखीति प्रत्ययो ध्रुवम्। (उपदे.सा. १६१)
अस्पर्शत्वाददेहत्वात्, नाहं दाह्यो यतः सदा। (उपदे.सा. १६४)
विवेकात्मधिया दुखं, नुद्यते चलनादिवत्।। (उपदे.सा. १६८)
प्रत्यगात्मन आत्मवं दुःख्यस्मीत्यस्य वाधया। (उप.सा. १८/१८९)
नित्यमुक्तत्व विज्ञानं, महावाक्यान्न चान्यतः। (उप.सा. १८/१९०)

देहादि में अहंकार से उत्पन्न प्रत्यय (ज्ञान) ही सुख-दुःख होता है। यह विचारित और विनिश्चित सिद्धान्त है क्योंकि आत्मा के देह नहीं होने के कारण उसका किसी से संसर्ग नहीं हो सकता। अतः आत्मा के निरवयव, अक्रिय, निर्विकार, निर्विकल्प आदि स्वरूप होने के कारण वह सुखी, दुःखी, दाता, ग्रहीता, कर्ता, भोक्ता आदि व्यापारवाला नहीं हो सकता—

चित्तन्न संस्पृत्यर्थं नार्थाभासं तथैव च।
अभूतो हि यतश्चार्थो नार्थाभासस्ततः पृथक्।। (माण्डू.उ. अलात प्र. २६)

तथा—'यत्र द्वैतमिव भवति' (बृ.उ. २/४/१४), 'य इह नानेव पश्यति' (क.उ. २/१/१०-११), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा.उ. ७/२५/२), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (नृ.उत्तर. ७), 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा.उ. ६/२/१)। अतः इस यावज्जगद्वस्तु मिथ्या है—कल्पित है। ब्रह्म के शिवा जगत् वस्तु का सर्वथा अभाव है ऐसा जानना चाहिये। (उप.सा. १८/१६१,६४)

शरीर में आत्म बुद्धि होने से ही दुःख उपस्थित होता है। विवेकज्ञान के द्वारा शरीर में आत्म बुद्धि के निरास हो जाने पर वह मिथ्या ही है। यथा—ट्रेन में अथवा बैलगाड़ी पर आरुढ़ व्यक्ति को स्वयं का चलना, पहुँचना, भ्रममान होना क्रिया का शरीर में आरोप बुद्धि प्राप्त होती है और वह अपने को जाता हुआ व्यापार वाला समझता है जबकि गमन क्रिया (चलन व्यापार) उसमें नहीं ट्रेन या गाड़ी में रहती है, होती है। उसी प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में जानना चाहिये। (उप.सा. १८/१६८)

प्रत्यगात्मा (प्रत्यक्चतेन) में आत्मबुद्धि स्थिर हो जाने पर 'मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं लंगड़ा हूँ, मैं काना हूँ' इत्यादि कल्पित ज्ञान की निवृत्ति हो जाती है और उस कल्पित मिथ्या ज्ञान से छूटने के लिए उपनिषद् के महावाक्य 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'अयमात्मा स्वयं ब्रह्म', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'आनन्दमयोऽयमात्मा' आदि वाक्यों का आश्रय ही एक मात्र उपाय है। सद्गुरु की कृपा और श्रुति वाक्यों के मनन और धारणा से नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्तवस्वभाव आत्मा का अपरोक्ष दर्शन ही संसार दुःख की निवृत्ति कराने में समर्थ है। (उप.सा. १८/१८८,९०)

तच्छब्दः प्रत्यगात्मार्थ स्तच्छब्दार्थस्त्वमस्तथा।
दुःखित्वाप्रत्यगात्मत्वं वारयेतामुभावपि।। (उप.सा. १८/१९७)
एवं च नेति नेत्यर्थं गमयेतां परस्परम्। (उप.सा. १८/१९८)
अभावरूपं त्वमसीह हे मनः। (उप.सा. १९/८)
द्रष्टा च दृश्यं च तथा च दर्शनं भ्रमस्तव कल्पितो हि सः।
(उप.सा. १९/९)

न मेऽस्ति किञ्चित् न च सोऽस्मि कस्यचित्,
यतोऽद्वयोऽहं न चास्ति कल्पितम्।
अकल्पितास्मि पुराप्रसिद्धतः,
विकल्पनाया द्वयमेव कल्पितम्।। (उप.सा. १९/१२)

'तत्त्वमसि' श्रुति, उपदिष्ट वाक्य में तत् पद से प्रत्यगात्मा ही ग्राह्य रूप से निर्दिष्ट है और इसी प्रकार उसी 'तत्' पद से 'त्वम्' पदार्थ भी निर्दिष्ट है इसलिये तत्पदेन आत्मा मात्र का ग्रहण होने से दुःखित्वादि धर्म आत्मा का नहीं हो सकता। वह अचेतन प्रकृति का विकारधर्म है। अतः 'तत्' पदवाच्य अहं (कर्ता) 'त्वम्' (कर्म) को त्याग देने पर प्रत्यगात्मा का ही ग्रहण शेष रह जाता है। (उप.सा. १८/१९७)

इस प्रकार 'नेति नेति' यह शरीर आत्मा नहीं है और वह शरीर आत्मा नहीं है अथवा यह हाथ, पैर, चक्षु, गुदा, शिश्न, शिर, पादादि का क्रमशः निषेधपूर्वक केवल आत्मग्रहण द्वारा सर्व दुःखहानि पूर्वक अपरोक्ष आत्मा के दर्शन को मोक्ष कहते हैं। (उप.सा. १८/१९८)

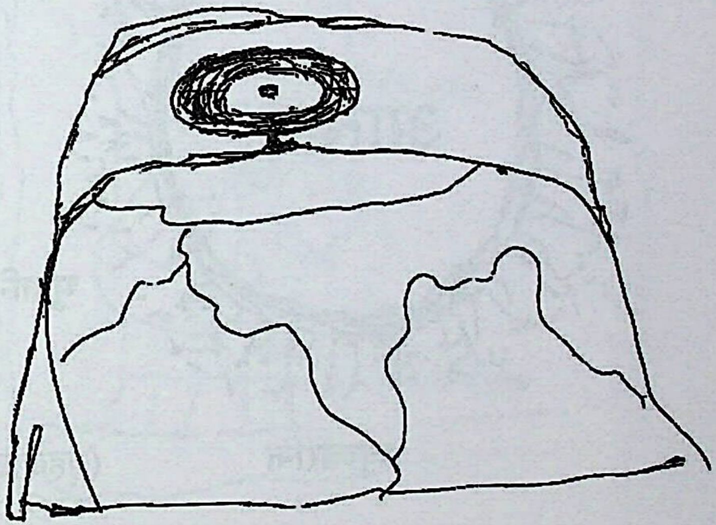
अतः मन में जगत्प्रपञ्च का भाव ही द्रष्टा-दृश्य-दर्शनरूप भ्रम को सर्जन करता है। अगर इसी द्रष्टा-दृश्य-दर्शनरूप मन के धर्म को विज्ञान रूपी असि (तलवार) से काट दिया जाय तो साक्षादात्मदर्शन सम्भव हो जाय और सभी अनर्थकारक अज्ञानजन्य दुःखों से निवृत्ति सम्भव हो जाय। (उप.सा. १९/८,९)

क्योंकि इस आत्मा के अद्वितीय स्वरूप होने के कारण न तो इसका कोई है और न ही किसी का यह है अर्थात् निखिल संसर्ग (सम्बन्ध) धर्म से रहित यह आत्मा स्वयं निर्लेप-निरञ्जन ब्रह्म है—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः।। (श्वेता.उ.)

विकल्पना चाप्यभवे न विद्यते। (उप.सा. १९/१३)

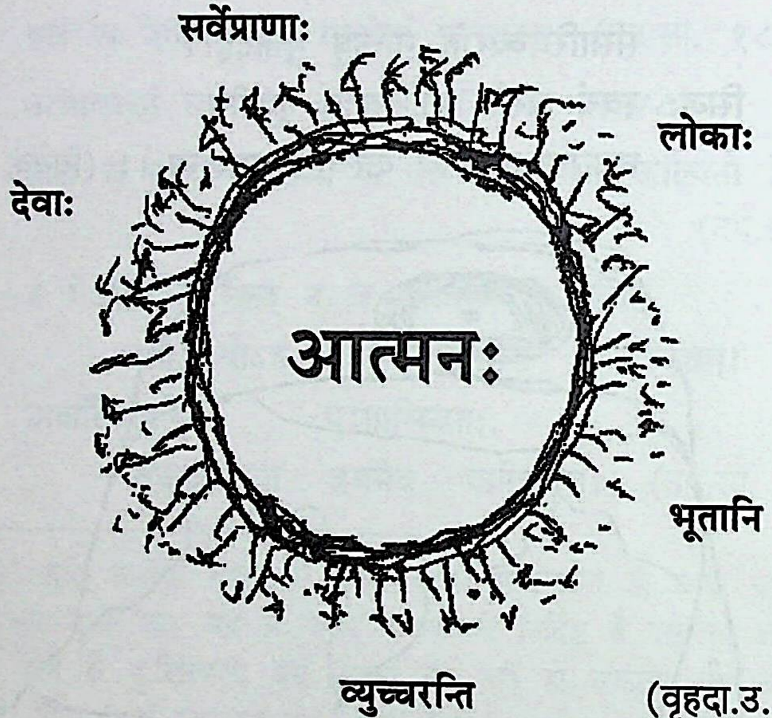
प्रारब्धकर्मपरिकल्पितवासनाभिः,
संसारिवच्चरति मुक्तिषु मुक्तदेहः।
सिद्धः स्वयं चरति साक्षिवदत्र तूष्णीम्,
चक्रस्य मूलमिव कल्पविकल्पशून्यः।। (विवेक चू. ५५३)



हृदयाकाशरूप कोश (गुफा) में विरज (गुणों से रहित) निष्कल (उपाधिरहित) स्वच्छ और प्रकाश के भी प्रकाशक ब्रह्म का वास है ऐसा उपनिषद् के कई वाक्य उपलब्ध हैं, जिससे आत्मा के निरूपाधिक स्वरूप का प्रतिपादन होता है। अतः अद्वय आत्मा का विनिश्चय और नानात्व जगत् का निषेध प्राप्त होता है। आत्मा के सर्वाधिष्ठान होने से उसमें जगत्प्रपञ्च कल्पित है जो नानात्व रूप दिखता है तथा जो कल्पित होता है वह असत् होता है। अतः कल्पना मिथ्या के परित्याग से ब्रह्म (आत्मा) निष्फल-निरञ्जन-सकल संसर्ग रहित अद्वितीय स्वरूप वाला है, और ब्रह्म ही आत्मा है कहा जा चुका है। (उप.सा. १९/१२)

विकल्पना भी अभावरूप ही है। विकल्पना सन्देह या संकल्प को कहते है। जीव को स्वात्मा की विकल्पना नहीं होती अर्थात् 'मैं' नहीं हूँ इस प्रकार स्वसत्ता का सन्देह नहीं होता। जीव को निरन्तर स्वात्मा का अवच्छिन्नधारावत् अनुभव 'अहम्' रूप से होता है इससे स्वात्मा की निरन्तर अनुभूति निर्विवादरूप अनुभव सिद्ध है और वहीं आत्मा जीव का स्वस्वरूप है। इसी तरह जो नहीं है उसकी कल्पना भी नहीं होती। (उप.सा. १९/१३)

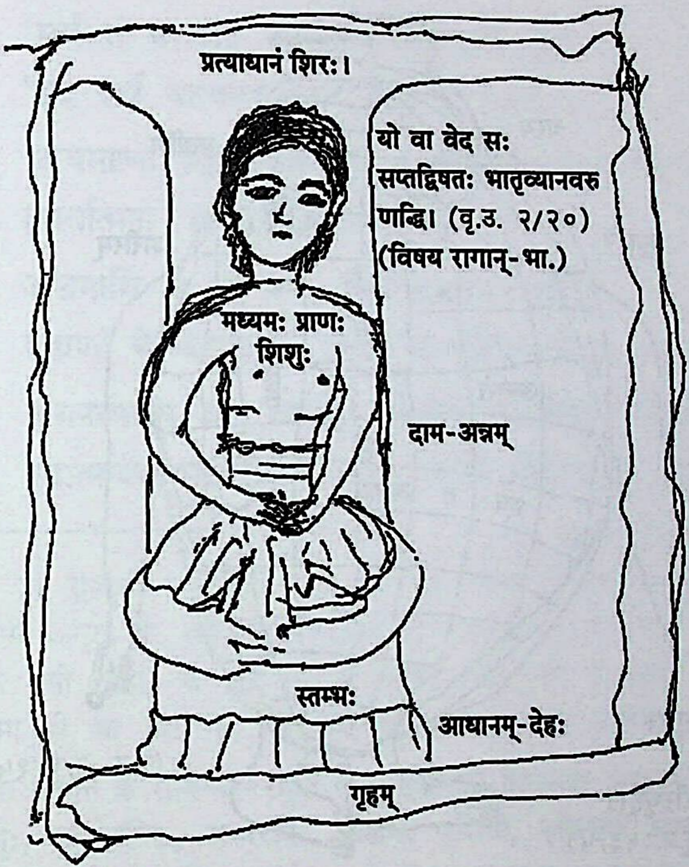
जो साधक आत्मा को मुक्तस्वभाव से जान लिया है और स्वयं को स्वात्मभाव में स्थित हो चुका है तथा शरीर को स्वात्मभिन्नरूप से असत् वस्तु एवं 'प्रकृति का विकार



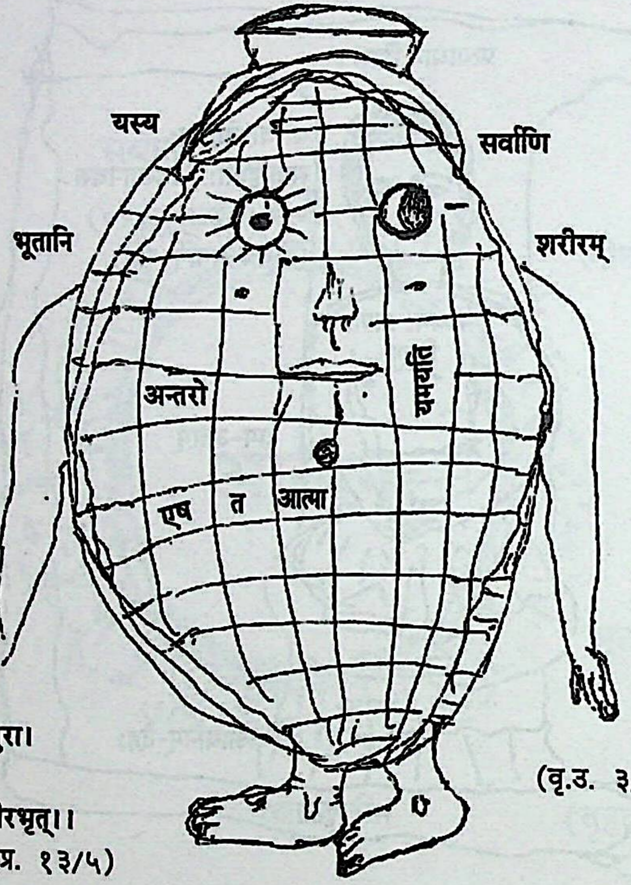
(वृहदा.उ. २/१/२०)

है' ऐसा समझ लिया है वह मुक्त पुरुष प्रारम्भकर्म से कल्पित वासनाओं द्वारा संसारी पुरुष के समान नाना भोगों को भोगता हुआ सा प्रतीत होने पर भी वह स्वयं में कुलाल चक्र के मूल की भाँति अपने को अक्रिय भाव से अनुभव करता हुआ साक्षीमात्र भाव से मौन होकर रहता है वह 'अप्राणो ह्यमना:', 'स वाह्याभ्यन्तरो ह्यज:', 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्', 'समं सर्वेषु भूतेषु' इत्यादि श्रुति-स्मृति प्रतिपादित स्वात्मस्वरूप को जानता हुआ उन-उन प्रारब्धकृत भोगों में उदासीन होता हुआ वर्तता है। (वि.चू. ५५३)

जिस प्रकार उर्णनाभि (मकड़ा) तन्तुओं पर चलता हुआ ऊपर की ओर जाता है तथा जैसे अग्नि से अनेक क्षुद्र चिनगारियाँ (स्फुलिङ्ग) उड़ती है, उसी प्रकार इस आत्मा से समस्त प्राण-सम्पूर्णलोक-निखिल देवगण और सम्पूर्ण भूतों की विविधरूपों में उत्पत्ति होती है। 'सत्य का सत्य' यही उस आत्मा का उपनिषद् है। यहाँ सत्य का सत्य (सत्यस्य सत्यम्) में अभेद में षष्ठी विभक्ति (अभेदे षष्ठी पा. सूत्र) मानना उचित होगा। 'अभेदे षष्ठी' के उदाहरण में 'राहो: शिर:' राहु का शिर प्रसिद्ध है। यहाँ राहु और शिर दोनों एक ही वस्तु है। (वृ.उ. २/१/२०)



जो कोई आधानं, प्रत्याधान, स्थूणा और दाम के सहित शिशु को जानता है, वे अपने से द्वेष करने वाले सात भातृव्यों का अवरोध करता है। वह जो मध्यम प्राण है, वही शिशु है, उसका जो यह शरीर है वही आधान है, यह शिर ही प्रत्याधान है, प्राण स्थूणा है और अन्न दाम (बन्धनरज्जु) है। भातृव्य दो प्रकार के होते हैं। एक द्वेष करने वाले और दूसरे द्वेष नहीं करने वाले। अतः इस शिशु को जानने वाले उन द्वेष करने वाले भातृव्य को बाँधते है (अवरोध करते हैं) सिर में स्थित जो सात प्राण विषयोपलब्धि के द्वार है, उनसे होने वाले विषय सम्बन्धी राग साथ-साथ उत्पन्न होते है, इसलिए वे भातृव्य है और वे आत्मस्थ दृष्टि को विषयोन्मुख करते हैं अतः द्वेष करने वाले भातृव्य हैं। यह जो शरीर के मध्य में मध्यम प्राण (लिंगात्मा) है वह पाँच प्रकार के शरीर में प्रविष्ट होकर-वृहन्, पाण्डरवास, सोम और राजन इन नामों से ख्यात हैं जिनमें वाणी और मन आदि इन्द्रियाँ निबद्ध है, यह प्राण शिशु के समान अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा विषयों में पटु न होने के कारण करते हैं, इसलिए शिशु है। उस शिशु (प्राण) का यह कार्यरूप शरीर ही आधान है—जिसमें कुछ स्थापित (रखा) जाय उसे आधान या अधिष्ठान कहते हैं। यह शिर प्रत्याधानं है क्योंकि इसका प्रदेशविशेषों के प्रति प्रत्याधान किया जाता है।



इदं नरनगाश्वादि;
वपुस्तत्सृष्टितः पुरा।
आत्मासीत् पुरुषाकारो,
ब्रह्माण्डाख्य शरीरभृत्।।
(अनुभू.प्र. १३/५)

(वृ.उ. ३/७/१५)

प्राण स्थूणा इसलिए है कि जिस प्रकार बछड़ा (शिशु) स्थूणा (खूँटा) के आश्रित बँधा होता है। अत: शरीर पक्षपाती वायु-प्राण स्थूणा है। वृ.उ. २/१/२०)

अन्न दाम (रज्जु) है, क्योंकि भोजन किये जाने पर अन्न तीन भागों में परिणाम को प्राप्त होता है। स्थूल परिणाम मल और मूत्र होते हैं और मध्यम परिणाम रस लोहितादि (रक्तादि) क्रम से कार्यभूत साप्त धातुओं वाले शरीर को पुष्ट करता है। शरीर अन्नमय होने से अपने कारणभूत अन्न की प्राप्ति से पुष्ट होता है तथा अन्न के अभाव में क्षीण होकर गिर जाता है। जो सूक्ष्मतम रस होता है वह अमृत-ऊर्क् कहा जाता है जो नाभि से ऊपर आकर हृदयदेश से फैली हुई बहत्तर हजार नाड़ियों में प्रवेश कर स्थूणा संज्ञक बल (प्राण) को उत्पन्न करके इन्द्रिय संघातरूप लिंग शरीर को स्थूल शरीर में स्थित रखने का कारण होता है, इसलिए जिसके दोनों ओर पाश है, ऐसी बछड़ा बाँधने की रस्सी के समान अन्न प्राण और शरीर का बन्धन है। (वृ.उ. ३/७/१५)

जो समस्त भूतों के अन्तर (भीतर) है और जो सम्पूर्णभूतों के बाहर भी है तथा जिसे सम्पूर्ण भूत नहीं जानते परन्तु वह समस्त भूतों के ज्ञाता है और समस्तभूत जिसका

'सर्वं तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद'
'इदं सर्वं यदयमात्मा'। (वृहदा.उ. २/४/६)
'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः'। (वृहदा.उ. २/५/१९)
(सर्वात्मना सर्वंमनुभवति-भाष्यम्)
असमाधिं न पश्यामि, निर्विकारस्य सर्वदा।
ब्रह्मणो मे विशुद्धस्य, शोध्यं नान्यद्विपाप्मनः।। (उपदे.स. १५/३५)
अमनस्कस्य का चिन्ता, चिन्मात्र ज्योतिषः तमः।
स्वात्मन्येव सदास्थित्वा मनो नश्यति योगिनः।। (विवेक चू. २७९)

शरीर है और जो सम्पूर्ण भूतों के अन्दर रह कर उसके नियमन करता है वही तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। यह अधिभूतदर्शन है। (छा.उ. ३/७/१५) यह नर-नग-अश्व आदि के शरीर उसी (ब्रह्म) के द्वारा पूर्व में सृजित किये गये हैं। सृष्टि के पूर्व में केवल पुरुषाकार आत्मा ही था उसी से यह शरीरधारी ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई।

अतः इस उत्पत्ति के सम्बन्ध में श्रुति है—**'एतस्माद्वै एतस्माद् आत्मनः आकाश सम्भूतः आकाशद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिभ्यो ओषधयः, ओषधिभ्यो अन्नम्, अन्नेभ्यो इमानि भूतानि जायन्ते'**।। (श्रुति) (अनुभू.प्र. १३/५)

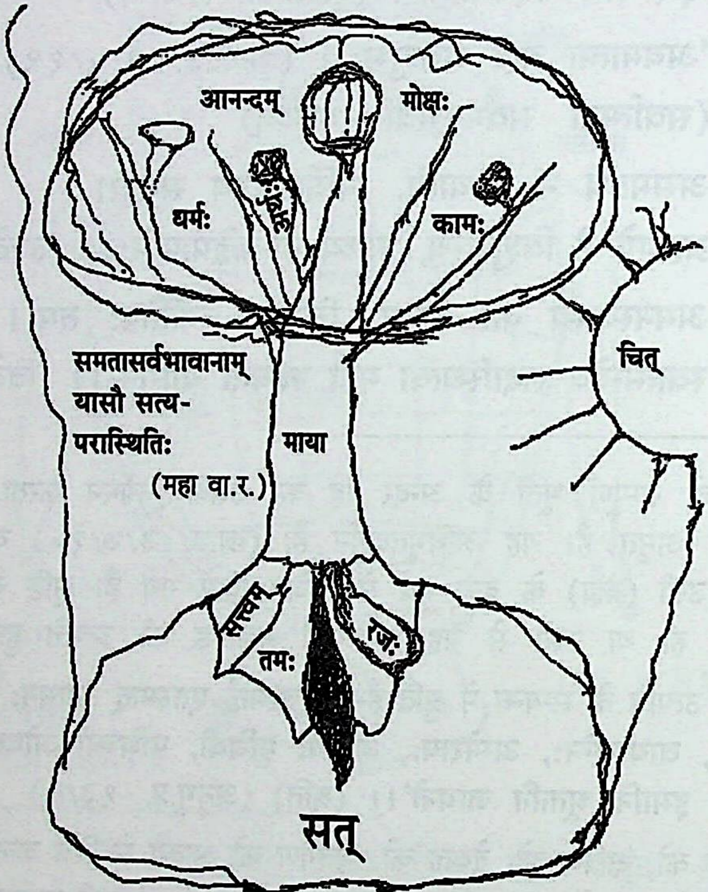
जो ब्राह्मण को, क्षत्रिय को, देवता को, भूतगण को आत्मा से भिन्न जानता और मानता है उसे ब्राह्मण-क्षत्रिय-देवता और भूतगण परास्त कर देते हैं क्योंकि ये सभी ब्राह्मण-क्षत्रिय-देवता एवं भूतगण सहित सभी चराचर उसी आत्मा से उत्पन्न हुए हैं, उसी में स्थिति प्राप्त किये हुए हैं और उसी में लय प्राप्त करते है तथा यह समस्त दृश्यगत सृष्टि आत्मा ही है। जो ऐसा नहीं जानता वह परास्त हो जाता है अर्थात् अधोगति को प्राप्त कर जाता है। (छा.उ. २/४/६)

यह आत्मा ब्रह्म ही है क्योंकि यह सर्वान्तरगामी होने के कारण सभी का सभी में स्वात्मना स्वयं को अनुभव करनेवाला है। (वृ.उ. २/५/१९)

जो साधक निर्विकार हो चुका है अर्थात् जिसने अपने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लिया है वह सदा समाधि की अवस्था में ही स्थित होते है उसे कभी भी समाधि से भिन्न अवस्था नहीं होती क्योंकि वह तप द्वारा अन्तकरण सहित सम्पूर्ण इन्द्रियों को नियमित कर विकार रहित कर शुद्धान्तकरण-पापरहित होकर कर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सभी ब्रह्म ही है ऐसा बोध प्राप्त कर लिया होता है। (उप.सा. १५/३५)

जिसने मन पर विजय प्राप्त कर लिया अर्थात् सारे संकल्प-विकल्प से अतीत स्थिति

ज्ञेयवस्तुपरित्यागे, विलयं याति मानसम्। (महावा.र.)



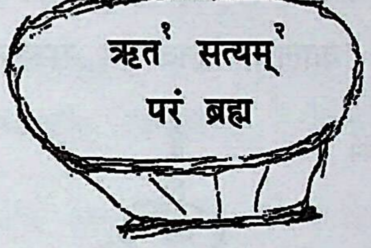
को प्राप्त कर लिया उसे कोई चिन्ता नहीं होती। वह तो सदा ही आत्मानन्द में स्थित होता है और सारे बन्धमुक्त हो ब्राह्मभाव को प्राप्त कर जाता है। चिन्मात्र (चेतनमात्र) ही यह जगत् है ऐसी दृढ़ प्रतीति प्राप्त कर लेने पर साधक का तम (अज्ञान) मिट जाता है, जैसे अन्धकारमय भवन में दीपक के जल जाने पर तम का तत्काल नाश देखा जाता है। आत्मा में स्थिति को प्राप्त कर मन का नाश किया जाता है। जो साधक सभी इन्द्रियों के अधिष्ठानभूत सर्वप्रकाशक सर्वनियन्ता आत्मा में स्थित हो जाता है और आत्मा को स्वस्वरूप से जान लेता है उसका मन नाश (लय) को प्राप्त हो जाता है। (वि.चू. २७९)

ज्ञेयवस्तु जो जगत्प्रपञ्च है उसके त्याग से और आत्मा को स्वरूप से जानकर साधक मन को लय (नाश) कर देता है। (महावा.र.)

सत् से ही सभी की उत्पत्ति हुई है अर्थात् सत् (ब्रह्म) में ही सभी कल्पित है। सत् (ब्रह्म) में माया रूपी वृक्ष की तना है जिसके जड़ (मूल) में सत्त्व-रज एवं तम रूपी जड़ें

तदास्तमितगम्भीरं, न तेजो न तमस्ततम्।
अनाख्यमनभिव्यक्तं, सत्किंचिदवशिष्यते।। (महावा.र.)

१. व्यावहारिकं
२. पारमार्थिकम्

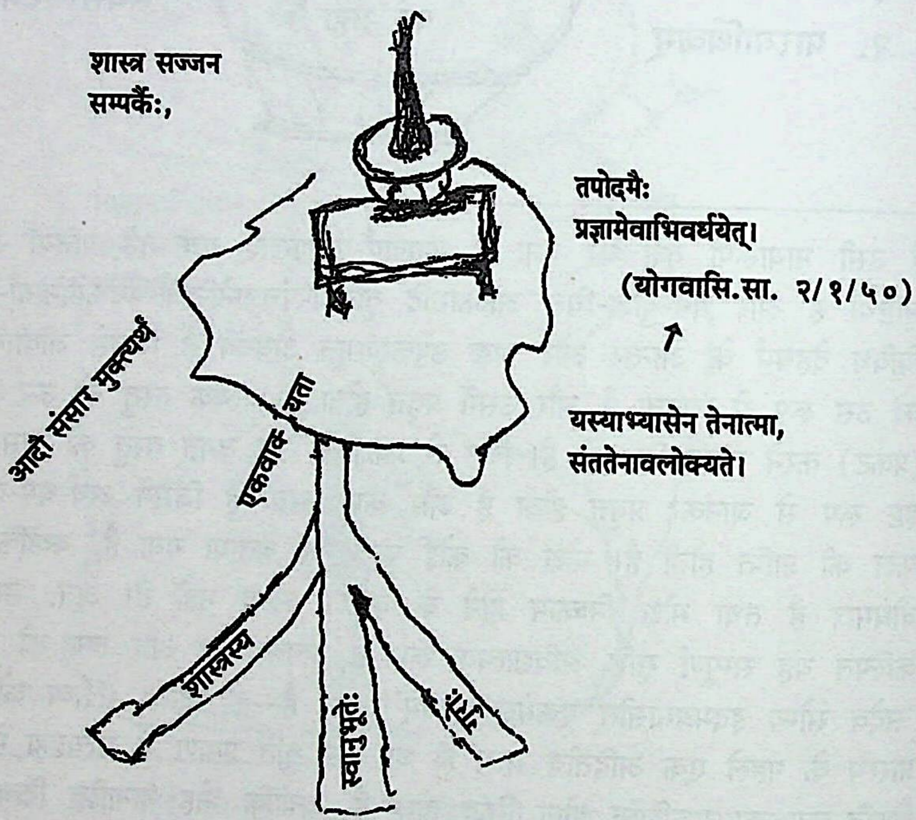


सर्वसंसारभेषजम्।।

है उसी मायारूपी वृक्ष की तना में शाखाएँ-परशाखाएँ एवं तने पत्तियाँ आदिरूप विविध सृष्टियाँ है और मन-बुद्धि-चित्त अहंकारादि वृत्तियाँ-पंचज्ञानेन्द्रियाँ-पंचकर्मेन्द्रियाँ-काम-कर्म आदि विविध देहधर्म के आन्तर और वाह्य उपकरणभूत अवयवें हैं जिससे जीवात्मा संसार (ज्ञेय) को उस रूप से जानता है और उसमें प्रवृत्त होता है। प्रत्येक वस्तु को उस रूप में प्रकाशित (प्रकट) करने वाला चित्त ही है। चित्त से प्रकाशित उस जगत् वस्तु को वासना वश जीवात्मा इष्ट रूप से जानकर प्रवृत्त होता है और कर्म करता है जिसमें अर्थ-धर्म-काम रूपी फूल-फल की प्राप्ति होती है। मोक्ष को कोई फल नहीं बताया गया है, क्योंकि मोक्ष स्वस्वरूप बोधमात्र है तथा मोक्ष निष्काम होने के कारण काम्य नहीं है। अत: सत् (ब्रह्म) में ही कल्पित यह सम्पूर्ण सृष्टि अविद्यात्मक रूप से उत्पन्न-स्थित और लय को प्राप्त होती है—'सदेव सोम्य इदमग्रमासीत् एकमेवाद्वितीयम्'। अर्थ है—हे सौम्य! (शिष्य को सम्बोधन) सृष्टि प्रारम्भ के पहले एक अद्वितीय सत्य ही था। इस श्रुति प्रमाण से सत्यब्रह्म में सम्पूर्ण उत्पत्ति-स्थिति-लय का प्रकल्पित होना सिद्ध होता है, क्योंकि 'नेह नानास्ति किंचन', 'नेति नेति', 'सर्वमयमात्मा' इत्यादि वचनों से सृष्टि का प्रकल्पन ही दृढ़ होता है। सभी भाव पदार्थों में समता का भाव रखना चाहिये और सभी में आत्मा का दर्शन करना चाहिये, क्योंकि यह सृष्टि आत्मना सत्य और विकारात्मना समस्त सृष्टि मिथ्या ही है, केवल समताभाव से अद्वितीय ब्रह्मबोध ही सत्य है। यही प्रतीक चित्र द्वारा कहा गया है। (महावा.र.)

ब्रह्म निश्चल-निश्छल-अक्रिय-निरञ्जन-निरवयव-स्वरूप वाला है इसलिए वह अस्तमित है गम्भीर है न वह तेज रूप है न तमोरूप है न उसका आख्यान (प्रवचनीय) योग्य है और न ही वाणी या अन्य माध्यम से अभिव्यक्त किया जा सकता है वह कोई सत्स्वरूप अवश्य ही है। न वह व्यावहारिक सत्य ही है और न ही पारमार्थिक, परन्तु वह असत्य से परे सत्य स्वरूप है और उस सत्य के बोध से संसृतिबन्ध जीव का छूट जाता है अत: वह संसार का भेषज है। (महा.वा.र.)

काले काले पृथग्भिन्ना, भूरिवीर्यविभूतयः।
भूतेष्वभ्युदयं यान्ति, प्रलीयन्ते च कालतः।।
नियतेरेषनिश्चयः।।७२।। (योगवासि.सा. १/१/७१)
अभयमन्यतमः कालः, पेलवीकृत सज्जनः।।७३।।



समय-समय पर पृथक् पृथक् विभिन्न स्वरूपों में उस ब्रह्म की विभूतियों का उदय इन्हीं भूतों में देखी जाती है और वे विभूतियाँ पुनः उसी में काल पाकर लय होती देखी जाती है यह उस परं ब्रह्म परमात्मा के नियति का निश्चय है इससे ब्रह्म की मूलाधिष्ठान सिद्ध होता है। (यो.वा.सा. १/१/७१)

सृष्टिकाल से अन्यतमकाल है जो स्थिर-गम्भीर-निश्चल-निश्छल होता है जिसमें कोई भय नहीं होता—'न विभेति कश्चन'। वह नहीं डरता है इस श्रुति वाक्यप्रमाण से ब्राह्मीभाव को प्राप्त काल ही वह अन्यतमकाल है। (यो.वा.सा. १/१/७३)

शास्त्र-सज्जनों के सम्पर्क-तप और दम के अभ्यास से प्रज्ञा की वृद्धि होती है। 'शास्त्रै पश्यन्ति पण्डिताः' और 'दुर्लभा सज्जन संगतिः' विद्वान् लोग शास्त्र से ही देखते हैं—

मनः सम्पद्यते-महतः परमात्मनः।
सुस्थिरादस्थिराकारं, तरंग इव वारिधेः।। (यो.वा.सा. ३/१/१६)
द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्ता-बन्धः।।२१।।
अहं त्वं जगदित्यादि सर्गः-दृश्यम्।
यावदेतत्सम्भवति, तावन्मोक्षो न विद्यते।। (यो.वा.सा. ३/१/२३)

व्यवहार करते हैं, उनकी आँखें शास्त्र ही होते हैं। 'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य भजते-कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न परत्र परां गतिम्' जो शास्त्रीय विधान को त्याग कर स्वेच्छा से व्यवहार करते हैं वे सिद्धि को प्राप्त नहीं करते और न ही उसे शरीर पात होने पर उत्तमलोक की प्राप्ति होती है। शास्त्र के अध्ययन करने से मति निर्मल होती है। सज्जनों के संग से विवेक का उदय होता है और साधक इन्द्रियों पर दमन करते हुए तप करके संसार से मुक्ति पाने के लिए शास्त्र-गुरु तथा स्वानुभूति की एकवाक्यता के द्वारा अभ्यास करते करते आत्मावलोकन रूप परमफल को प्राप्त कर मोक्षरूप परमपुरुषार्थ को प्राप्त कर लेता है। द्रष्टा को जब तक दृश्य (जगत् प्रपंच) की सत्ता का अनुभव हो तब तक बन्ध बना रहता है। दृश्य की सत्ता का दर्शन ही बन्ध है। जब साधक को—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत विजानतः।
तत्र को मोहः को शोकः एकत्वमनुपश्यतः।। (ईशा वा.उ. ७)

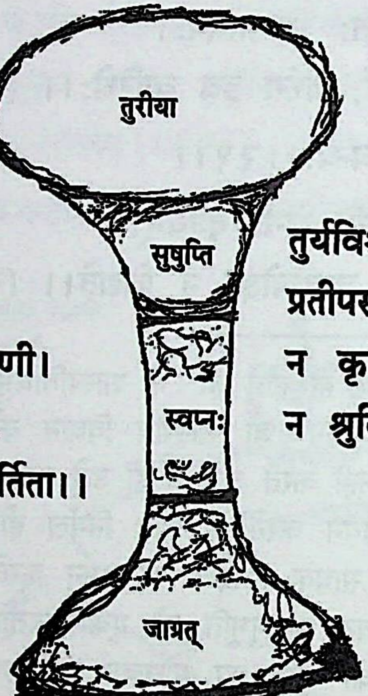
जिस साधक को सभी भूतों में आत्मा का दर्शन होता है और सभी भूत आत्मा में अनुभव होता है उसे शोक मोह नहीं होता अर्थात् वह अज्ञान के बन्ध से मुक्त हो जाता है। (यो.वा. २/१/५०)

अहं (मैं) त्वं (तुम) इस प्रकार भेद व्यवहार का बना रहना ही दृश्य है। जगत् के व्यवहार दशा को सत्य समझने वाला मैं-हम-तूँ-तुम आदि भेद को स्वीकारते है। उन्हें भेद बुद्धि होती है। उन्हें सृष्टि अनेक दिखायी देती है इसी को दृश्य कहते हैं और जब तक इस प्रकार प्रतीति का विषय बना रहता है तब-तक बन्ध है और जब तक द्वैत विचार बना रहता तब तक मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि जिसे—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं-रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।। (कठो.उ. ९)

प्रत्येक रूप में अधिष्ठानी आत्मा का दर्शन और अनुभूति ही मोक्ष का स्वरूप हो सकता है। वह मुक्त पुरुष—

प्रजापतिश्चरतिगर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।।



परब्रह्मवदाभाति,
निर्विकारैकरूपिणी।
सर्वावस्थासु धारैका,
तुर्यावस्था प्रकीर्तिता।।

तुर्यविश्रान्ति युक्तस्य,
प्रतीपस्य भवार्णवात्।९८।
न कृतेनाकृतेनार्थः
न श्रुति-स्मृति विभ्रमैः।।१००।।
(यो.वा.सा. २/१)

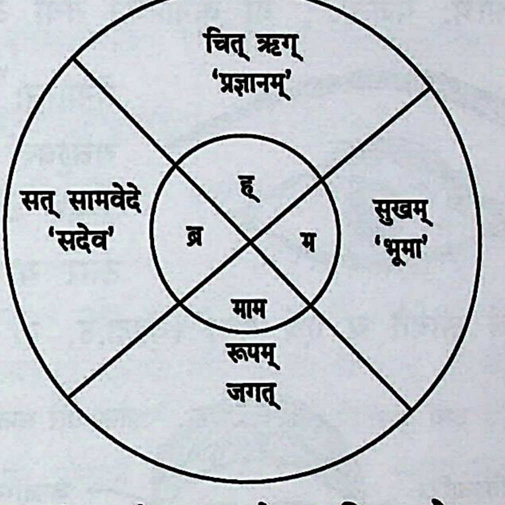
प्रत्यग्रूपः पराग्रूपात्, व्यावृतोऽनुभवात्मनः।
प्रथते यः स आत्मेति, प्राहुरात्मविदो बुधाः।। (अनुभू.प्र. १३/१)
देहेन्द्रियमनोबुद्धि,-भावाभावादिसाक्षी।।२२।।

प्रजापति (आत्मा) को अन्दर और बाहर अनुभव करता है। जिसे निखिल प्रपञ्च में अनेकता की अनुभूति है वही वद्ध पुरुष है। (यो.वा. ३/१/१६,२१,२३)

जिसने साधना करके तुरीयावस्था को प्राप्त कर लिया है वह भवबन्धन से छूट चुका है उसे जगत् के पाप पुण्य के करने नहीं करने से अपेक्षा नहीं रहती। वह श्रुति-स्मृति द्वारा प्रतिपादित पाप-पुण्य-धर्माधर्म से अतीत हो जाता। उसकी श्रुति-स्मृति के तात्पर्यावगाही बुद्धि प्राप्त हो जाने पर कर्त्तृत्वादि शरीर धर्म नहीं रहते इसलिये कर्मसापेक्षता उसकी जाती रहती है। उसे सर्वत्र परब्रह्म का प्रकाश (ज्योति) ही दीखती है। क्योंकि वह निर्विकार स्वस्वरूप को अपरोक्षरूप से प्राप्त कर लिया है। उसे सभी अवस्थाओं में अथात् जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति और तुरीयावस्थाओं में एक ही ब्रह्मानुभूति की धारा प्रवाहित होती रहती है और एक ब्रह्मधारा का प्रवाह ही तुरीयावस्था है। (यो.वा.सा. १००/२/१)

प्रत्यगात्मा जब पराग्र (पुरोवर्ति) होकर आत्मा स्वरूप से अनुभूत हो तो उस प्रसिद्ध प्रकाशात्मा को ही आत्मवेत्ता लोग आत्मा कहते हैं। देह-इन्द्रिय-मन और बुद्धि के भाव तथा

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीना,-मागमापायभासनम्।
यतो भवत्यसावात्मा, स्वप्रकाशचिदात्मकः।। (पंचदशी १२/५८)



यत्त्वं पश्यसि तत्रैवः, त्वमेव प्रतिभाससे।। (अष्टा.गी. १५/१४)

अदृष्ट्वा दर्शनैव, तदन्तस्थे क्षणं नहि।
अमत्वा सच्चिदानन्दं, नामरूपमतिः कुतः।। (पंचदशी १३/१०२)

अभाव का साक्षी जो हो एवं जाग्रत्-स्वप्न सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में जो समान रूप से अनुभूति में प्राप्त हो वही आत्मा है और वहीं चिदात्मा का स्वस्वरूप है तथा वहीं सभी अवस्थाओं में प्रकाशक होता है। वही आत्मा सत् है ऋत् है और प्रज्ञानघन है और वही ब्रह्म है। सदेव (सत् ही) साम है क्योंकि श्रुति कहती है—'सदेव सौम्य इदमग्रमासीत् ऐकमेवाद्वितीयम्' हे सौम्य यह अद्वितीय सत् ही सृष्टि के आदि में था। वह सत् ही भूमा है आनन्द है और जाग्रत् अवस्था में 'माम' रूप से व्यवहार का विषय होता है।
(अनुभू.प्र. १३/१८,२२)

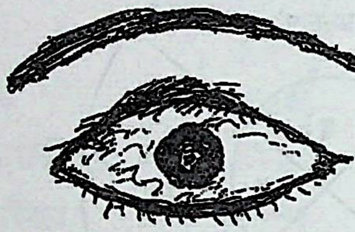
जो तुम पुरोवर्ति वस्तु को देख रहे हो वहाँ जो अद्वितीय (अद्वैत-अभेद) वस्तु आत्मा का प्रतिभासन हो रहा है वह तुम ही हो। 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य:' (कठोप. २/१८) वह आत्मा (ब्रह्म) आकाश के समान सर्वगत है व्यापक है और 'आत्मा ब्रह्मैव नापर:' आत्मा ब्राह्म ही है इस प्रकार साधक जीवात्मा मनन करना चाहिये। (पंचदशी)

जब दर्पण को न देखा जाय और उसके मध्य ईक्षण (मैं हूँ) न किया जाय और सच्चिदानन्द को न जाना जाय तो नाम और रूप आदि उपाधि की मति कैसे होगी? कथमपि नहीं होगी। उपाधि के दर्शन कल्पन-चिन्तन और मति से ही उसकी उपस्थिति होती है अतः

सप्ताक्षितयः

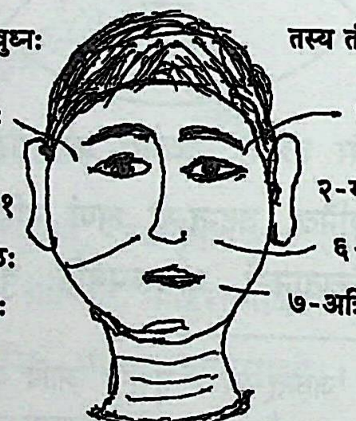
या अक्षन् लोहिन्यो राजयः ताभिरेनं [१]रूद्रोऽन्वायत्तः। या अक्षन् आपः ताभिः पर्जन्यः[२], या कनीनका तया आदित्यः[३],

यत्कृष्णं तेनेन्द्रः[५], पृथ्वी[६],



तेनाग्निः[४], यच्छुक्लं अधर यैनं वर्तन्या उत्तर या द्यौः[७] अन्वायत्ता,

नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद। (वृहदा.उ. २/२/२)



(वृहदा.उ. २/२/३)

नाम-रूप आदि विकल्प (उपाधि) से रहित केवल निरञ्जन शुद्ध चेतन ब्रह्ममात्र ही दृग्दृश्य है ऐसी मति होने पर ही अपरोक्ष ब्रह्म का साक्षात् होता है।

(अष्टावक्रगीता १५/१४, पंचदशी १३/१०२)

सप्ताक्षितयः उस प्राण की सात अक्षितियाँ उपस्थान (स्तुति) करती हैं—उसमें से ये जो आँख में लाल रेखाएँ हैं, उनके द्वारा रूद्र इस मध्यप्राण के अनुगत हैं और नेत्र में जो जल है उसके द्वारा मेघ, जो कनीन का (दर्शन शक्ति) है उसके द्वारा आदित्य, जो कलिमा है उसके द्वारा अग्नि और जो शुक्लता (स्वच्छता-सफेदी) है उसके द्वारा इन्द्र अनुगत है। नीचे के पलक द्वारा पृथिवी और ऊपर के पलक द्वारा द्यौलोक अनुगत हैं। जो पुरुष इस प्रकार मध्यमप्राण को जानता है उसका अन्नक्षीण नहीं होता है अर्थात् उसे अन्न का अभाव नहीं रहता। (वृ.उ. २/२/२)

श्रोत्रादि में ऋषियों की दृष्टि स्थापनार्थ श्रुति यहाँ प्रवृत्त है—इस प्राणी जीवात्मा के

ब्रह्मविदः सतः परं किमप्यवेक्षितुं न विद्यते। (वि.वे.चू. ५२३)

अद्वयानन्दरसानुभूत्या, तृप्तः सुखं तिष्ठ। (वि.वे.चू. ५२४)

प्रतिबद्धवृतेर्महात्मनः स्ववेदने न नियमाद्यपेक्षा। (वि.वे.चू. ५३०)

विना प्रमाणसुष्ठुत्वम्। (वि.वे.चू. ५३१)

अयमात्मानित्यसिद्धः प्रमाणे सति भासते। (वि.वे.चू. ५३२)

दोनों कानों में क्रमशः गौतम और भरद्वाज हैं। ये ही दोनों नेत्र विश्वामित्र और जगदग्नि है। ये दोनों नासारन्ध्र (छिद्र) ही वशिष्ठ और कश्यप हैं। वाक् ही अत्रि है, क्योंकि वागिन्द्रिय द्वारा ही अन्नभक्षंण होता है। जिसे अत्रि कहते है वे निश्चय ही 'अत्रि' (भक्षण) नाम वाला ही है। जो इस प्रकार इन इन्द्रियों को जानता है वह सबका भत्ता (भक्षण करने वाला) होता है, क्योंकि सब इसका अन्न हो जाता है। (वृ.उ. २/२/३)

जो ब्रह्मज्ञानी पुरुष हैं उन्हें ब्रह्म दर्शन के अलावा क्या चाहिये? कुछ भी नहीं, क्योंकि 'स पूर्णकामः न कामकामी'। वह आत्मविज्ञान सम्पन्न ब्रह्मवेत्ता पूर्णकाम हो जाता है इसलिए उसे कोई कामना नहीं रहती है। (वि.चू. ५२२)

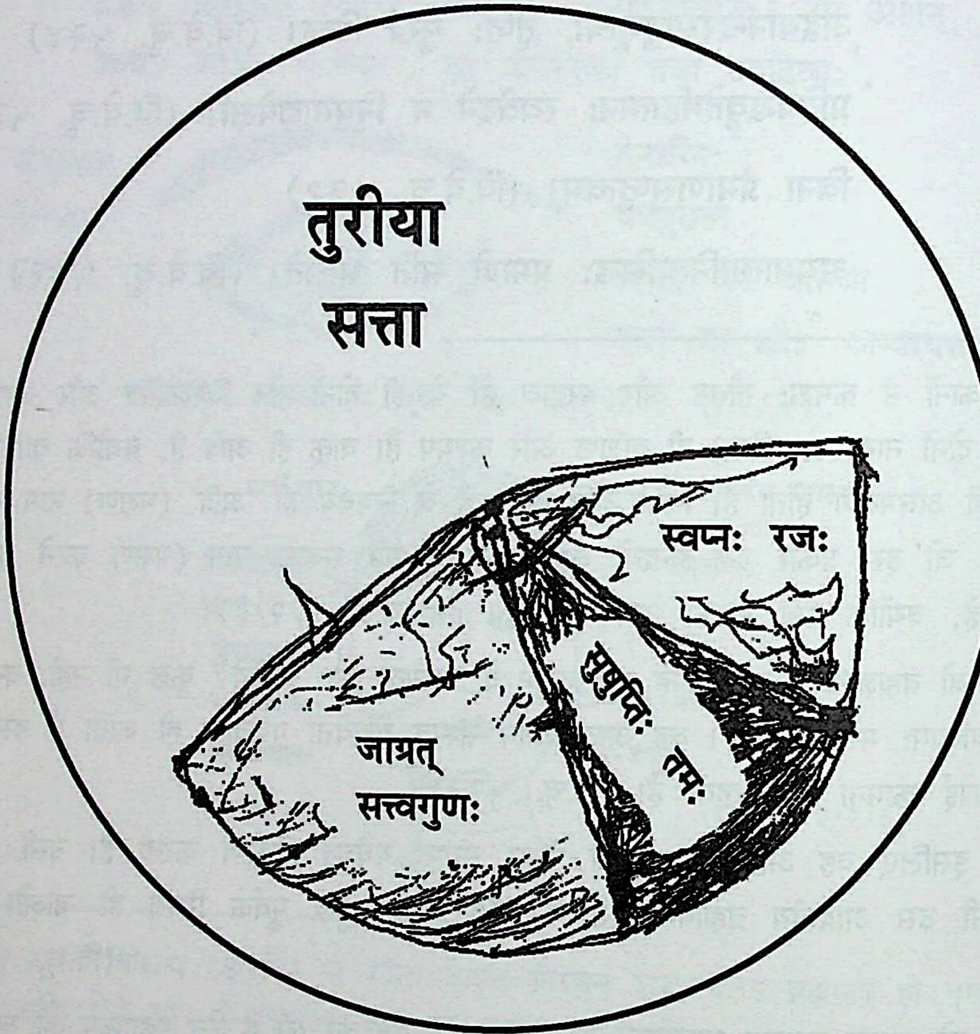
इसलिए वह अद्वयानन्दरस को पीकर संतृप्त यथेच्छ विहरण करता है। उसी प्रकार तुम भी उस अद्वितीय ब्रह्मानन्द रस को पीओ और सुख पूर्वक स्थित हो जाओ। (वि.चू. ५२४)

जो साधक महात्मा आत्मतत्त्व की सिद्धि को प्राप्त कर ली है उन महापुरुष को ध्यानादि उपयोगी देश-काल-आसन-प्रणायामादि की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि किसी को अपने आपको जानने के लिए किसी उपकरण की अपेक्षा होती है क्या? कथमपि नहीं। क्योंकि वह स्वानुभूति स्वरूप होता है। (वि.चू. ५३०)

किसी पदार्थ (प्रमेय) को जानने के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है। 'प्रमाणाद्धि प्रमेय सिद्धिः' यह नियम है। परन्तु मैं (आत्मा) हूँ इसमें कौन प्रमाण सौष्ठव की आवश्यकता है? किसी की नहीं। तुम विना प्रमाण के ही आत्म-स्वरूप हो। (वि.चू. ५३१)

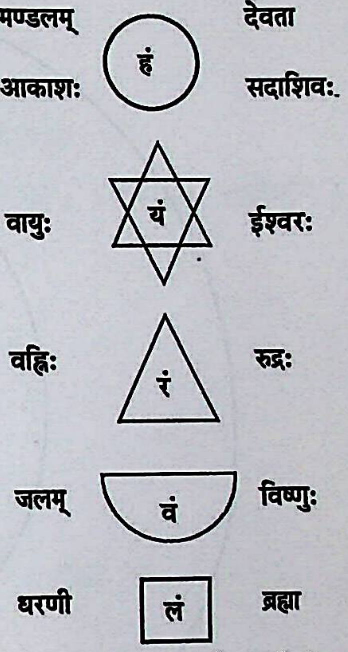
यह आत्मा नित्य सिद्ध है इस प्रकार प्रमाण सिद्ध होते ही भासने लगता है। इसमें कोई देश-काल-नियम की अपेक्षा नहीं होती है। (वि.चू. ५३२)

संचारो निगमान्तवीथिषु विदां क्रीडापरेब्रह्मणि। (वि.वे.चू. ५३९)



जीवात्मा की अवस्था तीन प्रकार की होती है जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति। सिद्ध योगी-ब्रह्मविद् की अवस्था तुरीया होती है। सत्त्वगुणप्रधान अवस्था जाग्रत् अवस्था है। रजोगुण प्रधान स्वप्नावस्था है और तमोगुण प्रधान सुषुप्ति अवस्था होती है। इन्हीं गुणों से अभिभूत जीवात्मा जीवभाव को प्राप्त होता हुआ कर्त्ता-कर्म-काम-इच्छा-द्वेष-प्रयत्नादि वाला होता है और तत्तत्कर्म का भोक्ता भी होता है परन्तु परमात्मा में स्थित (आत्मनिष्ठ) योगी तुरीयावस्था को प्राप्त कर अर्थात् तीन गुण और उसके कार्य कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि से अतीत ब्रह्मात्म्यैक्यभाव में स्थित हो निर्द्वन्द्व होकर आत्मानन्द में निरन्तर स्थित होता है। यही प्रतीक द्वारा प्रस्तुत किया गया है। जो ब्रह्मविद होता है वह परब्रह्मपरमात्मा रूपी वीथि—गली अथवा कुञ्ज में नित्य विहार करता है। (वि.चू. ५३९)

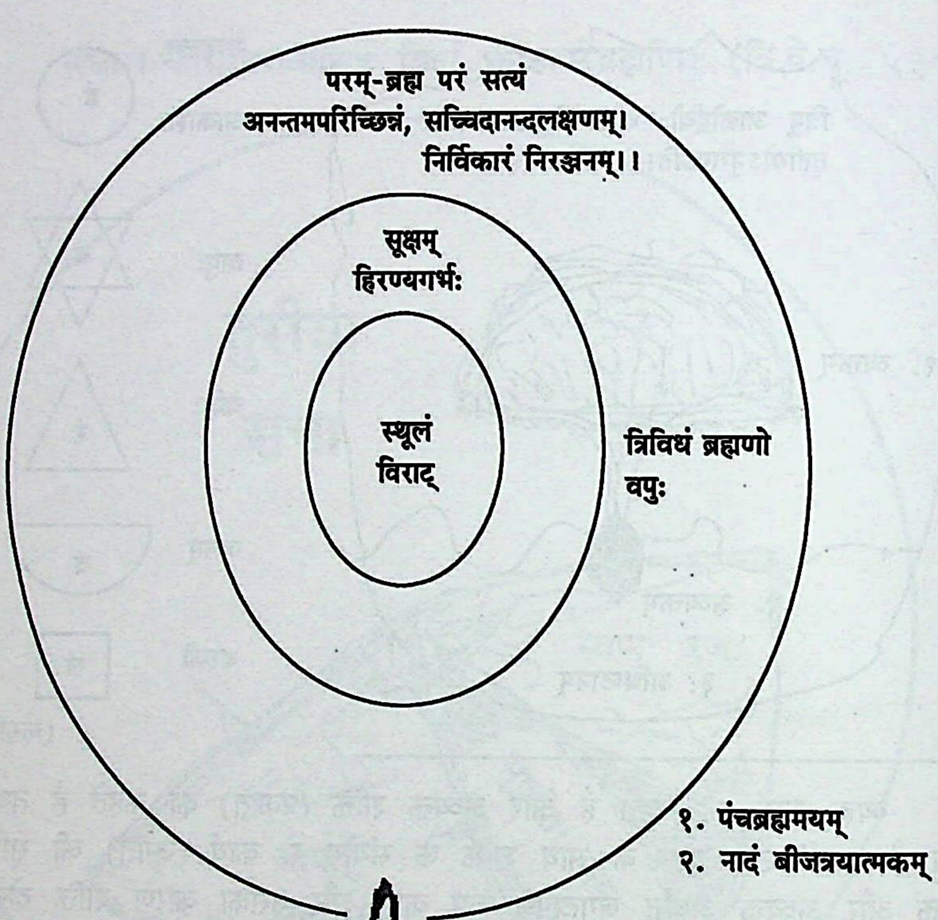




(योगशिखोपनि. २)

व्यक्त कार्य को कहते है और अव्यक्त शक्ति (प्रकृति) को कहते हैं तथा अधिष्ठान ब्रह्म है। सर्वाधिष्ठान ब्रह्म के साथ शक्ति के संयोग से कार्य (जगत्) की सृष्टि होती है। व्यक्त और अव्यक्त अर्थात् जगत्प्रपञ्च रूप कार्य और उसका कारण शक्ति दोनों अधिष्ठान ब्रह्म के तीनों कालों में अनुगमक होते हैं क्योंकि यथाघट कार्य ध्वंस होने पर अपने आधार पृथिवी के ही वे अनुगमन करने वाले होते हैं तथा सर्वाधार अधिष्ठान ब्रह्म में जगत् कार्य का अवसान होता है। कार्य कारणात्मक होता है और कारण का विकार होता है तथा विकार असत् स्वरूप होता है अतः जगत्प्रपञ्च असत् ही है। (पंचदशी १३/४०)

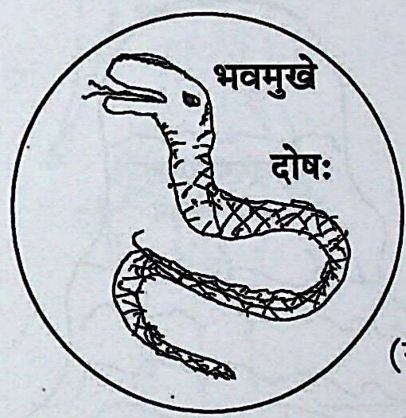
यहाँ परं ब्रह्म परमात्मा से उत्पन्न पंचभूतात्मक सृष्टि को लक्ष्य कर सृष्टिक्रम का संकेत है। श्रुति कहती है—'एतस्मात्' वै एतस्मात् आत्मनः आकाश सम्भूतः, आकाशात् वायुः, वायोग्निः, अग्नेरद्भ्यः, अद्भ्यो पृथ्वी' उस परमात्मा ब्रह्म से आकाश की उत्पत्ति हुई, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी की उत्पत्ति हुई। इस तरह पंचमहाभूत के उत्पन्न होने पर उस-उस महाभूताभिमानी देवता उस भूत के उपाधिरूप से सृष्टि सृजन हेतु प्रवृत्त हुए। आकाश तत्त्व के देवता सदाशिव, वायु के ईश्वर, वह्नि के रूद्र, जल के विष्णु और धरणी (पृथ्वी) के ब्रह्मा देवता है। सम्पूर्ण सृष्टि इसी पंचभूत के पंचीकृत रूप है और प्रत्येक सृजित वस्तु में उस-उस भूताभिमानी देवता तत्तत् भूततत्त्व में विराजमान हैं। उस-उस भूत के अभिमानी देवता के बीजात्मक मन्त्र से अपने शरीर में स्थित तत्तत्स्थानी चक्र में तत्तत् देवता की उपासना करनी चाहिये। (योगशिखोपनि. २)



विन्दुपीठं विनिर्भिद्य,  नादलिङ्गमुपस्थितम्।
प्राणेनोच्चार्यते ब्रह्मन्, षण्मुखीकरणेन च।। (योग शि.उ. २)

ब्रह्म परं सत्य है। वह अनन्त-अपरिच्छिन्न सत्-चित्-आनन्दस्वरूप-निर्विकार तथा निरञ्जन है। उस ब्रह्म के ही शरीर उपाधि भेद से विविध शरीर है। प्रथम स्थूल शरीराभिमानी विराट् है, द्वितीय सूक्ष्म शरीराभिमानी हिरण्यगर्भ है और तृतीय कारण शरीराभिमानी तैजस है। इन तीनों शरीराभिमानी कार्यब्रह्म में उपाधिभेदन पूर्वक ऐक्य से ही परं ब्रह्म का जो सत्य स्वरूप है उनकी प्राप्ति होती है। उसे प्राप्त करने के लिये विन्दुपीठ का भेदन कर नाद ब्रह्म में स्थित हो जाना चाहिये और प्राणवायु की सहायता से षण्मुखी हो जाना चाहिये अर्थात् पंचकोश भेदन .पूर्वक ऐक्य प्राप्त करना चाहिये। पंचकोशों (अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय और आनन्दमय) में आत्मत्त्वेन एकत्वदर्शन करने पर षण्मुखीकरण यौगिक क्रिया सम्पन्न होती है। यही त्रिविध स्थूल विराट्, सूक्ष्म हिरण्यगर्भ और उससे परे निर्विकार ब्रह्म हैं। नाद भूर्भुवःस्वः बीजत्रयात्मक है। (योगशिकोपनि. २)

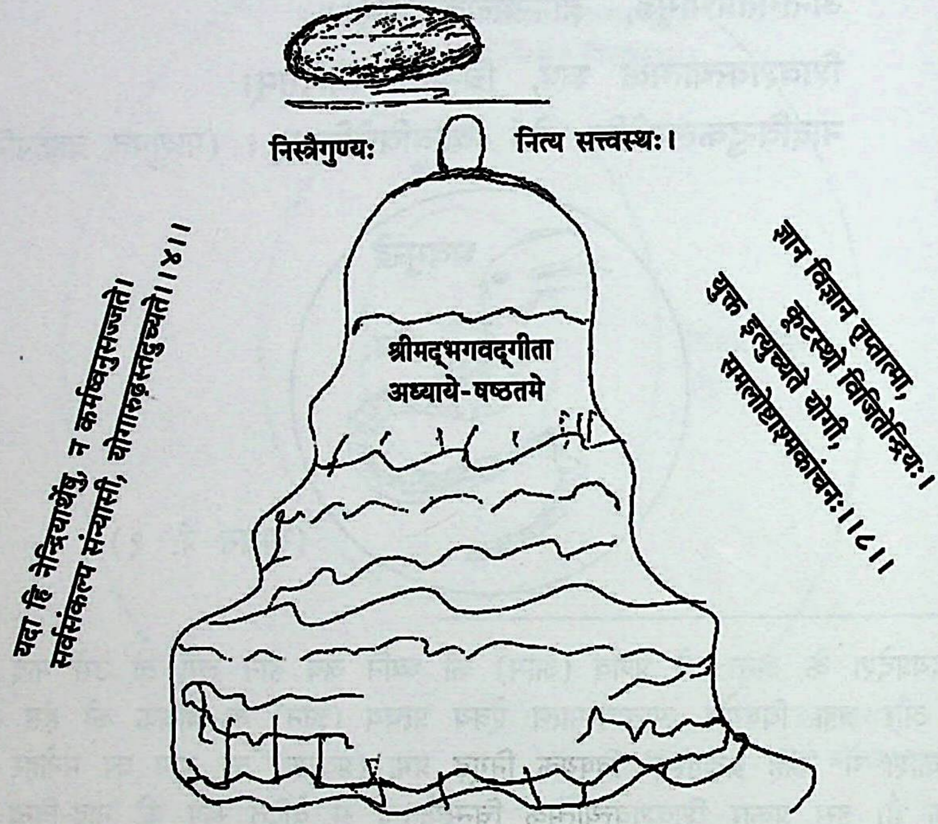
अन्तः प्रणवनादाख्यः, हंसः प्रत्ययबोधकः।
अन्तर्गतप्रभागूढं, ज्ञाननालविराजिम्।।
शिवशक्त्यात्मकं रूपं, चिन्मयानन्दवेदितम्।
नादविन्दुकलात्रीणि, नेत्रं विश्वविचेष्टितम्।। (पाशुपत ब्रह्मोपनि.)



(साधन पं. १)

हृदयप्रदेश के अन्तः में प्रणव (ओम) की ध्वनि जब होने लगे तो उसे नाद कहा जाता है और ब्रह्म विषयक आत्मपरमात्म ऐक्य प्रत्यय (ज्ञान) के बोधक को हंस कहते हैं। हृदयाकाश में 'अहं ब्रह्मास्मि' विषयक निगूढ़ प्रभा (प्रकाश) को ज्ञान का मनोहर नाल कहा जाता है। इस प्रकार शिवशवत्त्यात्मक चिन्मयानन्द से वेदित रूप को नाद-विन्दु और कला से समष्टि अहं (मैं) में विचेष्टित तीन नेत्र का स्थान है। यही नाद-बिन्दु और कला तीन नेत्र (त्रिनेत्र) वाले शिवशक्त्यात्म स्वरूप है जिसे ध्यानावस्थित हो देखते-अनुभव करते हैं—'ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः' (श्रीमद्भा.) (पाशुपतब्रह्मोपनि.) भव (संसार) मुख (प्रधान) है। ऐसे जगद्दृष्टि प्रधान वाले में बहुत ही दोष (पाप) होते हैं। भव (जगत्) भोग (सर्प) है और सर्प के मुख में स्थित रहने वाले मानव-काम-क्रोध-लोभ-मोह-मात्सर्य-ईर्ष्या-द्वेषादि रूपी विष से प्रभावित होकर उसकी लहर (जिस प्रकार सर्प के काटने पर शरीर में लहर होता है) से तप्तायमान होकर जलते रहते हैं। सर्प के काटने पर विष से मुक्ति पाने हेतु चिकित्सा करने के क्रम में दो उपाय देखे जाते है औषधि (दवा) का प्रयोग और मन्त्रप्रयोग। उसी प्रकार भव (संसार) भोग (सर्प) से ग्रसित के लिये गुरु की शरणागति हो उपदेश (तत्त्वमसि) और श्रुति वाक्य में श्रद्धा पूर्वक निष्ठा स्थापित कर निरन्तर मनन ही भवभोग-रोग का उत्तम अन्तिम उपाय होता है। 'मन्त्रप्रयोगैर्विषम्' (भतृहरिशतक) मन्त्र के प्रयोग से विष का शमन होता है और 'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' (श्रुति) आत्मज्ञान के विना मुक्ति (भवबन्ध विमोक्ष) नहीं होती। यही सर्प के प्रतीक चित्र द्वारा अभिप्राय को प्रकट किया गया है। (साधन पं. १)

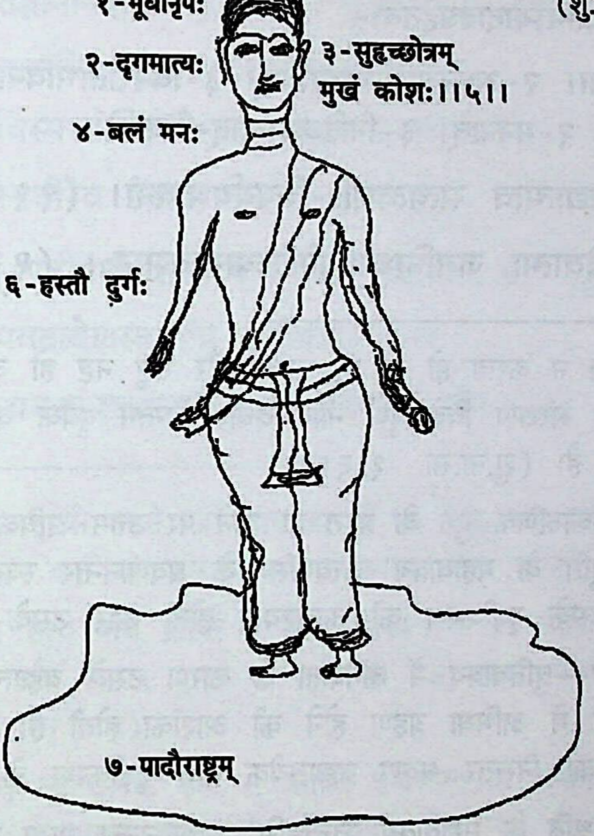
प्रत्यग्वस्तु-निस्तरंगसहजानन्दाववोधाम्बुजलधिः। (मनीषा पं. ४)



प्रत्यक् वस्तु निस्तरंग जलधि के समान होता है। यथा समुद्र में निश्चल भाव (जल का स्थिरभाव) होता है उसी प्रकार अगाध सहज (आत्मा) आनन्द का अवबोध आत्मपरमात्म-अपरोक्ष-अभेद बोध होने पर प्रत्यक् वस्तु का स्वभाव प्रकट होता है। (मनीषा पं. ४)

साधक जिस समय में न तो इन्द्रियों के भोगों में और न ही कर्मों में ही आसक्त होते हैं उस समय में वह सर्वसंकल्पों का परित्यागी मानव योगारुढ़ योगी कहा जाता है।।४।। (गीता) जिस साधक योगारूढ़ का जिस समय अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञान से तृप्त हो जाता है, उस समय उसकी स्थिति विकार रहित होती है और उसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति उस साधक द्वारा वश में कर ली गयी होती है और उसके लिये मिट्टी का ढ़ेला-पत्थर और सुवर्ण (स्वर्ण) सभी समान हो ज़ाते है, उस समय वह योगी युक्त अर्थात् 'परमात्मप्राप्त है' ऐसा कहा जाता है।।८।। (श्रीमद्भगवद्गीता) इसी विषय वस्तु को अष्टावक्रगीता में कहा है—

न जागर्ति न निद्राति, नोन्मीलति न मीलति।
अहो परदशा क्वापि वर्तते मुक्तचेतसः।।१०।।



यस्तु भोगेषु भुक्तेषु न भवत्यधिवासिता।
अभुक्तेषु निराकांक्षी, तादृशो भवदुर्लभः।।४।। (अष्टा व.गी. १७)

उस आत्मानन्दप्रलीन योगी को भोग, भुक्त और भोक्तव्य में कोई आकांक्षा नहीं होती वह न जागता है, न सोता है, न उन्मीलित होता न मीलित होता ऐसे योगी संसार में दुर्लभ होते हैं। (श्रीमद्भा.गी.)

यह शरीर राष्ट्र है और इस शरीररूपी राष्ट्र के राजा मूर्धा (शिर) है, दोनों आँखें अमात्य (मन्त्री) हैं, श्रोत्र (श्रवणेन्द्रिय) सुहृद् (मित्र) हैं और मुख ही कोश (खजाना) है। इसी प्रकार मन बल (सेना) है और दोनों हाथ दुर्ग है तथा दोनों पैर राष्ट्र है। जो इस प्रकार इस राष्ट्र को जानता है और उपासना करता है उसके शरीररूपी राष्ट्र में विप्लव नहीं होता। मानव जीवन में शरीर के प्रत्येक अंग के महत्व को दर्शाकर उसकी उपयोगिता और उपासना का महत्त्व को रेखांकित कर यहाँ प्रतीक के माध्यम से उपदेश विवक्षित है। जिस राज्य के राजा दुर्मति, अमात्य कुदृष्टि वाला, सेना संयमित और दुर्ग सुदृढ़ न हो उस राज्य के राजा सुहृद् के नीति-धर्मयुक्त विचार का आदर न करता हो तथा कोश का विवेकपूर्ण

अहं ब्रह्मेति ज्ञानस्यादार्ढ्यहेतवः-

१-श्रुत्यनेकता। २-अर्थस्यासम्भाव्यत्वम्। ३-विपरीताभावना। (पंचदशी ७/९९)

१-श्रवणात्। २-मननात्। ३-निदिध्यासनात्-निवर्तते।

देहाद्यात्मत्व सत्यत्वधीः-विपर्ययभावना। (१११)

चिदेवात्मा जगन्मिथ्या-निदिध्यासावसानः। (१२३)

संरक्षण और विनिमय न करता हो तो वह राजा और राष्ट्र नष्ट हो जाता है। इसलिए इस पाद स्थानी राष्ट्र का संरक्षण विवेकपूर्ण नीति-विचार चिन्तन पूर्वक करने वाला आत्मलाभ का अधिकारी होता है। (शु.ना.सा. १/६१)

भाग्य से परमकारुणिक गुरु के प्राप्त हो जाने पर उत्तम अधिकारी साधक शिष्य को गुरु द्वारा उपदिष्ट श्रुति के महावाक्य 'तत्त्वमसि' के श्रवणानन्तर स्वयं का ब्रह्माकार बोध हो जाय तब भी उसके दृढ़ीकरण की आवश्यता होती और उसके तीन हेतु है—

१. श्रुत्यनेकता—श्रुतिवाक्य में अनेकता के कारण उसके ब्रह्मात्म्येकतात्पर्य का ग्रहण नहीं होने की स्थिति में अभिधा ग्रहण होने की आशंका होती है। अतः निरन्तर एकार्थ बोधक श्रुति वाक्य का निरन्तर श्रवण ब्रह्मात्म्येक बोध दृढ़ीकरण के लिए आवश्यक है।

२. मननात्—श्रुति के महावाक्य 'तत्त्वमसि' श्रवणानन्तर मनन पूर्वक एक बार 'अहं ब्रह्मास्मि' बोध हो जाने पर भी श्रुत्यन्तर श्रवण से अथवा गुणविपर्यय अन्य कारण से ब्रह्मबोध वृत्ति बाधित हो सकती है अतः 'अहं ब्रह्मास्मि' बोध के सुदृढ़ी करण के लिये निरन्तर महावाक्य 'तत्त्वमसि' का मनन करते रहना चाहिये।

३. निदिध्यासनात्—श्रुति के महावाक्य 'तत्त्वसि' के श्रवण-मनन से प्राप्त 'अहं ब्रह्मास्मि' बोध के दृढ़ीकरण हेतु पूर्व की भाँति बार-बार ध्यान-चिन्तन करना चाहिये अन्यथा बोधभंग का प्रसंग साधक के लिये उपस्थित हो सकता है। अतः ब्रह्मात्म्यैक तात्पर्यीभूत श्रुतिवाक्य का श्रवण-मनन और निदिध्यासन ब्रह्मात्म्येक में दार्ढ्यार्थ परमावश्यक है। (पंचदशी ७/९९) अब योगारूढ़ आत्मवेत्ता जो अभी-अभी गुरुमुख से 'तत्त्वमसि' महावाक्य का श्रवण कर 'अहं ब्रह्मास्मि' का बोध प्राप्त किया है पर आत्म विज्ञान दृढ़ नहीं हुआ को क्यों और कैसे ब्रह्मबुद्धिभंग का अवसर उपस्थित होता है को कहा जा रहा है—

(क) देह में आत्मत्व बुद्धि का पुनः हो जाना। उससे बचने का उपाय है देह में आत्मत्व बुद्धि के विपर्ययभावना अर्थात् आत्मा में ही यह देह स्थित है और आत्मा सत्य है और देह मिथ्या है इस प्रकार की भावना को सुदृढ़ करना चाहिये। (पंचदशी ७/१११)

(ख) चित् ही आत्मा है और जगन्मिथ्या है इस प्रकार का निरन्तर ध्यान का अवसान

भ्रान्तिज्ञाननिदानो हि, तापः संसारिकः स्मृतः। (१४४)

इन्द्रजालमिदं द्वैत,-मचिन्त्यरचनात्वः।

इत्यविस्मरतो हानिः, का वा प्रारब्धभोगतः।। (१७४)

(आत्मधीरेव विद्या) ।।१८६।।

ब्रह्मसूत्रम्-प्रदीपाधिकरणम्। (अ. ४/पा. ४, सूत्र-१५)

प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति।।१।।

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि।।२।।

(विराम) हो जाना और इससे बचने का उपाय यह है कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का निरन्तर (अविच्छिन्न) निदिध्यासन बना रहे। इस प्रकार का प्रयत्न करना चाहिये। (पंचदशी ७/१२३)

(ग) जगत् का सत्य बोध भ्रान्ति है और उसका एक ही उपाय है कि जगद् प्रतीति भ्रान्ति है—मिथ्या है और सकल दुःख का मूल है। इस प्रकार से निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये। (पं.द. ७/१४४)

(घ) इस जगत् का अनेक रूप से प्रतीति इन्द्रजाल के समान मिथ्या है और उस इन्द्रजालिक प्रपञ्च के क्षयापचय रूप अचिन्त्य विषय मेरा नहीं है तथा प्रारब्धशेषात् जो उपस्थित है उसे प्राप्त करता हुआ उसके मिथ्यात्व का मौलिक चिन्तन करते रहना जिससे ब्रह्म के सत्यत्व और जगत् की मिथ्यात्व बुद्धि पुष्ट बना रहे। (पं.द. ७/१७४)

जगत् प्रपञ्च से बुद्धि का परिहार कर आत्मबुद्धि का बना रहना ही विद्या है। जगत् का सत्यत्व मिथ्या है और जगत् में ब्रह्म बुद्धि विद्या है 'सा विद्या या विमुक्तये'। विद्या वही है जो जगत् बन्ध से छुटकारा दिला सके। (पं.द. ७/१८६)

जिस प्रकार अनेक दीप के जलने पर भी उन दीपकों में एक ही अग्नि प्रकाशित होती है उसी प्रकार वह मुक्तात्मा पुरुष अपने संकल्प से रचे हुए समस्त शरीरों में प्रविष्ट होकर दिव्यलोकों के भोगों का उपभोगकर सकता है क्योंकि—'तदैक्षत् एकोऽहं बहुस्याम' उसने ईक्षण किया कि मैं एक हूँ बहुत हो जाऊँ इस प्रकार श्रुति का मत है। इसी प्रकार 'स एकधा भवति त्रिधाभवति पञ्चधा सप्तधा नवधा (छा.उ. ७/२६/२) वह एक प्रकार तीन-पाँच-सात और नौ प्रकार से शरीर को धारण कर लेता है। अर्थात् वह एक से अनेक और अनेक से एक में अपनी स्थिति सामर्थ्य वाला हो जाता है। श्रुति में यथा उपर्युक्त स्थान पर जो किसी प्रकार का ज्ञान न रहने की 'यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयेत न कंचन स्वप्नं पश्यति' (वृ.उ. ४/३/१९) तथा 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति

सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपं ब्रह्मसर्वेण।

(शांकरभाष्य ब्र.सू. १/१/८)

'अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरं शास्त्रम्'

'इदं सर्वं यदयमात्मा' (वृ.उ. २/४/६)

'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (वृ.उ. ४/५/१५)

न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति' (वृ.उ. २/४/१४) तथा नदी की भाँति समुद्र में मिल जाने की बात कही गयी है वह कार्यब्रह्म के लोको को प्राप्त होने वाले अधिकारियों के विषय में नहीं है; अपितु लय अवस्था को लेकर वैसा कथन है। प्रलय काल में भी प्राणियों की स्थिति सुषुप्ति की भाँति ही रहती है, इसलिये उसका पृथक् उल्लेख सूत्र में नहीं किया गया है। लय अवस्था और सायुज्य मुक्ति इन दोनों में से किसी एक को उद्देश्य कर के कथन है, क्योंकि ब्रह्मलोक में जानेवाले अधिकारियों के लिये तो स्पष्ट वहाँ के दिव्य भोगों के उपभोगों की तथा अनेक शरीर धारण करने की एवं यथेष्ट लोकों में विचरण करने की बात श्रुति में उन-उन स्थलों पर कही गयी है। इसलिये यहाँ किसी प्रकार के विरोध या असम्भव की बात नहीं है।

ब्रह्म सर्वगत होने के कारण तथा सर्वात्म स्वरूप होने के कारण उस-उस जगत्वस्तु में सवर्णता को प्राप्त है।

अविद्या (अज्ञान) से कल्पित भेद (अनेकता) के निवृत्ति पर्यन्त शास्त्र (आत्म वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासतव्यः) श्रवण करना चाहिये। क्योंकि शास्त्र का प्रयोजन द्वैतबुद्धि निवृत्ति यावत् प्रवर्तन धर्म है।

यह दृष्ट जगत् प्रपञ्च सबके सब आत्मा (ब्रह्म) ही है।

(ब्रह्मसूत्र प्रदीपाधिकरण शो.भा.)

जो ये सबको जानने वाले ब्रह्म है उसे कौन किस प्रकार से जानेगा? अभिप्राय है कि जो आत्मत्वेन ब्रह्म ज्ञान प्राप्त किया है वह किसको किस प्रकार देखेगा? 'आत्मैवाभूत विजानतः' वह तो सबको आत्म रूप से सर्वात्मता को प्राप्त कर लिया है। जानना क्रिया तो कर्ता-कर्म उपस्थित होने पर ही सफल हो सकता है, परन्तु ऐसे उपर्युक्त सर्वात्मभाव को प्राप्त ब्रह्मज्ञानी तो कर्ता-कर्म-करण को अतिक्रमित कर सर्वात्मता प्राप्त है। अतः वह किसको किस प्रकार देखेगा—जानेगा? किसी को नहीं। क्योंकि एक (केवल) में कर्तृत्व-कर्मत्व-क्रियात्व-करणत्व सम्भव नहीं है। (छा.उ. ४/५/१५)

शरीरत्वं मिथ्याज्ञाननिमित्तम् (शां. भाष्यम्, बृ.उ. ४/५/१५)

'शरीरसम्बन्धमनित्वम्' (शा. भाष्यम्, बृ.उ. ४/५/१५)

'धर्माधर्मयोरात्मकृतत्वमसिद्धम्' (शा. भाष्यम्., बृ.उ. ४/५/१५)

'यथाऽहिर्निल्वयिनी बल्मीके मृता प्रत्यस्ताशयीतैवमेवेदं शरीरं शेते'। ब्रह्मविद्विषयाश्रुतिः। (शां.भा.ब्र.सू. १/१/४)

'अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव'। (छा.उ. ४/४/७)

शरीरत्व मिथ्याज्ञान का ही निमित्त है। क्योंकि यदि सत्य होता तो वह तीनों काल में एक जैसा रहता। सत्य तो 'त्रिकालाबाधाबाधित्वम्' तीनों काल में एक रस होता है वह किसी अन्य से बाधित नहीं होता। परन्तु शरीर के सम्बन्ध में ऐसा देखा नहीं जाता। वह क्षण-क्षण में विकार को प्राप्त होता है। अतः विकारित्व शरीर सत्यभिन्न मिथ्या है।

शरीर से आत्मा का सम्बन्ध भी मिथ्या ही है क्योंकि आत्मा का निरवयवत्व और अद्वितीयत्व श्रुति-स्मृति प्रसिद्ध है और सम्बन्ध सावयव तथा द्वैत में ही सम्भव होता है। अतएव शरीर से आत्मा का सम्बन्ध अविद्या मूलक तथा मिथ्या कल्पना ही है।

धर्म और अधर्म आत्मा का नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा परमार्थतः निरूपाधिक है। धर्माधर्म सोपाधिक अधिकरण में ही सम्भव होता है। आत्मा का निरवयव-निरूप-निर्मल-निरञ्जन-निधर्मक स्वरूप होने के कारण उसका धर्माधर्म से सम्बन्ध नहीं बन सकता। अतः धर्माधर्म आत्मकृत् नहीं है देहकृत् ही है। (शां.भा.)

जिस समय उसके हृदयस्थित सकल कामनाओं का नाश हो जाता है उस समय वह ब्रह्मात्म ज्ञानी मरणधर्मा से मुक्त होकर अमृत हो जाता है और यहीं इसी शरीर में उसे ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है क्योंकि अनात्मविषयक कामनाएँ ही अविद्यारूप मृत्यु है, अतः मृत्यु का वियोग हो जाने पर वह विद्वान् जीवित रहते हुए भी अमृत हो जाता है। वह किस प्रकार ऐसा होता है? कहते हैं—वह इस शरीर में रहते हुए ही मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष प्राप्ति के लिए देहान्तर-देशान्तर की अपेक्षा नहीं है इसलिए उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता है और वह सर्प के काँचुली की तरह वाल्मीक (बाँबी) पर मृत परित्यक्त अर्थात् सर्प के अनात्मभाव से प्रक्षिप्त के तुल्य पड़ा रहता है शरीर सर्पस्थानीय मुक्त पुरुष के द्वारा

सूक्ष्मता व्यापिते ज्ञेये, गन्धादेरुत्तरोत्तरम्।
प्रत्यगात्मावसानेषु, पूर्वं पूर्वप्रहाणतः।। (उपदे.सा. ९/१)

अहमेकः सदा शुद्धः, चिन्मात्रः सर्वगोऽद्वयः। (उपदे.सा. ९/३)

ब्रह्माद्यास्थावरान्ता ये, प्राणिनो मम पूः स्मृताः। (उपदे.सा. ९/४)

मच्चैतन्यावमानत्वात्, सर्वप्राणिधियां सदा।
सर्वज्ञस्यविपाप्मनः।। (उपदे.सा. ९/६)

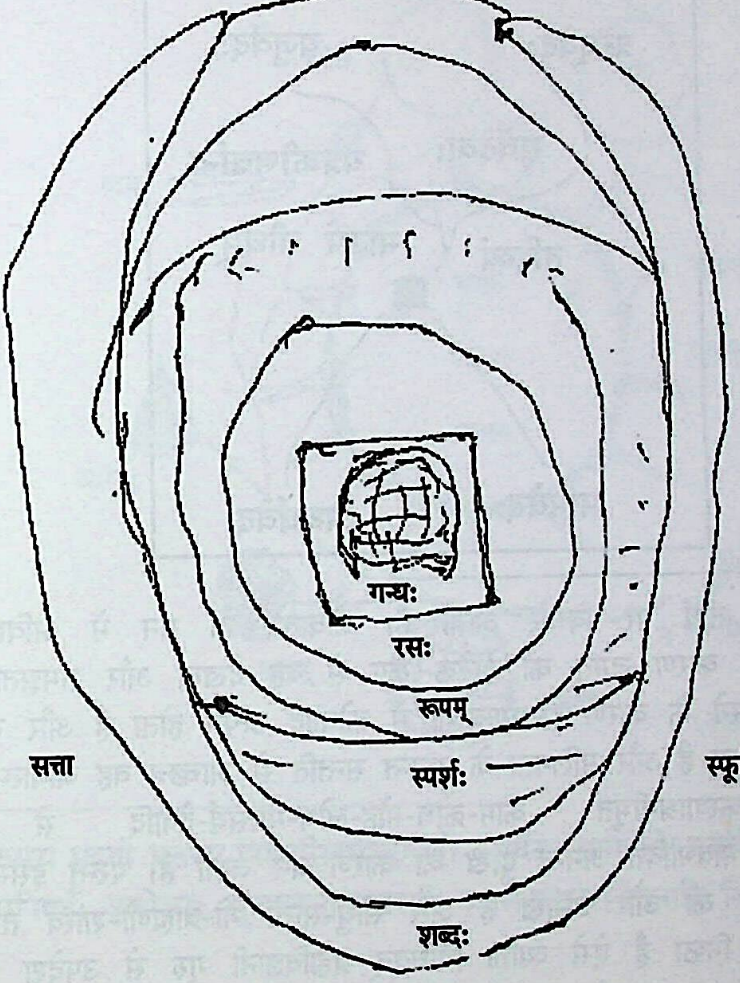
परित्यक्त मरे हुए के समान पड़ा रहता है और यह अशरीर अमृत प्राण तो अमृत ब्रह्म ही है तेज ही है ऐसा अनुभव करता है। (शा.भा.ब्र.सू. १/१/४, वृ.उ. ४/४/७)

यथा किसी देश से आगत तेज सुगन्ध के प्रति उसके लाभार्थी पूर्व-पूर्व स्थूल देश त्याग पूर्वक उत्तर-उत्तर देश को प्राप्त करता है उसी प्रकार साधक आत्मानुसन्धान काल में पूर्व-पूर्व स्थूल देहादि का त्याग पूर्वक उत्तरोत्तर सूक्ष्म को ग्रहण करता हुआ प्राप्तव्य ज्ञेय को प्राप्त करता है। (उप.सा. ९/१)

वह साधक पूर्व-पूर्व स्थूल देश का परित्याग पूर्वक सूक्ष्म आकाश को ग्रहण करता है क्योंकि भौतिक शरीर का सर्वसूक्ष्म आकाश है और पृथिवी का जल, जल का अग्नि, अग्नि का वायु और वायु का आकाश कारण होता है और पूर्व-पूर्व पृथिव्यादि से उत्तरोत्तर जलादि सूक्ष्मतर है और आकाश सूक्ष्मतम है। उसी प्रकार स्थूल शरीरादि में त्याग बुद्धि पूर्वक शरीरादि का अधिष्ठान सर्वसूक्ष्म आत्मा को 'मैं अद्वितीय, शुद्ध चिन्मात्र, व्यापक, केवल स्वरूप वाला हूँ अन्वेषण पूर्वक जान ही लेता है और वही उसका स्वस्वरूप होता है। (उप.सा. ९/३)

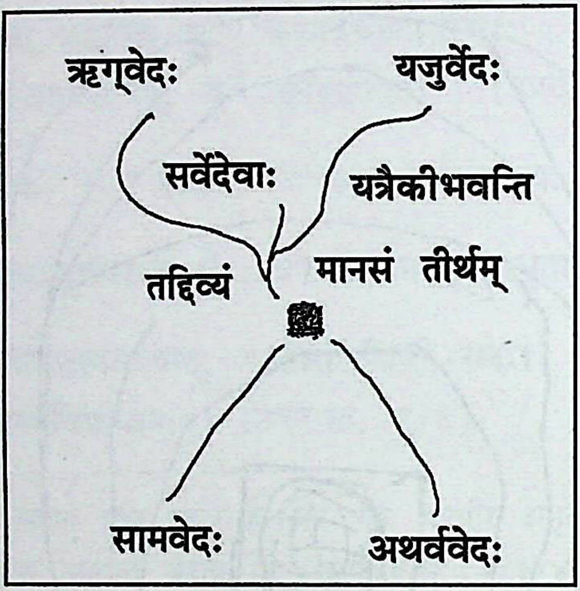
वह साधक जब अपने स्वस्वरूप को प्राप्त करता है तो ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त देह अपना देह ही है ऐसा अनुभव करता है क्योंकि उसे अपरोक्ष अभेदात्मब्रह्मप्रतीति विषयक बोध हो गया होता है। 'एकोदेवः-सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्रुति) सभी में एक ही देव (प्रकाशनशील-क्रीडनशील) आत्मा स्वरूप से हृदयदेश में व्याप्त है वह ऐसा जानता है। (उप.सा. ९/४)

वह आत्मज्ञानी साधक यह अनुभव करता है कि मेरे इस चेतन के प्रकाश से ही सभी प्राणी प्रकाशित और प्राणवान् है। (उप.सा. ९/६)



वह ब्रह्म ही एक सत्ता मात्र है उस सत्ता से ही सब वस्तुएँ सत्तावान् प्रतीत होता है उसके स्फुरन से ही संसार दृष्ट हो रहा है। श्रुति कहती है—

'एतस्मात् वै एतस्मात् आकाश सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरद्भ्यः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्याः ओषधयः ओषधेरन्नं अन्नादिमानि भूतानि जायन्ते।' उस ब्रह्म सत्ता से क्रमशः आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधि से अन्न और अन्न से ये जगत् प्रपञ्च स्थूल सृष्टि हुई है। आकाश का गुण शब्द, वायु का स्पर्श, अग्नि का रूप, जल का रस और पृथिवी का गन्ध विशेष गुण है और यही उस सत्ता (ब्रह्मसत्ता) की स्फूर्ति है ऐसा जानना चाहिये। प्रतीक द्वारा इसी को दर्शाया गया है। इसी क्रम में उन तत्त्वों और गुणों से श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न हुई। इन सबों में सर्वकारण परमात्मा अनुस्यूत है।



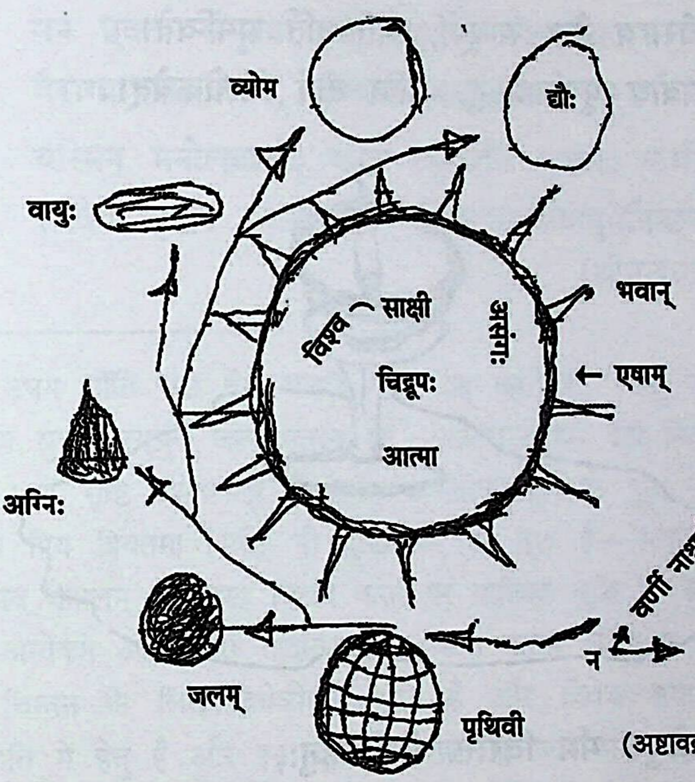
यहाँ मानस तीर्थ पर विचार आया है। जीवात्मा के मन में अविद्या जनित तमाधिक्याच्छन्नता के कारण जगत् को अनेक रूप से वह देखता और समझता है। द्वैत बुद्धि से व्यवहार करने के कारण इष्टभंगावस्था में क्रोधादि उत्पन्न होता है और यह मानस मलिन होता चला जाता है और मलिनता के अनन्त सन्तति से आच्छन्न वह जीवात्मा अत्यन्त अपवित्र स्थलाधिकरणाश्रयीभूत काम-क्रोध-मोह-लोभ-मात्सर्य-द्वेषादि से मलमूत्र पीवपीवरादितुल्यघृणितभावभावित अनन्त दुःख का कारण बन जाता है। परन्तु इससे विपरीत जो मानव साधनाक्षेत्र की ओर उन्मुख है और साधु-सन्तों गो-ब्राह्मणों-शास्त्र तथा ईश्वर में जिन्हें श्रद्धा एवं निष्ठा है ऐसे व्यक्ति विधिवत् ब्रह्मविज्ञानी गुरु से उपदेश प्राप्त कर अनुकूल श्रुतिवचनों के मनन और युक्तियों के द्वारा अद्वितीय परमात्म तत्त्व के चिन्तन में संलग्न रहते हैं। वे अपने सतत् आत्म प्रयत्न करके उस अद्वितीय-केवल-परमात्मतत्त्व सूक्ष्म तत्त्व को जानकर और—

आत्माज्ञेयः परो ह्यात्मा यस्मादन्यन्न विद्यते।
सर्वज्ञः सर्वदृक् शुद्धस्तमै ज्ञेयात्मने नमः।। (उपदेश सा. १७/१)

एवं—

सर्वतः पाणिपादं सर्वतोक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।। (भगवद्गीता)

आत्मा परमात्मा का ऐक्य बोध प्राप्त कर संतृप्त तथा पूर्णकाम हो जाता है। ऐसे साधकों के लिये ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद और अर्थववेद सभी पुराणादि एवं सभी भूत एवं सभी देवगण एक हो जाते हैं—



(अष्टावक्र गी. १/२)

'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निश्वसितानि'।

(वृ.उ. २/४/१०)

'सर्वाणिभूतानि सर्वेदेवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मनः समर्पितः।।'

(वृ.उ. २/५/१५)

इस प्रकार के तत्त्ववेत्ता साधक के सभी एक हो जाने के फलस्वरूप यह मानस तीर्थ हो जाता है। (मानसतीर्थ)

यह आत्मा चिद्रूप (चेतनस्वरूप) है, असंग है विश्व (सम्पूर्ण भूतों) का साक्षी है यही उपदेश अष्टवक्र जी विदेहराज (मिथिला के राजा) जनक को दे रहे हैं। वे (अष्टावक्र जी) कहते है हे राजन्! आत्मा ही पूर्ण ब्रह्म है और आप ब्रह्म स्वरूप ही हैं। आप आश्रमी-वर्णी (गृहस्थाश्रमी-क्षत्रिय) नहीं हैं जो आपके सम्मुख यह पंचभौतिक शरीर दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे ब्रह्म का ही विलास मात्र है। इसी ब्रह्म से समस्त जगत् की सृष्टि हुई है, इसी में स्थित है और इसी में लय को प्राप्त करती है। यह सभी भूतजातों के कारण के भी कारण है क्योंकि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिविशन्ति

वैराग्य तैल सम्पूर्णे, भक्तिवर्ति समन्विते।
प्रबोध पूर्णपात्रे-तु, ज्ञप्ति दीपं विलोकयेत्।।



देहोगुरु र्मम विरक्ति विवेकहेतुः,
विभ्रत्स्म सत्त्वनिधनं सततार्त्युदर्कम्।
तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि,
पारक्यमवसितो विचराम्यसंगः।। (श्रीमद्भाग. ११/९/२५)

तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म।।' (श्रुति) एतस्मात् आत्मनः आकाश सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरद्भ्यः अद्भ्यः पृथिवी' (श्रुतिः) उस ब्रह्म से आकाश-आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी की उत्पत्ति हुई। 'ततो विराड्जायत विराजो अधिपुरुषः। सजातोऽअत्यरिच्यतपश्चाद्भूमिमथोपुरः।।' उसी पुरुष से सृष्टि क्रम चला है। इस तरह आप सभी-भूत-भव्य को ब्रह्मरूप से ही जानो। जो ऐसा जानता है वह 'आनन्दी भवति' (श्रुति) अखण्ड आनन्द स्वरूप ब्रह्मानन्द में नित्य स्थित होता है। उसे संसार की वेदना प्रभावित नहीं करता। (अष्टा. गी. १/२)

प्रबोधरूपी पूर्णपात्र में वैराग्य रूपी तैल भरकर भक्ति रूपी वर्ति (बत्ती) लगाकर ज्ञप्ति (लक्ष्य) रूपी दीपक का दर्शन किया जाता है।

यह देह गुरु होता है, क्योंकि यही देह विरक्ति और विवेक का हेतु है। जिस देह के संरक्षण-सम्बर्द्धन हेतु स्त्री-पुत्र-मित्रादि का संग्रह करते हैं तथा उसके उपभोग के लिये

मन एकत्र संयुज्या, ज्जितश्वासो जितानिलः।
वैराग्याभ्यासयोगेन, प्रियमाणमतन्द्रितः।।११।।
यस्मिन् मनोलब्धपदं यदेत-च्छनैश्शनै मुञ्चति कर्मरेणून्।
सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च, विधूयनिर्वाणमुपैनिन्छनम्।।१२।।
(श्रीमद्भागवत् पु. ११/९)

न्याय-अन्याय उभय भाँति जैसे तैसे धनादि का संग्रह करते है, परन्तु वे अन्ततः नाशवान् ही है। 'जातस्य ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च', 'अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः'। (भगवद्गीता) सभी सृष्टि अन्तवाली है परन्तु कर्मसंस्काराङ्कुर से पुनः जन्म होना भी ध्रुव ही है। 'सबसे प्रिय प्रियतमा (स्त्री) भी दुःख का ही मूल है—'मधुतिष्ठति वाचि योषितां हृदि हालाहलमेव केवलम्'। इसतरह विचार करने पर तात्त्विक बुद्धि ही सार्थक है और उससे परमात्मा का अन्वेषण और उनसे तादात्म्य भाव प्राप्त करना ही दुःख निवृत्ति में परम हेतु है। परमात्म चिन्तन के लिए विवेकोदय मुख्य है और विवेक तथा विरक्ति दोनों उस परमात्मशरणागति में हेतु है और इन दोनों के प्राप्त हो जाने पर यह देह गुरुता (श्रेष्ठता) को प्राप्त कर नित्य परमात्मा की शरणागति अर्थात् अभेदान्वय प्राप्त कर सर्वत्र प्रभुदर्शन करता हुआ शुद्ध सत्त्वगुणप्रधानोदय से जगत् से अभेद को प्राप्त करता हुआ विहरण का निश्चय करते हैं। (श्रीमद्भा. ११/१९/२५)

मन को संयमित करने और परमात्मा में अभेद प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम मन को एक लक्ष्य में लगाना चाहिये। उसके लिये क्रम यह है कि 'आसनजये श्वासजयः, श्वासजये श्वासाधीनं मनो निश्चलं भवति' (भाग.पु.श्रीधरी टी.) आसन पर जय प्राप्त करने पर श्वास पर जय प्राप्त होता है और श्वास के ऊपर जय प्राप्त करने पर श्वास के अधीन मन निश्चल (एकाग्र) होता है। 'मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्मकारतया स्थिति। याऽसंप्रज्ञात नामासौ समाधिरभिधीयते' (योगशास्त्र) मन के वृत्ति शून्य हो जाने पर ब्रह्माकार स्थिति उदय होता है जो असंप्रज्ञात नामक समाधि कही जाती है। इस प्रकार उस साधक के काम वासना जनित रेणु (धूल) धूल जाते है और वह उस अवस्था में लब्ध ब्रह्मपद हो जाता है एवं उक्त अभ्यास से धीरे-धीरे कर्मरेणु धुलते रहते है तथा शुद्ध सतोगुण की वृद्धि को प्राप्त करता हुआ और सत्त्वगुण के वार्द्धक्य से रजोगुण तथा तमोगुण नाश होता हुआ वह साधक पूर्णरूप से परमात्मा में स्थित हो जाता है यही परमात्मा में अभेद स्थिति निर्माण पद है जिसे वह प्राप्त कर लेता है। (श्रीमद्भा. ११/९/११-१२)

प्रश्नोपनिषद्

१. सुकेशाभारद्वाज–कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते-प्रजापतिः रयिं प्राणं चोत्पादयते। २. शैब्यः सत्यकामः। ३. सौर्यायणीगार्ग्यः। ४. भार्गवोवैदर्भिः–कुत एष प्राणो जायते कथमायातिशरीरे। ५. भार्गवो वैदर्भिः–कति देवाः प्रजां विधारयन्ते कतरएतत्प्रकाशयन्तेक एषां वरिष्ठः। ६. कबन्धीकात्यायनः।

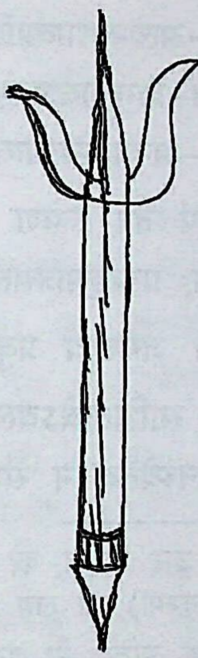
भरद्वाज के पुत्र सुकेशा, शिविकुमार सत्यकाम, गर्ग गोत्रोत्पन्न सौर्यायणी, कोशल देश निवासी आश्वलायन, विदर्भदेशीय भार्गव और कत्य ऋषि के प्रपौत्र कबन्धी ये छहों ऋषि कुमार ब्रह्मनिष्ठ और वेदाध्ययन परायण थे। ये हाथ में कुशा और समिधा लेकर श्रद्धावनत होकर परमात्म विज्ञान को जानने की इच्छा से पिप्पलाद ऋषि के पास यह जानते हुए गये कि वे ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ हैं और वे जरूर हमें इस विषय में जिज्ञासा शान्त कर देंगे। पिप्पलाद ऋषि के पास पहुँचने पर—

(क) कात्यायन कबन्धी ने पूछा—भगवन्! किस प्रसिद्ध और सुनिश्चित कारण विशेष से यह सम्पूर्ण प्रजा की नाना रूपों में उत्पत्ति होती है? ऋषि पिप्पलाद ने कहा—प्रजापति ने सर्वप्रथम तपस्या करके अपने तपो बल से रयि (चन्द्रमा) और प्राण (सूर्य) को उत्पन्न किया। जिससे कि नाना सृष्टि हो सके।

(ख) शैव्य सत्यकाम ने पूछा—मनुष्य ओंकार की उपासना करता है उससे कौन सा लोक को प्राप्त करता है? और उसका फल क्या है? पिप्लाद ने उत्तर दिया—यह ओंकार (ॐ) वह अपने लक्ष्यभूत परब्रह्म परमेश्वर से भिन्न नहीं है। मानव यदि विराड् परमेश्वर भूः, भुवः और स्वः की उपासना भौतिक ऐश्वर्य के लिए करता है तो वह प्रापणीय ऐश्वर्य की ओर प्रेरित होकर मरने के बाद भूलोक को तत्काल प्राप्त करता है। यदि साधक दो मात्रा वाले भुवः और स्वः विराड्स्वरूप परमेश्वर की उपासना करता है तो वह मनोमय चन्द्रलोक को प्राप्त करता है। जो स्वः स्वरूप विराड् की उपासना करता है वह तेजोमय ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। यहाँ यह जान लेना चाहिये कि ओम् अक्षर में जो अ-उ-म वर्ण है वह क्रमशः—'अ' वर्ण भूर्लोक और ऋग् वेदस्वरूप है। 'उ' वर्ण भुवर्लोक (अन्तरिक्ष) और यजुर्वेदस्वरूप 'म' वर्ण स्वर्लोक (स्वर्ग) सामवेदस्वरूप है।

(ग) आश्वलायन ने पूछा—भगवन् यह जो प्राण है वह किससे उत्पन्न होता है? वह इस शरीर में कैसे प्रवेश करता है? ऋषि पिप्पलाद ने कहा—यह सर्वश्रेष्ठ प्राण परमात्मा से उत्पन्न हुआ है क्योंकि परब्रह्म परमात्मा ही इस प्राण का उपादान कारण है। यह प्राण मन द्वारा किये हुए संकल्प से किसी भी शरीर में प्रवेश करता है। प्राणी के मरते काल में उसके कर्मानुसार मन के द्वारा जैसा संकल्प करता है उसे वैसा ही शरीर प्राप्त होता है।

(घ) सौयायणि गार्ग्य ने पूछा—भगवन्! कितने देवता हैं जो इस प्रजा को धारण करते हैं? और कौन से देवता इसे प्रकाशित करते हैं? महात्मा पिप्पलाद ने कहा—सौम्य! जो ये ज्ञानेन्द्रियाँ और मन हैं यही देवता हैं और यही इस प्रजाओं को अपने विषय के



इदमज्ञानलोहाङ्कः तीक्ष्णसंसारशूलकम्।।४।।
गुणत्रयविशाखं अतिक्रम्य व्रजेत्सुमान्।।५।।
(अध्यात्म पृ. ९)

प्रसंग में प्रकाशित करता है। परन्तु ये इन्द्रियाँ पर प्रकाश वाली है क्योंकि प्राणी जब सोता है तो ये सारी इन्द्रियाँ मन में समाहित हो जाती है और मन देवता आत्मा में लीन होता है जैसे अस्त के समय सूर्य की सारी किरणें सूर्य में लीन हो जाती हैं। उसी प्रकार सभी इन्द्रियाँ अपने परम उपादान कारण आत्मा में लीन हो जाती है। आत्मा ही सभी इन्द्रियों के प्रकाशक हैं।

(ङ) सुकेशा भारद्वाज ने पूछा—वह सोलह कलाएँ वाले प्रुरुष कौन हैं? पिप्पलाद ने कहा—प्रिय सुकेशा! जिन परमेश्वर से सोलह कलाएँ उत्पन्न हुई हैं वे विराट् पुरुष परमात्मा को अन्यत्र खोजने की आवश्यकता नहीं है वे हमारे इस शरीर में ही विराजमान है जिसे आत्मा नाम से जाना जाता है। इस प्रकार महात्मा पिप्पलाद ने सभी ऋषि कुमारों के सभी प्रश्नों के उत्तर को देकर उनकी जिज्ञाएँ शान्त कर दीं। (प्रश्नोपनिषद्)

त्रिशूल प्रतीक है। प्रतीक का अर्थ है—'सूक्ष्मं मूलं अर्थं प्रति इकति गच्छति प्राप्नोति वा इति प्रतीकः' जो सूक्ष्म परन्तु मूल अर्थ का बोध करावे उसे प्रतीक कहते है अथवा 'मूलं यथार्थं अर्थं प्रति एति गच्छति-प्राप्नोति सः प्रतीकः' जो यथार्थमूल अर्थ को व्यक्ति (प्रकटन) करता है वह प्रतीक है। त्रिशूल लौह धातु का बनता है और लौह अज्ञान का प्रतीक है तथा शूल संसार का प्रतीक है। मूल लौह धातु से ही पीट करके उसके शूलकार विग्रह (शरीर-आकार) बनता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अज्ञान रूपी लौह से संसार बनता है या लौह के विकार रूप ही संसार है जो बड़ा ही तीक्ष्ण है। शूल दुःख का ही वाचक है। तीन संख्या का अर्थ सत्त्व-रज-तम गुण का वाचक है। इस प्रकार त्रिशूल का सुसज्जित वाक्य में अर्थ है अज्ञानरूपी लौह से उत्पन्न संसार रूपी तीक्ष्ण शूल जिसमें सत्त्व-रज-तम गुण रूपी तीन

१. देशपरिच्छेदः-अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्।

२. कालपरिच्छेदः-प्रागभावप्रध्वंसाभावप्रतियोगित्वम्।

३. वस्तुपरिच्छेदः-अन्योऽन्याभावप्रतियोगित्त्वम्।

आत्माख्यं यज्जगद्रूपं तेन रूपेण तज्जगत्।
ज्ञातं तत्त्वविदा तस्य, प्रत्यङ्मात्रसतत्त्वतः।। (वार्तिक सा. १/८४७)
प्रत्यक्तत्त्वे परिज्ञाते जगत्तत्त्वं प्रबुध्यते।।८५२।।
एवं स्वदेहमात्रस्थे, साक्षितत्त्वेऽवलोकिते।
अशेषजगतस्तत्त्वं, लभ्येतैव न संशयः।।८५४।।

विशाख (शाखा) है वही त्रिशूल है। उस त्रिशूल को साधक अतिक्रमण (लय-नाश-जीत) करके लक्ष्य (परमात्मा) में आत्मा (जीवात्मा) का लय करें। (अध्यात्म पु. १)

भेद प्रतीति के तीन कारण यहाँ प्रस्तुत है। इन तीन परिच्छेद के कारण ही ब्रह्म वस्तु तथा स्वरूप से ज्ञात नहीं हो पाता क्योंकि यह परिच्छेद उसका भेदक होता है। उन परिच्छेदों को क्रमशः कहा जा रहा है कि वे कौन हैं और क्या हैं—

(१) **देशपरिच्छेदः**—अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व—जिसका अभाव हो उसको प्रतियोगि कहते है। अब 'घटात्यन्ताभावप्रतियोगित्व घटवत् भूतलम्' हुआ। घट किसी भूतल देश में ही रहेगा और जिस देश में रहेगा उस देश से परिच्छेदित वह घट होगा यही देशपरिच्छेद हुआ।

(२) **कालपरिच्छेदः**—प्रागभाव प्रध्वंसाभाव प्रतियोगित्व—'घटवद्भूतलम्' में घट का जो प्रागभाव (प्राग् = निर्माण से पूर्व का अभाव) और घट ध्वंस (घट के फूट जाने या नष्ट हो जाने पर जो उसका अभाव) वह किसी काल (समय) में ही होगा। प्रागभाव और प्रध्वसाभाव का प्रतियोगी जो 'घटवद्भूतलम्' है वह घट किसी काल में ही भूतल पर रहेगा। अतः वह कालपरिच्छेदित घट होगा।

(३) **वस्तुपरिच्छेदः**—अन्योन्याभावप्रतियोगित्व—'घटवद्भूतलम्' में 'घटे पटो नास्ति', 'पटे घटो नास्ति' अर्थात् घट में पट नहीं है और पट में घट नहीं है। अतः घट से पट जो अन्य है वह घट में नहीं है तथा पट से घट जो अन्य है वह पट में नहीं है इसलिये दोनों का परस्पर में दोनों में नहीं रहना अत्यन्ताभाव है। यही अत्यन्ताभाव से शून्य तत्त्व है।

आत्मा नाम से जो प्रसिद्ध जगद्रूप है, उसको वे तत्त्ववेत्ता लोग उसी जदात्मारूप से ही जानते है, क्योंकि वह प्रत्यङ्मात्र सत्ता से ही भासित होता है। (वार्तिक सा. १/८४७)

प्रत्यक्तत्त्व के परिज्ञात (परिज्ञान) हो जाने पर जगतत्त्व का भी परिज्ञान हो जाता है।

इस प्रकार स्वदेह (आत्मस्वरूप के) ज्ञान हो जाने पर साक्षितत्त्व का भी बोध हो

योगे अन्तरायाः

व्याधि[1] स्त्यान[2] संशय[3] प्रमादा[4] लस्या[5] विरति[6] भ्रान्ति[7] दर्शना लब्ध[8]भूमिकत्वा न[9]वस्थितत्वानि चित्तविक्षेपाः। (योग द. १/३०)

१. धातुरसकरणवैषभ्यम्। २. अकर्मण्यता चित्तस्य। ३. उभयकोटि स्पृग्विज्ञानम्। ४. समाधिसाधनानामभावनम्। ५. कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः। ६. विषयस्पृहा। ७. विपर्ययज्ञानम्। ८. समाधिभूमेरलाभः। ९. लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा। (व्यासभाष्य)

जाता है कि आत्मा ही सर्वसाक्षी है और साक्षी से अन्य जो जगत्तत्त्व है, उसका भी सम्यक् ज्ञान हो ही जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं है। (वा.सा. १/८५४)

परमात्मा (ईश्वर) के प्रणिधान से प्रत्यक् चेतन के ज्ञान के साथ ही अन्तरायों (दोषों) का अभाव (शमन) भी होता है। प्रत्यक् चेतन आत्मा को कहते हैं। प्रति = प्रतिवस्तुं, अञ्चति = गच्छति व्याप्नोति सर्वानुगती भवति वा प्रत्यक्' जो प्रत्येक वस्तु में व्याप्त हो अथवा जो सर्वानुगत हो उसे प्रत्यक् कहते हैं। प्रत्यक् स चासौ चेतनः प्रत्यश्चेतनः' वह जो प्रत्यक्रूप चेतन है वही प्रत्यक् चेतन है, यह समासगत अर्थ है। उस ईश्वर प्रणिधान (भक्ति विशेष) को प्राप्त करने में जो बाधक तत्त्व (विघ्न) हैं वे नौ प्रकार के हैं— (१) व्याधि, (२) स्त्यान, (३) संशय, (४) प्रमाद, (५) आलस्य, (६) अविरति, (७) भ्रान्तिदर्शन, (८) अलब्ध भूमिकता और (९) अनवस्थितता। (योगदर्शन १/३०)

योग में अन्तराय–

१. **व्याधि**—धातुरसकरणवैषम्य स्वभाव का होता है। व्याधि (रोग) की उत्पत्ति धातु-रस-करण (इन्द्रिय) की यथा स्वभाव में विषमता उत्पन्न होने पर होती है। इनकी विषमता उत्पन्न होने में हेतु आहार-विहार का विपरीत आचरण होता है। वात-पित्त-कफ ये दोष कहलाते है। रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा और शुक्र ये सात धातुएँ है। इनकी इयत्ता (निश्चितमात्र) स्वभाव को त्याग कर अधिक हो जाना या कम हो जाना धातु की विषमता-दोष-प्रकोप कहलाता है। अन्न और जल के भुक्त-पीत (खाये-पीये) के अनन्तर परिपाक दशा को प्राप्त हुए सार को रस कहते हैं। अन्न-जल का ठीक से न पचना विषमता है। करण अर्थात् आँख-कान-नाक-जिह्वा-त्वक् इन ज्ञानेन्द्रियों का नाम है। इन करणों का ठीक से काम नहीं करना अर्थात् कम देखना-कम सुनना ये करण की विषमता है। इसी तरह अन्य करण के सम्बन्ध में जानना चाहिये।

२. **स्त्यान**—अकर्मण्यता अर्थात् समय पर अभ्यास करने की इच्छा होने पर भी सामर्थ्य का न होना (अभ्यास नहीं कर पाना) अकर्मण्यता अर्थात् स्त्यान कहा जाता है।

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः। (योग द. १/३१)

१. इच्छाभिघाताच्चेतसः क्षोभः। (व्यासभाष्य)

२. विक्षिप्तचित्तस्येतभवन्ति।

---

३. **संशय**—'मैं योगाभ्यास कर सकूँगा कि नहीं कर सकूँगा। करने पर योग सिद्ध होगा अथवा नहीं' इन दो कोटियों का विषय करने वाला ज्ञान संशय कहा जाता है।

४. **प्रमाद**—समाधि के साधनों का अनुष्ठान न करना प्रमाद है।

५. **आलस्य**—काय और चित्त के भारी होने के कारण ध्यान का अनुष्ठान न करना अथवा प्रवृत्त न होना रूप है। शरीर का भारीपन कफ आदि के प्रकोप से और चित्त का भारीपन तमोगुण की अधिकता से होता है।

६. **अविरति**—विषयों के साथ तृष्णा के बने रहने से उन विषयों से वैराग्य का न होना अविरति है।

७. **भ्रान्ति दर्शन**—योग से होने वाले लाभ को मिथ्या समझना भ्रान्ति दर्शनरूप दोष है।

८. **अलब्धभूमिकत्व**—किसी प्रतिबन्धक के कारण समाधिभूमि को न पा पाना अर्थात् समाधि में न पहुँच पाना अलब्ध भूमिक दोष है।

९. **अनवस्थितित्व**—समाधिभूमि को प्राप्त करके भी उस समाधि भूमि में चित्त का न ठहर पाना अर्थात् ध्येय वस्तु के साक्षात् से पूर्व ही समाधि का छूट जाना अनवस्थितित्व दोष है। ये नौ प्रकार के चित्त विक्षेप योगसाधना में विघ्नकारक होने से योग के प्रतिपक्षी-योगान्तराय या योगमल कहे जाते हैं। योगमल से योग के दोष समझना चाहिये।

(यो.द.व्यास भाष्य १/३०)

इन उपर्युक्त अन्तरायों (विघ्नों) के अतिरिक्त पाँच और विघ्न होते है जो साधक योगी के लिए योग साधना में प्रतिबन्धक होते हैं—१. दुःख, २. दौर्मनस्य, ३. अङ्गमेजयत्व, ४. श्वास और ५. प्रश्वास।

१. **दुःख**—दुःख पीड़ा को कहते है, जिसकी चोट खाकर उसके नाश करने के लिए प्रयत्न करते हैं। वे आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीन प्रकार के दुःख हैं—(क) **आध्यात्मिक**—काम क्रोधादिजन्य मानस परिताप और व्याधिजन्य शारीरिक परिताप आध्यात्मिक दुःख हैं। आत्मा शब्द का अर्थ यहाँ मन और शरीर अर्थ में प्रयुक्त है। (ख) सिंह-सर्प-विच्छू आदि भूतों (जीवों) से जन्य (उत्पन्न) आधिभौतिक दुःख है। भूत शब्द यहाँ प्राणियों के अर्थ में प्रयुक्त है। (ग) **विद्युत्पात**—अतिवर्षण-अतिवायु तथा अग्नि आदि से जन्य दुःख आधिदैविक है।

तत्प्रेषिधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।। (यो.द. १/३२)

---

२. **दौर्मनस्य**—इच्छा की पूर्ति नहीं होने पर मन में क्षोभ का होना।

३. **अङ्गमेजयत्व**—शरीर के अङ्गों का काँपना।

४. **श्वास**—विना इच्छा के वाह्य वायु का नासिका छिद्र द्वारा अन्दर आना।

५. **प्रश्वास**—विना इच्छा के अन्दर के वायु का नासिका छिद्र से बाहर निकलना। ये पाँच उपविघ्न या उपविक्षेप हैं। विक्षेप नौ प्रकार के पूर्व में कहे गये थे परन्तु उन विक्षेपों के साथ-साथ ये पाँच उपविक्षेप भी होते हैं जो साधकों के योग साधना में विघ्नरूप होते हैं। यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि ये विक्षेप और उपविक्षेप विक्षिप्त चित्तवाले (अस्थिरचित्त) को ही होते हैं। जिस साधक के चित्त स्थिर है और लक्ष्य में एकाग्र रहने लगा है उसे ये उपर्युक्त विघ्न और उपविघ्न नहीं होते। क्योंकि वह उस पर विजय प्राप्त कर चुका होता है। (यो.द. १/३२)

उन पूर्वोक्त नौ प्रकार के विक्षेपों और पाँच प्रकार के उपविक्षेपों को दूर करने के लिये एकतत्त्व (इष्ट ध्येय) को नियत करके उसका ध्यानादि अनुष्ठान द्वारा अभ्यास करना चाहिये। अर्थात् अपने अभिमत इष्ट (ध्येय-लक्ष्य) का निर्धारण (नियत) करके उस निर्धारित-नियत लक्ष्य-ध्येय वस्तु का निरन्तर ध्यान रूप अनुष्ठान तब तक करते रहना चाहिये जब तक कि एकता का उदय पूर्वक सम्पूर्ण विक्षेपों का नाश न हो जाय। इस सूत्र के व्यास भाष्य पर विचार करते हुए मिथिला के मूर्धन्य विद्वान् और ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य के सर्वश्रेष्ठ भामती टीकाकार श्री वाचस्पति मिश्र ने बौद्ध धर्म के कई भाष्यकारों के क्षणिकवाद मतों को प्रसंग में विखण्डित कर उपयुक्त सनातन अद्वैत दर्शनमत सम्मत 'सोऽहम्' के अभ्यास को चित्त की स्थिरता के लिये स्वीकार कर बौद्धभाष्यकारों द्वारा उत्पन्न भ्रान्ति से लोगों को उद्धार किये हैं। क्योंकि क्षणिकवादी (वैनाशिक) चित्त को क्षणिक मानकर प्रत्येक प्रत्यय के बाद उसका नाश स्वीकार करते हैं, जो उपयुक्त नहीं है। एक प्रत्यय के उत्पन्न हो जाने पर वह नष्ट हो गया तो उत्तर प्रत्यय में पूर्व प्रत्यय का संस्कार अंश के नहीं रहने पर अभ्यास का निरन्तर एकप्रत्ययदृढ़ीकरण रूपता कैसे सम्भव होगी? उत्तर प्रत्यय पूर्व प्रत्यय का संवाहक नहीं हो सकने पर उनके धारावाहिक ज्ञान सम्भव नहीं होगा। परन्तु वे क्षणिकवादी इसका उत्तर नहीं दे पांते कि एक व्यक्ति भांग का सेवन किया और दूसरे व्यक्ति को उस भांग का नशा कैसे लग जायेगा? क्योंकि चित्त और प्रत्यय प्रवाह में उसी चित्त के होने पर ही उस भांग के मद (नशा) से वह प्रभावित हो सकेगा अन्यथा नहीं। यह विचारणीय है। विषय विस्तार न हो इसलिये दिङ्मात्र कथन ही यहाँ इष्ट है। (यो.द. १/३२)

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चजगत्'।
'इदं सर्वं यदयमात्मा'। } (श्रुतिः)

परतरे चेतः समाधीयताम्। (शंकराचार्यः)

'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः'। (योग सू. ३/३)

यह सम्पूर्ण संसार परमात्मा (ब्रह्म) से आच्छादित (व्याप्त) है। जो कुछ भी इन्द्रियों से ग्राह्य हो रहा है वह जगत ही है। वह यत्किञ्चित् (जो कुछ भी जैसा भी है) वह आत्मा (ब्रह्म) तत्त्व से व्याप्त है। इसलिये दृष्ट (इन्द्रिय सन्निकर्षजन्य) पदार्थ मिथ्या को त्याग कर अतीन्द्रिय ब्रह्म तत्त्व की उपासना (भोग) करो (आत्मपरमात्मस्वरूप का ऐक्य बोध प्राप्त कर उस आनन्द को भोगो)। इस तरह अभ्यास से उत्पन्न बोध से जगन्मिथ्यात्व विनिश्चित हो जायेगा और आत्मा (ब्रह्म) की सत्यता का बोध हो जायेगा। इसलिये अनित्य पदार्थ जो किसी की धन सम्पदा है उसमें आकांक्षा मत करो। क्योंकि वह भी मिथ्या (अनात्मतत्त्व) ही है। और अनात्म (मिथ्या) सिद्ध हो गये उस जगत् रूप कर्म में लिप्त (आसक्त) मत होओ। (ईशावास्योपनिवद-१) क्योंकि यह जो दृष्ट जगत् है वह आत्मा (ब्रह्म) ही है। यह ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जैसे—जल तरङ्ग में जल की सत्ता ही सत्य है और तरङ्ग की कोई सत्ता नहीं होती। क्योंकि आत्मना वह तरङ्ग जल से भिन्न नहीं होता। जब तरङ्ग जलात्मा ही है तो तरङ्ग का स्वरूप जल ही हो सकता है। अतः तरङ्गाकार प्रतीति मिथ्या है, ऐसा विनिश्चय करके जलतरङ्ग का अधिष्ठान सत्ता जिस प्रकार जल है, उसी प्रकार जगदृश्य प्रपञ्च का परमाधिष्ठानसत्ता आत्मा ही है। इसी अभिप्राय से श्रुति ने यहाँ कहा—**'इदं सर्वं यदयमात्मा'** जो भी कुछ आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त प्रपञ्च है, वह आत्मना (जलात्मना तरङ्गवत्) ब्रह्म (आत्मा) ही है। (श्रुति)

इस दृश्य जगत प्रपञ्च से परतर जो चेतन आत्मा है वही स्वस्वरूप से निदिध्यासन का विषय है। अतः उस सर्वात्मचेतन ब्रह्म का शास्त्रादि युक्त्यादि द्वारा समाधान हो जाने पर उसी में समाधि लगाना उचित है। उस सर्वात्मचेतन ब्रह्म में समाधि स्थिति प्राप्त होने पर तथा तादात्म्य प्राप्त करने पर जीवात्मा का परमात्मभेद भंग हो जाता है और आत्मा में तस्थ वह साधक परमपद मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है। (शंकराचार्य)

जब साधक को वहीं ध्यान अर्थ मात्र से निर्भासित होने लगे तो उसे समाधि कहते हैं। इस पूर्वपक्ष के शंका समाधान के अभिप्राय से कि ध्यान में ध्येय का भान होता है, ध्येयमात्र का नहीं। किन्तु समाधि अवस्था में ध्यान ध्येय मात्र से भासता है अतः ध्यान के अधीन ही ध्येय का भान होता है, समाधि में यदि ध्यान स्वरूप से शून्य हो जायेगा तो ध्येय का भान कैसे हो सकेगा? इसके निवारण के लिए भाष्यकार व्यास जी कहते हैं कि—समाधि की

ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं।

प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव। (योग सू. व्यासभाष्य)

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चितस्य समाधिपरिणामः। (२/११)

ततः पुनः शान्तो दितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्य एकाग्रतापरिणामः। (२/१२)

अवस्था में ध्यान का सर्वथा अभाव नहीं होता, किन्तु ध्येय से अभिन्नरूप होकर भासने के कारण वह भान स्वरूप से शून्य जैसा हो जाता है, न कि वस्तुतः स्वरूप से शून्य हो जाता है। अतः 'स्वरूपशून्यमिव' कहा। इस प्रकार 'सम्यगाधीयत एकाग्री क्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः' विक्षेपों को हटा कर सम्यग् रूप से ध्येयाकार मात्र अर्थात् चित्तवृत्ति की एकाग्रभाव (अभेदभाव) को समाधि कह सकते हैं। (यो.सू.व्या.भा. ३/३)

सर्वार्थता तथा एकाग्रता दोनों चित्त धर्म ही होता है परन्तु समाधि में प्रयत्नशील साधक के चित्त में सर्वार्थता (सभी विषयों में प्रवृत्तित्व अर्थात् आगत अनागत विषयों में स्वाभाविक गतित्व) का तिरोभाव (क्षय-नाश) तथा एकाग्रता का उदय (आविर्भाव) ये दोनों ही चित्त (धर्मीरूप) से अनुगत है। ये (सर्वार्थता एवं एकाग्रता) धर्मों में, कर्म से एक का नाश और दूसरे का उदय चित्त का समाधि अवस्था का परिणाम है। इस विषय को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि—सर्वार्थता (सभी विषयों की ओर चित्त का जाना) चित्त की विक्षेप अवस्था का परिणाम है। विक्षेप अवस्था सतोगुण प्रधान होता और रजोगुण स्वल्प उसमें बना रहता है तथा अपना कार्य करता रहता है। इसी कारण से चित्त पूर्वाभ्यास (संस्कार) वश सारे विषयों की ओर जाता रहता है। इस तरह समाधि के प्रारम्भिक अवस्था में होती है, परन्तु अभ्यास करते रहने से (सभी विषयों से चित्त को हटा कर ध्येय में स्थिर करते रहने से) चित्त सर्वार्थता (सभी विषयों) को त्याग कर एक विषय पर टिक जाता है अथवा यों कहें कि चित्त एक ही आलम्बन (सहारा) में स्थित हो सजातीय प्रवाह रूप में परिणत होकर स्थिर रूप से ध्येय वस्तु में टिक जाता है तो यही एकाग्रता कहलाती है। इस तरह विक्षिप्तता का धर्म जब दबता है और एकाग्रता का धर्म प्रकट होता है, तब इन दोनों धर्मों में अनुगत धर्मी (चित्त) में समाधि परिणाम अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि काल में होने वाला चित्त का परिणाम है। चित्त का यह एकाग्रता का आकार धारण करना चित्त में धर्म परिणाम है। एकाग्रता जो चित्त में अनागत रूप से छिपी हुई थी वह अब प्रकट हो गयी। यह एकाग्रता रूप चित्त (धर्मी) का वर्तमान लक्षण-परिणाम है।

(यो.द. ३/११)

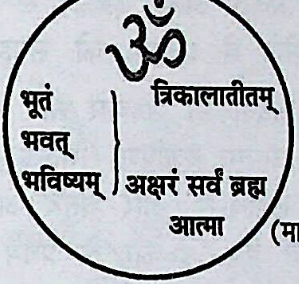
समान वृत्तियों का शान्त और उदय का होना चित्त की एकाग्रता परिणाम के प्रकट हो जाने पर फिर एक वृत्ति बनती है जिसे योग क्षेत्र में समाहित चित्त का (एक वृत्ति विशेष) एक प्रत्यत्य कहते है। यह अतीत (भूत) मार्ग में प्रविष्ट हुई शान्त और वर्तमान

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमा[१]मनुभवति–
यद्-दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानभूतं चानभूतं च।
सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति। (प्रश्नोपनि. ४/५)

१. **विषय-विषयी-अनेकभावनम्।** (भाष्यम्)

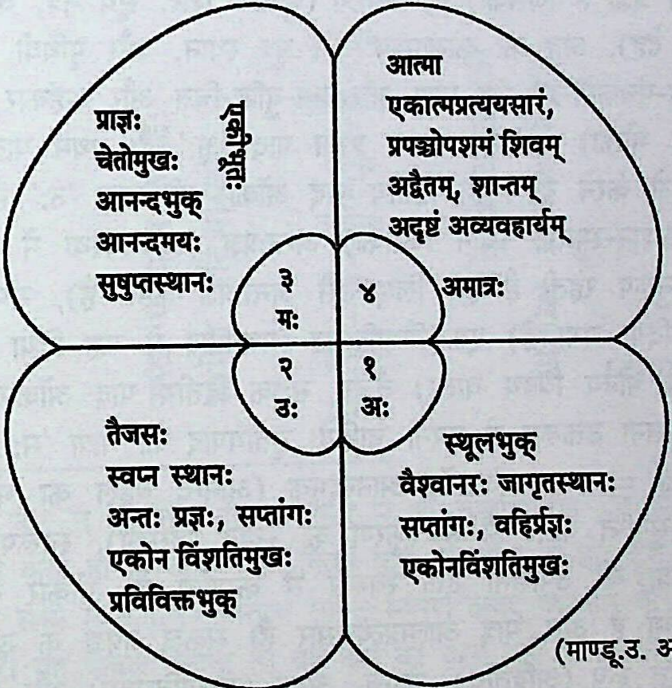
मार्ग में वर्तती हुई उदित कहलाती है। ये दोनों ही चित्त के समाहित होने के कारण तुल्य अर्थात् एक ही विषय को ही आलम्बन करने से सदृश प्रत्यय है। इन दोनों में समाहित चित्त का अन्वयी (अनुगत) भाव से रहना एकाग्रता परिणाम कहलाता है अर्थात् समाधिपरिणाम के अभ्यासबल से जब चित्त का विक्षेप बिल्कुल दब जाता है, तब वह समाहित हो जाता है। इस अवस्था में भी चित्त बराबर बदलता रहता है, किन्तु जिस प्रकार विक्षेप काल में एक वस्तु को छोड़कर दूसरी को पकड़ता था, उस प्रकार इस समाहित अवस्था में नहीं होता है। इसमें जिस वस्तु को पकड़ता है उसी में लगा रहता है। चित्त के बदलने से वृत्तियाँ बदलती तो हैं, पर जैसी वृत्ति दबती हैं वैसी ही उदय होती रहती हैं, जब तक समाधि भंग न हो जाय। यह धर्मी चित्त का एकाग्रता परिणाम है। समाधि के भंग होने तक एकाग्रता प्रबल होती रहती है। उसके पश्चात् दुर्वल होती जाती है। यह उसकी अवस्था का बदलना अवस्था परिणाम है। (यो.द. ३/१२)

गार्ग्य मुनि ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया कि 'कौन देवता स्वप्नों को देखता है? उसी का उत्तर यहाँ महर्षि पिप्पलाद जी उन्हें देते हैं—हे गार्ग्य! इस स्वप्न अवस्था में जीवात्मा ही मन और इन्द्रियों द्वारा अपनी विभूति का अनुभव करता है। इस जीवात्मा का पहले जहाँ भी कुछ भी बार-बार देखा-सुना और अनुभव किया हुआ होता है, उसी को यह स्वप्न में बार-बार देखता-सुनता और अनुभव करता है। हे गार्ग्य! यह जरूरी नहीं है कि जाग्रत अवस्था में इसने जिस प्रकार जिस ढंग से और जिस जगह जो घटना देखी-सुनी और अनुभव की है, उसी प्रकार यह स्वप्न में भी अनुभव करें। अपितु स्वप्न में जाग्रत की किसी घटना का कोई अंश किसी दूसरी घटना के किसी अंश के साथ मिलकर एक नये ही रूप में इसके अनुभव में (स्वप्नकाल में) आता है। अत: कहा जाता है कि स्वप्न काल में यह न देखें और न सुने हुए को भी देखता है, सुने और न सुने हुए को भी सुनता है, अनुभव न किये हुए और अनुभव किये हुए को भी अनुभव करता है। जो वस्तु वास्तव में है उसे और जो नहीं है उसे वह स्वप्न में देख लेता है। इस प्रकार वह स्वप्न में ढ़ंग से सब घटनाओं का बार-बार देखता-सुनता और अनुभव करते रहता है और स्वयं ही सब कुछ बनकर देखता है। उस स्वप्न काल में जीवात्मा के अतिरिक्त कोई भी दूसरी वस्तु वहाँ उपस्थित नहीं रहती, इसलिए द्रष्टा दृश्य और दर्शन सभी रूपों में जीवात्मा ही वहाँ होता है। (प्रश्नोपनि. ४/५ भाष्य)



(मायडूक्योपनि.)

सोऽयमात्मा चतुष्पाद्।।



(माण्डू.उ. आगम प्रकरणम्)

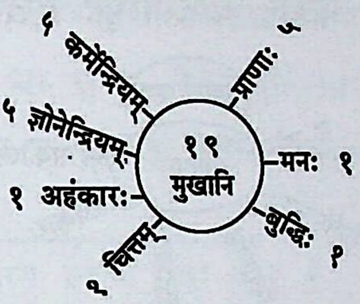
यह 'ॐ' अक्षर ही सब कुछ है। इस 'ॐ' के शिवा इस जगत् में दूसरा कुछ भी नहीं है। यह भूत-वर्तमान और भविष्यत् अर्थात् जो गत (बीता हुआ) आगत (वर्तमान में स्थिर होता हुआ) में तथा अनागत (भविष्य में होने वाले) में जो भी 'अस्ति' सत्ता रूप से देखा-देख रहे और देखना एवं अनुभव किया अनुभव करता है और अनुभव होने वाला है वह सब 'ॐ' ही है। इसके सिवा जो अन्य त्रिकालातीत अर्थात् तीनों कालों से परे और अपने कार्यों से विदित होने वाला और अपरिच्छेद्य अव्याकृत आदि हैं वह भी ॐकार ही है। (माण्डू.उ.)

विशेष—किसी देश विशेष में प्रचलित सिक्के का नाम कार्षागण है और सोलहपण (आने) का होता है। जिस प्रकार एक रूपये में चार चवन्नी (पाद) होते है अथवा एक

सेर में चार पाव होते हैं, उसी प्रकार आत्मा (ब्रह्म) में चार पाद माने गये हैं, सर्वप्रथम इस विषय को ध्यान में रख लेने से प्रकरण को समझने में सुलभता होगी।

यहाँ आत्मा का अङ्गुल्या निर्देश है। ॐकार नाम से कहा जानेवाला तथा पर और अपर रूप से व्यवस्थित वह यह आत्मा कर्षापण (सिक्के) के समान चार पाद (चार अंश) वाला है। प्रथम अः द्वितीय-उः, तृतीय-मः और चतुर्थ अमात्र (मात्रा रहित) हैं। अब उस चतुष्पाद को विशेष रूप से कहते हैं—'ॐकार के प्रथम पाद की मात्रा अः' है जिसका स्वरूप जागरित स्थान (जाग्रत अवस्था में जिसके प्रकाशन का स्थान) है, वहिष्प्रज्ञ (अपने से भिन्न विषयों में प्रज्ञा है जिसकी) है, सप्तांग (द्युलोक शिर, सूर्य नेत्र, वायु प्राण, आकाश मध्यस्थान अर्थात् देह), अन्न का कारणरूप जल मूत्र स्थान, और पृथिवी चरण है। इक्कीस मुख (पंच ज्ञानेन्द्रि-पंचकर्मेन्द्रिय-पंच प्राण और मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार) हैं। वे स्थूलभुक् (स्थूल विषयों का भोक्ता) वैश्वानर संज्ञक प्रथम पाद 'अः' है। प्रथम पाद मात्रा 'अः' की उपासना इसीरूप से करने योग्य है। द्वितीय पाद ओंकार की मात्रा 'उः' है। वह स्वप्नस्थान (स्वप्न ही है प्रकाशन-स्फुरण स्थान जिसका) अन्तःप्रज्ञ (स्वप्नावस्था में जिसकी प्रज्ञा मन के वासना के अनुरूप रहती है इस लिए उसे अन्तःप्रज्ञ कहते हैं), सप्ताङ्ग (सप्तांग को प्रथमपाद में कह दिया गया है) एक विंशतिमुख (प्रथमपाद में कह दिया गया) विविक्तभुक् (सूक्ष्म वासना मात्र भोज्य विषय वाला) तैजस संज्ञक द्वितीय पाद ओंकार है। द्वितीय पाद मात्रा 'उः' की उपासना उक्तरूप से करनी चाहिये। तृतीयपाद की मात्रा 'मः' है। वह चेतोमुख (चेतना ही है मुख = प्रधान जिसमें) आनन्दभुक् (आनन्द बहुल का भोक्ता), आनन्दमय और सुषुप्तस्थान (सुषुप्ति काल ही है स्फुरण का स्थान जिसका), स्वरूपवाला प्राज्ञ संज्ञक है। अतः 'मः' मात्रा की उपासना उक्त स्वरूप से करणीय है। ओंकार के चतुष्पाद मात्रा रहित है। वह आत्मा है और मात्र आत्मप्रत्ययसार है। सकल प्रपञ्च के उपशमोपरान्त प्राप्त शिवस्वरूप है। अद्वैत रूप (अद्वितीय), शान्त, अदृष्ट (सूक्ष्मातिसूक्ष्म) और अव्यवहार्य स्वरूप है। इन तीनों पादों में अर्थात् जाग्रत्स्थानीय वैश्वानर, स्वप्नस्थानीय तैजस और सुषुप्ति स्थानीय प्राज्ञ संज्ञक तीनों उपाधि-अवस्थाओं से रहित शुद्ध चेतन आत्मा मात्र का प्रत्यय वाला है और सभी विकल्पों से रहित रहता हुआ भी उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में एकरस रूप से अनुस्यूत है—व्याप्त है। अतः तीनों अवस्थाओं में व्याप्त यह अमात्र आत्मचेतन ओंकार ब्रह्म ही है। यही परब्रह्म और अपरब्रह्म भी है। वह यह ओंकार अपूर्व (अकारण) अन्तर्वाह्यशून्य, अकार्य तथा अव्यय है। इसलिये साधक चित्त को ओंकार ब्रह्म में समाहित करें, क्योंकि ओंकार निर्भय ब्रह्मपद है। जो साधक इस ओंकार ब्रह्म में नित्य समाहित होता है उसको कहीं भी भय नहीं होता। 'प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विधते क्वचित्' (माण्डूक्योपनि. आगम प्र. २५) अतः प्रवण ब्रह्म ओंकार उपासनीय है। (माण्डूक्योपनिषद्)

चिद्रूपोऽसि सदा साक्षी, निरपेक्षः सुखं चर। (अष्टावक्रगी. १५/४)



(माण्डूक्योपनिषद्)
आगम प्रकरण

यत्त्वं पश्यसि तत्रैकः
त्वमेव प्रतिभाससे।

आत्मनः
|
आकाशः
|
वायुः
|
अग्निः
|
आपः
|
पृथिवी
|
जगत्

किं पृथग्भासते स्वर्णात्
कटकांगदनूपुरम्।।

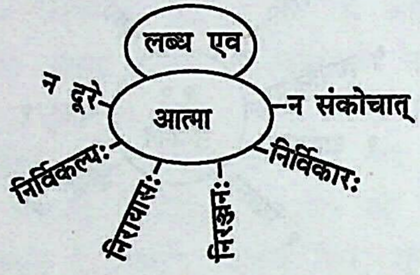
(अष्टा.गी. १५/१४)

हे जनक जी! न तो तुम देह हो और न ही तुम्हारा यह देह है तथा तुम (आत्मा) न किसी कार्य के कर्त्ता ही हो और न ही किसी कर्म के भोक्ता ही हो। तुम तो चिदात्मा (चेतन) स्वरूप और सदा सभी में कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व सहित सम्पूर्ण जगद् व्यवहार के साक्षी मात्र हो। साक्षी मात्र द्रष्टा होता है। वह केवल देखता है। वह कर्म का कर्ता नहीं होता। अतः तुम इस जगत्प्रपञ्च व्यवहार से निरपेक्षभाव से सुखपूर्वक विचरण करो। यह महात्मा अष्टावक्र जी की महाराज जनक के प्रति व्याजोक्ति से हमारे लिये अनुकरणीय है। (अष्टा.गी. १५/४)

उस ओंकार ब्रह्म के ये उन्नीस मुख है। वे उन्नीस मुख-पञ्चज्ञानेन्द्रि, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चप्राण, और अन्तः करण चतुष्टय अर्थात्—मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार हैं। ये कुल उन्नीस मुख कहने का तात्पर्य है कि वह ओंकार ब्रह्म इन उन्नीस द्वार से स्फुरित-व्यक्त-प्रकाशित होता है तथा विषयों को भी इन करणों के द्वारा ग्रहण और अनुभव करने वाला होता है। यह जाग्रत् अवस्था, स्वप्नावस्था में एकोनविंशति (उन्नीस) मुख (द्वार) वाला है। (माण्डू.उ.)

हे महाराज जनक जी। जिस पुरोवर्ति जगत् को तुम देख रहे हो वहाँ उस (जगत् प्रपंच में) तुम ही आत्मा रूप से प्रतिभासित हो रहे हो क्योंकि तुम्हारी उत्पत्ति के सम्बन्ध में श्रुति कहती है—'एस्माद् आत्मनः आकाश सम्भूतः, आकाशात् वायुः वायोरग्निः, अग्नेरद्भ्यः,

कर्त्तव्यदुःखमार्तण्ड, -ज्वालादग्धान्तरात्मनः।
कुतः प्रशम पीयूष, धारासारमृते सुखम्।। (अष्टा.मी. १८/३)



अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधेरन्नं, अन्नादिमानि भूतानि जायन्ते' (श्रुति) उस आत्मा (ब्रह्म) से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधी, ओषधी से अन्न और अन्न से यह जगत् भूतप्रपञ्च की उत्पत्ति हुई है। अतः इस जगत् के सम्पूर्ण भूत प्रपञ्च कार्य का कारण ब्रह्म ही है और विचार करने पर कार्य का स्वरूप कारण स्वरूप ही होता है। जिस प्रकार स्वर्ण से बने हुए कटक-अंगद और नूपुर (कार्यात्मा) स्वर्णात्मा (कारणात्मा) से भिन्न होते हैं क्या? कथमपि नहीं। स्वर्ण से बने हुए आभूषणादि में जिस प्रकार स्वर्णात्मा (स्वर्णधातु) के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं होता परन्तु वे आभूषण सम्पूर्णरूप से स्वर्ण ही होते हैं उसी प्रकार उस ब्रह्म से उत्पन्न सभी भूत कारणात्मा ब्रह्म ही है ऐसा क्यों नहीं समझते? यद्यपि विचार करने पर कारणात्मा से भिन्न कोई वस्तु नहीं होता तथापि अज्ञानीजन उससे (कारणात्मा) से भिन्न कार्यात्मा को स्वीकार कर व्यवहार करते है जो नितान्त मिथ्या है। अतः जीवात्मा को अपने मूल कारण ब्रह्म को जानने-समझने के लिये श्रवण-मनन निदिध्यासनादि उपाय का आश्रय लेना चाहियें। ताकि वह अपने स्वात्मस्वरूप को जाने-समझे और अनुभव करें। (अष्टा.गी. १५/१४)

हे महाराज जनक जी! नाना प्रकार के कर्मों में आसक्ति से उत्पन्न दुःखरूप मार्तण्ड (प्रचण्ड सूर्य) की ज्वाला से दग्ध अन्तःकरण वाले जीवात्मा के आत्मा से निसृत अमृतधारापात सूख जाते हैं। इस करण से उसकी ज्वाला की शान्ति कैसे हो पायेगी? कथमपि नहीं। आत्मा निर्मल-स्वच्छ-शुद्ध-ज्ञान और अमृत स्वरूप है और अज्ञानजन्य कर्मादिक तापकारी तथा अन्धकार—मृत्यु स्वरूप है। निरन्तर काम्य कर्मादि के करते रहने से उससे उत्पन्न ज्वाला में वृद्धि होती है तथा वह दिनों दिन प्रगाढ़ होते चले जाते है। उनकी प्रगाढ़ता के बढ़ते रहने से ज्ञान की धारा दिनों-दिन लुप्त होने लगते हैं और काम में प्रवृत्ति होने पर उसकी अप्राप्ति होने पर क्रोधादिक के ज्वाला से जीवात्मा जलने लगता है ऐसा प्रसंग में समझना चाहिये। (अष्टा.गी. १८/३)

यह आत्मा संकोच विकास रहित होने के कारण न दूर है न नजदीक है क्योंकि

अकर्तृत्वमभोक्तृत्व-मात्मनो मन्यते यदा।

तदा क्षीणा भवन्त्येव, समस्ताश्चित्तवृत्तयः।। (अष्टा.गी. १८/५१)

विद्यामयो यः स तु नित्य मुक्तः।।७।।

देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद्यथोत्थितः।।८।।

(श्रीमद्भाग. ११/११)

यह स्वस्वरूप होने के कारण स्वात्मा कहा जाता है और आत्मा के स्वरूप निर्विकार, निरायास, निर्विकल्प, निरञ्जन स्वरूप है। इसकी दूरी अज्ञान के कारण ही प्रतीत होते हैं। अज्ञानियों के लिए यह दूर होता है जैसे—कोई आँख से सबको देखता हो पर उसे यह ज्ञान न हो कि मैं आँख वाला हूँ इसलिए देखता हूँ। उसी प्रकार आत्मा अत्यन्त नजदीक होते हुए भी यदि अज्ञान हो तो दिखाई नहीं देता है। 'लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणं किं करिष्यति' जिसे आँख (ज्ञान) नहीं है तो उसे अपने स्वरूप का शास्त्रादि वाक्योद्बोधित होने पर भी आत्मदर्शन नहीं हो पाता क्योंकि अज्ञान उस दर्शन का प्रतिबन्धक होता है। अज्ञानेनावृतं आत्मा तेन मुह्यन्ति जन्तवः' (गीता), परन्तु ज्ञानियों को आत्मा नजदीक है क्योंकि आत्मा वह स्वयं ही है—'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदन्तिके। तदन्तस्य सर्वस्य तदु सर्वास्य वाह्यतः' (ईशावा.-५) वह आत्मा ज्ञानियों को नजदीक और अज्ञानियों को बहुत दूर है। (अष्टा.गीता)

हे महाराज जनक जी! यदि आप अपने स्वात्मा को वह अकर्ता और अभोक्ता है ऐसा स्वरूप से जान लोगे तो निश्चित रूप से आपकी विचित्र विभिन्न चित्तवृत्तियाँ क्षीण हो जायेगी और आप अपने निरञ्जन-निर्विकल्प-निराकार, शुद्ध एवं निर्मल स्वरूप आत्मा को जान जाओगे अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित हो सकोगें। (अष्टा.गी. १८/५१)

जो अज्ञान में डूबा हुआ है अर्थात् जो स्वयं को कर्त्ता-भोक्ता आदि धर्मों वाला समझता है उसे जगत् वस्तु में राग होता है और जगद्वस्तु के प्राप्त न हो सकने पर द्वेष होता है और उसे प्राप्त करने के लिए अनेक असत्प्रयत्न कराता है यही विषयों के प्रति रागात्मक बद्धता ही बन्ध है। विद्या सम्पन्न तो जगद्वस्तु को अनित्य रूप से जानता है और स्वयं को कर्मादि का कर्त्ता-भोक्ता नहीं जानता वह तो जगद्वस्तु को प्रकृति का विकार या आत्मा (ब्रह्म) का विवर्तरूप से उसे जानता है। अतः उसमें राग नहीं करता-सम्बन्ध नहीं बनाता, क्योंकि कर्त्ता कर्म दोनों प्रकृति के गुणगत कार्य है। 'गुणागुणेषु वर्तन्ते ततो न सज्जते'। (गीता) वह प्रकृति के गुण ही गुण में वरत रहा है ऐसा जानकर उसमें लिप्त नहीं होता। अतः वस्तु के प्रति राग-लिप्सा-लिप्तता ही बन्ध है जो अविद्या का कार्य है। विद्या का कार्य स्वयं का कर्त्ता-भोक्ता धर्म रहित ज्ञान तथा जगद्वस्तुओं में राग रहित वृत्ति है, इसलिये मोक्ष ही विद्या का परम कार्य है। (श्रीमद्भा. ११/११/७-८)

शोकमोहौ सुखं दुःखं, देहोपपत्तिश्च मायया। (श्रीमद्भाग. ११/२)

स एष जीवः विवरं प्रसूतिः, प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्यरूपं, मात्रास्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः।।१७।।
यथाऽनलः खेऽनिलबन्धुरुष्मा, वलेन दारुण्यधिमथ्यमानः।
अणु प्रजातो हविषा समिध्यते, तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी।।१८।।

(श्रीमद्भाग. ११/१२)

जो विद्वान् हैं, मुक्त हैं वे देह में स्थित रहता हुआ भी देहस्थित नहीं होता। यथा स्वप्नाभिभूत व्यक्ति के जगने के समान वह देहस्थित में स्वप्न और अदेहस्थ में जगने जैसा बोध रखता है। अतः वह 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' कर्म करता हुआ भी उसमें लिप्त (आसक्त) नहीं होता है। (श्रीमद्भा. ११/११/८)

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण का उद्धव को उपदेश का प्रसंग ग्रहण करना चाहिये—हे उद्धव! परमात्मा ईश्वर ही प्रपञ्चात्मना जगद्रूप है और जीवात्मा जो जगद्रूप है वह उस परमात्मा के प्रपञ्चाध्यास (अविद्या) के वशीभूत कर्त्तत्वादि विविध धर्माध्यास से अध्यासित हो जाता है। उस ईश्वर को प्राप्त करने के लिए विविध विधि-निषेध रूप वेदादि का आश्रय लेते है। परन्तु ईश्वर के उनसे अपरोक्ष रहते हुए भी वह जीवात्मा अविद्या के कारण उसे नहीं जान पाता और प्रयत्न करता है। अब अपरोक्ष परमात्मा का हेतु दर्शाते हैं 'स एष जीवेति' वह जीवात्मा विवरप्रसूति वाला है—'विवरप्रसूतिः = विवरेषु आधारादि चक्रेषु प्रसूतिरिव प्रसूतिरभिव्यक्तिर्यस्य सः' (श्रीधरी टीका) आधार आदि जो शरीरान्तर्गत चक्र है उस चक्र में जिस प्रकार ईश्वराभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार जीवात्मा की भी अभिव्यक्ति (प्रसूति) होती है। इसलिए यह जीवात्मा विवर प्रसूति है। घोषेण = पराख्येन नादवता प्राणेन सह गुहां आधारचक्रं प्रविष्टः सन् (श्रीधरी टीका) वह परानादवाला प्राण के साथ गुहा (आधार चक्र) में प्रविष्ट होकर मनोमय सूक्ष्मरूप (पश्यन्ती और मध्यमा तथा मणिपूरकचक्र) को प्राप्त कर तथा मात्रा (हस्वादि) स्वर (उदात्तादि) वर्ण (ककरादि वैखरी) से स्थविष्ठता (अतिस्थूलता) को प्राप्त कर जाता है जो नाना वेद शाखा आदि के स्वरूप के होते हैं। परा, पश्यन्ती और मध्यमा ये तीनों आधार, नाभि और हृद् आदि में स्थित चक्रों में निहित हैं इसलिये जीवात्मा मानव इसे नहीं जान पाते है और वैखरी (स्थूल) वाक् को मनुष्य बोलता है जो मनुष्यों के वक्त्र (मुख) में वर्तमान रहते हुए अर्थ बोधक शब्द रूप हैं।

(श्रीमद्भा. ११/११/२,१७)

उस अव्यक्त सूक्ष्म सत् ब्रह्म का सूक्ष्म-मध्यम-अभिव्यक्ति का क्रम दृष्टान्त यहाँ इस प्रकार दिया जा रहा है, यथेति—जिस प्रकार अग्नि दारुगत आकाश में उष्मा रूप से विराजमान रहती है और उस दारु (लकड़ी) को अत्यन्तरूप से घर्षण करने पर सूक्ष्म अग्नि

एवं गदिः कर्म गति विसर्गः, घ्राणो रसो दृक् स्पर्शः श्रुतिश्च।
संकल्पविज्ञानमथाभिमानः, सूत्रं रजः सत्त्वतमोविकारः।।१९।।
(श्रीमद्भागव. ११/१२)

(मेऽभिव्यक्तिः)

अयं हि जीवस्त्रिवृदब्जयोनिः, अव्यक्त एको वयसा स आद्यः।
विश्लिष्टशक्तिर्बहुधोत्रभाति, बीजानि योनिं प्रतिपद्य यद्वत्।।२०।।
एष संसार तरुः-कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते।२१।
अदन्ति चैके फलमस्य गृध्राः, ग्रामेचराः......।

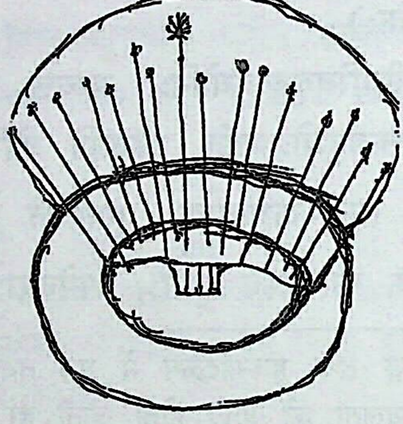
वायु की सहायता से स्फुलिङ्ग तथा हवनादिक्रम में घृत तथा शाकल्य प्रक्षेप से क्रमशः-सूक्ष्म-मध्यम और उत्तरोत्तर स्थूलता को प्राप्त होती जाती है। उसी प्रकार हमारी वाणी भी सूक्ष्मा-मध्यमा रूप से स्थूल रूप (परा-पश्यन्ती-मध्यमा) को प्राप्त करती है तथा उसका उपसंहार भाषण रूप से व्यक्त होती है। (श्रीमद्भा. ११/१२/१९)

यहाँ प्रसङ्ग में भगवान् श्रीकृष्ण और उनके सखा उद्धव के सम्बाद को पूर्ववत् ग्रहण करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण श्रीउद्धव जी को उपदेश करते हैं कि—हे उद्धवजी! पूर्वोक्तानुसार वाणी की वृत्ति का उपसंहार रूप यदि (भाषण) की व्यक्ति जो पूर्व में कही गयी है वह कर्म (हाथ की वृत्ति) गति (पाद = पैर की वृत्ति) विसर्ग (पायूपस्थ कर्मेन्द्रिय की वृत्ति) घ्राण (घ्राणेन्द्रिय की घ्राण वृत्ति) रस (जिह्वा की रसन वृत्ति) दृक् (आँख की दर्शनवृत्ति) स्पर्श (त्वगेन्द्रियवृत्ति) श्रुति (कर्णेन्द्रिय की श्रवण वृत्ति) संकल्प (मन की वृत्ति) और विज्ञान (बुद्धि और चित्त के अहंकार) का सूत्र प्रधान अर्थात् सत्त्वरज और तमो गुणों के विकार के फल हैं, जो आधिदैविक-आधिभौतिक और आध्यात्मिक प्रपञ्च स्वरूप से जगत् है। इसलिये ईश्वर का जो यह संसार रूप से व्यक्ति (आविर्भाव = प्रकटन) ईश्वर से भिन्न नहीं हैं क्योंकि यह जीवात्मा पूर्व में अव्यक्त स्वरूप (ईश्वर) एक ही था परन्तु वह वयसा अर्थात् काल से विभक्त होकर जगद्रूप दिखाई दे रहा है। अनेक स्वरूप से विभक्त सा प्रतीत हो रहा है। क्योंकि जगद्रूप पद्म (कमल) त्रिगुणात्मिका प्रकृति कारणरूपा है वह काल (वय) पाकर विकार (विस्तार) को प्राप्त होती रहती हैं। जैसे—बीज योनि (क्षेत्र) को पाकर विस्तार को प्राप्त हो जाते है उसी प्रकार वह ईश्वर त्रिगुणात्मिका माया के साथ आलिङ्गत होकर विस्तार को प्राप्त करते है अथवा वह वागिन्द्रियों को प्राप्त कर विभक्त सा प्रतीत होकर विस्तृत होते हैं। परन्तु मायाविलषित यह जगत् उस ईश्वर से पृथक् नहीं है। जैसे कपड़े के कारखाने में वितान पर स्थित तन्तु विस्तार को प्राप्त कर वस्त्र रूप हो जाता है वैसे ही दीर्घ तन्तु में पट के समान वह ईश्वर जगद्रूपता को प्राप्त हो जाते हैं और पट जिस

अरण्यः हंसाः।

एकं बहुरूपं इज्यैः मायामयं वेद, स वेदवेदम्।।२३।।

(श्रीमद्भाग. ११/१२)



तरह तन्तुओं से ओत-प्रोत होते हैं उसी प्रकार इस जगत् प्रपञ्च को भी ईश्वर से ओतप्रोत जानना चाहिये। इस प्रकार समष्टि-व्यष्टि रूपात्मक यह विश्व अविद्या के द्वारा आत्मा में अध्यस्त होकर संसार वृक्ष के रूप में व्यक्त होते हैं। उस संसार के हेतु जो कर्तृत्वादि कर्म है वह विवेकज्ञान के आश्रय से त्याज्य हो जाते हैं। यह कर्मात्मक प्रवृत्ति पुराण अर्थात् अनादि है और इसमें भोगापवर्गरूप दो फल को उत्पन्न करने वाले ईश्वर हैं जिसमें अनादि वासना के वश जीवात्मा प्रवृत्त होते हैं। इस संसार वृक्ष के जीवात्मा द्वारा किये गये पाप और पुण्य रूप दो बीज हैं और वासनारूपी सैकड़ों (अपरिमित) जड़ें हैं। सत्त्व-रज और तम इस वृक्ष के तीन नालें (प्रकाण्ड) और पंचभूत इसके स्कन्ध हैं। पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ ही रस को उत्पादन करने वाले होने के कारण पञ्चरस प्रसूति है। ग्यारह शाखाएँ (पंच ज्ञानेन्द्रिय-पंच कर्मेन्द्रिय और मन) हैं। इस प्रकार यह दो सुन्दर पर्ण (पत्ते) वाला अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के निवास स्थान संसाररूपी वृक्ष में तीन वल्कलें (कफ-पित्त-वात) हैं तथा सुख एवं दुःख रूपी दो फल वाला यह संसार वृक्ष इसलोक से सूर्यमण्डल (सूर्यलोक) तक विस्तृत है। हे उद्धव जी! इस जगत् वृक्ष के भोक्ता कामी ग्रामचर अर्थात् गृहस्थाश्रमीजन होते हैं। परन्तु जो परमात्म विज्ञानी संन्यासी (विरक्त) जन इस विस्तृत मायामय संसार वृक्ष में एक परमात्मा का ही वृहद्रूप को जानता है वही तत्त्वतः इस परम रहस्य को जानता है। (श्रीमद्भा. ११/१२/२०,२१,२३)

यहाँ इस प्रतीक चित्र के द्वारा पूर्वोक्त में श्रीमद्भागवत के ग्यारहवे स्कन्द के बारहवें अध्याय के श्लोक उन्नीस से तेईस तक दिये गये संसार वृक्ष को सम्यक् समझाने का उत्तम प्रयास है अतः पूर्वोक्त व्याख्या से संगति बैठा कर ऊह्य (तर्क-वितर्क) कर स्वयं मनन

श्रीकृष्णः-प्रद्युम्नः-अनिरूद्ध-वज्रः मौसलादव शेषितः।

(श्रीमद्भाग. १०/९०/३६-३७)

देवासुराहवहता दैतेया सुदारूणाः ते मनुष्येषूत्पन्नाः दृप्ताः प्रजा-बबाधिरे।।४२।।

तन्निग्रहाय हरिणा प्रोक्ता देवा यदोः कुलेऽडवतीर्णः।
तेषामेकाधिकं कुलशतम्।।४३।।

कर्त्तव्यतैव संसारः न तां पश्यन्ति सूरयः।
शून्याकारनिराकारा, निर्विकारा निरामयाः।। (अष्टा.गी. १८/५७)

मयेश्वरेण जीवेन, गुणेन गुणिना विना।
सर्वात्मनापि सर्वेण, न भावो विद्यते क्वचित्।।
अहमेतत्प्रसंख्यानं, ज्ञानं तत्त्वविनिश्चयः। (श्रीमद्भाग. ११/१६/३८)

करने से तत्त्व की अभिव्यक्ति हो सकेगी। अतः पुनः व्याख्या की आवश्यकता समझ में नहीं आती है। कृपया मनन करें तथ्य स्पष्ट है।

श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न पुत्र हुए उनके अनिरूद्ध और उसके पुत्र मौसलादव हुए।

देवासुर संग्राम में दिति के दारूण पुत्रादि जो मारे गये थे वे सभी मनुष्य योनि को प्राप्त कर उनकी सन्तति रूप में उत्पन्न हुए जो महान् बलवान् और अहंकारी थे।

उन दैतेयों (दैत्यों) के निग्रह (नाश) के लिए देवों द्वारा प्रार्थित भगवान् हरि यदुकुल में श्रीकृष्णरूप से अवतरित हुए। उन यादवों के एक सौ एक कुल (वंश) थे।

(श्रीमद्भा. १०/९०/३६,३७,४२,४३)

कर्त्तव्य कर्म वाला जो यह संसार है उसे विद्वान् (ब्रह्म विज्ञानी) उस रूप से नहीं देखता वह तो उस संसार को शून्याकार-निराकार-निर्विकार और निरामय ब्रह्मस्वरूप ही यह है इस रूप में देखता है। जो अज्ञानी है वह तो संसार को कर्त्ता-कर्म और कर्त्तव्य रूप से जानता है क्योंकि वह संसारी है, माया मोहित है। अतः वह संसार को चर्मचक्षु से यथा देखता है तथा रूप से ही जानता है। परन्तु ज्ञानीजन उस अज्ञानियों की दृष्टि से देखे जाने वाले संसार को मरुमरीचिका के जल के समान विवर्त स्वरूप से जानता हुआ मिथ्या रूप से उसे ग्रहण करते है। वह तो जगत् में एक ही अद्वितीय ब्रह्म के ये विलास हैं ऐसा जानता है। (अष्टा.गी. १८/५७)

भगवान् श्रीकृष्ण जी उद्धव जी से कहते हैं कि हे उद्धव! जीव और ईश्वर गुण और गुणी, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ इस प्रकार मेरे द्विविध स्वरूप हैं, परन्तु मेरे विना ये जो सर्व

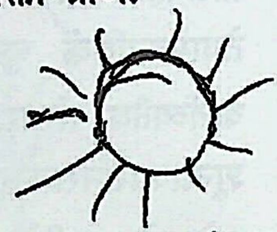
मनो विकारा एवैते-विभूतयः।
पार्ष्यापीड्य गुदं प्राणं, हृदुरुकण्ठमूर्धसु।
आरोप्य ब्रह्मरन्ध्रेन, ब्रह्म नीत्वोत्सृजेत्तनुम्।।

(श्रीमद्भाग. ११/१५/२४)

भोग्यं-रयिः। **भोक्ता-प्राणः**



— अभिमानिनौ



(अनुभू.प्र. ७/७)

रूप संसार है वह नहीं है क्योंकि मैं ही सर्वस्वरूप हूँ। जगत् की स्थिति मेरे विना नहीं हो सकती क्योंकि—

ईश्वरो हि सर्वभूतानां, हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि, यन्त्रारूढ़ानि मायया।। (श्रीमद्भगवद्गीता)

तथा च—**'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़, सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा'।** (श्रुति)

सप्तप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्, सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणाः, गुहाशया निहिताः सप्त-सप्त।।

(मुण्डकोप. २/१/८)

हम (श्रीकृष्ण) परमात्मा से ये समस्त सृष्टि का उद्भव है। ये पृथिवी आदि परमाणुओं के कर्त्ता मैं ही हूँ और इसकी उत्पत्ति का जो कोई काल होता है वह काल भी मैं ही हूँ। इस तरह तन्मात्रा सहित पृथिवी, अहंकार, महत्तत्त्व, और ये सप्तप्रकृति-विकृति, पञ्चमहाभूत एकादश इन्द्रियाँ ये षोडश संख्या, जीवात्मा, प्रकृति ये पच्चीसों तत्त्व मैं ही हूँ ऐसा तत्त्वतः निश्चय है। ये सभी विभूतियाँ विकार ही हैं। (श्रीमद्भा. ११/१६/३८)

पार्ष्णी (कटि भाग) में गुदा में स्थित (अपान) वायु को पीड़ित करते हुए ऊर्ध्वगति करके क्रमशः हृदयदेश और कण्ठदेश तथा मूर्धा में स्थापित करके पुनः ब्रह्मरन्ध्र से संयोग कराकर वहाँ ब्रह्म में होकर इस शरीर को त्याग करें। (श्रीमद्भा. ११/१५/२४)

भोग्य पदार्थ सुवर्ण स्रग् चन्द्रनादि को रयि कहते हैं और वह चञ्चल होता है तथा शीतल भी होता है। अतः भोक्ता भोग्य में अनुकूल भावना (शीतलता) को अनुभव करता है। भोक्ता भी चञ्चल गति वाला होता है। वासना के कारण उसे स्थिरता नहीं रहती। भोक्ता को सूर्य का रूपक इसलिए दिया गया कि भोक्ता को भोग्य पदार्थ की प्राप्ति में विघ्न आने पर क्रोध होता है और क्रोध अग्नि के समान उष्ण है। अतः दार्शनिक विचार से

ब्रह्मलोकान्त संसारो, विद्याफलम्। (अनु.प्र. ७/५४)

सुप्ते प्रलयेमुक्तौ जगदात्मनि लीयते। (अनु.प्र. ७/६३)

प्रतीक चित्र चन्द्र (रयि = भोग्य) और भोक्ता (सूर्य = प्राण) दोनों चञ्चल (अस्थिर) है और पात्र आत्मा ही स्थिर (ध्रुव) है ऐसा संकेतार्थ समझना चाहिये। प्राणी की दो दृष्टियाँ होती है एक भोक्ता की और द्वितीय भोग्य की, और दृष्टि द्रष्टा की होती है। द्रष्टा साक्षी मात्र होता है और दृश्य चञ्चल (अस्थिर-नाशवान्) होता है। इसलिए 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति' (छा.उ. ८/७/४) उपनिषद् ने आँख में जो द्रष्टा पुरुष है वह आत्मा ही है, ऐसा कहा है। योग में वाम स्वर को चन्द्र और दाहिने स्वर को सूर्य कहा है वाम स्वर (चन्द्रस्वर) शीतल और दक्षिण (सूर्यस्वर) उष्म होता है अत: वहाँ पर अर्थ घटित करने के लिए चन्द्रस्वर नाक के वाम छिन्द्र से वायु को (खीचना) भोग्य है अत: वह रयि स्वर है तथा सूर्यस्वर नाक के दक्षिण छिद्र से वायु का (आगमन) भोक्ता है, ऐसा जानना चाहिये।

दिवा न पूजयेत् लिङ्गं, रात्रावपि न पूजयेत्।
सर्वदा पूजयेत् लिङ्गं दिवारात्र निरोधतः।। (पवन स्वरोदय)

दिन में अर्थात् जब रजोगुण प्रधान स्वर चल रहा हो तब योगासन न करे और रात्रि में भी अर्थात् तमप्रधान जब चन्द्र स्वर चल रहा हो तो तब भी योगाभ्यास न करें। दिन और रात्रि अर्थात् रजोगुण तथा तमोगुण प्रधान स्वर का निरोध करके सुषुम्ना नाड़ी के उदयकाल अर्थात् इडा और पिङ्गला के सन्धिकाल (त्रिवेणी) में योगाभ्यास करें।

इडा भागीरथी गंगा, पिङ्गला यमुना नदी।
तयोर्मध्यगता नाड़ी सुषुम्नाख्या सरस्वती।।

त्रिवेणी सङ्गमो यत्र तीर्थराजः स उच्यते।
तत्रस्नानं प्रकुवर्ति सर्वपापैः प्रमुच्यते।। (ज्ञान संकलिनी तन्त्र)

अत: योग सम्प्रदाय के मत से इसका भोग्य और भोक्ता अर्थात् रयि (चन्द्र) प्राण (सूर्य) फलतार्थ दिन और रात दोनों साधक को ध्येय वस्तु के प्रतिबन्धक (रजोगुण का स्वभाव चञ्चल और तमोगुण का स्वभाव प्रमाद और आलस्य) होने के कारण त्याज्य है यह अभिप्राय प्रतीक रूप से है। (अनुभू.प्र. ७/७)

इस लोक से ब्रह्मलोकपर्यन्त संसार की प्राप्ति अपर विद्या का फल होता है।

सुषुप्तिकाल में, प्रलयकाल में और मुक्ति प्राप्ति काल में जगत् आत्मा में लय प्राप्त कर जाता है। (अनु.प्र. ७/५४,६३)

विराड्[1]-अः। सूत्रात्मा[2]-उः। अव्याकृतं[3]-मः।

१. भूलोकं ऋग्वेदो नयति।

१-२. मात्राद्वयं ध्यात्वा, यजुः सोमलोकम्।

१-२-३. त्रिमात्रं प्रणवं यः स्मरेत्

तत्सामाभिमानी देवो ब्रह्मलोकं नयति। (अनु.प्र.)

उपलक्षयिता जीवो, बुद्धौ चित्प्रतिबिम्बकः।

उपलक्ष्यं तत्तु ब्रह्म, स्याच्छायादि रूपकम्।। (अनु.प्र. ७/६८)

छाया तमस्तेन हीनं शरीरत्रयवर्जितम्।।६९।।

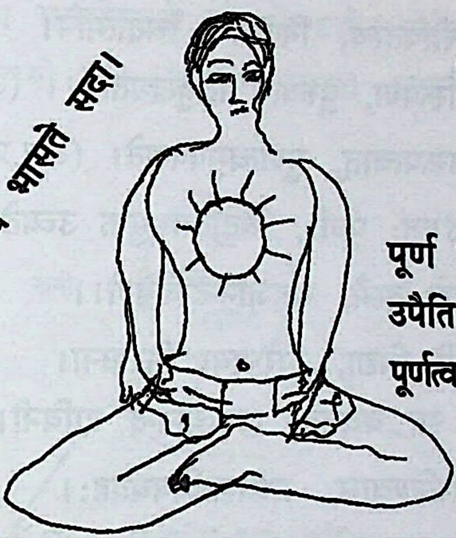
ओम् शब्द में तीन (अ-उ और म) अवयव वर्ण (अक्षर) हैं। उसमें प्रथम वर्ण 'अ' विराडात्मा-ऋग्वेद स्वरूप है उनकी उपासन से भूलोक की प्राप्ति होती है। द्वितीय वर्ण 'उ' सूत्रात्मा यजुर्वेद स्वरूप है, अतः प्रथम मात्रा (अवयव) 'अ' और द्वितीय मात्रा (अवयव) 'उ' उभयमात्रा की उपासना करके साधकजन सोमलोक (चन्द्रलोक या अमृतलोक) को प्राप्त करते हैं। इसी तरह तीनों मात्रा (अ+उ+म) सामवेद स्वरूप प्रणव ब्रह्म है और इनकी उपासना करने वाले सामाभिमानी देवता परब्रह्म परमात्मा के लोक ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं। (अनु.प्र.)

उपलक्षयिता आत्मा का प्रतिबिम्ब तैजस तत्त्व बुद्धि पर पड़ता है तो उस प्रतिबिम्बाभिमानी अर्थात् अहंत्वेन ग्रहण करने वाले वह जीवात्मा कहलाता है। उस प्रतिबिम्ब से उपलक्षित बिम्बात्मा ही ब्रह्म है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित वह छायारूप तम जीव है और उस तम तथा तीनों शरीर (स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर) से रहित आत्मा (ब्रह्म) है। यहाँ छायावाद या कहें बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद के भाव से जीवात्मा परमात्मा को कहा गया। विम्ब प्रतिबिम्ब भाव में यथा—

यथा मृदि घटो नाम कनके कुण्डलाभिधा।
शुक्तौ हि रजतख्यातिर्जीवशब्दस्तथापरे।। (अपरोक्षानुभूति-६०)

यथैव व्योम्नि नीलत्वं यथा नीरं मरुस्थले।
पुरुषत्वं यथा स्थाणौ, तद्वद्विश्वं चिदात्मनि।। (अपरोक्षानुभूति-६१)

मृत्तिका में घट और स्वर्ण में कुण्डलादि सुक्ति में रजत की असत् भी सत् रूप से दीखता है तथा आकाश में नीलिमा, मरुस्थल में जल, स्थाणु में पुरुष असत् भी सत् स्वरूप से भान होता है उसी तरह बुद्धि में प्रतिबिम्बित आत्मा छाया को ही जीवात्मा अहंत्वेन ग्रहण कर शरीरादि रूप से अपने को जानता है। जबकि ये सारी बुद्धि भ्रान्ति ही है। (अनु.प्र. ७/६८,६९)



पुरुषो देहे हृन्मध्ये भासते सदा।
तस्मिन् प्राणादि नामान्ताः
माययोत्पादिताः कलाः।।
पूर्ण पुरुषः
उपैति जीवता
पूर्णत्वबोधे।।८८।।

(अनु.प्र. ८५)

प्राणः श्रद्धा खादि भूतपञ्चकं चेन्द्रियं मनः।
अन्नं वीर्यं तपो मन्त्राः, कर्मलोकाश्च नाम च।। (अनु.प्र. ८६)

देह के हृदयदेश में पुरुष (आत्मा) नित्य स्फुरित होता रहता है और उसमें प्राण के नाम से (संज्ञा) प्रर्यन्त कलाएँ माया से उत्पादित (कल्पित) हैं। उन पुरुष और उनके कलाओं से पूर्ण पुरुष जीव संज्ञा वाला कहा जाता है। जीवात्मा इन प्राणादि कलाओं के पुरुष में अध्यस्तता के कारण उनके धर्मों से आत्मा को धर्मी जान बैठता है और शरीरादि को आत्मा समझता है। यथा 'रक्तः स्फटिकः' स्थल में स्फटिक की धवलता प्रसिद्ध रहते हुए भी जपा कुसुम की लालिमा के रक्ताभा की छाया से 'रक्तः = लाल, स्फटिकः = स्फटिक (पत्थर) है' ऐसा परधर्मधर्मितापन्न स्फटिक में 'रक्तः स्फटिकः' भ्रमवश प्रयोग होता है उसी प्रकार आत्मा के निर्धर्मक होते हुए भी प्राणादि कला जो परधर्म है उससे धर्मिता का आरोप भ्रमवश ग्रहण होता है और जीवात्मा कर्ता-भोक्ता-काना-लंगड़ा-ब्राह्मणादि धर्मों से अध्यासित बुद्धिवाला होकर उन धर्मों को ग्रहण करता है। जबकि स्फटिक मणि के समान आत्मा निर्मल है। (अनु.प्र. ८५)

साधक धर्मों से रहित निर्मल-निरञ्जन आत्मा को जब विवेक ग्रह (ज्ञान) के द्वारा जान लेता है तो वह पूर्णात्मा (पुरुष) ब्रह्म को जान लेता है और उन आत्मा में आरोपित धर्म कर्त्तत्वादि बन्ध से मुक्त हो जाता है जिसे मुक्ति-मोक्ष प्राप्ति कहते हैं। (अनु.प्र. ८८)

उपर्युक्त कलाएँ क्या हैं इस प्रश्न के उत्तर में यहाँ उक्त है कि—पञ्चप्राण, श्रद्धा, आकाशादि पञ्चमहाभूत, पंचज्ञानेन्द्रिय और मन जो अन्न से वीर्यादि के उत्पन्न होने पर तप-मन्त्र-नाम और मम यह लोक उत्पन्न होता है। तथा अन्न ये जो माया (प्रकृति) से उत्पन्न होते हैं, पुनः अन्न से वीर्य, वीर्य से तप और तप से मनन करने की शक्ति तथा कर्म

जीवत्त्वस्यारोपितस्य, निवृत्यर्थं चिदात्मनि।
देहस्थे पूर्णरूपेण, पुरुषत्वं विबुद्ध्यताम्।। (अनु.प्र. ७/९१)
सर्वाधिष्ठानरूपत्वात्, पूर्णत्वमुपपद्यते। (अनु.प्र. ७/९२)
एषोऽकलोऽमृतः पूर्णः, चिदात्मा मुक्त उच्यते।। (अनु.प्र. ७/९४)
नमोस्तु गुरवे तस्मै, सहजानन्दरूपिणे।।
अमृतोद्दीपिनी विद्या, निरपाया निरञ्जना।
अमनस्कैव सा क्वापि, जयत्यानन्द दायिनी।।
प्रनष्टोच्छ्वासनिश्वास, प्रध्वस्तविषयग्रहः।
निश्चेष्टो विगतारम्भो, ह्यानन्दं याति योगिवत्।।

और नाम (संज्ञा) वाला लोक जगत् का सृजन होता है जो व्यावहारिक अर्थात् मायिक सृजन है पारमार्थिक नहीं। पारमार्थिकता तो 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथा' ब्रह्म (आत्मा) मात्र सत्य है और जगत् मिथ्या है यह परमार्थ सिद्धान्त का निचोड़ (तत्त्व) है। जगत् भ्रान्ति है और उस जगत् के परमाधिष्ठान ब्रह्म मात्र सत्य है ऐसा जानना चाहिये। (अनु.प्र. ७/८६)

चिदात्मा में आरोपित जीव की निवृत्ति के लिए सम्पूर्ण शरीर में उस पुरुष (चिदात्मा ब्रह्म) का चिन्तन करना चाहिये। इस (जीवात्मा) शरीर में सम्पूर्ण रूप से ब्रह्म का ही चिन्तन करे—

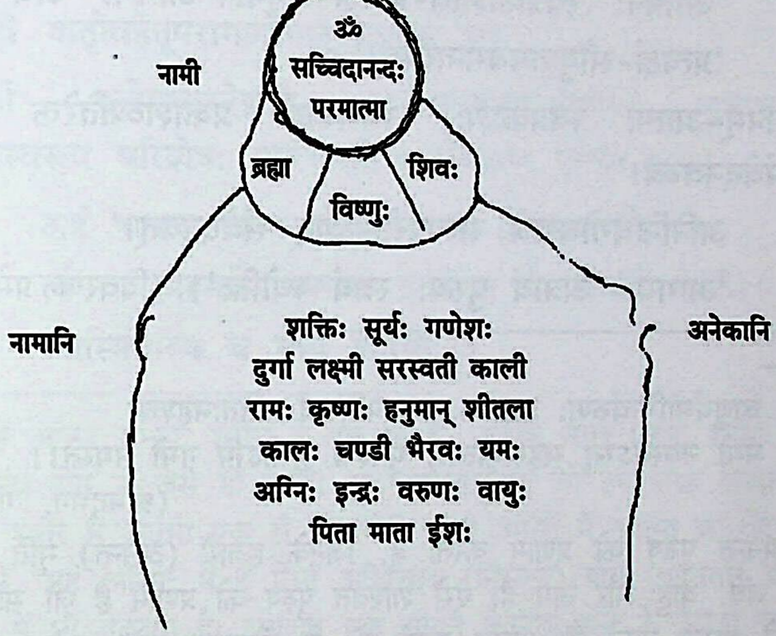
सर्वदा स्थापनं बुद्धेः शुद्धे ब्रह्मणि सर्वथा।
तत्समाधानमित्युक्तं न तु चित्तस्य लालनम्।। (विवेक चू. २७)

उस परमात्मा ब्रह्म सभी जगद्वस्तु के अधिष्ठान होने के कारण पूर्ण है और मैं (जीवात्मा) वही पूर्ण ब्रह्म हूँ तथा ब्रह्म का स्वरूप अकल (कला रहित), अमृत (मृत्युरहित), पूर्ण एवं चिदात्मा तथा मुक्त स्वरूप है। अतः मैं ब्रह्म स्वरूप ही हूँ इस प्रकार के चिन्तन से जीवभाव से मुक्ति मिल जाती है। (अनु.प्र. ७/९१/९२/९४)

मैं उस सहजानन्द स्वरूप गुरु को नमस्कार करता हूँ। उस सहजानन्द गुरु का स्वरूप और विशेष क्या है कहते हैं—वह अमृत को उद्दीपन करनेवाली, निरपाया है, निरञ्जना विद्या है, वह कभी अमनस्का है, वह कोई आनन्द पर जय प्राप्त करने वाली, कभी आनन्द को देने वाली विद्या स्वरूपा है जिसके प्रभाव से प्रश्वास और निश्वास नष्ट (आत्मा में लय) हो जाता है तथा विषय का ग्रह (ज्ञान) भी क्षीण (नष्ट) हो जाता है तथा कर्म भाव से रहित कर निश्चेष्ट कर देती है और योगी के तुल्य आनन्द को प्रदान करती है।

उच्छिन्न सर्वसंकल्पो, निःशेषाऽशेष चेष्टितः।
स्वावगम्यो लयः क्वापि, जायते वागगोचरः।।

(अमनस्क खण्डे-२)



'नमोस्त्वनन्तायानन्तनाम्नेऽनन्तरूपाय'।

वह विद्यास्वरूपा गुरु सभी संकल्पों को उच्छिन्न (नाश) करनेवाली सम्पूर्ण सृष्टि में निशेषा है तथा सम्पूर्ण जगत् की चेष्टा से जानी जाने योग्या है। कभी वह अपने आत्मा में स्वानुभूति में लय को प्राप्त स्वरूपा और कभी ज्ञानेन्द्रिय (वाणी) का विषय नहीं होने वाली है। (अमनस्क ख. २)

सच्चिदानन्द परमात्मा नामी एक ही हैं। अद्वितीय परमात्मा के नाम की कल्पना अनेक हैं। जैसे—ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य, गणेश, दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, काली, राम, कृष्ण, हनुमान्, शीतला, काल, चण्डी, भैरव, यम, अग्नि, इन्द्र, वरुण, वायु, पिता, माता, ईश आदि। इसलिये कहा है—अनन्त नाम, अनन्त रूप वाले अनन्त को नमस्कार करता हूँ।

ममोस्त्वनन्ताय सहस्त्रमूर्त्तये, सहस्त्रपादाक्षिशिरोरुवाहवे।
सहस्त्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते सहस्त्रकोटि युगधारिणे नमः।।

(भविष्य पु. अनन्तव्रतकथा)

'इन्द्रियानि-भौतिकानि परिच्छिन्नानिप्राप्यकारीणि'।

(विवरण प्रमेय १/४)

जीवस्य सर्वगतत्वं-आगमादेव सिद्धिः।'

'आत्मनः स्वप्रकाशत्वं-प्रत्यक्ष-अनुमान-आगमैः अवगमः।'

'प्रत्यक्षं-सौषुप्तमवगन्तव्यम्।'

'अनुमानम्–आत्मा स्वप्रकाशः, स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेक रहितत्त्वात्, प्रदीपवत्-संवेदनवच्च।'

अनिन्द्रियगोचरत्वे सत्यपरोक्षत्वात् संवेदनवत्।'

'आगमः-'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः'। (विवरण प्रमेय १/४)

तथा—

वायुर्यमोग्निर्वरुणः शशांक, प्रजापतिस्त्वं प्रतितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः, पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।।

(श्रीमद्भग. गी. १०/३९)

उस अनन्त पुरुष को प्रणाम करता हूँ, जिनके हजारों (अनन्त) मूर्ति (शरीर), पैर आँख, शिर, जंघे, वाहु और नाम है। ऐसे शाश्वत पुरुष को प्रणाम है जो सहस्रों (अनन्त) कोटि युग को धारण करते हैं। अर्जुन कहते हैं—हे श्रीकृष्ण! वायु, यम, अग्नि, वरुण, शशांक, प्रजापति, प्रपितामह (ब्रह्मा), आदि सभी देवता तुम्ही हो। तुम अनन्त रूप-नाम-गुण वाले को अनन्त प्रणाम है। (श्रीमद्भग.गी.)

भौतिक इन्द्रिय परिच्छिन्न (सीमित) अर्थ को ही प्राप्त कराने वाली होती है।

(विवरण प्रमेय १/४)

जीव (आत्मा) का सर्वगतत्व (सभी में व्याप्त होकर रहना) आगम-श्रुति (वेदादि) के वचनों (प्रमाणों) से ही सिद्ध है। इसी तरह आत्मा का स्वयं प्रकाशकत्व स्वरूप प्रत्यक्ष-अनुमान-आगम प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है। आत्मा का सुषुप्ति अवस्था में (जब सारी इन्द्रियाँ अपने कारण में लय हो जाती है) स्व के बोध का बना रहना और जगने पर 'सुख पूर्वक मैं सोया और कुछ भी नहीं जाना' स्मरण से प्रत्यक्ष का होना सिद्ध होता है क्योंकि प्रत्यक्ष का ही स्मरण होता है यह नियम है। अनुमान प्रमाण में हेतु है कि—आत्मा स्वयं प्रकाश है क्योंकि अपने सत्ता में प्रकाश के व्यतिरेक (नहीं रहना) के अभाव होने के कारण, यथा दीपक होता है उसी प्रकार संवेदन वाला होने के कारण। दूसरा अनुमान—अनिन्द्रिय गोचरत्व के रहते हुए अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) होने के कारण, यथा संवेदन होता है उसी के समान। आगम प्रमाण से—'यहाँ यह पुरुष स्वयं ज्योतिः स्वरूप है।' तथा 'स्वयं ज्योतिरयं पुरुषः' (श्रुति) वह आत्मा स्वयं ज्योति स्वरूप है। (विवरण प्रमेय १/४)

स चायमात्मा सर्वशरीरेष्वेकः, सर्वत्रेकाकार प्रत्ययवेदनीयत्वात्, गोत्ववत्। शरीराणां भिन्नत्वादेवाऽतीत शरीरादाविव न योगानुसन्धानप्रसंगः। सांख्यमते आत्मनः चिद्रूपेण सर्वसाक्षित्वं भोक्तृत्वं अस्ति। निरवयवे कर्तृत्वहेतूपरागायोगात् कतृत्वं न।

पुरुषाणां क्लेशकरदेहादि बुद्ध्यन्तबन्धनिर्वतनेन सत्यज्ञानानन्तानन्द प्रत्यगात्मब्रह्मस्वरूप परिशेषः फलिष्यति'। (विवरण प्रमेय १/४)

अहं भवान्न चान्यस्त्वं, त्वमेवाहं विचक्ष्व मोः।
त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽह वै त्वमसि देवते।।
'अस्मिन्नास्य च योगं शास्ति'।।

वह यह आत्मा सम्पूर्ण शरीरों में एक ही है, क्योंकि सर्वत्र (सभी शरीरों में) एकाकार प्रत्यय वेदनीयत्व होने से जैसे गो में है। इस अन्वयानुमान को इस तरह समझना चाहिये— सभी भूतों के शरीर में आत्मा एक ही है क्योंकि सभी शरीरों में आत्मा का वेदनता होती है। सभी शरीरों में 'अहं अस्मि' मैं हूँ ऐसा अविच्छिन्न (निरन्तर) बोध (वेदनता) प्राप्त होती है। इसी तरह गो में भी वेदनता है। इसलिए एक समान वेतनता होने के कारण सम्पूर्ण भूतों में एक ही आत्मा है। क्योंकि किसी भी प्राणी में 'अहं नास्मि' ऐसी अनुभूति नहीं होती है। शरीर के भिन्न-भिन्न होने के कारण पूर्व शरीर के समान इस शरीर में भी वैसी ही प्रतीति हो यह जरूरी नहीं है क्योंकि आत्मा उस-उस शरीर में उस-उस स्वभाव से ही अनुस्यूत होता है अर्थात् आत्मा में जीव का शरीर स्वभावानुकूल ही अध्यास होता है। अतः अन्य शरीर के योग्य भोग का अन्य शरीर में अनुसन्धान नहीं होता है। साख्य मत में आत्मा का सभी शरीर में चिद्रूपता से साक्षित्व और भोक्तृत्व स्वीकार्य किया गया है। परन्तु निरनयव आत्मा में कर्तव्य के हेतु न होने के फलस्वरूप कर्तृत्व का प्रसंग नहीं बनता है। क्योंकि कर्तत्व और भोक्तृत्व सावयव में ही सम्भव हो सकता है निरवयव में नहीं। पुरुषों के देहादि से लेकर बुद्धि पर्यन्त उपस्थित बन्ध के निवर्तन हो जाने से ही सत्य-ज्ञान-अनन्त-आनन्द प्रत्यगात्मा-ब्रह्म स्वरूप परिशेषतः फल की उपलब्धि सम्भव हो सकती है क्योंकि जब तक जड़ देहादि में आत्मबुद्धि रूप बन्ध है तब तक अपरोक्ष सत्य-ज्ञान-आनन्द स्वरूप प्रत्यागात्मा ब्रह्म का साक्षात् संभव नहीं हो सकता। (विवरण प्रमेय १/४)

अहंकार आप नहीं हैं आप अहंकार से अन्य त्वं (प्रपञ्च) भी नहीं हैं, परन्तु अहंकार का अधिष्ठान आस्पद और त्वंकार का अधिष्ठान आस्पद ब्रह्म ही है अर्थात् अहंकार और त्वंकार का अधिष्ठान आस्पद ब्रह्म मैं और तुम दोनों हो इसका विचार करो।

ओमो वाचिप्रतिष्ठा सैव पुरत्रयं शरीरत्रयं व्याप्य वहिरन्तरवभासयन्ती देशकालवस्त्वन्तरसन्घान्महात्रिपुर सुन्दरी वै प्रत्यक्चितिः। सैषा पराशक्तिः। सैवात्मा। ततोऽन्यदसदनात्मा। (वह्वृचोपनिषद्)

विविक्तक्षेमशरणो मद्भावविमालाशयः।
आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया मुनिः।।

संवेदनाख्यया व्यङ्ग्यः, परसमातिगोचरः।
आस्वादनात्मानुभवो, रसःकाव्यार्थ उच्यते।। (नाट्यशास्त्र टी. ६)

योऽर्थो हृदयसंवादी, तस्यभावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन, शुष्कं काष्ठमिताग्निना।। (ना.शा.टी. ७)

वह त्रिपुर सुन्दरी प्रणव (ओम्) वाच्य अक्षर ब्रह्म है। वही सच्चिदानन्द स्वरूपा ब्रह्म (प्रणव ओम् स्वरूपा त्रिपुर सुन्दरी) वाणी मात्र में प्रतिष्ठित है। वे ही जाग्रत-स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था रूप पुरत्रयों तथा स्थूल-सूक्ष्म (लिंग) और कारण शरीरत्रयों में व्याप्त होकर उसके बाहर और भीतर प्रकाशमान है। देश-काल और वस्तु समूहों के भीतर असंग होकर रहती हुई प्रत्यक्-चेतना स्वरूपा है। वही पराशक्ति है, वही आत्मा है और उससे अन्यत् (भिन्न) सभी असत् पदार्थ है। (वह्वृचोपनि.)

हे मुनि! जिसके वस्तु संग्रह की प्रवृत्ति नष्ट हो गयी है अर्थात् वस्तुओं में राग नहीं रह गया है और मेरे ईश्वर के प्रति अनन्य भाव रखने के कारण जिसका हृदय पवित्र हो गया है ऐसे साधक भक्त आत्मा और परमात्मा में अभेद चिन्तन करें। वह निर्मल अन्तःकरणवाला ही अभेद (अपरोक्ष) ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने में सक्षम होता है। जिसका विमलान्तःकरण नहीं है वह अपरोक्ष अद्वितीय ब्रह्म चिन्तन में सक्षम कैसे हो सकता है? यह अभिप्राय है।

संवेदनाख्य व्यंग्य से जो पर संवित्ति का प्रत्यक्ष होता है उसके आस्वाद के आत्मानुभव करने से जो रसोपलब्धि होती है उसको काव्यार्थ कहते हैं। (नाट्यश.टी. ६)

जो अर्थ हृदय संवादी होता है, उस अर्थ के भाव (उत्पत्ति) से रस का प्राकट्य होता है और उस रस (आनन्द) से सम्पूर्ण शरीर व्याप्त हो जाता है। यथा—सूखी लकड़ी के किसी भी भाग में अग्नि संयोग होने पर सम्पूर्ण काष्ठ शरीर में वह अग्नि व्याप्त (फैल) हो जाती है, उसी प्रकार हृद् संवादी अर्थ से उद्भूत रस सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है। (नाट्यशा. टी. ७)

'लोकोत्तरोऽर्थो रसः'। (ना.शा. ६)

विभावादि रूपगताः स्थायिनो भावा रस्यमानैकजीवनं रसत्वं प्रतिपद्यन्ते। भावाभिनय संबन्धान्।

आनन्दं सुवस्त्वालम्ब्याविर्भूतं प्रेम। निकृष्टवस्त्वावलम्ब्याविर्भूतं कामः, मोहो वा भवति। (भगवत्तत्त्वे रास.र.)

जगदधिष्ठानम्



रासलीलायां कामविजयी उपास्यः, कामजयस्तस्य फलम्। रासलीला कामविजयलीला।

लोकोत्तर अर्थ को रस कहते है। अर्थात् जो लोक सामान्य में अर्थ घटित न हो परन्तु लोक अर्थ से उत्कृष्ट हो उसे रस कहा जाता हैं। जैसे लोक अर्थ (वस्तु) आम (फल) है और वह सामान्य जन के द्वारा आस्वाद्य ही है अतः आम्रफल में होने वाला रस लौकिक ही है लोकोत्तर नहीं। परन्तु कोई अर्थवस्तु ऐसा हो जो सामान्य लोगों द्वारा आस्वाद्य न हो अर्थात् लोक में न पाया जाता हो तो उससे उद्भव रस लोकोत्तर रस है, उसी के समान रस को प्रसंग में जानना चाहिये। (नाट्यशा. ६)

विभावादि रूपगत जो स्थायीभाव उससे रस्यमान मात्र जीवन ही रसत्व को प्राप्त करते हैं। (ना.शा.)

वह नाट्यशास्त्र का रस नायक के चरित्र भावानुकूल अभिनय से सम्बन्ध होने पर दर्शक कें अनुभव का विषय बनता है। (नाट्यशास्त्र)

जगत् का अधिष्ठान सत्-चित्-आनन्द स्वरूप प्रेम है। वह सत् वस्तु का अस्तित्व बोधक है। सम्पूर्ण जगत् प्रपञ्च में जो अस्तिता है वही सत् ब्रह्म है और जो भासता (प्रकाशकत्व) है वही चिद् ब्रह्म है तथा उस जगत् वस्तु के आलम्बन से जो आनन्द संकेत प्राप्त है वह आनन्द ब्रह्म है। आनन्द के लिए जो उत्तम वस्तु का आलम्बन करते हैं और उससे जो आनन्द का आविर्भाव होता है उसी को प्रेम कहा जाता है तथा निकृष्ट वस्तु के आलम्बन से जो आविर्भाव होता है उसे काम अथवा मोह कहते हैं—स्मृता भवति तापाय

[१]नवैका[२]दश पञ्च[३] त्रीन्[४] भावान्भूतेषु येन वै।
ईक्षेताथैकमप्येषु, तज्ज्ञानं मम निश्चितम्।।
(श्रीमद्भाग. ११/१९/१४)

(१. प्रकृतिः, पुरुषः, महत्तत्त्वं, अहंकारः पञ्चतन्मात्राः। २. दशेन्द्रियमनः। ३. भूतानि। ४. गुणाः-२८)

विरुद्धांशपरित्यागात्, प्रत्यक्षादिर्न वाध्यते।
अविरुद्धांशग्रहणात्, न श्रुत्यापि विरुध्यते।। (सर्ववेदान्त सि.सं. ७३३)

दृष्टा चोन्मादकारिणी। स्पृष्टा भवति मोहाय सा नाम दयिता कथम् (शृङ्गार शतके ४२) जिसके स्मरण आने मात्र से स्मर्ता को ताप उत्पन्न हो जाय, दर्शन करने पर उन्माद उत्पन्न हो, स्पर्श करने पर मोह उत्पन्न हो वह प्रिया (आह्लादिनी) कैसे हो सकती है? कथमपि नहीं हो सकती। 'तावदेवामृतमयी यावल्लोचन गोचरा। चक्षुष्पथादतीता तु विषादतिरिच्यते।। (शृङ्गरशतके-४३) वह प्रिया जब तक लोचनपथगामिनी (सम्मुख) होती है तब तक ही उत्कृष्ट (प्रिय) लगती है परन्तु दृष्टिपथ से अलग होने पर तो विष (कालकूट आदि) से भी भयंकर फल को देने वाली होती है। यह निकृष्ट वस्तु आलम्बन जनित फल मोहादि है, अतः त्याज्य है। प्रकृत प्रसंग रासलीला में कामजयी भगवान् श्रीकृष्ण उपास्य हैं, अतः रासलीला प्रसंग दर्शन-श्रवण-कीर्तन और मनन का फल काम पर जय की प्राप्तिरूप है। अतः रासलीला का वास्तविक अर्थ काम विजय लीला ही है। (भगवत्तत्त्वे रास. र.)

प्रकृति-पुरुष-महत्तत्त्व-अहंकार और पंचतन्मात्राएँ ये नौ संख्या हुए तथा पंचज्ञानेन्द्रि-पंचकर्मेन्द्रिय तथा मन ये ग्यारह हुए एवं पाँच महाभूत तथा रजोगुण-तमोगुण एवं सतोगुण ये तीन कुल तत्त्वों की संख्या (९+११+५+३ =२८) अट्ठाईस हुई। इन अट्ठाईस तत्त्वों के भावों में अनुगत एक परमात्मतत्त्व को जो देखता है अर्थात् कार्यकारणात्मक जगत् को देखता हुआ उन सबों में एक ही परमकारण परमात्मा ब्रह्म है ऐसा जानता है उससे पृथक् यह जगत्सत्ता 'शुक्तौ रजतादि भ्रान्तिवत्' को सुक्ति (सींप) में रजत (चाँदी) की भ्रान्ति समान समझ कर जगदाकारता को त्याग कर ब्रह्माकारता रूप से स्वीकार करता है वह वस्तुतस्तु मुझ परमात्मा को जानता है यह श्री उद्धव जी के प्रति भगवान् श्रीकृष्ण जी का उपदेश है। (श्रीमद्भाग. ११/१९/१४)

विरुद्धांश को त्यागने पर प्रत्यक्ष वस्तु का बाध नहीं होता है यथा—'स्थाणुरयं पुरुषः' स्थाणु (लकड़ी का ठूँठ) में पुरुष की भ्रान्ति स्थल में पुरुष भ्रान्ति निवृत्त (बाध) हो जाने पर स्थाणु की उपस्थिति (प्रत्यक्ष वस्तु की स्थिति) बनी रहती है। अतः अविरुद्धांश स्थाणु अथवा सुक्ति के ग्रहण होने पर श्रुति का विरोध नहीं है। अतः अद्वैत मत में ब्रह्मात्मा

अन्तर्वहिः स्वयमखण्डितमेकरूपम्, आरोपवदुज्झति मूढबुद्धेः।

मृत्स्नादिवत् विगतविक्रयमात्मवेद्यम्।

तद्ब्रह्मतत्त्वमसि केवलबोधमात्रम्।। (सर्ववेदान्त सि.सं. ७८०)

जीवन्मुक्तेः पञ्च प्रयोजनानि–१. ज्ञानरक्षा–संशय-विपर्यानुत्पत्तिः। २. तपः–चित्तैकाग्र्यम्। ३. विसंवादाभावः। ४. दुःखनिवृत्तिः–ऐहिक-पारलौकिकी। ५. सुखाविर्भावः। (तत्त्वानुसन्धाने-४)

'आत्मक्रीड[1] आत्मरतिः[2] क्रियावा[3]नेषब्रह्मविदांवरिष्ठः'।

१. अपरोक्षानुभवी। ब्रह्मविद्। २. विजातीयवृत्तितिरस्कारपूर्वक वृत्तिप्रवाहः। ब्रह्मविद्वरः। ३. ब्रह्मचिन्तनम् ब्रह्मात्मैकत्व समाधिः। ब्रह्मविद्वरीयान्।

बोधस्थल में जीवात्मा (शरीर) के बाध होने पर ब्रह्म का सर्वाधिष्ठान की सिद्धि हो जाती है। इसलिए श्रुति विरोध नहीं है। (सर्ववेदान्त सि.सं. ७३३)

इस जगत् वस्तु के अन्दर और बाहर अखण्ड-अद्वितीय स्वयं (आत्मा) ही जो अविक्रिय और स्वयं आत्मवेद्य वस्तु है और जिसके अभेद बोध कराने के लिए ही 'तत्त्वमसि' (वही ब्रह्म तुम हो) श्रुति वाक्य प्रवृत्त है, फिर भी हे मन्दबुद्धि जीवात्मन्! तुम मृत्स्नादिवत् (मिट्टी में गन्ध) और आरोपवत् (सुक्ति में रजत) का संग्रह क्यों कर रहा है अर्थात् कोई मूर्ख ही होगा जो संसार के स्वरूप को असत् रूप सुनकर-जानकर भी उस अविक्रिय ब्रह्म में मृतिका में गन्ध ग्रहण करने के समान (ब्रह्म के अविक्रियत्व सिद्ध में) अर्जित करेगा। इसी तरह सर्वाधिष्ठान सत् ब्रह्म में सुक्ति में आरोपित रजत के समान जगत् की सत्यता स्वीकार करेगा यह कथन का अभिप्राय है। (सर्ववेदान्त सि.सं. ७८०)

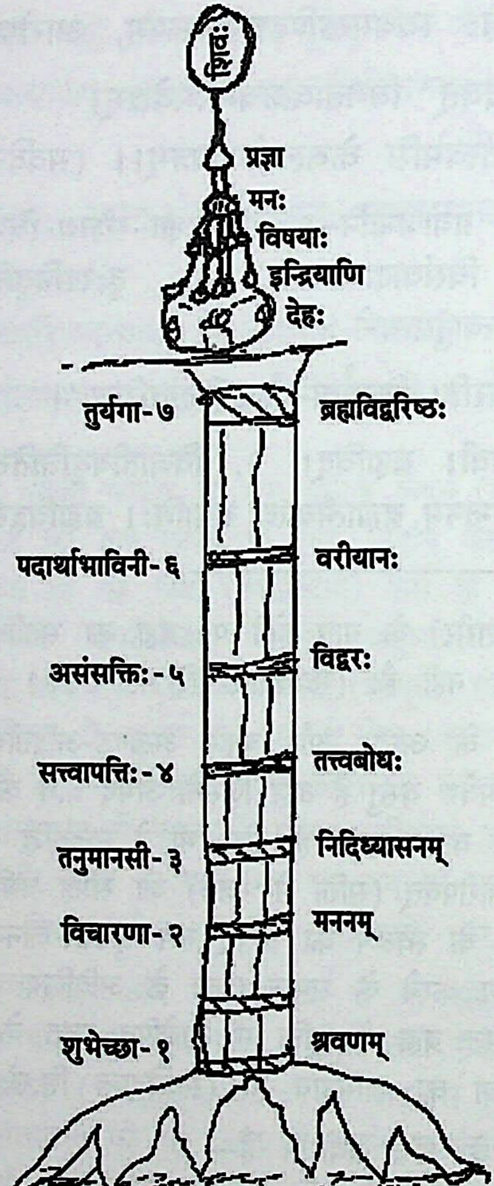
जीवन्मुक्त व्यक्ति के पाँच प्रयोजन है—

१. **ज्ञानरक्षा**—संशय और विपर्यय की उत्पत्ति न हो इसके लिए ज्ञान को स्थिर बनाये रखने के लिये उपाय करना।

२. **तप-चित्तैकाग्र्य**—चित्त की एकाग्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए तप करना।

३. **विसंवादाभाव**—निष्फल प्रवृत्ति को रोकना और सफल प्रवृत्ति को बनाये रखना। यहाँ ध्यान रहे कि भ्रम स्थल में होने वाली (सुक्तौ इदं रजतम्) प्रवृत्ति निष्फल प्रवृत्ति है और इस प्रवृत्ति को स्वानुभव बोध तथा शास्त्रीय वाक्यों के मनानादि करके रोकना चाहिये।

४. **दुःखनिवृत्ति**—ऐहिक-पारलौकिक दुःख का स्मरण करते रहना और उसके कारण के निवारण हेतु चिन्तन बनाये रखना।



५. **सुखाविर्भाव**—प्रारब्ध शेषानुकूल उपस्थित भोग में राग रहित रहता हुआ आत्मानन्द में रति बनाये रखना। (तत्त्वानु सं. ४)

'आत्मक्रीड' आत्मा का अपरोक्षानुभवी ब्रह्मविद् को कहते हैं। विजातीयवृत्ति (विषयानुगती) के तिरस्कारपूर्वक आत्मवृत्ति प्रवाह वाला को ब्रह्मविद्वर को कहते हैं। ब्रह्मात्मैकत्व चिन्तन के द्वारा सदा समाधिस्थ रहने वाले को ब्रह्मविद्वरीयान् कहते हैं।

साधक वही होगा जो शुभेच्छु हो और शुभेच्छा गुरुतः अथवा शास्त्रतः तत्त्वमसि आदि वाक्य के श्रवण में प्रवृत्तिरूप है। यह साधक का प्रथम सोपान है। श्रवण किये गये वाक्यों

कौटस्थ्यासंगतो नास्य, मोहतत्कार्यसर्गतः।
आत्मनोऽयं तमोयोगो, नात्मवृत्तानुरोधतः।।

(वृह.भा.वा. १/४/१३२१)

अविद्याद्वारिकाप्यस्य, संगतिर्नाञ्जसेष्यते।
निरात्मकपरार्थत्व, हेतुभ्यां शुक्तिरुप्ययवत्।।१३२४।।

का अन्वय-व्यतिरेक की सहायता से विचार करें और विचारित तत्त्व का मनन करने वाला द्वितीय सोपान के अधिकारी हैं। क्रमशः श्रवण विचारण और उसके मनन और ध्यान के द्वारा अपने शरीरादि को उसके कारण मन में लय कर तनुमानसी की स्थिति को प्राप्त कर लेने वाला तृतीय सोपान के अधिकारी साधक है। तनुमानसी को प्राप्त साधक जब सत्त्व (आत्मा) में अपने स्वरूप को स्थापन करके यही मेरा स्वरूप है ऐसा जान ले तो तत्त्वावबोध को प्राप्त चतुर्थ सोपान का अधिकारी है। तत्त्वावबोध (आत्मपरिचय) को प्राप्त वह साधक उस शरीरादि का आत्मा में लय कर ध्यानादि द्वारा समाधि को प्राप्त हो जाय तो वह 'विद्वर' नामक पाँच सोपान वाला साधक है। इसी प्रकार आत्मरति को प्राप्त वह जब ध्येयाभिमानी अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ ऐसा अभिमानवाला 'वरीयान्' षष्ठसोपान वाला साधक है। ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान अर्थ को ग्रहण करने वाला वह पदार्थाभिमानी साधक जब ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान इन त्रिपुटी को ध्येय आत्मा में लय कर आत्मस्थ-तस्थ हो जाय अर्थात् सर्वविकल्पशून्य तुरीय अवस्था को प्राप्त हो जाय तो वह ब्रह्मविद्वरिष्ठ नामक सप्तम सोपान का साधक पूर्णकाम हो जाता है। उक्त स्थिति के बाद उस ब्रह्मविद्वरिष्ठ साधक के लिए कुछ करणीय शेष नहीं रह जाता। यही प्रतीक द्वारा कहा गया है।

कूटस्थभाव के संग नहीं होने पर ही जीवात्मा को मोह (अज्ञान) प्राप्त होता है और जगत्सर्ग-(सृजन) होता है तथा क्रोधादि उत्पन्न होते हैं जिस तरह तमो योग से आलस्य-प्रमाद आदि उत्पन्न होते हैं उस प्रकार रजो योगतः जगत्प्रवृत्ति जनक धर्मादि कर्म भी उपपन्न होते है। आत्मा का तमोयोग आत्मवृत्ति के अनुरोध से नहीं होता अपितु अनात्मवृत्ति के अनुरोध से प्राप्त होता है। (वृ.उ.भा.वा. १/४/१३२१)

आत्मा में अध्यस्त देहादि का आत्मरूप से प्रतीति अविद्या के कारण होता है क्योंकि जीवात्मा अविद्याद्वारि है—पराञ्चरवानि व्यतृणत्स्वयम्भूर्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मनि। (श्रुति) विषय अवलोकन में नेत्र आदि अविद्यात्मक करण होने के कारण ये अविद्याद्वारि कहे जाते हैं वस्तुतस्तु आत्मा में अनात्म वस्तु का सम्बन्ध सम्भव नहीं है तथा अविद्याद्वारि जीवात्मा के होने से वैसी प्रतीति सम्भव होती है। जैसे—'सुक्तौ इदं रजतम' स्थल में सुक्ति में न तो रजत था, न है और न हो सकता, तथापि सुक्ति अधिष्ठान के ज्ञान न होने से सुक्ति

इदमविद्यामहानिद्रा संवीत मनसामिता।
जन्मादि विक्रियाषट्क स्वप्नदर्शन विभ्रमः।।१३२७।।

रसः

१. प्रतीयमानः। भट्टलोल्लटः।
२. चर्व्यमाणः। श्रीशंकुकः।
३. भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमय।
४. संविद्विशन्ति सतत्त्वेन भोगेन भुज्यते। भट्टनायकः।
(विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः)। (भरत सूत्रम्)

में रजत प्रतीति देखी जाती है। उसी प्रकार सर्वाधिष्ठान ब्रह्म विषयक अज्ञान के फलस्वरूप इदमंश (आत्मा) में प्रपञ्च (देह) प्रतीति होती है। (वृ.उ.भा.वा. १३२४)

इदमंश विषयक अज्ञान ही महानिन्द्रा है उस महानिद्रा से संवीत (आच्छादित) मन ही जन्मादि षड्विध विक्रिया को स्वप्न में दृष्ट वस्तु के सत्य के समान सृजन करता है परन्तु वह सृजन पारमार्थिक नहीं होते। (वृ.उ.भा.वा. १३२७)

'रसः' उपर्युक्त मूल के रस सिद्धान्त के सम्बन्ध में कुछ साहित्यिक परिचय संक्षेप में दिया जा रहा है ताकि पाठक के लिये उपकारी हो सके। आचार्य भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में रस और उसकी निष्पत्ति के सम्बन्ध में उल्लेख किया है। भरतमुनि के रससूत्र की व्याख्या में ही उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपनी शक्ति लगायी और उसके परिणामस्वरूप रस सम्प्रदाय—१. उत्पत्तिवाद, २. अनुमितिवाद, ३. भुक्तिवाद, और ४. अभिव्यक्तिवाद के रूप में चार सिद्धान्त का विकास हुआ। भरत मुनि के रससूत्र—'विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' यहाँ निष्पत्ति शब्द के अर्थ की व्याख्या में जो चार रस सम्प्रदाय के विकास हुए, उनमें भट्टलोल्लट के मत में 'निष्पत्ति' का अर्थ उत्पत्ति, शंकुक के मत में 'अनुमिति', भट्टनायक के मत में 'भुक्ति' और अभिनवगुप्त के मत में 'अभिव्यक्ति' अर्थ ग्रहण हुए। उन्हीं मतों को लक्ष्य कर उनके मतों में रस स्वरूप को आगे कहा जा रहा है—

विभावों अर्थात् रस के आलम्बन तथा उद्दीपन के कारणभूत ललना (आलम्बन विभाव) और उद्यान आदि से रति आदि (स्थायी) भाव उत्पन्न होते है, रति आदि के उत्पत्ति के कारणभूत कटाक्ष, भुजांक्षेप आदि अनुभावों से प्रतीति के योग्य किया गया और सहकारीरूप निर्वेद आदि सहचारिभावों से पुष्ट हुआ मुख्यरूप से अनुकार्यरूप राम आदि में और उनके स्वरूप का अनुकरण करने से नट में प्रतीयमान अर्थात् आरोप्यमाण रत्यादि स्थायीभाव ही रस कहा जाता है। (भट्टलोल्लट) शंकुक का यहाँ मत है कि—नट कृत्रिमरूप से अनुभाव

स च न कार्यः, नापि ज्ञाप्यः, अपितु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः। आलोकिकः। काव्यप्रकाशः ४ उल्लासे।

आदि का प्रकाशन करता है। परन्तु उनके सौन्दर्य के बल से उनमें वास्तविकता सी प्रतीत होती है। उन कृत्रिम अनुभाव आदि को देखकर सामाजिक, नट में वस्तुतः विद्यमान न होने पर भी उसमें रसका अनुमान कर लेता है और अपनी वासना के वशीभूत होकर उस अनुमीयमान रस का आस्वादन (चर्वण) कर लेता है। (श्रीशंकुक) यहाँ भट्टनायक का मत है कि—रस की निष्पत्ति न तो अनुकार्य राम में होती है और न ही अनुकर्त्ता नट आदि में होती है। अनुकार्य राम और अनुकर्त्ता नट दोनों तटस्थ है अर्थात् उदासीन है। अतः उनको रसानुभूति नहीं होती है। वास्तविक रसानुभूति सामाजिक को होती है। उसका उपपादन किसी व्याख्याकार ने नहीं किया हैं। भट्टलोल्लक ने मुख्यरूप से तटस्थ राम आदि में और गौणरूप से तटस्थ नट में रस की उत्पत्ति मानी है, परन्तु इसमें सामाजिक का स्थान ग्रहण नहीं किया गया। अतः 'ताटस्थ्येन रसोत्पत्ति' मानने वाले भट्टलोल्लक का अभिकथन प्रकृत प्रसंग में ठीक नहीं है। श्रीशंकुक ने 'तटस्थ' नट में रस की 'अनुमिति' मानी है और उसके द्वारा संस्कारवश सामाजिक की रस-चर्वणा का उपपादन करने का यत्न किया है। परन्तु अनुमिति के परोक्षज्ञानरूपता होने के कारण साक्षात् रस का आस्वादन की अनुभूति नहीं होती। अतः यह अनुमिति सिद्धान्त 'भुक्तिवाद' उपर्युक्त नहीं है। इसलिए 'न ताटस्थ्येन रस उत्पद्यते, न प्रतीयते' अर्थात् अनुकार्यगत और अनुकर्तृगत रूप से न रस की उत्पत्ति होती है, और न प्रीतिति अथवा अनुमिति होती है। यहाँ 'न प्रतीयते' से शंकुक और 'न उत्पद्यते से भट्टलोल्लक का निराकरण (खण्डन) किया गया। (भट्टनायक) प्रसंगात् यहाँ रस का चौथा सम्प्रदाय अभिव्यक्तिवाद को भी कहना उपयुक्त होगा। अभिव्यक्तिवाद के आचार्य अभिनवगुप्त का प्रकृत प्रसंग में कथन है कि—सामाजिक में ही रस की अभिव्यक्ति होती है। इन्होंने रस की स्थिति को 'तटस्थ' राम या नट में न मानकर सामाजिक आत्मगत मानी है और सामाजिक में रस की उत्पत्ति या अनुमिति को अस्वीकार कर अभिव्यक्ति (निष्पत्ति) को स्वीकार करते है। (अभिनवगुप्त) आचार्य भरत का तो रसोत्पत्ति के सम्बन्ध में कहना है कि विभाव-अनुभाव और संचारिभाव के संयोग (सम्बन्ध) से रस की निष्पत्ति होती है। सूत्र—'विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'।

काव्यप्रकाश के लेखक आचार्य मम्मट का प्रकृत प्रसंग में अलग ही कथन है—आचार्य मम्मट 'स च न कार्यः नापि ज्ञाप्यः' कहकर पूर्व के आचार्यो के कथन में दोष उपस्थित कर स्वकथन प्रस्थापित करते हैं कि 'वह रस निष्पत्ति विभाव-अनुभाव-संचारिभावों से अभिव्यञ्जित चर्व्यमाण कोई अलौकिक ही है। क्योंकि अगर कार्य मानते है तो विभावादिकों के नाश हो जाने पर, जैसे कुम्भकार के मृत्यु हो जाने पर भी घट की सत्ता बनी रहती है उसी प्रकार रस की सत्ता बनी रहेगी। जबकि ऐसी होती नहीं। इसलिए रस कार्य नहीं

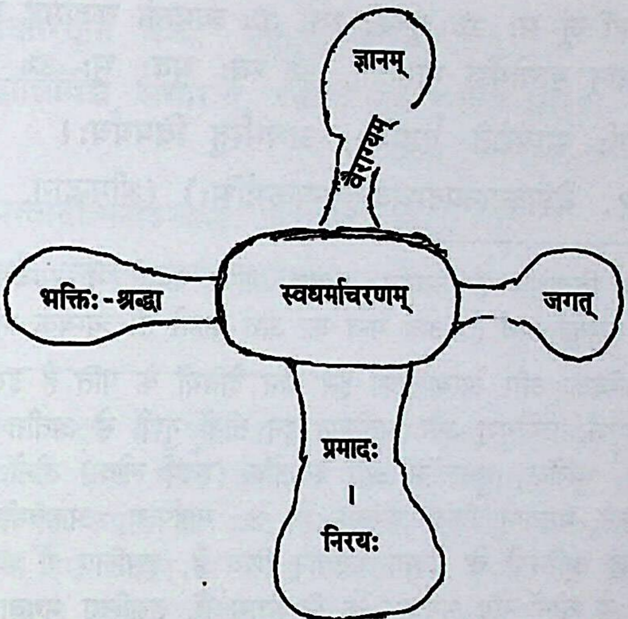
तद्ग्राहकं न निर्विकल्प न सविकल्पम्।
व्यक्तः स विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः।।

विद्याऽऽत्मनि भिदाभावः। प्राणायामः परं बलम्।
दुःखं कामसुखापेक्षा। पण्डितो बन्धमोक्षवित्।
बन्धुर्गुरुरहम्। पन्था मन्निगमः।
गृहं शरीरं मानुष्यम्। उत्पथः चित्तविक्षेपः।
कामत्यागः तपः। धर्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तः।
धर्म इष्टं धनम्। ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम्।
(श्रीमद्भाग. ११/१९)

है। इसी प्रकार रसानुभूति से पूर्व रस की विद्यमानता न रहने के कारण वह ज्ञाप्य नहीं हो सकता। क्योंकि वह रस विभावादि से व्यञ्जित और आस्वादयोग्य वर्तमानकाल (आस्वादन काल) में ही होता है। उससे पूर्व उसकी उपस्थिति का अनुभव नहीं होता। अतः रस के 'व्यञ्जक' हेतु विभावादि उन दोनों (कारक एवं ज्ञापक) से विलक्षण है अत एव वह अलौकिक है।

रस की प्रतीति में विभावादि परामर्श की प्राधान्यता होने के कारण निर्विकल्पक ज्ञान भी उसका ग्राहक नहीं हो सकता और आस्वाद्यमान अलौकिक आनन्दमय रस के होने से तथा उसके स्ववेदन सिद्ध स्वरूप होने से सविकल्पक ज्ञान भी उसका ग्राहक नहीं हो सकता। इस प्रकार निर्विकल्पक तथा सविकल्पक उभयाभाव ग्राहता से लोकोत्तरता को ही बोधित करेगा अतः रस की विलक्षणता एवं आलौकिकता के स्वीकार्यता में उसका विरोधित्व नहीं है। अतः विभावादि से व्यक्त जो स्थायीभाव है वही रस है ऐसा स्वीकार करना चाहिये। (काव्यप्रकाश ४ उल्लास)

हे उद्धव जी! विद्या आत्मा और अनात्मा (शरीरादि) का विवेक है। दुःख सुख की हितैषी (बन्धु) गुरु स्वरूप परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण मैं ही हूँ। गृह मानव का स्वयं शरीर ही है। कामनाओं का त्याग ही तप है। इष्ट (परमात्मा श्रीकृष्ण) ही धन है। बल प्राणायाम (अन्तःकरणशोधन रूप) क्रिया है। आत्मबन्ध से अपने को छुटकारा कराने वाला ही पण्डित है। पन्थ (मार्ग) वही है जो परमात्मा श्रीकृष्ण को प्राप्त कराने वाला हो। उन्नतमार्ग उन्नत चित्त का विक्षेप (नाश) ही है। परमात्मा श्रीकृष्ण में अनन्य भक्ति ही परम धर्म है। आत्मा (जीवात्मा) परमात्मा की ऐकात्म्य अपरोक्ष बोध ही ज्ञान है। शेष सब व्यर्थ और आविद्यक है। (श्रीमद्भाग. ११/१९)



अस्मिन् लोके वर्तमानः, स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति, मद्भक्तिं वर यदृच्छया।।

(श्रीमद्भाग. ११/२०/११)

ॐअस्य श्री महमृत्युञ्जय मन्त्रस्य– वामदेवकहोलवशिष्ठा ऋषयः। पंक्तिर्गायत्री-अनुष्टुप् छन्दासि। श्रीसदाशिवमहामृत्युञ्जयरुद्रादेवताः। ह्रीं शक्तिः। श्रीं बीजम्। अभीष्ट सिद्धये जपे विनियोगः।।

हे उद्धव जी! प्रतिनिषिद्ध कर्म तथा काम्य कर्म से तो मानव को अधोगति ही प्राप्त होती है, इसलिए उन्हें उन अधम गति से निवारण हेतु इसी लोक (शरीर) में अर्थात् वर्तमान लोक (शरीर) में ही श्रुति-स्मृति द्वारा बोधित कर्म को सम्पन्न कर अन्तःकरण को शुद्ध कर लेना चाहिये और अन्तःकरण (मन) के शुद्ध हो जाने से वैराग्य की प्राप्ति होती है जिससे भक्ति लक्षणा उत्तम ज्ञान का उदय होता है जो जगत् प्रतीति (मिथ्याज्ञान) को निवृत्त कर देती है तथा परमात्मा श्रीकृष्ण से अपरोक्ष साक्षात् की हेतु होती है। अपरोक्ष आत्मपरमात्म्यैक बोध हो जाने पर परमेश्वर श्रीकृष्ण स्वरूप से ही जगत् दृश्य दिखाई देने लगता है तथा सकल दुःख की निवृत्ति हो जाती है। (श्रीमद्भाग. ११/२०/११)

उपर्युक्त महामृत्युञ्जय मन्त्र है, इस मन्त्र के वामदेव कहोल और वशिष्ठ ऋषि हैं, पंक्ति-गायत्री और अनुष्टप् छन्द हैं तथा सदाशिवमहामृत्युञ्जयरूद्रदेवता हैं एवं ह्रीं शक्ति है, और श्रीं यह बीज है। इस मन्त्र का अभीष्ट सिद्ध हेतु विनियोग है। विनियोग शब्द से

मन्त्रः–ॐ हौं जूं सः ॐ भूर्भ्वः स्वः ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनं। उर्वारुकमिव बन्धनान् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्, ॐ स्वः भुवः भूः ॐ सः जूं हौं ॐ।।

धर्मः सम्पद्यते [१]षड्भिः, अधर्मस्तु विपर्ययः।

(१. देशकालपदार्थकतृमन्त्रकर्मभिः) (श्रीमद्भाग. ११/२१/१५)

प्रयोजन या सम्बन्ध विवक्षित है अर्थात् अभीष्ट प्राप्ति कराने में सम्बन्ध का काम करता है। ऐसा सामान्यतः इसका अर्थ है। अब मन्त्र का अर्थ कहते हैं। त्र्यम्बक का कई अर्थपक्ष है—

१. अम्बा-अम्बिका और अम्बालिका इन तीन देवियों के पति हैं इसलिए भगवान् शिव त्र्यम्बक हैं। २. रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण इन तीनों गुणों से अतीत हैं इसलिए भगवान् शिव त्र्यम्बक हैं। ३. भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक (स्वर्ग लोक) तीनों लोकों के अधिपति (नियन्ता) हैं, इसलिए भगवान् शिव त्र्यम्बक हैं। ४. गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि, ये तीन यज्ञीय प्रसिद्ध अग्नियों के देवता भगवान् शिव हैं, इसलिए ये त्र्यम्बक हैं। ५. ऋग्-यजुः और सामवेद, ये तीनों वेद भगवान् के निःश्वास हैं, इसलिए भगवान् शिव त्र्यम्बक हैं, इत्यादि। उस त्र्यम्बक शिव की मैं आराधना-वन्दना-यजन-पूजन करता हूँ। वे भगवान् शिव सुगन्धि (सुन्दर गन्धों) से युक्त हैं। इसलिए उसके वर्द्धन करने वाले हैं।

पक्षान्तर अर्थ—ज्ञानियों-योगियों-कर्मठों-भक्तों के लिए सुगम मार्ग स्वरूप (सुगं = सुगमं मार्गं दधाति ज्ञानिनां भक्तानां वा कृते यस्मात् तस्मात् स शिवः सुगन्धिः) हैं, इसलिए उस शिव को प्रणाम-वन्दनादि करता हूँ। इस यजनादि वन्दनादि का प्रयोजन बतलाते हैं—मैं इसलिए वन्दनादि करता हूँ कि मुझको (मां) मृत्यु (मृतात्) से छुड़ा (मुञ्च) दो। परन्तु वह किस प्रकार? तो याजक कहता है—जैसे ककड़ी (उर्वारुक) पक जाने पर अपने डण्ठल से स्वयं छूट जाता है। उसी प्रकार मुझे मृत्यु से छूटकारा दिलाओं। अथवा मामृतात् (मा + अमृतात्) मुझको अमृत प्रदान कर मृत्यु से छुटकारा दो। इस अर्थ में (उर्वारुकमिव) दृष्टान्त में इस प्रकार अर्थानुसन्धान करना होगा कि अमृत जल वाचक भी है और ककड़ी की एक-छोटी जाति खेतों में अपने आप हुआ करती है जिसे गुर्मी कहते हैं। वह ग्रीष्म ऋतु में उगता है और वर्षा ऋतु में पक जाता है तथा वर्षा होने पर पकी हुई गुर्मी अपनी लता के डण्ढ़ल से छूट जाती है। उसी गुर्मी के जमान मुझे मृत्यु से छुड़ा दो। (महामृत्युञ्जय मन्त्र)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—हे उद्धव! मन्त्र की शुद्धि सद्गुरु के श्रीमुख से उच्चरित श्रवण और उसका उसी रूप से धारण रूप होता है। कर्म की शुद्धि ईश्वरार्पणरूप होता है। इस प्रकार देश काल द्रव्य कर्तृ मन्त्र और कर्म की शुद्धि होने पर धर्म उत्पन्न होते हैं, और इसके विपरीत (विपर्यय से) अधर्म उत्पन्न होते हैं तथा धर्मादिकों के भेद बुद्धि के बाध में ही शास्त्रादिक कथन का तात्पर्य है न कि भेद बुद्धि के हेतुत्व में है। अतः देशकालादि से परिशुद्ध कर्म को ईश्वरार्पण कर परमात्मा के मेरे अव्यय पद को प्राप्त किया जा सकता है। (श्रीमद्भाग. ११/२१/१५)

अहंकारकृतं बन्धं, आत्मनोऽर्थविपर्ययः।
विद्वान्निर्विद्य संसारात्, चिन्तां तुर्येस्थितस्त्यजेत्।।

(श्रीमद्भाग. ११/२१/१५/१३/२९)

असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावनां तत्कृताभिदा।
गतयो हेतवश्चास्य, मृषास्वप्नदृशो यथा।।

(श्रीमद्भाग. ११/१३/३१)

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव को पुनः अन्य प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—हे उद्धव जी! अहंकार से ही जीवात्मा बन्ध प्राप्त करता है क्योंकि जीवात्मा के अहंकार से आवृत आनन्दमय आत्मा विपर्यय रूपता को प्राप्त कर अनेक अनर्थों को जन्म देता है। अतः विद्वान् को चाहिये कि इस अज्ञान से उत्पन्न अनर्थ रूप संसार का चिन्तन न करे और उस संसार के प्रति प्राप्त अहंकार (चिन्ता) और तत्कृत भोगादि चिन्ता का परित्याग कर दें। क्योंकि जब तक इस जगत् के अहंकारादि चिन्ता का परित्याग नहीं होता तब तक सभी कर्म और ज्ञानादि व्यर्थ ही होते हैं। इसलिये संसार की चिन्ता को त्याग कर तुर्य (परमात्मा) में स्थित हो जाना चाहिये।

(श्रीमद्भाग. ११/२१/१५/१३/२९)

पुनश्च भगवान् आगे कहते हैं कि—हे उद्धव जी! इस आत्मा से जगद्भाव भिन्न और असत्त्व (मिथ्या) ही है, और असत्त्व (मिथ्या) जगत् से पृथक् यह आत्मा सत्त्व (भाव) स्वरूप वाला है अतः त्रैकालिक सत्य आत्मा ही है शेष जगत् मिथ्या (असत्य) है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपिदृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।। (गी. २/१६)

गीता के दूसरे अध्याय के सोलहवें मन्त्र (श्लोक) में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अर्जुन से कहते हैं कि—असत् वस्तु की तो सत्ता नहीं होती और सत् का अभाव नहीं होता है इस प्रकार असत् और सत् के सत्ता और भाव को तत्त्वज्ञानी लोग सम्यग् जानते हैं। और 'अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।। (गी. २/१७) यह आत्मा नाशरहित-अप्रेमय-नित्य स्वरूप है और शरीरादि जगत् तो असत् होने के कारण नाशवान् (अभाव) ही है इसलिये तुम इस असत् शरीरादि का मोह त्याग कर युद्ध कर। इसलिए हे उद्धव जी! गतयः = स्वर्गादिक फल और उसके हेतवः = कर्मादि मृषा (असत्) ही है। अर्थात् ये अविद्यावद्विषय ही है। कर्म और उससे प्राप्त फल स्वर्गादि अविद्या विषयक (अज्ञान विषयक) हैं अतः वह परमार्थोपादक नहीं है—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' कर्म के द्वारा स्वर्गादि प्राप्त जीवात्मा स्वर्गस्थित उत्तम भोग को भोग कर कर्मजन्य पुण्य क्षय होनें पर फिर मृत्युलोक को ही प्राप्त होते हैं। इसलिए कर्म और उसके फल

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा, मद्भावो वानपेक्षकः।

सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्वा, चरेदविधिगोचरः।। (श्रीमद्भाग. ११/१८/२८)

भक्त्याब्रह्मानपायिन्या, कारणमोपयाति सः। (श्रीमद्भाग. ११/१८/४५)

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो, नचिरात्समुपैति माम्। (श्रीमद्भाग. ११/१८/४६)

योगास्त्रयः मया प्रोक्ताः– ज्ञानं कर्म भक्तिः-नृणां श्रेयो विधित्सया। नान्योपायोऽस्ति कुत्रचित्।। (श्रीमद्भा. ११/२०/६)

अविद्या विषयक सिद्ध होने पर परमार्थ जनक नहीं है। परमार्थोपादक तो सद्गुरुतः अथवा शास्त्रतः 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' नेह नानास्ति किञ्चन', 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'ईश्वरो हि सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' इत्त्यादि श्रुति स्मृति वाक्य श्रवण-मनन-निदिध्यासमादि हेतुक ही है। (श्रीमद्भाग. ११/१३/३१)

हे उद्धवजी! परमात्म प्रसन्नार्थ अथवा ज्ञानार्थ परमहंस वृत्ति का आश्रय ही उत्तम मार्ग है। वह मेरा भक्त अथवा ज्ञानी बाह्य जगत् वस्तुओं से विरक्त होकर अथवा ज्ञाननिष्ठ होकर अथवा जगत् सम्बन्धो से अनपेक्ष तथा मोक्षादि से भी अनपेक्ष अथवा भक्ति मार्गाश्रयी भक्त होकर लिङ्ग (त्रिदण्डादि) सहित सम्पूर्ण आश्रम तथा उसके धर्मों को त्याग कर तथा उन-उन आश्रम में स्थित आसक्तियों को भी त्यागकर यथोचित धर्म का आचरण करें। परमहंसों के लिये त्रिदण्डादि लिंग-आश्रम तथा उसके प्रति आसक्ति परमात्म प्राप्ति में बाधक ही है। अतः सभी आश्रमों-कर्मों तथा उसमें न्यस्त आसक्तियों के त्याग से सर्वत्याग की स्थिति होती है और यही स्थिति परमात्मस्थिति है जो परमोपलब्धि है। (श्रीमद्भाग. ११/१८/२८)

हे उद्धवजी! अनपायिनी भक्ति अथवा ज्ञानविज्ञान सम्पन्न होकर जो मुझ जगत् के उत्पत्ति-पालन एवं लय के कारणभूत परमात्मा ब्रह्म को सर्वतोभावेन भजता है वह शीघ्र ही मुझ (ब्रह्म) को प्राप्त कर लेता है। (श्रीमद्भाग. ११/१८/४५-४६)

हे उद्धव जी! मुझ परमात्मा श्रीकृष्ण द्वारा योग (उपाय) भी तीन प्रकार के कहे गये हैं। वे योग (उपाय) ज्ञान-कर्म और भक्ति भेद से तीन प्रकार के हैं। साधक ज्ञानी-भक्त आदि अपनी मुक्ति की इच्छा से किसी का भी वरण कर आत्मोद्धार कर सकते हैं। यहाँ अधिकारी के भेद से भेद जानना चाहिये, क्योंकि 'नृणामेकोगम्यः त्वमसि पथसामर्णवमिव' (शिवमहिम्न स्तोत्र) साधकों के कोई भी मार्ग (साधन) हो, वे सभी एक परमात्मा ब्रह्म पद को प्राप्त कराने वाले होते हैं। जैसे सभी नदियों का गम्यस्थान समुद्र ही होते हैं, उसी तरह सभी ईश्वरपरायण साधन परमात्मा को ही प्राप्त कराने वाले होते हैं। अतः तीनों साधन के अतिरिक्त कोई अन्य साधन (उपाय) मुझ परमात्मा को प्राप्त कराने वाले नहीं हैं। (श्रीमद्भाग. ११/२०/६)

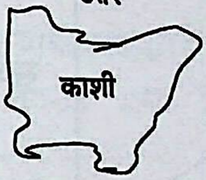
यतो यतो निवर्तेत, विमुच्यते ततस्ततः।
एषधर्मो नृणां क्षेमः, शोकमोहभयापहः।। (श्रीमद्भाग. ११/२१/१८)

तस्य स्मरणमात्रेण निर्धनोधनवान् भवेत्।
सुमन्तुर्द्विजः।

उत्तरे

भीमचण्डीसती
तस्या स्मरण मात्रेण
जयी भवति सर्वदा

पश्चिमे



पूर्वे

व्यासो नारायणः
तस्य स्मरण मात्रेण
अज्ञानी ज्ञानवान्भवेत्।

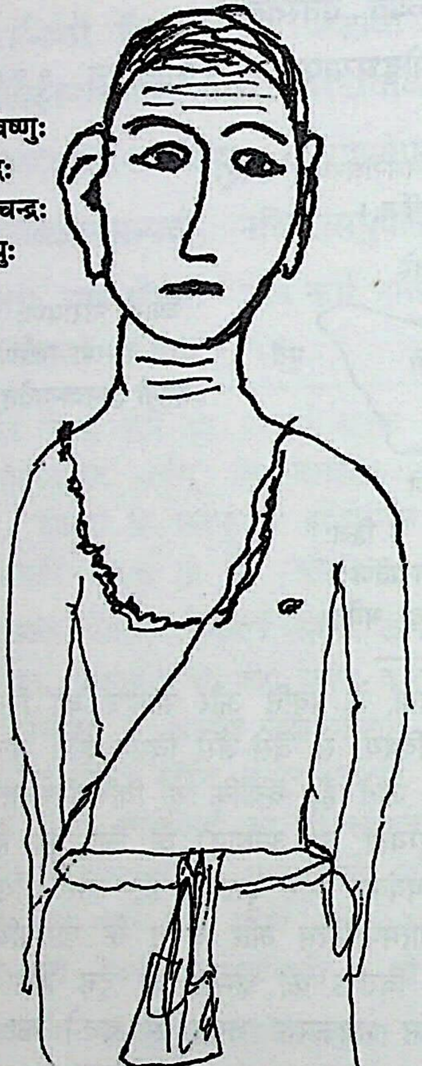
दक्षिणे

कुक्कुटो नाम वै द्विजः
तस्य स्मरणमात्रेण
दुःस्वप्नः सुखदो भवेत्।

हे उद्धवजी! गुण-दोष-नियम और विधियों के प्रवृत्ति और संकोच की निवृत्ति में ही तात्पर्य घटित होते हैं। उपासक को एक-एक विषयों से जैसे-जैसे विराग होते जाते हैं वैसे-वैसे उन-उन विषयों से बन्धता निवर्तन होते जाते हैं, क्योंकि ये विधि-निषेधात्मक श्रुति-स्मृति वाक्य द्वारा साधकों में क्षेम भरण (योग्यता का आधान) के लिए ही होते हैं। ये क्रोध-मोह और भय से परिपुष्ट जगत् बहुत भयंकर और दुस्त्यज हैं, और जीवात्माओं के बन्ध रूप हैं। अतः इससे मुक्ति के लिए आत्मपरमात्म और जगत् के पारमार्थिक स्वरूप के विचारण से अनात्म (असत्) वस्तुओं से विरक्ति की क्षमता का दृढ़ होना आवश्यक है। अनात्म विषयों से विरक्तिरूप क्षेम ही इन भयकारक जगत् से बचने का उपाय है। (श्रीमद्भा. ११/२१/१८)

यहाँ श्रीकाशी तीर्थ के चारों ओर (चतुर्दिक) पौराणिक महत्ता को दर्शाकर उससे अवगत कराने का प्रयास किया गया है—

मोक्षदायिनी श्रीकाशीधाम के पूर्व भाग (दिशा) में स्वयं नारायण व्यास के रूप में स्थित हैं। आज भी पूर्वभाग में वेदव्यासनामक स्थान धार्मिक-ज्ञानी और तपस्वियों के लिये वही महत्त्व रखता है और वहाँ माघ महीने में असंख्य लोग पहुँच कर अपनी जिज्ञासा के अनुसार आराधना करते हैं। उन श्री नारायण व्यास जी के दर्शन से अज्ञानी भी ज्ञानवान् हो जाते हैं ऐसी शास्त्रीय मान्यता है। श्रीकाशीजी के पश्चिम भाग (दिशा) में जगज्जननी भगवती श्री भीमचण्डी जी का स्थान है, उन भगवती के दर्शन मात्र से शत्रुओं से पीड़ित भक्त विजय को प्राप्त करते हैं। श्री भीमचण्डी सती स्थान पर समय-समय पर विशेषकर काशी परिक्रमा और नवरात्रकाल में असंख्यलोग दर्शन-पूजन हेतु उपस्थित होते हैं। काशी



सर्वे रसाश्च भावाश्च,
तरङ्गा इव वारिधौ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति,
यत्र स प्रेम संज्ञकः।।
(चैतन्यचन्द्रोदये ३/८)

जी के उत्तर भाग में सुमन्तु नाम के ब्राह्मण का स्थान है। जिसके दर्शन करने मात्र से निर्धन लोग धनी हो जाते हैं, यह शास्त्रीय मान्यता है। यह स्थान वर्तमान में कपिलधारा नाम से प्रसिद्ध है। जो बहुत ही रमणीय है और समय-समय पर यहाँ लोग दर्शन-पूजन स्नानादि हेतु पहुँचते हैं। श्रीकाशीजी के दक्षिण दिग् भाग में कुक्कुट नामक द्विज का स्थान है जिसके दर्शन मात्र से दुःस्वप्न देखने वाले लोगों को उसके दुष्फल से मुक्ति मिल जाती है और वह सुखी हो जाता है। यह स्थान वर्तमान में श्रीदुर्गाजी के प्रसिद्ध मन्दिर के एक भाग में स्थित है। यहाँ नित्य हजारों लोग दर्शन-पूजन हेतु आते हैं तथा पर्व विशेष पर लाखों की भीड़ होती है।

प्रेममार्गी (भक्ति मार्ग में स्थित) साधक जब अपने इष्ट परमात्मा में एकात्मता में

निरन्तरं विचारो यः, श्रुतार्थस्य गुरोर्मुखात्।
तन्निदिध्यासनं प्रोक्तं, तच्चैकाग्रेण लक्ष्यते।। (अनुभू.प्र. १४/७)
अपरायत्त बोधोऽत्र, निदिध्यासनमुच्यते।
ध्यानशंकानिवृत्तयर्थं, विज्ञानेनेत्युदीरणात्।। (अनुभू.प्र. १४/२४)

वेदान्ताः अभिधावृत्यालक्षणयोपाधिद्वारा वाऽखण्डैकरसमेव जगत्कारण समान्यानुवादेन प्रतिपादयन्ति। (विवरण प्र.सं. ४/१)

लीन हो जाते हैं तो सभी भाव अर्थात् ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र देवगण तथा सूर्य-चन्द्र आदि नक्षत्रगण एवं वायु आदि महाभूत उनके भाव के तरङ्ग में उन्मज्जित (ऊपर तैरना) और निमज्जित (भीतर तैरना) होते रहते हैं। जैसे सागर में विप्लव से जल के तरङ्ग ऊपर नीचे होते रहते है उसी प्रकार उक्त साधक के उस अखण्ड भाव में सभी समाहित हो तदाकारता को प्राप्त होकर जलस्फुरण (तरङ्ग) के समान उत्प्लवित और अधोप्लवित होते हैं और जब साधकों की यह स्थिति हो जाती है तो उसी को प्रेम कहा जाता है।
(चैतन्यचन्द्रोदय ३/८)

जो गुरुमुख से श्रुत वाक्य के अर्थ को निरन्तर विचार किया जाता है उसे निदिध्यासन कहते हैं। गुरु मुख से श्रुत वाक्य क्या है? यह प्रश्न उठता है। उक्त का समाधान है कि गुरुमुख से मुमुक्षु अधिकारी साधक को 'तत्त्वमसि' नेह नानास्ति किंचन', 'अयमात्मा स्वयं ब्रह्म' और 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि श्रुति वाक्य का श्रवण प्राप्त होता है यही श्रुत वाक्य है और उक्त श्रुत वाक्य का अर्थ क्रमशः 'वह ब्रह्म तुम ही हो', 'यहाँ जगत् में नाना वस्तु नहीं है', यह आत्मा स्वयं ब्रह्म ही है' और 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इत्यादि श्रुतार्थ है। उक्त श्रुतार्थ पर निरन्तर विचार करना कि मैं यह शरीर नहीं हूँ, यह शरीर अनात्म वस्तु है अतः असत् है, आत्मा सत् है नित्य है, प्रकाशक है, साक्षी है और मैं वही आत्मा हूँ और आत्मा ही ब्रह्म है तथा मैं ब्रह्म ही हूँ इत्यादि प्रकारक विचार पूर्वक उक्त विचार का निरन्तर ध्यान बनाये रखना ही निदिध्यासन है।
(अनुभू.प्र. १४/७)

जगत् का कारण अखण्डैकरस 'ब्रह्म' ही है यह अभिधावृत्ति अथवा कहीं लक्षणा वृत्ति द्वारा वेदान्त ने ब्रह्म के स्वरूप' का सामान्येन प्रतिपादन किया है।

ज्ञानानन्दशब्दौ वृत्यंशं परित्यज्य आनुकूलतया स्फुरन्तीं व्यक्तिं प्रतिपादयतः। वृत्तित्यागांशे लक्षणा,. इतरांशे मुख्यावृत्तिः।

एक सत्यानन्तशब्दाः–स्वागतभेदाभाव मिथ्यात्वाभावसजातीयविजातीय-द्वितीयाभावाभिधान द्वारेण तत्र लक्षणया वर्तन्ते। सर्वज्ञः सर्वशक्तिरित्यादि शब्दाश्चानिर्वचनीयान्न प्रपञ्चोपाधितया तत्र वर्तन्ते। 'अयमात्माब्रह्म' 'तत्तमसि' शब्दास्वभागत्यागलक्षणया ब्रह्मण्येव वर्तन्ते। एवं सर्वे वेदान्ताः अखण्डैकरस ब्रह्म प्रतिपादकाः–। (तत्तुसमन्वयात् ४)

मां विधत्ते[1]ऽभिधत्ते[2] मां, मां विकल्प्या[3]पोह्यते त्वहम्।
एतावान्सर्ववेदार्थः, शब्दमास्थाय मां भिदाम्।।
मायामात्रमनूद्यान्ते, प्रतिषिध्य प्रसीददति। (श्रीमद्भा. ११/२१/४३)
(१-कर्मकाण्डे। २. उपासनाकाण्डे। ३. ज्ञानकाण्डे)

'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस श्रुति वाक्य में ज्ञानानन्द शब्द में वृत्ति के अंश को त्यागकर उसके अनुकूलता से स्फुरित व्यक्ति (ज्ञान) को ही ज्ञान और आनन्द शब्द प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि श्रुति का तात्पर्य आत्म-परमात्मैक बोध में ही है। इसलिये वृत्यंश में जहदजहद् (भागत्याग) लक्षणा और उससे इतर चेतनांश मुख्यवृत्ति को वेदान्त सिद्धान्त ने स्वीकार किया है। इसी तरह अद्वितीय सत्य और अनन्त श्रुति वाक्यों में भी स्वगत (आत्मगत) भेद का अभाव-अद्वितीय शब्द से कहा गया और सत्य शब्द से मिथ्यात्व के अभाव को कहा गया तथा अनन्त शब्द से सजातीय-विजातीय द्वितीय (अनेक) के अभाव के अभिधानद्वारेण वहाँ लक्षणावृत्ति के माध्यम से ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है ताकि ब्रह्म के स्वरूप लक्षण अतिव्याप्त्यादि दोष रहित हो सके और श्रुति तात्पर्यीभूत ब्रह्मात्मैक बोध में सुलभता हो सके। इसी तरह सर्वशक्ति सम्पन्न ब्रह्म के स्वरूप के प्रतिपादक श्रुति वाक्य के द्वारा अनिर्वचनीय ब्रह्म का प्रतिपादन होने के कारण ब्रह्म की उपाधि प्रपञ्च को निषेधित करना ही वहाँ श्रुति का अभिप्राय है। 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' आदि आत्मपरमात्मैक साधक श्रुति वाक्य में आत्मा से इतर को परित्यजित करने के उद्देश्य से भागत्यागलक्षणा को अंगीकृत कर कहा गया, ताकि श्रुति वाक्य के तात्पर्य ब्रह्मबोध कराने में परिघटित हो सके। (तत्तुसमन्वयात्)

हे उद्धव जी! जो लोग यज्ञ करते हैं और उसमें विभिन्न देवताओं के उद्देश्य से जो आहुतियाँ देते हैं वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। क्योंकि यज्ञरूप विष्णु मैं (कृष्ण) ही हूँ, यथा श्रुति है 'यज्ञो वै विष्णुः' विष्णु यज्ञ ही है। उसी प्रकार जो उपासना करते हैं,

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'।

प्रकृष्ट प्रकाशश्चन्द्रः।

एक एव सर्वकल्पनाधिष्ठानभूतश्चिदेकरस आत्मा।

प्रत्येकं तत्तत्पुरुषदृष्ट्या स स एवात्मा।

प्रमाणकृतस्फुरणातिशयस्य स्वप्रकाशे ब्रह्मण्यसंभावात् फलव्याप्यत्वाभाव-लक्षणमविषयत्वं-

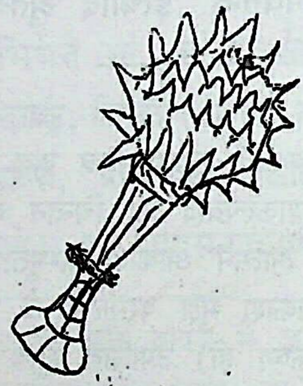
'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतयः प्रत्यपीपदन्'।

उस उपासनाक्रम में तत्तद्देवता के स्वरूप का जो पूजा अर्चना करते हैं—ध्यान करते है वे हमारी ही पूजादि करते हैं, क्योंकि मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है और इसी प्रकार जो ज्ञानोपासना करते है और आकाशकल्पब्रह्म का चिन्तन करते हैं वे भी मेरी ही उपासना करते हैं क्योंकि—'एतस्मात् वै आत्मन आकाश सम्भूतः' (श्रुति) परमात्मा (ब्रह्म) से ही आकाश की उत्पत्ति है अतः आकाश मुझ परमात्मा से भिन्न नहीं हैं। ये सभी प्रकार की उपासनाओं से एक मैं ही (श्रीकृष्ण ही) उपासित होता हूँ यही वेद का अर्थ (प्रयोजन) है। ये उपासक लोग शब्द (वेद) में स्थित होकर अर्थात् मेरे परमार्थ का आश्रय लेकर मायामात्र वस्तु को ये ब्रह्म नहीं हैं अर्थात् असत् वस्तु है, ऐसा सुनिश्चित करते है। इसके लिए 'नेह नानास्ति किञ्चन' श्रुति वाक्य शब्द समूह रूप (वेद) का आश्रय लेते हैं, जो ब्रह्म के अनेकत्व भ्रम बुद्धि को निषेधित करता है। इस प्रकार असत् तत्त्व को अनुद्य (कहकर) परमार्थ बोधानन्तर जीवात्मा आनन्द ब्रह्म को प्राप्त करता है अर्थात् निर्व्यापार होता है जिससे आत्मप्रसादन प्राप्त होता है। (श्रीमद्भाग. ११/२१/४३)

ब्रह्म सत्य-ज्ञान और अनन्त स्वरूप है जैसे प्रकृष्ट (अतिधवल) प्रकाश चन्द्र का स्वरूप है ऐसा लौकिक शब्दव्यवहारार्थ स्वीकृत अर्थ है कि जो चन्द्र है वही प्रकाश है तथा दोनों का अभेद कथन ही यहाँ अभिप्राय है। उसी प्रकार सत्य ज्ञान और अनन्त स्वरूप ब्रह्म का औपनिषदिक स्वीकृत तात्पर्यार्थ अभेदन्वय ही है। क्योंकि सभी प्रकार के संकल्पनाओं के अधिष्ठानभूत एकरस चिदात्मा अद्वितीय ब्रह्म ही है। प्रत्येक वस्तुओं में जो पुरुष (आत्मा) दृष्टि से गृहीत तत्त्व है वह उस-उस वस्तुओं की आत्मा ही है। प्रमाणकृत जो स्फुरणातिशय है उसकी जो स्वप्रकाशकता सामर्थ ब्रह्म में ही संभव हो सकता है ब्रह्म से इतर वस्तु में नहीं। क्योंकि उसमें फलव्याप्यत्व के अभाव के कारण लक्षण (स्वभाव) विषय नहीं हो सकता। इसलिए कि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' श्रुति वाक्य उसी को निर्दिष्ट कर कहती है कि उस ब्रह्म को वाणी विषय नहीं कर सकती। उस ब्रह्म को विषय करने के लिए जब वाणी प्रवृत्त होती है तो वह निष्फल होकर लौट जाती है, इत्यादि।

नित्यमुक्तं ब्रह्मैव स्वाविद्यादिप्रतिबिम्वितं सज्जीवभावमापाद्य संसरति स्वविद्यया च मुच्यते। (विवरण प्र.सं. १/४/२)

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय, नान्यं गणयतः क्वचित्।
आस्ते न धीरवीस्य, भङ्गः सङ्गरकेलिषु।। (खण्डन ख.खा. १)
ब्रह्मज्ञान ब्रह्मास्त्र को कर में कर विद्वान्।
दूसरे को नहि देखते, किससे हो अपमान।। (टी.)

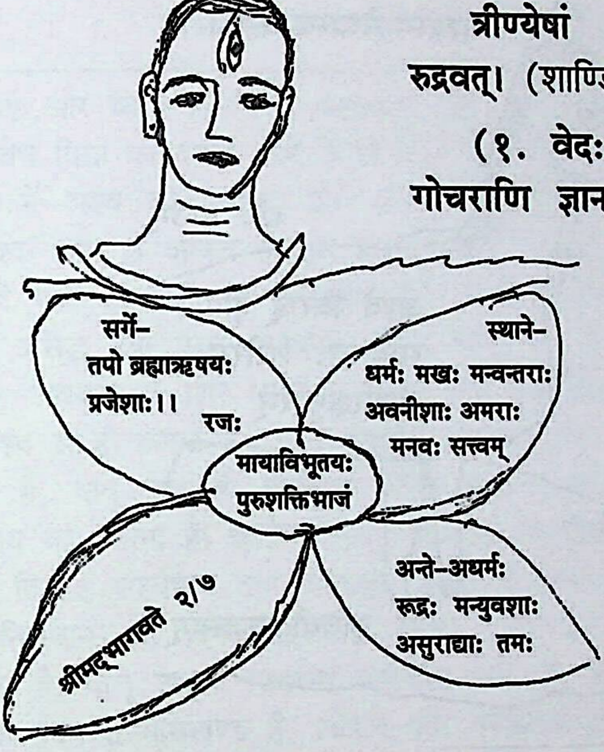


ब्रह्म तो नित्य ही है परन्तु जीव के अविद्यात्मक चित्त पटल पर प्रतिबिम्बित होकर अहं भाव को प्राप्त करके जब वह व्यवहृत होता है तो जीवात्मा की संज्ञा को प्राप्त करता है और शरीर में आत्मा का अध्यास प्राप्त कर वह 'अहं कर्ता-अहं भोक्ता' भावापन्न होकर (व्यवहार) करता है। यह अविद्या में प्रतिबिम्बन का फल होता है। परन्तु स्वविद्या (आत्म विषयक बोध हो जाने पर) वह मुक्त हो जाता है। जिस प्रकार दर्पण में प्राप्त स्वप्रतिबिम्ब को द्रष्टा स्वरूप भाव से ग्रहण कर व्यवहार करता है, उसी प्रकार प्रकृत विचार प्रसंग में भी जानना चाहिये। परन्तु उभयस्थल में भ्रम ही उभयज्ञान का कारक होता है। क्योंकि प्रतिबिम्ब (प्रतिच्छाया) बिम्ब (स्वात्मा) नहीं हो सकता यह अनुभव सिद्ध व्यवहार है।
(विवरण प्र. १/४/२)

एक ब्रह्मज्ञान को धारण कर लिया जाय और अन्य ज्ञान का संकलनाभाव हो जाय तो युद्धक्षेत्र की क्रीड़ा किससे होगी। इसलिये श्रुति ने कहा है 'न विभेति कदाचन' जब अखण्ड-अद्वितीय ब्रह्म बोध होगा तो अन्य के अभाव के फलस्वरूप विरोध किससे होगा? किसी से नहीं। 'तत्र को मोहः को शोकः एकत्वमनुपश्यतः' (श्रुति) वहाँ पर अर्थात् अद्वितीय ब्रह्म दृष्टि प्राप्त कर लेने वाले व्यक्ति को मोह कहाँ? शोक कहाँ? हो ही नहीं सकता।
(खण्डन ख. १, टी.)

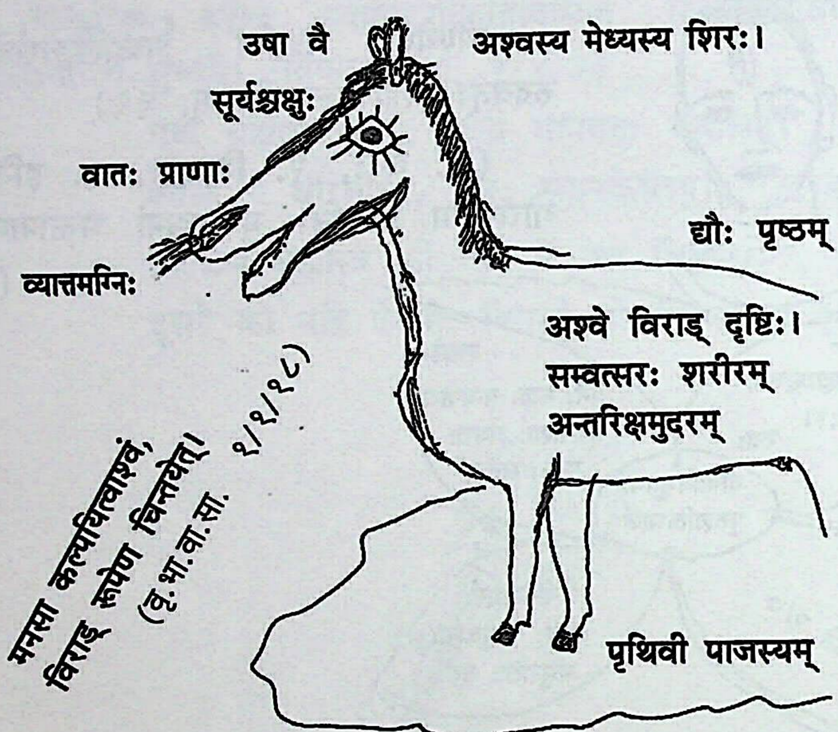
त्रीण्येषां नेत्राणि शब्द[१]लिङ्गा[२]क्ष[३]भेदात् रुद्रवत्। (शाण्डिल्यभक्ति सू. ९९)

(१. वेदः, २. सिद्धयः, ३. इन्द्रिय-गोचराणि ज्ञानानि। मुक्तात्मनां भक्तानाम्। (टी.)



उस भगवान् हरि के तीन नेत्र हैं, जैसे भगवान् रुद्र के तीन नेत्र कहे गये हैं उसी प्रकार भगवान् हरि के भी तीन नेत्र कहे गये हैं। वे नेत्र कौन हैं? कहते हैं—शब्द (वेद) प्रथम नेत्र हैं। नेत्र से देखा जाता है अतः 'तत्त्वमसि' शब्द (वेद) से परमात्मा को जाना जाता है। दूसरा नेत्र सिद्धियाँ हैं। सिद्धि प्राप्ति को कहते हैं। 'तत्त्वमसि' वेद (शब्द) वाक्य से आत्म और परमात्मा के ऐक्य प्राप्ति ही सिद्धि है। तीसरा नेत्र इन्द्रिय की गोचरता से प्राप्त ज्ञान है, यथा—'अयं घटः' में चक्षु इन्द्रिय जन्य घट विषयीभूत घटज्ञान प्राप्त होता है। ये तीनों नेत्र भक्तों को भी प्राप्त होते हैं, क्योंकि वह ज्ञानलक्षणा भक्ति से परमात्मा हरि को अपरोक्ष रूप से आत्मा में ही दर्शन करता है अर्थात् आत्मा और परमात्मा का ऐक्य रूप अपरोक्ष बोध प्राप्त कर लेता है। इसलिए वह तद्धर्मवान् होता है। (शाण्डिल्य भक्ति सू. ९९)

जगत् सृजन काल में परब्रह्म परमात्मा ने ईक्षण किया 'तदैक्षत् एकोहं बहुस्याम्' एक ही मैं बहुत हो जाऊँ। उस परमात्मा ने ब्रह्मा-विष्णु और रूद्र रूप से प्रकट हुए। ब्रह्मा रजोगुण प्रधान देवता ने प्रवृत्तिमार्गी ऋषियों की सृष्टि जगत् विस्तार के अभिप्राय से किये। उनके तप से प्रवृत्तिमार्गी ऋषियों और उससे उत्तर विस्तार हुआ इसलिए वे ब्रह्मा प्रजापति ब्रह्मा कहलाते हैं। सतोगुण प्रधान विष्णु स्वरूप (उपाधिभूत) से मरव (यज्ञ) आदि धर्मों, मन्तन्वरों, प्रत्येक भुवनों के ईशों (अधिपति), देवों, मनुओं, को सुव्यस्थित तथा उन सृजित धर्मों के द्वारा पालन पोषण करने वाले कहलाते हैं। सृष्टि के अन्त में तमोगुण प्रधान



(उपाधिभूत देव) अहंकार युक्त असुरों अधर्मियों के विनाश करते है इसलिये ये रूद्र (उग्र) कहलाते हैं। ये तीनों उपाधिभूत देवों के गुणों से युक्तता को क्रमशः वेद-सिद्धि और इन्द्रियजन्य विषय ज्ञान के प्रतीक रूप से ऊपर कहे गये हैं। अतः इन तीनों उपाधिकृत स्वरूपों को परमात्मा भगवान् श्रीहरि से भिन्न रूप से जो देखता है अर्थात् इनमें भेद बुद्धि रखता है वह पापिष्ट परमात्मा के स्वरूप को नहीं जानता। वह अज्ञानी नरक का भागी होता है। इसलिए उपर्युक्त परमात्मा के उपाधिकृत ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र स्वरूपों को एकभाव से अर्थात् अपारक्य (अभेद) भाव से देखना चाहिये। जैसे—

यथा पुमान् न स्वाङ्गेषु शिरः पण्यादिषु क्वचित्।
पारक्यबुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्परः।। (श्रीमद्भाग. २/७/५३)

मानव अपने शरीर के अङ्गों शिर-पैर-हाथ-आँख-कान-जिह्वा आदि में भेद बुद्धि नहीं रखते। ये सब मैं हूँ इस प्रकार व्यवहार और अनुभव करते हैं। वैसे ही सभी देवों और भूतों में भी परमात्मा ईश्वर को ही देखना और अनुभव करना चाहिये। 'तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनोजनः'। (श्रुति) जो आत्म-परमात्म में भेद दृष्टि रखता है वह आत्महन्ता (ब्रह्म हत्यारा) ही है ऐसा जानना चाहिये। (श्रीमद्भाग. २/७)

'योश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद'। श्रुति वाक्य से अश्वमेध विज्ञान और अश्वमेध कर्म विज्ञान दो विकल्प शास्त्रोक्त है, स्मृति भी है 'द्विविधं कर्म वैदिकम्' (मनु स्मृ. १२/२८)

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (पातञ्जल यो.द. १/१२)

समष्टि और व्यष्टि हिरण्यगर्भ फलवाला होने से अश्वमेध कर्म सम्पूर्ण कर्मों में श्रेष्ठ है। उस अश्वेध विद्या का वर्णन करने के लिए ही यहाँ 'उषा वै अश्वस्य' मन्त्र कहा गया है। अश्वमेध यज्ञ में अश्व की प्रधानता होने से यहाँ अश्व विषयक दृष्टि ही कही गयी है। यह यज्ञ 'अश्व' नाम से अंकित है और इसका देवता प्रजापति है, इसलिए इसमें अश्व की प्रधानता मानी गयी है। यहाँ उषा ब्रह्ममुहूर्त और वै शब्द स्मरण कराने के अर्थ में प्रयुक्त है और वह प्रसिद्ध उषा काल अश्वमेध यज्ञीय अश्व का शिर इसलिए है कि कालों में उषाकाल और अवयवों में शिर (मस्तक) प्रधान होते हैं। यहाँ अश्व अवयवों के साथ समानता के उद्देश्य से ही रूपक का आरोप संगति प्राप्त है। अत: उस अश्व के उषाकाल शिर है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है; वैश्वानर अग्नि व्यात्त (खुला हुआ) मुख है और सम्वत्सर यज्ञीय अश्व का आत्मा है। द्युलोक उसका पीठ है, अन्तरिक्ष उदर है, पृथिवी पैर रखने का स्थान है, दिशाएँ पार्श्वभाग तथा अवान्तर दिशाएँ पसलियाँ हैं, ऋतुएँ अङ्गमास और अर्धमास पर्व (सन्धिस्थान) है; दिन और रात्रि प्रतिष्ठा (पाद) है, नक्षत्र अस्थियाँ हैं, आकाशस्थित मेघ मांस है, बालू ऊबध्य (उदरस्थ अर्धपक्व अन्न) है, नदियाँ नाड़ी और पर्व-यकृत (जिगर) है तथा हृदयगत मांसखण्ड है, ओषधि और वनपतियाँ लोम है, ऊपर की ओर जाता हुआ सूर्य नाभि से ऊपर का भाग और नीचे की ओर जाता हुआ (मध्याह्न के बाद का सूर्य नीचे की ओर है) कटि से नीचे का भाग है। उस अश्व का जमुहाई लेना बिजली का चमकना है और शरीर का हिलाना मेघ का गर्जन है। वह अश्व जो मूत्र त्याग करता है वही वर्षा है और वाणी ही उसकी वाणी है। इस प्रकार अश्वमेध यज्ञ के अश्व में दृष्टि रखनी चाहिये। ऐसी दृष्टि रखकर अश्वमेध यज्ञ कर्म करने वाला यजमान उत्तम फल को प्राप्त करता है। (वृ.उ.भा.वा.सा. १/१/१८)

अनादि अविद्या की बन्धता के कारण तथा पूर्वकृतकर्म के संस्कार के वशीभूत मानव के चित्त की वृत्ति जगंज्जनक प्रवृत्ति मार्ग में स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होता है जो पुनः पुनः जन्म-मरण-सुख-दुःख को जन्म देते रहता है, जो बन्धरूप ही है। कहा है—मन एव मनुष्यानां कारण बन्धन मोक्षयोः। मन ही मनुष्य के बन्ध और मोक्ष के कारण हैं। एक ही वस्तु का दो परिणाम देने का हेतु 'बन्धाय विषयासक्तं, निर्बन्धं निर्विषयं मनः' है यदि मन (चित्त) विषय में आसक्त होता है अर्थात् विषयमुखी होकर यदि बहता-प्रवृत्त होता है तो बन्ध का कारण होता है और यदि विषयमुखी न होकर अन्तर्मुखी-आत्ममुखी अर्थात् आत्मानुग्रही (निर्विषयी) हो प्रवृत्त होता है तो वह मोक्ष का कारण हो जाता है। मानव के चित्त में तमोगुण की अधिकता (प्रबलता) होने पर निद्रा-आलस्य-निरुत्साह आदि मूढ़ावस्था का दोष और रजोगुण की प्रबलता से चित्त में चञ्चलता रूप विक्षेप दोष उत्पन्न होते हैं जो अनुपकारी तत्त्व हैं। उसके (चित्तवृत्तियों के) निरोध (प्रशमन) के लिये अभ्यास और

मूलाधारात्प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः,
पश्चात्पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ्मध्यमाख्यः।
वक्त्रे वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्ना,
बद्धस्तस्माद्भवति पवनप्रेरितो वर्ण संघः।। (प्रपञ्चसार २/४३)

वैराग्य का अनुशीलन करना ही उत्तम और प्राथमिक उपाय है। अभ्यास से तमोगुण की निवृत्ति और वैराग्य से रजोगुण की निवृत्ति होती है। वैराग्य से चित्त का बहिर्मुख (विषयाभिमुख) प्रवाह रोका जा सकता है और अभ्यास से आत्मोन्मुख प्रवाह को स्थिर किया जाता है। इस सम्बन्ध में भगवान् व्यासदेव जी उत्तम रूपक दृष्टान्त देकर सरलता पूर्वक समझाने का प्रयास किये हैं—

चित्तनदी नाम उभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय, वहति पापाय च। या तु कैवल्यप्राग्भरा विवेक विषयनिम्ना सा कल्याणवहा। संसारप्राग्भारा अविवेकविषयनिम्ना पापवाहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिली क्रियते, विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उदघाट्यते-इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्ति निरोधः।

चित्त एक नदी है, जिसमें वृत्तियों का प्रवाह बहता है। इसकी दो धाराएँ हैं, जिसमें एक संसार सागर की ओर अभिमुख होकर बहती है तथा दूसरी कल्याण सागर की ओर अभिमुख होकर बहती है। जो विवेक-विषयरूप निम्नमार्ग से जाती है और कैवल्यरूप उच्चभूमि तक बहती है वह कल्याणवहा धारा है और जो अविवेक-विषयरूप निम्न मार्ग से होती हुई संसार सागर की ओर जाती है वह पापवहा धारा वाली है। संसारी जीवात्मा की पापवहाधारा जन्म से ही प्रायः खुली होती है; किन्तु कल्याणवहा धारा को शास्त्र, गुरु, आचार्य तथा ईश्वरचिन्तन खोलते हैं। पापवहा धारा को रोकने के लिए विषयों के स्रोत पर वैराग्य का बन्ध लगाया जाता है और वैराग्य के वेलचे से दूसरी धारा (कल्याणवहा) का मार्ग गहरा खोद कर वृत्तियों के समस्त प्रवाह को विवेकस्रोत में डाल दिया जाता है। इसके अनन्तर प्रबल वेग से वह सारा प्रवाह कल्याणरूपी सागर में जाकर लीन हो जाता है। इसलिये अभ्यास और वैराग्य दोनों ही इकट्ठे मिलकर चित्त की वृत्तियों का निरोध के साधन हैं। इस साधन को भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में अर्जुन से कहा—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन कौन्तेय वैराग्येन च गृह्यते।।

हे अर्जुन! उस परमात्मा को प्राप्त करने के लिये अभ्यास और वैराग्य की आवश्यकता है क्योंकि उन्हें प्राप्त करने के लिये यह साधन आवश्यक है। (पतञ्जलयो.द. १/१२)

परावाणी मूलाधारचक्र में स्थित होती है और शब्द का उच्चारण जब किया जाता



वैखरी	पराभूर्जन्म पश्यन्ती,
मध्यमा	वल्लीगुच्छ समुद्भवा।
पश्यन्ती	मध्यमा सौरभा वैरवर्यक्ष।
परा	माला जयत्यसौ।। (नामकला विलाष टी.)

नादेन व्यज्यते वर्णः,

नकारं प्राणनामानं, दकारमनलं विदुः।

है उस समय आभ्यन्तर एक प्रयत्न होता है जिस प्रयत्न के द्वारा उस मूलाधार चक्र से वाणी का मूल उत्थित होती है और उस उत्थित वाणी को परावाणी कहते हैं। मूलाधारचक्र गुदा स्थान से दो अङ्गुल ऊपर उपस्थ (लिङ्ग) स्थान से दो अङ्गुल नीचे है। इस मूलाधार से ऊपर उठने वाली ध्वनिमती पश्यन्ती वाणी कही जाती है। पश्यन्तीवाणी परावाणी मूला है और पश्यन्ती उर्ध्वगति को प्राप्त होती हुई अनाहत चक्र अर्थात् हृदयकोश में आकर बुद्धि से युक्त हो जाती है, जिसे मध्यमा वाणी कहते है। मध्यमा को सौरभा इसलिए कहते है कि वे सुगन्ध वाली होती है उसका सुगन्ध समाधिस्थ साधकों को ही ज्ञात होता है। इसका वल्ली गुच्छ के समान स्वरूपवाली पश्यन्ती से उत्पन्न यह मध्यमा वाणी है। इसे क्रमशः इस प्रकार जानें पराप्रकृति अव्यक्त कहलाती है, वह अतिसूक्ष्म है और ज्ञान-इच्छा तथा क्रिया तीनों धर्मों वाली वह पराप्रकृति उच्चारण काल में (आभ्यन्तर प्रत्यत्न काल में) स्फुरण (कम्पन) प्राप्त होने पर ध्वनिरूप से प्रकट होती है उसे परावाक् या परावाणी कहते हैं, जो सूक्ष्म होती है, पुनः उससे स्थूलतर रूप में पश्यन्ती कही जाती है जिसे ऊपर लतागुच्छ के समान कहा है, उस पश्यन्ती से स्थूलतर मध्यमा है जो पश्यन्ती (लतागुच्छ) से उत्पन्न होती है जिसे सौरभा इसलिये कहा है कि पुष्प की कलियों में जब किञ्जल (पराग) हो जाते हैं तो वह स्फुट (फूलने) की स्थिति को प्राप्त होते हैं, जिसका स्वरूप किञ्चित् (कुछ) स्फुट (थोड़ी खिली) होती के समान होती है। वह पश्यन्ती से अधिक स्थूल खिलते हुए (स्फुटारम्भ) के पुष्प के स्वरूप की होती है और उससे भी स्थूलतम वैखरी वाणी है जो हम बोलते है जिसका रूपक अक्षमाला के समान है।

वाणी क्रमशः परा, पश्यन्ती और मध्यमा तथा वैखरी से प्रेरित होकर जब मुख में सुषुम्ना बद्ध होती है तो मुख में वर्णों के समूह हो शब्द का स्वरूप धारण कर लेती है और वैखरी संज्ञा वाली कहलाती है। उसी को हम अपनी भाषा में बोली कहते हैं। इस तरह नाद से वर्ण की उत्पत्ति होती है। न कार प्राण वाचक और द कार अनल वाचक है ऐसा जानना चाहिये। (प्रपञ्चसार कामकला टी.)

मणिपूरकः

ब्रह्मग्रन्थिस्थितो वह्निः, नाभि[१] हृत्[२] काण्डे[३] मूर्धा[४]स्येषु[५] आविर्भावयतिध्वनिम्।

नादोऽति सूक्ष्मः[१] सूक्ष्मः[२] पुष्टः[३] अपुष्टः[४] कृत्रिमः[५]-पञ्चधा।

नास्ति नादात्परो मन्त्रः। (नाद साधना-शारदातिलके २५/४५/४७)

अङ्गुलिभिर्दृढं वद्ध्वा, करणानि समाहितः।
अङ्गुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे, तर्जनीभ्यां विलोचने।।
नासारन्ध्रे मध्यमाभ्यां अन्याभिर्वदनं दृढम्।
बद्धात्मप्राणमनसा, मेकत्वं समनुस्मरन्।।
धारयेन्मरुतं सम्यग्, योगोऽयं योगिवल्लभः।
नादः सम्पद्यते तस्य, क्रमादभ्यासतः शनैः।।

ब्रह्मग्रन्थि (मणिपूरक चक्र) में स्थित वह्नि (वाक्) वायु से प्रेरित होकर नाभि स्थान में स्थित होती है वह नाद नाम की वाणी अतिसूक्ष्म होती है। पुनः नाभिचक्र से अग्रसरित हो हृदयचक्र में आकर सूक्ष्म अर्थात् अतिसूक्ष्म से कुछ स्थूल परन्तु सूक्ष्म होती है। पुनः कण्ठदेश को प्राप्त होकर अपुष्ट (पूर्व से कुछ स्थूल) तथा क्रमश मूर्धा को प्राप्त होने पर अपुष्ट (स्वरूप वाली अर्थात् उससे स्थूल) होती है ततः (उसके बाद) मुख को प्राप्त होने पर कृत्रिम (शब्द रूप में) आभिर्भूत होती है। इस तरह नाद से ही क्रमशः स्थूलता को प्राप्त होती हुई वैखरी नाम की यह वाणी हम लोगों के सकल व्यवहार की हेतुभूता है। अतः नाद सभी परा-पश्यन्ती-मध्यमा और वैखरी का मूल है और नाद की उत्पत्ति विन्दु से और विन्दु की उत्पत्ति पराप्रकृति से शास्त्रों में कही गयी है। नाद के महत्त्व को सिद्ध साधक योगीजन ही जान पाते है और नाद से उत्तम कोई मन्त्र नहीं है, इसलिये उच्चकोटि के साधक नादमन्त्र का आश्रय लेकर परमपद को प्राप्त करते हैं। मणिपूरक को यहाँ ब्रह्म ग्रन्थि कहते हैं तथा वाणी पाँच प्रकार की होती है कहा गया है।

(नाद साधना-शारदातिलके २५/४५/४७)

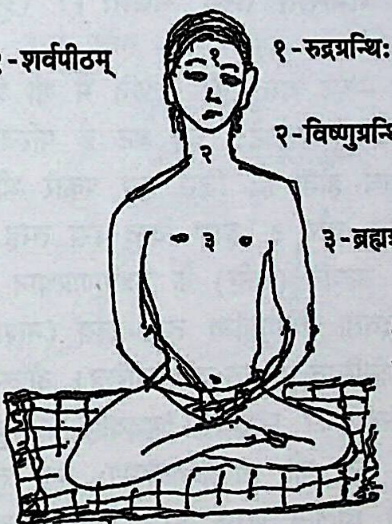
अपने इन्द्रियों को समेट कर उसके कारण मन में लय करके मरुत् (प्राण वायु) की सहायता से आत्मा परमात्मा के ऐक्य के उद्देश्य से ध्यान करे और उस ऐक्य बोध में समाहित हो जाय। अब उसका क्रम कहते हैं—अङ्गुलियों से दृढ़ करके इन्द्रियों को बाँधे। किस अङ्गुलि से किस इन्द्रिय को बाँधे? कहते हैं—दोनों हाथ के अङ्गुष्ठ (अंगूठा) से कानों को, दोनों तर्जनीयों से दोनों आँखों को, दोनों मध्यमाओं से नाक के दोनों छिद्रों को अन्य अङ्गुलियों से मुख को दृढ़ता से बाँध करके फिर पूर्वोक्त विधि से इन्द्रियों को मन में, मन को प्राणों में और प्राणों को स्वात्मा में लय करे। ये सभी प्राणायाम विधि द्वारा अथवा

श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम्।
शुद्धसुषाम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः।।

(हठयोगदीपिका, ४/६७)

मूलाधारात्सहस्त्रारपर्यन्तं सुषुम्नायां शुद्धस्फटिकमिव नाद चैतन्यं ध्यायेत्। नादोध्वन्यात्मको मनुः।

तन्मध्ये चिन्तयेत् देवीं ऋज्वाकारातडित्प्रभाम्।
ओंकाररूपिणीं ज्योत्स्नां, आत्मरूपां शुभोदयाम्।।



आरम्भः, परिचयः, घटः-
सर्वयोगेषु अवस्था चतुष्टयम्।
(हठयोगदीपिका-४)

मन के द्वारा पूर्ण और दृढ़ भावनामय मरुत् (वायु) को सुषुम्ना नाड़ी में भर दे तो धीरे-धीरे अवभास करने पर नाद की उत्पत्ति होती है। जो योगियों को बहुत ही प्रिय है। इसी विधि को हठदीपिका में इस प्रकार कहा है—श्रवण (कान) नयन (आँख), घ्राण (नाक) और मुख के पुटों को निरोध करके शुद्ध होकर सुषुम्ना सरणि (नाड़ी) में भावना से स्थित हो जाय तो सुन्दर पवित्र नाद सुनाई देता है। (हठयोगदीपिका ४/६७)

मूलाधारचक्र से सहस्त्रार कमल दल पर्यन्त भावनामय प्राणवायु को ले जाकर वहीं स्थित सुषुम्नानाड़ी में शुद्धस्फटिक के समान नाद चैतन्य ब्रह्म का ध्यान करें तथा नाद ब्रह्म में अपने को स्थिर करें। उस नाद चेतना में ऋज्वाकारा बिजली के सदृश प्रभावाली, ओंकारस्वरूपिणी ज्योतिस्वरूपा आत्मस्वरूपा से उदित होने वाली देवी का चिन्तन करें।

उपर्युक्त प्रतीक चित्र द्वारा योग के सम्बन्ध में परिचय कराने के उद्देश्य से कहा है कि—जीवात्मा के मुख्य तीन ग्रन्थियों का उल्लेख हठ दीपिका में प्राप्त हैं—१. रुद्रग्रन्थि, २. विष्णु ग्रन्थि तथा ३. ब्रह्मग्रन्थि। रुद्रग्रन्थि आरम्भ है, विष्णु ग्रन्थि परिचय है और ब्रह्म

मोक्षः

अविद्या निवृत्तिः अधिष्ठानब्रह्मरूपा अखण्डैकरसानन्दस्फूर्तिः।

(तत्त्वानुसन्धानम् १)

प्रसंख्यानम्–शब्दयुक्तिप्रत्यथानामावृत्तिः।।

असंदिग्धाविपर्यस्तो वाक्यजन्यप्रत्ययो मोक्षहेतुः।।

चेतनं-नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म।।

'तं यथा यथोपासते तथा भवति'।। (श्रुति)

ग्रन्थि घट (जीवात्मा) है। यथा—घट वस्तु की उत्पत्ति में भी प्रथमतः 'घटोत्पन्न' घट उत्पन्न हुआ यह ज्ञान होता है। अनन्तर 'अयंघटः' यह घट है परिचय होता है और उसके बाद 'घटमहं जानामि' घटाकारक बोध होता है, जिसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि—१. उत्थानविन्दु, २. स्थिर विन्दु और ३. ह्रास विन्दु इस तरह वस्तु के उत्पत्ति-स्थिति और लय के सम्बन्ध में विचार हैं। उत्पत्ति (सृष्टि) के रजोगुणप्रधान देवता ब्रह्म ग्रन्थि है, स्थिति (पालन) के सतोगुण प्रधान देवता विष्णुग्रन्थि तथा लय (नाश) के तमोगुण प्रधान देवता रूद्र-रूद्रग्रन्थि हैं। अविद्या प्रतिबिम्वित (अन्तःकरणावछिन्न) आत्मा इन्हीं उपाधिभूत ग्रन्थि से परिछिन्न होने के कारण जीवभाव को प्राप्त है। हृदयदेशोपाधिकृत ब्रह्मा, कण्ठकूपउपाधिकृत विष्णु और भ्रूमध्य उपाधिकृत् रूद्र को साधक क्रमशः एक दूसरे में विलीन करता हुआ सर्वपीठ संकेतीभूत परमात्मा में विलीन करके परम शिवपद को प्राप्त कर जाता है। इस तरह सभी योगों में चार अवस्थाएँ होती हैं। (हठयोगदीपिका ४)

मोक्ष—सर्वाधिष्ठान ब्रह्मस्वरूप अखण्डैकरस आनन्द की स्फूर्ति को मोक्ष कहते हैं।

प्रसंख्यान—शब्द और युक्तियों के द्वारा उत्थित 'अहं ब्रह्मास्मि' प्रयय की एकतानता का बना रहना प्रसंख्यान है।

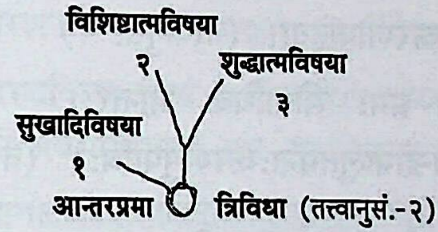
मोक्ष हेतु—असंदिग्ध, अविपर्यस्त (सुबोध) वाक्यजन्य ('तत्त्वमसि' वाक्य से उत्पन्न प्रत्यय) चित्तवृत्ति मोक्ष का हेतु है।

चेतन—नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्य-परमानन्दस्वरूप अनन्त ब्रह्म ही चेतन है।

मानव जिस रूप में जिस प्रकार से भी जिसकी भी उपासना करते है वह ब्रह्म की ही उपासना करते हैं। क्योंकि ब्रह्म व्यापक है और उस ब्रह्म के सिवा जगत् में कोई भी भाव वस्तु नहीं है—'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।' (गीता) एक ब्रह्म ही भाव (सत्ता) पदार्थ है शेष दृश्यमान वस्तु भ्रममूलक है। परन्तु जीवात्मा कर्त्ता और कर्म भाव से (भेद बुद्धि से) उसकी उस-उस रूप से उपासना करते हैं। ब्रह्मभाव से उस-उस स्थल

यथाकारेण ये मर्त्या, मामेवैकमुपासते।
तेनाकारेण तेभ्योऽहं, प्रसन्नो वाञ्छितं ददे।।

(श्रीसदाशिवोरामाय-इति तत्त्वानुसं. १ टी.)



(१. अहं सुखी। २. अहं जीवः। ३. अहं ब्रह्मास्मि इति)

	अस्मि	**सत्**	
अहं	**मामि**	**चित्**	**अनुभवः**
	अतिशयप्रियः	**आनन्दम्**	



में उपासना नहीं करते। इसलिये कर्त्ता-भोक्ता रूप से बन्ध को प्राप्त कर नाना प्रकार के दुःख के भागी बनते हैं। परन्तु ज्ञानी तो उसे सभी भावों में ब्रह्म रूप से ही उपासते हैं।
(श्रुति)

जो व्यक्ति जिस आकार को आधार बनाकर उपासना करते हैं वे एक मात्र मुझे ही भजते हैं, मेरी ही उपासना करते हैं। इसलिए मैं ईश्वर (परमात्मा) उन्हें उसके भावाकरेण स्वरूप से प्रसन्न होकर वाञ्छित फल प्रदान करता हूँ। यह सदाशिव के राम के प्रति उक्ति है।
(तत्त्वानुसं.टी. १)

आन्तर प्रमा (प्रमात्मिका चित्तवृत्ति) तीन प्रकार की होती है—१. सुखादिविषया आन्तर प्रमा, २. विशिष्टात्मविषया आन्तर प्रमा, ३. शुद्धात्मविषया आन्तर प्रमा। प्रथम सुखादि विषया

* नाश होने पर जिसमें सभी वस्तुएँ लीन हो जाय अर्थात् समुद्र में नदी के जल के समान उसी रूप में अर्थात् तदाकारित हो जाय उसे लिङ्ग कहते हैं। अतः परमात्मा ब्रह्म ही लिङ्ग है।

श्रुतीनां तात्पर्यम्

फलवत्यविज्ञातेऽर्थे। (तत्त्वानुसन्धानं-२)

अपरोक्षत्वं-अनावृत् संवित्तादात्म्यम्-साक्षी चित्।

अन्तःकरणोपहिता। (तत्त्वानुसं.-२)

स्वप्नो-भ्रमः सोपाधिक आन्तरः।

कर्मनिन्द्रोपप्लुतमन्तःकरणमुपाधिः। (तत्त्वानुसं.-३)

आन्तर प्रमा में 'अहं सुखी' विषयक चित्तवृत्ति का आन्तर प्रमा उत्पन्न होता है, जो बन्धभाव है। द्वितीय आन्तर प्रमा-विशिष्टात्मविषया में 'अहं जीव:' अन्तःकरण विशिष्ट आत्मा की चित्तवृत्ति की आन्तर प्रमा होती है, यह भी बन्धभाव के अन्तर्गत ही आते है। तृतीय आन्तरप्रमा—यह चित्तवृत्ति की आन्तर प्रमा स्वात्मविषयात्मिका होती है, जिसमें 'अहं ब्रह्मास्मि, 'अयमात्मा स्वयं ब्रह्म' इत्यादि प्रकारक शुद्ध आत्म विषयक चित्तवृत्ति की आन्तर प्रमा होती है, जो उपर्युक्त दोनों आन्तर प्रमा की निवर्तक होती है। यह प्रमा अखण्ड होती है और वे प्रमा खण्ड होती हैं, यह पारमार्थिक और वे अपारमार्थिक होती है। यह निवर्तक और वे निवर्त्य होती है। यह प्रकाश और वे प्रकाश्य है। यह सत् और वे असत् हैं। यह 'अस्मि' शब्द वाच्य सदात्मानन्द की निरतिशयता स्वरूप है और वे असत् और दुःख परिणामी है। 'अहं अस्मि' सत् स्वरूप है। इदं माम् चित्त के धर्म का अनुभव है और अहं ब्रह्मास्मि यह स्वविषयक निरतिशयानन्द स्वरूप का अनुभावक है। (तत्त्वानुसं. २)

श्रुतियों का तात्पर्य इस प्रकार समझना चाहिये—फलवान् अविज्ञात अर्थ को प्रकट करने के लिए श्रुति प्रवृत्त होती है। 'सुक्तौ इदं रजतम्' स्थल में भ्रम का निवर्तन होने पर रजत की उपलब्धि नहीं होती है। अतः फलवान् प्रवृत्ति यहाँ नहीं होती तथा रजत पूर्व से ही ज्ञात होता है अतः अविज्ञात अर्थ भी नहीं है। 'तत्त्वमसि' वाक्य जन्य बोध में आत्मा का विशेष बोध नहीं होने के कारण अविज्ञात है और ब्रह्म विषयक अभेद और अखण्ड ज्ञान अविज्ञात श्रुति तात्पर्यीभूत ज्ञान फल की उपलब्धि है।

श्रुति के अर्थ का तात्पर्य अनावृत्त साक्षी-चित् स्वरूप आत्मा का अपरोक्ष बोध कराने में ही पर्यवसान है। अन्तःकरणोपहिता बुद्धि बन्ध है और अन्तःकरण विशिष्ट जीवात्मा का भेद बोधक है। उस अन्तःकरण उपाधि का निवर्तन करना ही श्रुतिवाक्य के प्रवृत्ति का प्रयोजन है। अन्तःकरण (उपाधि) ही भेद है श्रुति इसी भेद को 'नेह नानास्ति किञ्चन' वाक्य से निषेध कर अपरोक्ष अखण्डानन्द सर्वसाक्षी आत्मा का बोध कराती है। (तत्त्वानुसं. २)

स्वप्नवत् यह जगत् भ्रमात्मक है क्योंकि जगत का बोध सोपाधिक (शरीरात्मक) आत्मबोध होता है, इसलिए सत् नहीं है। सत्य तो 'त्रिकालाबाधितत्त्वं सत्यत्वम्' जो भूत-

पश्यामि चित्रमिव सर्वमिदं द्वितीयम्,
तिष्ठामि निष्कलचिदेकवपुष्यनन्ते।
आत्मानमद्वयमनन्तसुखैकरूपं;
पश्यामि दग्धरशनामिव च प्रपञ्चम्।। (संक्षेपशारीरकम्)

अद्वैतमप्यनुभवामि करस्थबिल्व-तुल्यं शरीरमहिनिर्ल्वयनीव वीक्ष्ये। एवञ्च जीवनमिव प्रतिभासनं च, निःश्रेयसाधिगमनं मम सुप्रसिद्धम्।। (संक्षेप शारीरकम्)

ऋतम्भराप्रज्ञा–अतीतानागतविप्रकृष्टाव्यवहितसूक्ष्मवस्तुविषयं योगिप्रत्यक्षम्। (तत्त्वानुसं.-४)

वर्तमान और भविष्य में एक स्वरूप (अखण्ड रूप) से स्थित रहे वही सत्य है। शरीरादि प्रपञ्च का कालान्तर में रहना नहीं होता है। अतः वह बाध हो जाता है। इसलिए असत् है, अथवा अन्तःकरण प्रतिबिम्वित चेतन्य जीवात्मा है, जीव प्रतिबिम्ब है और आत्मा बिम्ब है और प्रतिबिम्ब अचेतन और असत् होता है। इसलिए स्वप्नवत् संसार का श्रुति प्रतिषेध कर अद्वितीय अपरोक्ष आत्मा को बोध कराने के लिए प्रवृत्ति जनक होने के कारण अपरोक्ष अद्वितीय आत्मा को बोध कराने में ही उसका तात्पर्य है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि कर्मरूपीनिद्रा से अभिभूत अन्तःकरण ही उपाधि है अतः जगत् स्वप्न में दृष्ट रथ-गजादि के समान ही यह व्यावहारिक बोध है। (तत्त्वानुसं. ३)

मैं इस जगत् प्रपञ्च को पटचित्रित प्रतिबिम्ब मानता हूँ और अद्वितीय-अनन्त चिदात्मा में स्थित हूँ। मेरा अद्वितीय-अनन्त-आनन्दैकरस स्वरूप है इसलिए इस मायाकृत् रशना (रस्सी) को ज्ञानाग्नि से जला (राख) दिये गये के समान इस प्रपञ्च को नष्ट कर दिया हूँ। इस प्रकार कोई ब्रह्मज्ञानी कह रहा है अथवा अनुभव कर रहा है। (संक्षेप शारीरक)

मैं सदा आत्मपरमात्म्यैकभाव से स्थित हूँ। अद्वैत का अनुभव तो मुझे हाथ में उपस्थित बिल्वफल के समान अत्यन्त सुलभ वस्तु जैसे प्राप्त है तथा शरीर को मैं सर्प द्वारा त्यक्त केचुल के समान देख रहा हूँ। इस प्रकार जीवन को प्रतिभास प्रतीति के समान समझता हुआ परम प्रसिद्ध निःश्रेयस (जीवनमुक्ति) को प्राप्त कर चुका हूँ। यह किसी जीवनमुक्त साधक का कथन है। (संक्षेप· शारीरक)

अतीत (बीते हुए भूतकालिक) अनागत (भविष्यकालिक) उभयज्ञानों के द्वारा प्रकृष्टेन (निश्चय रूप से) अव्यवहित (अबाधित) सूक्ष्म वस्तु विषयक जो अपरोक्ष अद्वितीय ज्ञान वह ऋतम्भरा है। व्यास जी ने इसको इस रूप से कहा है—आगमेनानुमानेन, ध्यानाभ्यासरसेन च। त्रिधाप्रकल्पयन्प्रज्ञां, लभते योगमुत्तमम्' (पातञ्जल यो. सूत्र व्यास भाष्य ४८) जीवात्मा के जबतक अविद्या आदि क्लेश के मूल रहते हैं तब तक उसके कर्माशय का फल जाति,

'विपाको जात्यायुर्भोगाः'। (पातञ्जलसूत्रम्)

आकाशपुष्पमिव विश्वमहं निरीक्षे,
मग्नोस्मि नित्यसुखबोधरसामृताब्धौ।
प्रत्यक्षमद्वयमनन्तसुखप्रबोधं,
साक्षात्करोमिपदभावनया गुरुणानाम्।। (तत्त्वानुसं.-४)

यथा पतिः पत्नीं अनेकपुरुषेभ्यः पाति पत्नी च पुरुषम्।
तथा इष्ट देवः मन्त्रः गुरुः अनेक विकर्मभ्यः उपासकं पाति।
(अखण्डानन्द अख.ब्र.ली.)

आयु और भोग के रूप में करा देते हैं। देव, मनुष्य, पशु, पक्षी तथा सरीसृप (साँप) आदि जाति हैं, उन-उन शरीरों में देहधारण काल आयु है तथा उन-उन योनियों (जातियों) के जो विषय-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादि हैं वे भोग हैं। प्रसंख्यान (विवेकख्याति) द्वारा जब उन क्लेशमूल कर्माशय रूपी वृक्ष को काट दिया जाता है अर्थात् मैं मानव शरीर नहीं हूँ मैं आत्मा हूँ इस ज्ञान को मननादि अभ्यास से सुदृढ़ कर लेने पर अद्वितीय अपरोक्ष आत्मबोध रूप तलवार से जब उस अविद्यात्मक क्लेशमूल कर्माशय का उच्छेद कर दिया जाता है तो उस कर्माशय रूपी वृक्ष और उसमें फलने वाले जाति आयु और भोग रूपी फल सदा के लिये नष्ट हो जाते हैं—'तदभावे तदभावः, तद्भावे तद्भावः' यह न्याय है कि वृक्ष रहेगा तो फल देगा, वृक्ष नहीं रहेगा फल नहीं देगा। (पा.यो.सू.सा.पा. १३)

इस विश्व (जगत्) को मैं आकाश पुष्प के समान (अलीक) सर्वथा अभाव (मिथ्या) रूप से देखता हूँ और नित्यानन्दबोधरूप अमृताब्धि में मग्न रहता हूँ तथा उसमें गुरु की भावना से प्रत्यक्ष अद्वितीय आनन्दबोध को साक्षात् (अपरोक्ष) रूप से दर्शन का अनुभव करता हूँ। यह सिद्ध साधक की उक्ति है। (तत्त्वानुसं. ४)

जिस प्रकार पति अपनी पत्नी को अनेक पुरुषों से रक्षा करता है तथा पत्नी पति को अनेक स्त्रियों से रक्षा करती है, उसी प्रकार इष्टदेवता-मन्त्र तथा गुरु मानव को अनेक विकर्म से रक्षा करता है। विकर्म कामना से युक्त शास्त्र विरुद्ध कर्म को कहते हैं। कर्म शास्त्र सम्मत परन्तु कामना से युक्त कर्म को कहते है। इन तीनों का ज्ञान रखना आवश्यक है। इसलिये श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं, बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।। (श्रमद्भग.गी. ४/१७)

अर्थ ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है। (अखण्डानन्द अख.ब्र.ली.)

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' अध्ययनविधिः।

ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' निष्कारणो धर्मः।

शान्तो दान्त उपरतः क्षान्तः समाधिं कुर्वन् यतिः स अविद्या विकल्पान् दग्ध्वा स्वस्य सर्वात्मभावं कल्यति स ब्रह्माकृत्या निर्विकल्पो निष्क्रियः सुखं निवसति। (विवेक चू. ३५६)

भोक्ता-सत्त्वगुणः शुद्धः, भोगानां साधनं-रजः।
भोक्यं-तमोगुणं प्राहुः, आत्मा-चैषां प्रकाशकः।।
जग्रत्स्वप्नसुषुप्तं च, गुणतः बुद्धिवृत्तयः।
तासां विलक्षणो जीवः, साक्षित्वेन विनिश्चितः।।

साक्षात्सम्बन्धात्-साक्षित्वम्।

स्वाध्याय (आत्मा और अनात्मा) का अध्ययन (विचार) करना चाहिये। पक्षान्तर अर्थ—नित्य वेदाध्यन ब्राह्मणों को करना चाहिये। यह विधिवाक्य (कर्त्तव्यता हेतु आज्ञा) अध्ययन विधि कहलाता है। चूँकि यहाँ—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' के अध्ययन विधि में किस अधिकारी को निर्दिष्ट किया गया? इस शंका के निवारणार्थ 'ब्राह्मणः षड्ङ्गो वेदो ऽध्येयो ज्ञेयश्च' शास्त्र का यह प्रवचन है ब्राह्मणों को छहों अङ्ग के साथ वेद का अध्ययन करना चाहिये तथा उसके अर्थों को जानना चाहिये। 'षडङ्गोवेदः' बहुब्रीहि समास करके अर्थ निकालना चाहिये। 'षट् संख्यकानि अङ्गानि यस्य सः वेदः अध्येतव्यः ज्ञेयश्च' छः संख्या वाले जो वह शास्त्र वे अङ्ग हैं जिसके ऐसे वेद का अध्ययन करें और उसके अर्थ (प्रयोजन) को जाने। क्यों जाने? प्रश्न के उत्तर है यह निष्कारण धर्म है।

योगी पुरुष चित्त की शान्ति, इन्द्रिय निग्रह विषयों से उपरति और क्षमा से युक्त होकर समाधि का निरन्तर अभ्यास करता हुआ अपने सर्वात्मभाव का अनुभव करता है और उसके द्वारा अविद्यारूप अन्धकार से उत्पन्न हुए समस्त विकल्पों को ध्वंस करके निष्क्रिय और निर्विकल्प होकर आनन्द पूर्वक ब्रह्माकार वृत्ति से सुखपूर्वक रहता है। (विवेक चू. ३५६)

भोक्ता—शुद्धसत्त्वगुण भोक्ता होता है। भोग का साधन—भोग का साधन रजोगुण है। भोग्य—तमो गुण को भोग्य कहा जाता है। आत्मा—भोक्ता-भोग और भोग्य का प्रकाशक है।

तीन अवस्थाएँ—जागत्-स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएँ गुणों से उत्पन्न बुद्धि की वृत्तियाँ हैं। जीव—इन तीनों अवस्थाओं से विलक्षण जीव है अथवा गुणोपेत तीनों प्रकार

अवस्था त्रितयातीतं, तुरीयं ब्रह्मसंज्ञितम्।।

अवस्थात्रयभावाभाव-साक्षी।

वृकः चक्रवाकः

उलूक[१]यातुं शुशुलूक[२] यातुं, जहिश्व[३]यातुमुत कोक[४]यातुम्।

[५]सुवर्णयातुमुत [६]गृध्रयातुं दृषदेन प्रमृण रक्ष इन्द्र।।

(ऋग्वेद ७/१०४/२२, अथर्ववेद ८/४/२२)

१. मोहः। २. क्रोधः। ३. मत्सरः। ४. कामः। ५. मदः। ६. लोभः।

की बुद्धि वृत्तियों से विलक्षण जीव है जो साक्षि रूप से विनिश्चित्त है। जीव का जगत् से साक्षात् सम्बन्ध होने के कारण साक्षित्व सिद्ध होता है।

चतुर्थावस्था—जाग्रत्-स्वप्न और सुषुप्ति से अतीत तुरीयावस्था (चतुर्थावस्था) ब्रह्म संज्ञक है। साक्षी तीनों जाग्रत्-सुप्त और सुषुप्ति अवस्थाओं के जो भाव (सत्ता) के अभाव स्वरूप है।

यहाँ ऋग्वेद और अथर्ववेद के मन्त्र के रूपक किये गये हैं। दोनों वेदों में एक ही अभिप्राय व्यक्त है। इसलिए मानव जीवन के लिये ये प्रतीकभूत रूपक से इंगित कर्म का त्याग परमहितकारी है। वे प्रतीक रूपक द्वारा कहे गये अर्थ हैं—१. मोह, २. क्रोध, ३. मत्सर, ४. काम, ५. मद और ६. लोभ। इन छहों रूपक के प्रतीक अर्थ हैं—

१. उलूक यातुम्—यह उलूक यातु (उल्लू) अन्धकार प्रिय, प्रकाश (ज्ञान) के शत्रु उल्लू की वृत्ति है—'संशयी वृत्ति'। इसलिए इस अन्धकारप्रिय (अज्ञान प्रिय) से बचने के लिए अर्थात् रक्षा के लिए इन्द्र से प्रार्थना की गई है जो आगे कहेंगे।

२. शुशुलूकयातुम्—यह शुशुलूकयातु (वृक) क्रोधी तथा क्रूर-भेड़िये की वृत्ति है—'आक्रामक वृत्ति'।

३. श्वयातुम्—यह श्वयातु (कुत्ता) दूसरों और अपनों पर भी गुर्राकर दौड़ाने वाले कुत्ते की वृत्ति है—'मत्सरवृत्ति'।

४. कोकयातुम्—यह कोकयातु (चक्रवाक) वृत्ति असामाजिक-'कामवृत्ति' है।

५. सुपर्णयातुम्—यह सुपर्णयातु (गरुड़) ऊँची उड़ान भरने वाली (अपने को दूसरे से ऊँचा समझने वाली। गरुड़ की वृत्ति—'अभिमानीवृत्ति' है।

६. गृद्धयातुम्—यह गृद्धयातु (गृद्ध) वृत्ति दूसरों के धन सम्पदाओं पर नजर गड़ाने वाली—'लोलुपवृत्ति' है। ये सभी वृत्तियाँ मानवता के शत्रु असुरवृत्ति है, इसलिए त्याज्य है। इसलिए महाभारत में कहा है—

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा मृत्युः प्राणान् धर्मचर्यामसूया। क्रोधः श्रियं शीलमनार्य सेवा ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः।। (महाभा. उद्यो.प. ३५/५०)

जरा (बुढ़ापा) सुन्दर रूप को, आशा धैर्य को, मृत्यु प्राणों को, दोषदृष्टि धर्माचरण को, क्रोध लक्ष्मी को, नीचों का संग सत्स्वभाव को, काम लज्जा को और अभिमान सर्वस्व को हर लेता है।

षड्दोषाः पुरुषेणेह हातव्याभूतमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोधं आलस्यं दीर्घसूत्रता।।

अपनी उन्नति की इच्छा रखने वाले लोगों को इन छः दुर्गुणों का त्याग कर देना चाहिए—निद्रा (सदा ऊँघते रहना), भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घसूत्रता (शीघ्र सम्पन्न होने वाले कार्य को भी विलम्ब से करना)।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।। (श्रीमद्भा.गी. १६/२१)

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। (श्रीमद्भाग.गी. ३/३७)

रजोगुण से उत्पन्न यह काम और क्रोध है अथवा काम ही क्रोध है जो रजोगुण से उत्पन्न होता है। यह बहुत ही खाने वाला होता है अर्थात् भोगों के भोग से तृप्त नहीं होता, इसलिए यह पापी है और मानव का सबसे बड़ा शत्रु है।

ध्यायतो विषयान्पुंस संगस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोभिजायते।।

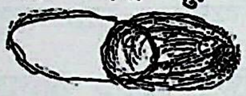
क्रोधात् भवति सम्भोहः, सम्भोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। (श्रीमद्भा.गी. २/६२-६३)

विषय का ध्यान करने पर उसकी प्राप्ति (संग) के लिए आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है और कामनापूर्ण नहीं होने पर क्रोध उत्पन्न हो जाता है। इसी तरह क्रोध से मोह (मूढ़ता-ज्ञान का अभाव) हो जाता है, मूढ़ता (अज्ञान) से स्मृतियाँ भ्रष्ट (नष्ट) हो जाती है और उससे बुद्धि (ज्ञान) के कर्त्तव्याकत्तव्य विवेक नष्ट हो जाता है, जिससे मानव विनाश को प्राप्त हो जाता है। (गी. २/६२-६३)

काम-क्रोध तथा लोभ—ये तीन नरक के द्वार है और ये तीनों आत्मा के नाश करने वाले है अर्थात् अधोगति (अधमलोक नरक) को प्राप्त कराते है। इसलिए इन तीनों का त्याग करना चाहिये।

अब उपर्युक्त प्रकृत प्रसंग (वेदमन्त्र के प्रसंग) में आकर अर्थ संगति करें। इन मानव के शत्रुओं को हे इन्द्रंदेव! (हे मानव मन) वज्र के प्रहार अर्थात् विवेक (ज्ञान) से मार

एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः।
इदं च परलोकस्थानं च। सन्ध्यं च तृतीयं स्वप्नस्थानम्।
तस्मिन् तिष्ठन् उभे स्थाने पश्यति। (वृ.उ. ४/३/९)



तस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्यातेनैष आत्मा निष्क्रामति, चक्षुष्टो वा मूर्धो वा.....सविज्ञानोभवति। (वृह.उ. ४/४/२)

डालो और आत्मा की रक्षा करो। अन्यथा ये शत्रु आत्मा (मानव प्रवृत्ति) को नष्ट कर देगा जो हमारे लिए भयावह स्थिति होगी। (ऋग्वेद ७/१०४/२२, अथर्व. ८/४/२२)

वृहदारण्यक उपनिषद् का यह प्रसंग विदेहराज महात्मा जनक और ब्रह्मवेत्ता ऋषि याज्ञवल्क्य के परस्पर सम्बाद का है। दोनों मिथिला के अद्वितीय ब्रह्मविज्ञानी हैं। विदेहराज के गुरु ऋषि याज्ञवल्क्य हैं और उन्होंने ब्रह्मविद्या की दीक्षा विदहराज को दी है। इसलिए विदेहराज जनक के प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य जी कहते हैं—हे विदेहराज जनक जी! इस पुरुष (आत्मा) के दो ही स्थान हैं। प्रथम तो यह वर्तमान जन्म के फलस्वरूप शरीर, इन्द्रिय, विषय और वेदनायुक्त प्रत्यक्षतया अनुभव करने वाला और द्वितीय शरीर त्याग के बाद अनुभव होने वाला अर्थात् वर्तमानजन्म और परलोक प्राप्ति के अनन्तर प्राप्त होने वाला स्थान। एक इस लोक से सम्बन्धित है और द्वितीय परलोक से। तृतीय स्थान स्वप्न स्थान है जिसे सन्ध्यस्थान (दोनों के सन्धि का स्थान) कहते हैं उस सन्धि स्थान में स्थित रहकर यह पुरुष (आत्मा) इसलोक (शरीरादि) और परलोकस्थान को देखता है। यह पुरुष परलोक के लिए जैसा साधन सम्पन्न होता है, उस साधन का आश्रय लेकर यह पाप (पाप का फल रूप दुःख) और आनन्द दोनों ही को देखता है। जिस समय यह सोता है उस समय इस सर्ववान् लोक की मात्रा (एक देश) को लेकर, स्वयं ही इस स्थूल शरीर को अचेत करके तथा स्वयं वासनामय शरीर को रच करके, अपने प्रकाश से अर्थात् अपने ज्योतिःस्वरूप से शयन करता है, इस अवस्था में यह पुरुष (आत्मा) स्वयं ज्योतिः स्वरूप होता है। इसलिए स्वप्रकाश से दोनों स्थान को देखने में समर्थ होता है। यहाँ आत्मा के स्वप्न विज्ञान शोध का विषय हो सकता है परन्तु यह अध्यात्म विषयक सूक्ष्म अतीन्द्रिय होने के कारण अनुभवात्मक अधिक है, जहाँ आधुनिक विज्ञान की गति नहीं देखी जाती। अतः गुरु परम्परा, शास्त्र विज्ञान तथा युक्त्यादि एवं विवेक ज्ञान से अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है। (वृ.उ. ४/३/९)

प्रसंग पूर्ववत् विदेहराजजनक और याज्ञवल्क्य का है। याज्ञवल्क्य जी कहते हैं—हे विदेहराज जनक जी! जब साधक ज्ञानीजन अपने इन्द्रियवर्ग को लिङ्गात्मा (सूक्ष्मात्मा अपने

१. विवेक–ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्येति निश्चयः।

२. वैराग्यम्–देहादि ब्रह्मपर्यन्तभोगेषु जिहासा।

३. षड्सम्पत्ति–(क) शमः–मनसः स्वलक्ष्ये नियतावस्था। (ख) दमः–विषयेभ्यः परावृत्य स्व-स्व गोलके स्थापनम्। (ग) उपरति–वृत्तेर्वाह्यानालम्बनम्।

कारण) में लय कर देता है तो वह आँख से नहीं देखता, कान से नहीं सुनता, घ्राण (नाक) से नहीं सूँघता, जिह्वा से रसन नहीं करता, वाणी से नहीं बोलता, त्वचा से स्पर्श नहीं करता और मन से मनन नहीं करता। इसी प्रकार बुद्धि के लिङ्गात्मा में लय कर देने पर भी नहीं जानता है। उस (आत्मा) इस हृदय का अग्र (बाहर जाने का मार्ग-छिद्र) अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है, उसी से यह आत्मा नेत्र से, मूर्धा से अथवा शरीर के किसी अन्य भागों से बाहर निकलता है। उसके उत्क्रमण करने (बाहर निकलने) पर उसी के साथ प्राण भी उत्क्रमण करता है, प्राण (मुख्यप्राण) के उत्क्रमण करने पर सम्पूर्ण प्राण (इन्द्रिय वर्ग भी) उत्क्रमण कर जाते हैं। उस समय यह आत्मा विशेष विज्ञानवान् होता है और विज्ञानयुक्त प्रदेश को ही जाता है, उस समय उसके साथ-साथ ज्ञान, कर्म और पूर्वप्रज्ञा (अनुभूतविषयों की वासना) भी चले जाते हैं। (वृ.उ. ४/४/२)

परमात्मा (ब्रह्म) जिज्ञास्य (जानने योग्य) है श्रुति उसी को लक्ष्य कर कहती है— 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासतव्यः'। (श्रुति) उस परमात्मा ब्रह्म को जानने के लिए श्रुति वाक्य का श्रवण-मनन और निदिध्यासन (बार-बार, निरन्तर ध्यान) करना चाहिये इत्यादि। उस (परमात्मा) इस (आत्मा) के ऐक्य बोध ही जिज्ञास्य विषय है और इस ऐक्य बोध हेतु साधन की आवश्यकता होती है। वे साधन चार हैं, जिसे साधन चतुष्टय कहते हैं—

१. **विवेक**—ब्रह्म मात्र सत्य है और जगत् मिथ्या—असत् है, यही विवेक है। इस प्रकार का चिन्तन उस ब्रह्म (परमात्मा) को जानने के लिए प्रथम साधन है।

२. **वैराग्य**—शरीर (इहलोक) से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त जो भोग की सामग्रियाँ है वह सुख नहीं दे सकता, वह दुःखजनक है, इस प्रकार विषय भोग के प्रति अनासक्ति (त्यागभावना) वैराग्य नामक द्वितीय साधन है।

३. **षट् सम्पत्ति**—षट् सम्पत्ति में शम-दम-उपरति-तितिक्षा और श्रद्धा एवं मुमुक्षा ये कुल छः आते हैं। ये षट्सम्पत्तियाँ तृतीय साधन हैं। (क) **शम**—मन के अपने लक्ष्य (परमात्मा-ब्रह्म) में नियत करना-लगाना और जगत् से सम्बन्ध नहीं रखना यह प्रयत्न विशेष है। (ख) **दम**—जगत् के भोग्य विषयों से इन्द्रियों को अपने-अपने गोलक (अधिष्ठान) में समेट कर उनसे अलग कर स्थापन करना अर्थात् अधिष्ठान (कारण) में प्रस्थापन करना प्रयत्न विशेष है। (ग) **उपरति**—चित्तवृत्ति या इन्द्रिय की वृत्ति (प्रत्यय) को वाह्य भोग्य विषयो

(घ) तितिक्षा–सर्वदुःखानां सहनम्। (ङ) श्रद्धाः–शास्त्र-गुरुवाक्येषु सत्यबुद्ध्यावधारणम्। (च) समाधानम्–बुद्धेः शुद्धे ब्रह्मणि स्थापनम्।

४. मुमुक्षताः–अहंकारादि देहान्तान् बन्धान् मोक्तुमिच्छा।

(विवेक चूड़ामणि साधन चतुष्टय)

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं, भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी, चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः।।

(पञ्चदशी ७/१५)

विज्ञानमयचिदाभासो विकारी भोक्ता।।१६।।
मायिकः। अस्य सुषुप्तादौ विलयः साक्षिणानुभूयते।।१७।।

से अनाश्रित कर देना और कारण (लक्ष्य) की ओर अवलम्बित करना रूप है। (घ) **तितिक्षा**—शीत-गर्मी आदि को सहन करना। (ङ) **श्रद्धा**—शास्त्र और गुरु के वचनों को सत्य मानकर निष्ठा पूर्वक अवधारण करना। (च) **समाधान**—अपनी बुद्धि को शुद्ध ब्रह्म (परमात्मा) में स्थापन करना।

४. **मुमुक्षता**—अहंकारान्त (अहंकार पर्यन्त) बन्धन (स्त्री-पुत्र-कलत्र तथा विभिन्न विषयों में स्वयं की आसक्ति से मेरा है, मैं हूँ इत्यादि प्रकारक बन्ध) से छुटकारा पाने की इच्छा ये चौथा साधन है। इन साधन चतुष्टय सम्पन्न साधक ही ब्रह्म विषयक जिज्ञासा का अधिकारी है। (विवेक चूडामणि साधन चतुष्टय)

तीनों अवस्थानों में जो भोग्य (स्थूल प्रविविक्तानन्दरूप), भोक्ता (विश्व-तैजस-प्राज्ञ रूप), भोग (उसके अनुभवरूप) हैं। उन तीनों (जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति) अवस्थानों से विलक्षण (अनिर्वचनीय) जो चिन्मात्र स्वरूप साक्षी सदाशिव हैं, वह मैं हूँ। (पंचदशी ७/१५)

विज्ञानमय शब्द के द्वारा जो वाच्य चिदाभास उसके विकारित्व होने के कारण वही भोक्ता है। (पंचदशी ७/१६)

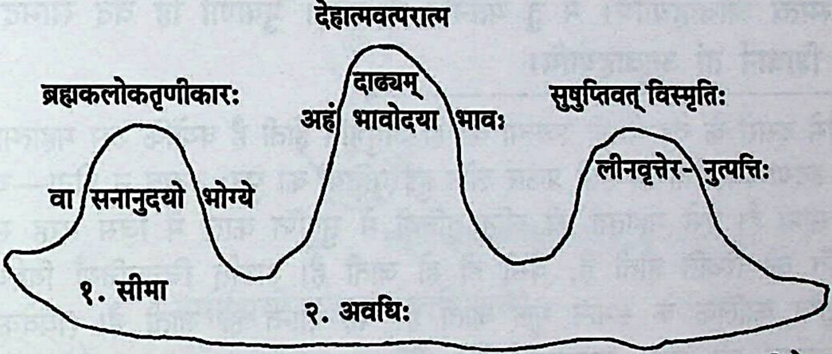
वह चिदाभास (अन्तःकरण में प्रतिविम्बित आत्मा) मायिक (मृषारूप-मिथ्या) है। इस आत्मा का तीनों (जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति) अवस्थाओं में एक सा ही अनुभव होता है। यथा—'अहं सुखी' (मैं सुखी हूँ) जाग्रत् में 'अहं स्वप्नं दृष्टम्' (मैंने स्वप्न देखा) स्वप्नावस्था में 'सुखमहमवाप्सं किञ्चिदपि नावेदिषम्' (मैं सुख पूर्वक सोया और कुछ भी नहीं जाना, इत्यादि) तीनों स्थलों में 'अहम्' (मैं) का आस्पद आत्मा ही है। यह अनुभूत विषय है कि तीनों में एक आत्मा ही अनुस्यूत रहता है। (पंचदशी ७/१७)

हेतुः-स्वरूपम्

१. वैराग्यम्–दोषदृष्टिः, भोगेष्वदीनता।

२. बोधः–श्रवणादि-तत्त्वज्ञान्-ग्रन्थिहानिः।

३. उपरतिः–यमादिः वृत्तिनिरोधः-व्यवहारक्षयः।



(विवेक चू. ४२५)

वैराग्य के हेतु के स्वरूप—१. वैराग्य—भोग वस्तु में दोष दृष्टि रखना और उसके प्रति इन्द्रियों को असमर्थ बना देना। २. बोधः—उपनिषद्—वाक्य का गुरुमुख से श्रवण करना और उससे तत्त्वचिन्तन कर अज्ञान ग्रन्थि का विमोचन करना। ३. उपरतिः—यमादि वृत्तियों से निरोधपूर्वक संसार के व्यवहार को असत् समझ कर त्यागना और मात्र ब्रह्म विषयक व्यवहार का वरण करना।

विद्या का फल असत् से निवृत्त करना और अविद्या का फल उसमें प्रवृत्त करना है। ये दोनों फल ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषों की मृगतृष्णा आदि स्थल की प्रतीति स्थल में जानने और न जानने के व्यवहार से ज्ञात होते हैं। मृगतृष्णा स्थल में वासनाभिभूत मृग को रेत में जल की भ्रान्ति होती है। परन्तु वासनाननुगत में यह स्थिति (भ्रान्ति) नहीं देखी जाती। अतः भ्रान्ति में अज्ञान ही हेतु है जो जलात्मना प्रकट होता है। इसलिये वासना क्षय में यथार्थ ज्ञान ही समर्थ है अर्थात् अज्ञान (रेत में जल की प्रतीति) का निवर्तक ज्ञान ही है। क्योंकि मृगतृष्णा स्थल में अर्थक्रिया कारित्वाभाव (जलाभाव) होता है। उस वासनामय भ्रान्ति की निवृत्ति शास्त्रतः अथवा गुरुतः अथवा उभयतः श्रुत उपदेश के निरन्तर श्रवण-मनन-निदिध्यासन से संभव होता है जो साधक-सन्यासियों-योगियों का परम लक्ष्य और उत्तम सम्पदा होती है। इसलिये यहाँ प्रतीक चित्रांकन और तात्त्विक अर्थ प्रतिपादक वाक्यों द्वारा कहा जा रहा है कि—भोग्य वस्तुओं में वासना का उदय होना वैराग्य की परम अवधि है। ऐसे वैराग्यवान् पुरुष के लिए ब्रह्मलोक का सुख भी तृण के समान तिरस्करणीय होता है। इसी तरह चित्त में अहंकार का सर्वथा उदय न होना ही बोध की चरम सीमा है। ऐसे अहंकार रहित महात्मा को जैसे अपने देह में आत्मानुभूति

चिदाभासस्य सप्तावस्था

१. अज्ञानम्, २. आवरणम्, ३. विक्षेपः, ४. परोक्षज्ञानम्, ५. अपरोक्षज्ञानम्, ६. शोकमोक्षः, ७. निरङ्कुशातृप्तिः। (प.द. ७/३३)

१. न जानामि। २. न भाति। ३. देहद्वयचिदाभासः।

ॐ आपो हिष्ठामयो भुव शृणुयान् घृष्णुयान् युवं जगतः तमीशानं वां आवाहयामि। अमृतोऽस्मित्वं आवाहयामि। न तु मानिहि ब्रह्मानम्। पुषाणो हि वेद सामदं श्रुणुषुयान् नारायणं शिवानं तां आवाहयामि।

होती है वैसे दूसरों के देह में भी स्वात्मा की ही अनुभूति होती है क्योंकि उस महात्मा में अहंकार के सर्वथा उदयाभाव होता है। इसी प्रकार लीन हुई वृत्तियों का पुनः उत्पन्न न होना—यह उपरामता की परम सीमा है। ऐसे महात्मा की लीन वृत्तियों में सुषुप्ति काल में जिस तरह सम्पूर्ण जगत् की विस्मृति की स्थिति होती है, वैसी ही हो जाती है। अर्थात् चित्तवृत्तियाँ विषय को वरण करना सुषुप्ति कालिक के समान भूल जाती है। वह शान्त हो जाती है। (विवेकचू. ४२५)

चिदाभास की सात अवस्थाएँ होती हैं—

१. **अज्ञान**—इसमें 'नाहं जानामि' मैं नहीं जानता इस प्रकार की चित्तवृत्ति होती है।

२. **आवरण**—इसमें 'न भाति' मालूम नहीं पड़ता इस प्रक़ार की वृत्ति (प्रत्यय) होती है।

३. **विक्षेप**—इसमें मूढ़ व्यक्ति को तमो गुण आच्छादित कर नाना प्रकार के दुःखों से संतप्त करता है। जैसे—दुर्दिन (आँधी-तूफान के उत्पात्) में मानव को खिन्नता प्राप्त होती है। उक्त दुःखात्मक प्रत्ययावस्था विक्षेप है।

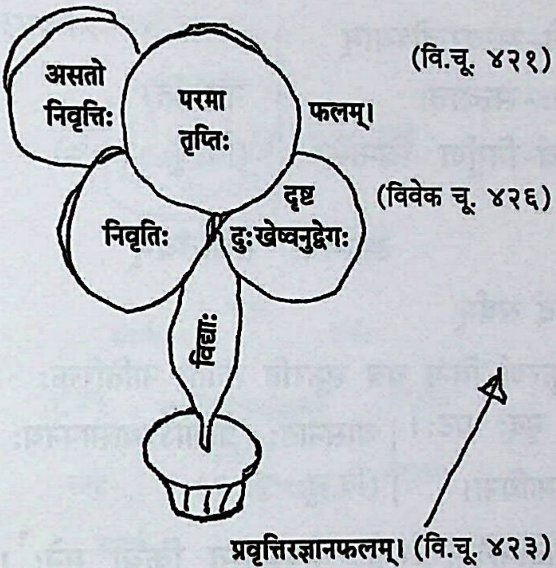
४. **परोक्षज्ञान**—इसमें परोक्षात्मक बोध प्रत्यय होता है। जैसे आत्मा स्वरूप (अपना रूप) होते हुए भी उसका ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होना। इसलिए श्रुति 'तत्त्वमसि' वाक्य द्वारा प्रत्यक्ष कराने के लिए प्रवृत्त होती है।

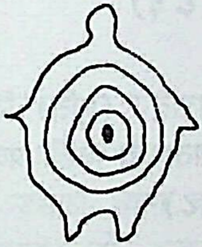
५. **अपरोक्ष ज्ञान**—इसमें आत्मवस्तु का प्रत्यक्ष बोध प्रत्यय होता है। जैसे—'अहं ब्रह्मास्मि', 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार का अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान का होना।

६. **शोकमोक्ष**—इस अवस्था में कर्त्तृत्वादि बन्ध से छूट जाने के कारण कर्त्तृत्वादि जन्य शोक नष्ट हो जाते है। क्योंकि वह आत्मा को जान लेता है कि—'जीवो ब्रह्मैव नापरः', 'जीव साक्षात् ब्रह्म ही है अन्य कुछ नहीं'। इस प्रकार के ज्ञान हो जाने से संसृति भाव को अतिक्रमित कर जाता है और 'तरति शोकमात्मवित्', 'आत्म वेत्ता शोक से छूट जाता है'। मैं नहीं जानता और मुझे ज्ञात नहीं होता इन दोनों अवस्थाओं में चिदाभास होता है।

७. **निरशङ्का तृप्ति**—इस अवस्था में आशंका रहित अर्थात् बाधा रहित (अबाध-निरवच्छिन्न) तृप्ति की प्राप्ति होती है अर्थात् आप्त काम हो जाता है।

हे जल के देवता! आप जल को देने वाले है और आप से सुख की कामना करने वाले हमलोग कामना करते हैं कि आप जगत् की श्रुणुयान् और धृष्णियान् (प्रार्थना को सुनते और





उपाधियोगात्स्वयमेवभिद्यते।
उपाध्यपोहे स्वयमेव केवलः।
उपाधिविलायाकल्पसमाधिः। (वि.चू. ३५८)

पोषण) करते है इसलिये आपका हम आवहन और पूजन करते हैं। तुम से ही मैं अमृत (जल) प्राप्त कर अमर होते है अर्थात् जीवन जीते हैं। अथवा तुम अमृत रूप हो और वही अमृत स्वरूप आत्मा मैं हूँ इसलिए तुम्हारी आराधना करता हूँ। तुमको मैं ब्रह्मा नहीं आत्मा ही मानता हूँ। हे पोषण के करने वाले इन सामज्ञान के श्रवण करने वाले नर (मानव) के अयन (हृदय) में वास करने वाले शिव स्वरूप परमात्मन्! तुमको आवाहन करता हूँ।

विषयवस्तु असत् है और उन असत् विषयों से निवृत्त हो जाना ही परमा तृप्ति है। वही साक्षात् अनुपम आनन्द है। विद्या का फल तो असत् विषयों से निवृत्त होना है और अविद्या का फल उन विषयों में प्रवृत्त होना है। निरन्तर ब्रह्माकार वृत्ति से स्थित रहने के कारण जिसकी बुद्धि वाह्य विषयों से निकल गयी है तथा जो निद्रालु अथवा बालक के समान दूसरे द्वारा निवेदित भोग्य को ही ग्रहण करता है, कदाचित् विषयों में बुद्धि जाने पर उसे स्वप्न प्रपञ्च दृष्टि से देखता है, वह अनन्त फल को भोगने वाला ज्ञानी महापुरुष इस पृथिवी तल में धन्य और सबके माननीय है। (विवेक चू. ४२१,२३,२६)

उपाधि के भेद से ही आत्मा में भेद की प्रतीति होती है और उपाधि लय हो जाने पर वह (आत्मा) स्वयं ही रह जाता है। इसलिये उपाधि लय करने के लिए विचारवान् पुरुष सदा निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर रहे। क्योंकि एकाग्र चित्त से निरन्तर सत्स्वरूप

तमो-सत्त्वरजोभ्याम्
रजः-सत्त्वात्तः } **नश्यति।**
सत्त्वं-निर्गुण चिन्तनेन (वि.चू. २७९)

आत्मनः सर्वात्म्यम्

श्रुत्या–'आत्मेदं सर्वम्'

युक्त्या–यत्स्फुरणं विना यन्न स्फुरति तत्ततो नातिरिक्तः
यथा मृदः घटः। } **वासनातः प्राणोऽध्यासापनयः कार्यः।**
स्वानुभूत्या–समाधिना। (वि.चू. २८२)

अन्नादानविसर्गाभ्या,-मीषन्नास्ति क्रिया मुनेः[१]। (८३)

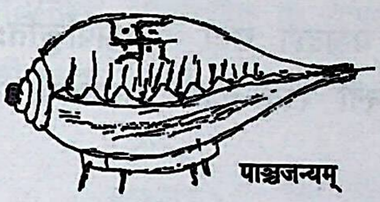
ब्रह्म में स्थित रहने से मनुष्य ब्रह्म ही हो जाता है—'ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति'। (श्रुति) जिस प्रकार भ्रमर का भयपूर्वक ध्यान करते-करते कीड़ा भ्रमर रूप ही हो जाता है। उसी प्रकार ब्रह्म चिन्तन के अभ्यास से मानव ब्रह्म हो जाता है। (विवेकचू. ३५८)

रजोगुण और सत्त्वगुण से तमो गुण का लय (नाश) होता है, सत्त्वगुण से रजो गुण का लय तथा निर्गुण चिन्तन से सत्त्वगुण का नाश होता है। इसलिये निर्गुण का आश्रय लेकर अभ्यास के द्वारा अध्यास को दूर करना चाहिये। (विवेकचू. २७९)

आत्मा की सर्वात्मता ज्ञात करने के ये उपाय है—(क) **श्रुत्या**—श्रुति वाक्य 'यह सब आत्मा ही हैं'। इस प्रकार का चिन्तन प्रत्येकवस्तु में करना। (ख) **युक्त्या**—आत्मस्फुरण के विना कोई जगत् वस्तु स्फुरित नहीं होता इस लिये जगत् आत्मा से अभिन्न है, क्योंकि जगत् स्फुरित होता है। इस युक्ति से आत्मा की सर्वात्मता की सिद्धि होती है। घट में मृत्तिका का स्फुरण देखने से भी यह सिद्ध है। (ग) **सानुभूत्या**—समाधि द्वारा आत्मानुभूति प्राप्त करके आत्मा की सर्वात्मना बोध प्राप्त करना चाहिये। इसके लिए वासना से प्राप्त प्राणाध्यास का अपनय करना चाहिये। अर्थात् प्राण आत्मा नहीं है और आत्मा में प्राण अध्यस्त है तथा जो जो अध्यस्त होता है वह असत् होता एवं आत्मा सत् और व्यापक है इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए। (वि.चू. २८२)

अन्न का आदान (भोजन) और विसर्ग (मल त्याग) के अलावा मुनिजन के और कोई क्रिया शारीरिक नहीं रह जाती है। शेष जगत् से उनकी निवृत्ति हो जाती है। मुनि लोग अन्न ग्रहण और उसका विसर्ग केवल शरीर निर्वाह के लिये ही करते हैं। मुनि परमात्मा तत्त्व के मनन करने के स्वभाव वाले को कहते हैं। (वि.चू. ८३)

१. परमात्ममननशीलस्य।



पाञ्चजन्यम्

मोक्षः

स्वर्गः धर्मः

सुखम् सर्वाधिष्ठानाद्वितीये विक्षेपः

ब्रह्मणि

रागः कल्पितम् बन्धनम्

अधर्मः द्वेषः

नरकः दुःखम्

प्रतीक चित्र शंख का इस अभिप्राय से ही दिया गया है कि शंख आहार ग्रहण और उसका त्याग कर्म मात्र करता है तथा वाह्य आघात से बचने के लिये सारी इन्द्रियों (अवयवों) को अन्दर समेटे रहता है। उसी प्रकार परमात्मा के चिन्तन में लगे हुए मुनि अपनी इन्द्रियों को वाह्य विषय के आघात से रक्षा के लिए सारी इन्द्रियों को आत्मसात (परमात्मानुकार) कर लेता है। (वि.चू. ८३)

परं ब्रह्म परमात्मा यावज्जगद्वस्तु का अधिष्ठान है। उसी परमात्मा ब्रह्म में सभी जगत् की वस्तुएँ कल्पित है। विचार करने पर यह तथ्य सामने आता है कि जो जिसका अधिष्ठान (आधार) होता है अर्थात् मूलकारण होता है वही कार्यरूप में भी सर्वाङ्गेन दिखता है; जैसे स्वर्ण अधिष्ठान में कवच कुण्डलादि कार्य अधिष्ठित रहता है और वह कवच कुण्डलादि सर्वात्मना स्वर्ण ही होता है। इसी प्रकार सभी कार्यजात में चिन्तन से प्राप्त होता है। परन्तु अज्ञान मूलक वासना की सन्तति काम-क्रोध-मोह-राग-द्वेषादि के कारण उस सर्वात्मना स्वर्ण में कवच-कुण्डल उत्पन्न जैसा दिखता है। जबकि वहाँ सुवर्ण (कांचन) के अतिरिक्त कुण्डलादि असत् ही है। यह नियम (न्याय) है कि जो जहाँ उपस्थित है वही सत् है और जहाँ उपस्थित नहीं है वह वहाँ असत् है। जब प्रकृत स्थल में स्वर्ण ही सम्पूर्ण स्वरूप से रहता है तो कवच कुण्डलादि कहाँ है? अतः कवच-कुण्डलादि में स्वर्ण सत् है और उससे भिन्न कवचादि प्रतीति असत् ही है।

विना अधिष्ठान का कोई कार्य नहीं होता अथवा विना उपादान कारण का कोई कार्य नहीं होता। इसलिए इस लोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त सृष्टि प्रपञ्च का कारण ब्रह्म ही है और

सोमवल्ली

पञ्चाङ्गयुक् पञ्चदश छदा या सर्पाकृतिः शोणितपर्वदेशा।
सा सोमवल्ली रसबन्धकर्म प्रसाधिनी सा दिवसोपनीता।।
(रसकामधेनुः १/५७)

रुदन्ती

फणदलाकारदला दलाग्रगलज्जला सांशुमती प्रदिष्टा।
रसायने चैव रुदन्तिकास्यात्, बध्नाति सूतं खलु जीर्णभ्रम्।।
(रस कामधेनु १/७७)

उसी में कवच-कुण्डलादि की भाँति सभी असत् (कार्यरूप) स्वर्ग नरक-धर्म-अधर्म-बन्ध मोक्ष-राग-द्वेष-सुख-दुःख कल्पित है।

सोमवल्ली—पाँच अंगों (जड़-त्वचा-पत्ती-फूल एवं फल) से युक्त पन्द्रहपत्ते वाली, सर्पाकार, पर्व (ग्रन्थि) देश रक्तवर्णवाली, रसबन्धन कर्म को साधने वाली तथा दिन के समान प्रकाशवती अथवा दिन में प्राप्त करने योग्य सोमवल्ली (सोमलता) होती है। रस पारा को कहते हैं और वह तरल होता है औषध कर्म प्रयोग हेतु उसका बन्ध (ठोस) होना आवश्यक होता है। रस के कई नाम कहे गये हैं—

रसेन्द्र पारदः सूतो सूतराजस्तु सूतकः।
शिवतेंजो रसः सप्त नामान्येवं रसस्य तु।। (रसेन्द्रसार संग्रह)

रस के गुण के अनुसार नाम है—

रसनात् सर्वधातूनां रस इत्यभिधीयते।
जरारुङ्मृत्युनाशाय रस्यते वा रसो मतः।।

रसोपरसराजत्वात्, रसेन्द्र इति कीर्तितः।
देहलोहमयीं सिद्धिं सूते सूतस्ततः स्मृतः।। (रसेन्द्रसार संग्रह)

इसी तरह पारद का भी लक्षण इस प्रकार है—

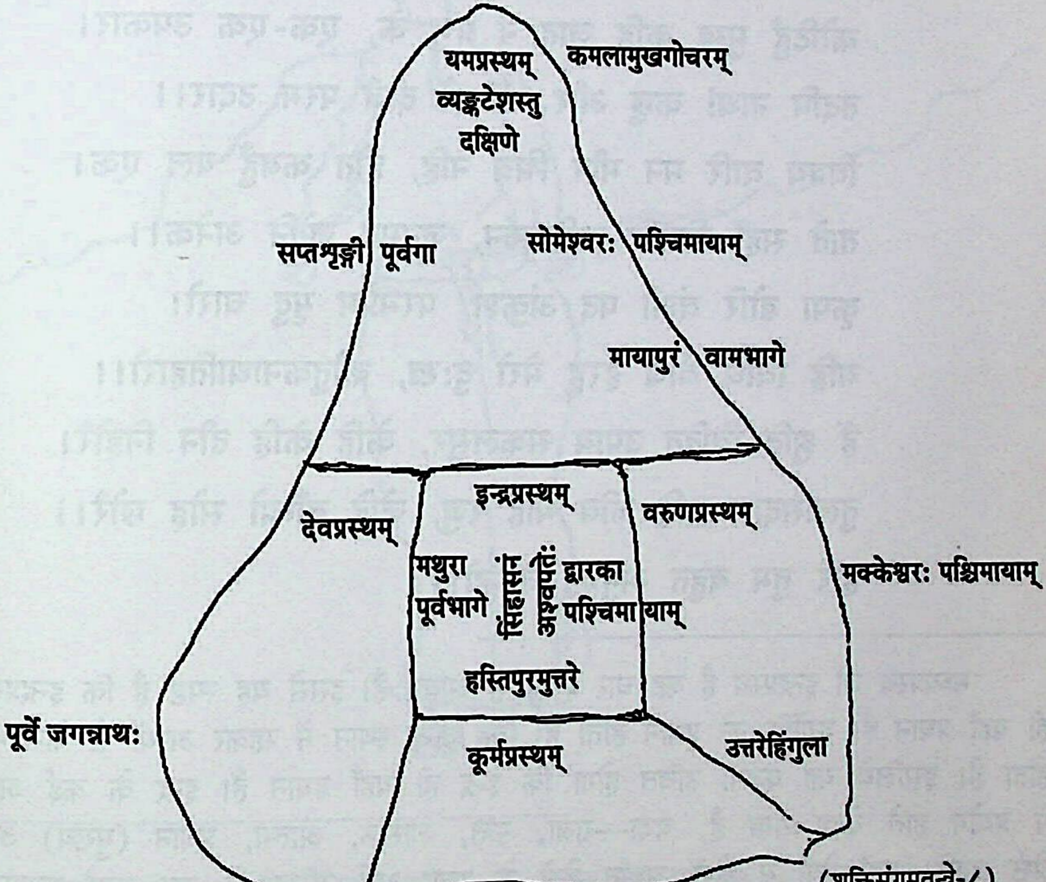
रोगपङ्काब्धिमग्नानां पारदानाच्च पारदः। (रसेन्द्रसार संग्रह)

उत्तम पारद ही औषधियों में प्रयुक्त होते है और वे हैं—

अन्तःसुनीलो बहिरुज्जलो यो मध्याह्नसूर्यप्रतिमप्रकाशः।
शस्तोऽथ धूम्रः परिपाण्डुरश्च चित्रो न योज्यो रसकर्मसिद्धौ।।
(रसेन्द्रसार सं., रसकामधेनु १/५७)

रूदन्ती—चना के दल के समान पत्तेवाली, पत्ते से जलचूने वाली, प्रकाशवती, रूदन्ती

अनुद्योगं तु पुरुषं ग्रसते कार्यराक्षसः। (वृ.ध.पु. ५३/१०)
कैलाशे वसतिस्तस्य, त्वय्यप्येष च तिष्ठति। (१-शिवस्य)
गंगारूपा सती लब्ध्वा, बहु मन्ये स्वमेव हि।। (वृ.ध.पु. ५३/२२)



(शक्तिसंगमतन्त्रे-८)

नामक लता कही जाती है, जो पारा को बाँधनेवाली (ठोसस्वरूप प्रदान करने वाली) होती है। (रसकामधेनु १/५७,७७)

उद्योगहीन (अकर्मण्य) पुरुष को कार्यरूपी राक्षस खा जाता है। (वि.ध.पु. ५३/१०)

उस भगवान् शिव का कैलास पर आवास है और वे तुम में भी आत्मा रूप से निवास करते हैं। वह भगवान् शिव गंगारूपा सती (पत्नी) को प्राप्त कर अपने को धन्य धन्य समझा। (वि.ध.पु. ५३/२२)

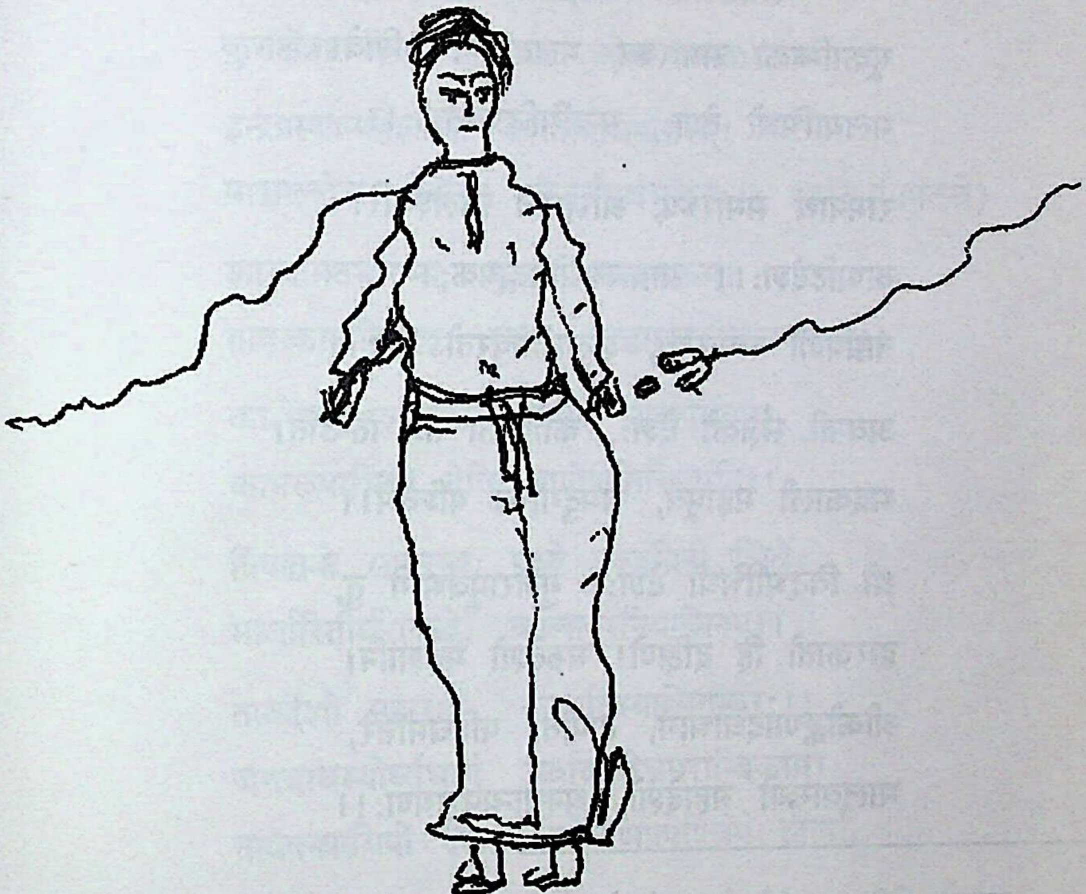
यहाँ प्रतीक रूपक व्यापक अर्थ को बता रहा है। प्रतीक चित्रगत उल्लेख द्वारा पाँच प्रस्थों को कहा गया है जो इस प्रकार हैं—१. यमप्रस्थ, २. इन्द्रप्रस्थ, ३. देवप्रस्थ, ४. वरुणप्रस्थ और ५. कूर्मप्रस्थ।

(तुलसीकृत, विनय-पत्रिका)

हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों।
साधनधाम विबुध दुर्लभ तनु, मोहि कृपा करि दीन्हो।।
कोटिहुँ मुख कहि जात न प्रभु के, एक-एक उपकार।
तदपि नाथ! कछु और माँगिहौं दीजै परम उदार।।
विषय वारि मन मीन भिन्न नहि, होत कबहुँ पल एक।
ताते सहौं विपति अतिदारुन, जनमत जोनि अनेक।।
कृपा डोरि वंशी पद अंकुश, परमप्रेम मृदु चारो।
यहि विधि वेधि हरहु मेरो दुःख, कौतुकनाथातिहारो।।
हैं श्रुति विदित उपाय सकलसुर, केहि केहि दीन निहोरै।
तुलसिदास यहि जीव मोह रजु, जेहि बाँध्यो सोइ छोरै।।
हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हो।।

मध्यप्रस्थ जो इन्द्रप्रस्थ है वह चार प्रस्थों से आवृत्त हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इन्द्रप्रस्थ ही यहाँ प्रधान है। क्योंकि जो प्रधान होता है वह केन्द्र स्थान में रहकर अन्यों से केन्द्रीभूत होता है। इसलिये यह कहना उचित होगा कि इन्द्र ही यहाँ प्रधान हैं। इन्द्र के कई अर्थों में प्रयोग होते देखा गया है, यथा—राजा, पति, शासक, आत्मा, प्रधान (मुख्य) और श्रेष्ठ आदि। यहाँ देवों में श्रेष्ठ अर्थात् देवों के राजा अर्थ उचित है। इस तरह इन्द्रप्रस्थ का अर्थ 'प्रकृष्टेन स्थितः सन् शासते यतः तन्द्रिप्रस्थम्' जहाँ स्थित होकर इन्द्र शासन करे वह इन्द्रप्रस्थ है। इन्द्रप्रस्थ की पूर्वदिशा में देवप्रस्थ है जहाँ जगन्नाथ भगवान् का स्थान है। इन्द्रप्रस्थ के पश्चिम में वरुणप्रस्थ है जिसके पश्चिम में मक्केश्वरनाथ हैं। मक्केश्वरनाथ के उत्तर में हिंगुला है। इन्द्रप्रस्थ के उत्तर में कूर्मप्रस्थ है और दक्षिण में यमप्रस्थ है जिसके दक्षिण में भगवान् वैङ्कटेशभगवान् का स्थान है और उनके सामने उत्तर में कमला (लक्ष्मी) का स्थान है जिसे भगवान् नित्य देखते रहते है। उनके पश्चिम् पूर्व में सप्तशृङ्गी का स्थान है। उसके पश्चिम में सोमेश्वरनाथ का स्थान है। सोमेश्वरनाथ के वामभाग में मायापुर है। अब इन्द्रप्रस्थ जो केन्द्र में है उसे कहते हैं—इन्द्रप्रस्थ के मध्य अश्वपति का सिंहासन है (इन्द्र का सिंहासन है) पूर्वभाग में मथुरा, पश्चिम में द्वारका, उत्तर में हस्तिनापुर है।

(शक्तिसंगम तन्त्र ५८)



प्रतीक चित्र उपर्युक्त विनय पत्रिका के भजन के अर्थ के अभिप्राय को व्यक्त कर रहा है। जीवात्मा जड़ प्रकृति से सम्बन्ध रखता है, इसलिए बन्ध की रस्सी अधः पतित (नीचे की ओर) दिखाया गया है और उर्ध्वगत डोर (रस्सी) से बन्धा होने का तात्पर्य पुण्यापुण्य कृतकर्म के प्रभाव से प्रभु ने तदनुकूल योनि और तदनुकूल कर्म और भोग रूपी कड़ी से बाँध दिया है। यद्यपि यह प्रभु को दोषारोपण योग्य नहीं है क्योंकि जीव स्वयं कर्म करता और भोगता है, इसलिए सभी स्थितियों का हेतु जीव के कर्म ही हैं। परन्तु प्रभु के नियामक होने के कारण उनसे तुलसी की प्रार्थना है कि आप नियामक हैं इसलिये मेरे पूर्वकृत और वर्तमानकृत कर्म और भोग रूपी बन्ध से छुड़ाने के लिये समर्थ हैं और आपके लिए यह खेल-खेल की बात है। 'कौतुक नाथ! तिहारो' इसलिए कहा—यह भक्तिमार्गी सिद्धान्त पर आधारित कथन है। (विनय पत्रिका भजन के आधार पर कल्पित चित्र का अर्थ)।

देशाः-शक्ति सङ्गमतन्त्रे ७ पटले।

मूकाम्बिका समारभ्य, मलयाद्यन्तगं शिवे।
मलयाभिधो देशः, मन्त्रसिद्धिप्रवर्तकः।।
रामनाथं समारभ्य, श्रीरङ्गान्तं विलेश्वरि।
कर्णाटदेशः।। साम्राज्यभोगदायकः।
ताम्रपर्णी समारभ्य, शैलार्द्धात्पुरतोऽर्द्धतः।।
अवन्ती संज्ञको देशः, कालिका तत्र तिष्ठति।
भद्रकाली महत्पूर्वं, रामदुर्गाच्च पश्चिमे।।
श्री विदर्भाभिधो देशः। गुर्जरापूर्वभागे तु,
द्वारकातो हि दक्षिणे। मरुदेशो महेशानि।
श्रीकोङ्कणादधोभागे, तापीतः पश्चिमोत्तरे,
मालवाख्यो महादेशो, धनधान्यपरायणः।।

भगवान् श्रीशिव पार्वती से कहते हैं—हे देवि! मूक गौरी से प्रारम्भ होकर मलयाचल पर्वत तक मलय नामक देश विस्तृत है जो मन्त्र सिद्धि को प्रदान करने वाली भूमि है। इसी प्रकार रामनाथ (रामेश्वर) से आरम्भ होकर श्रीरङ्गपर्वत पर्यन्त (जहाँ रङ्गनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर आज भी है) कर्नाटक देश है जो साम्राज्य भोग को उत्पन्न करने वाला और प्रदान करने वाला देश है। ताम्रपर्णी नदी से आरम्भ होकर श्रीशैल पर्वत के आधेभाग से पूर्व की ओर आधा तक अवन्ती देश है। अर्थात् श्रीशैल पर्वत से पूर्व आधा भाग और ताम्रपर्णी और श्रीशैल के मध्य आधा भाग अवन्ती देश विस्तृत है। वहाँ अवन्ती देश में भद्रकाली का प्रसिद्ध स्थान है (मन्दिर है) जहाँ पर वह विराजती हैं। महनीया (पूज्या) भद्रकाली से पूर्व और राम दुर्ग से पश्चिम तक विदर्भदेश है। गुर्जर (गुजरात) के पश्चिम और द्वारका से दक्षिण मरुदेश है। हे महेशानि! (महान् है ईशन कर्म जिसकी) हे विलेश्वरि (हृदय रूपी बिल अर्थात् गुफा में आत्मा रूप से स्थित होकर सवों का ईशन अर्थात् नियमन करनेवाली) कोकण नदी अथवा पर्वत के अधोभाग में तापी नदी के पश्चिम-उत्तर भाग में मालव नामक

द्रविणतैलङ्ग्योर्मध्ये, चौलदेशः प्रकीर्तितः।
कुरुक्षेत्रात्पश्चिमे तु, तथा चोत्तरभागतः।।

इन्द्रप्रस्थान्महेशानि! दशत्रियोजनोत्तरम्।
पाञ्चालदेशः देवेशि! सौन्दर्यगर्वभूषितः।। (शक्तिसंगमतन्त्रे)

शारदामठमारभ्य, कुसुमाद्रितटान्तकम्।
तावत्काश्मीरदेशः स्यात्, पञ्चाशद्योजनान्तकम्।।

कालेश्वरं श्वेतगिरं, त्रिपुरां नीलपर्वतम्।
कामरूपाभिधो देवि! गणेशगिरिमूर्धनि।।

त्रिपञ्चकं समारम्य, मध्ये उज्जयिनी शिवे।
मार्जारितीर्थराजन्द्रे, कोलापुरनिवासिनम्।।

तावद्देशो महाराष्ट्रः, कार्णाटस्याभिगोचरः।।
जगन्नाथस्योर्ध्वभागं अर्वाक्श्रीभ्रमराम्बिकाम्।
तावदन्ध्राधिपो देशः। कोकणात्पश्चिमं तीर्त्वा,

महान् देश है, जो धन-धान्य से सम्पन्न है। द्रविड़देश और तैलङ्गदेश के मध्य में चोल नामक देश है, जो इतिहास प्रसिद्ध है। कुरुक्षेत्र से पश्चिम तथा उत्तरभाग में इन्द्रप्रस्थ नामक देश है जो तेरह योजन उत्तरदक्षिण आकार में विस्तृत है। हे देवेशि (देवाधिदेव महादेव की अर्धाङ्गिनि! अथवा देवों इन्द्रियों को प्रेरित करने वाली बुद्धिस्वरूपा देवि!) पाञ्चालदेश (पंजाब) सौन्दर्य गर्व से भूषित (गर्वित) देश है और वहाँ के वासी जहाँ पर वह पाञ्चाल (पंजाब) है वे हैं।

शारदापीठ (काश्मीर में है) से आरम्भ करके कुसुमाद्रि (कुसुम पुष्ट नामक पर्वत) तट तक काश्मीर देश है। यह देश पचास योजन में विस्तृत है। कालेश्वर शिवमन्दिर से श्वेतगिरि और त्रिपुरा के नीलगिरि तक कामरूप देश है। गणेश गिरि पर्वत के ऊपरभाग (मस्तक भाग) जो पैंतीस योजन का भाग है, वहाँ से लेकर उज्जयिनी के मध्यभाग तक तथा मार्जारतीर्थराजेन्द्र से कोलापुर निवासियों के स्थान तक जहाँ से कर्णाट प्रारम्भ होता है,

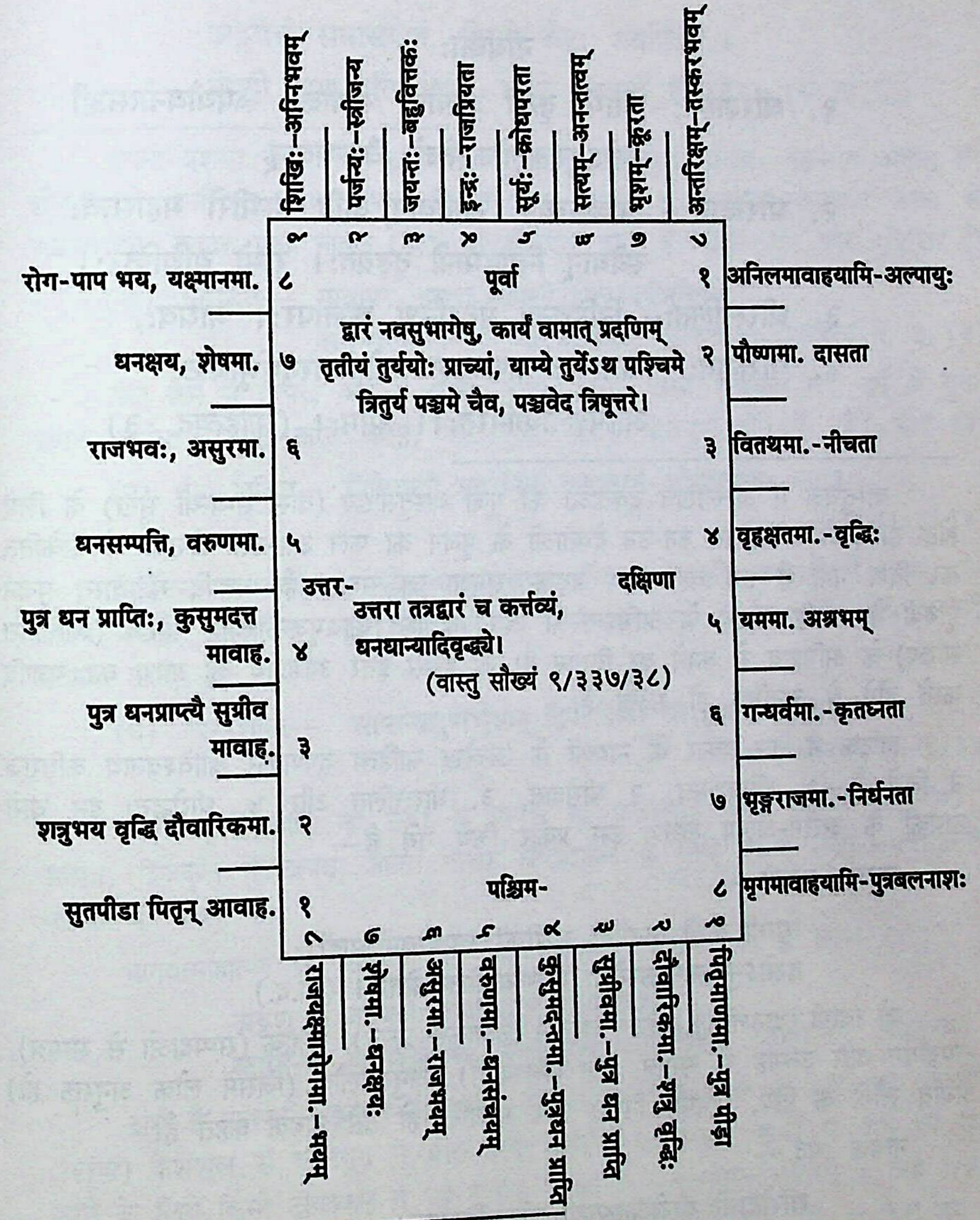
समुद्रप्रान्तगोचरः सौराष्ट्रम्। हिङ्गुलाजाका
देवि! जन्तवो जललेशतः। सौराष्ट्रदेशो देवेशि,
नाम्ना तु गुर्जराभिधः।। श्रीशैलं समारभ्य,
चोलेशान्मध्यभागतः। तैलङ्गदेशः।
ध्यानाध्ययनतत्परः।। (शक्तिसङ्गमतन्त्रे-७)

देशाः शक्तिसंगमतन्त्रे ७ पटले।

वेद्यनाथं समारभ्य भुवनेशान्तगं [1]अंगदेशः। यात्रायां नहि दुष्यति। रत्नाकरं समारभ्य ब्रह्मपुत्रान्तगं [2]बंगदेशः। सर्वसिद्धिप्रदायकः। जगन्नाथात् पूर्वभागात् कृष्णातीरान्तर्गतं [3]कलिङ्गदेशः-वाममार्गपरायणः। कलिङ्गदेशादारभ्य पञ्चाष्टयोजनम् दक्षिणस्यां [4]कालिन्दोदेशः। सुब्रह्मण्यं समारभ्य यावद्देवो जनार्दनः, तावत्के[5]रलोदेशः। तन्मध्ये सिद्धिकेरलम्। रामेश्वरो वैङ्कटेशः हंसकेरल वाधकः। अनन्तशैलमारभ्य, यावत्स्यादुडुपं पुरम्। तावत्सर्वेश नामा केरलः।

तक महाराष्ट्र देश है। जगनाथ के ऊपरी भाग के और भ्रमराम्बिका (भ्रामरी देवी) के पहले आन्ध्र देश है। कोकण के पश्चिम समुद्र पर्यन्त भू-भाग सौराष्ट्र देश है। हिङ्गुला के जलप्रदेश जहाँ तक जीवों का रहना होता है वहाँ तक अर्थात् सौराष्ट्र से हिङ्गुल पर्यन्त गुर्जर देश है। श्रीशैल से आरम्भ करके चौलदेश के मध्य तक तैलङ्गदेश है। जहाँ ध्यान और अध्ययन करने वाले लोग रहते हैं।

वेद्यनाथ से आरम्भ होकर भुवनेश्वरनाथ महादेव तक अंगदेश है। इस अङ्गदेश की यात्रा करने पर कोई दोष नहीं है। समुद्र से ब्रह्मपुत्र नदी तक बङ्गदेश है। यह देश सभी प्रकार की सिद्धियों को प्रदान करने वाला है। भगवान् जगन्नाथ के पूर्वभाग से कृष्णानदी के तट भाग तक कलिङ्ग देश है। यहाँ वाममार्ग परायण के लिए उत्तम स्थान है। कलिङ्गदेश से अट्ठावन योजन दक्षिण ओर तक कलिन्द देश है। सुबह्मण्य से आरम्भ करके भगवान् जनार्दन तक केरल देश है। उस केरल के मध्यभाग को सिद्धकेरल कहते हैं। रामेश्वर से वैङ्कटेश यावत् हंस केरल कहा जाता है। अनन्त शैल से उडुपी नगर तक सर्वेश नामक केरल है। इस तरह केरल के— केरल, सिद्धकेरल, हंसकेरल और सर्वेश केरल चार भाग हैं।



उपर्युक्त चक्र वास्तुचक्र है। वास्तुचक्र चौंसठ खाने है होता है। यह वास्तुचक्र यज्ञवास्तु है। वास्तु चक्र गृहस्थों के आवासादि हेतु (गृहप्रवेशादि में) इक्यासी खाने (कोष्ठक) का होता है। यहाँ शक्तिसंगमतन्त्र से उद्धृत चक्र का उल्लेख किया गया समझ में आता है। क्योंकि पूर्व से शक्ति संगम तन्त्र का प्रकरण चल रहा है।

नायकाः

१. धीरशान्तः– त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीकः रूपयौवनोत्साही
दक्षेऽनुरक्तलोकस्तेजो वैदग्धवान्

२. धीरोदात्तः– अविकत्थनः क्षमावान् अति गम्भीरो महासत्त्वः
स्थेयान् निगूढ़मानो दृढ़व्रतः। रामो युधिष्ठिरः।

३. धीरललितः– निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरः। माधवः,

४. धीरोद्धतः– मायापरः प्रचण्डश्चपलोहंकारदर्पभूयिष्ठः
आत्मश्लाघानिरतः।। भीमः। (साहित्यद. ३)

वास्तुचक्र में उल्लिखित देवताओं की पूजा वास्तुसौख्य (वास सम्बन्धी सुख) के लिए होता है। इसमें उल्लिखित उन-उन देवताओं के पूजन का फल उस-उस कोष्ठक को संकेतित कर दिया गया है उसे वहाँ स्वयं पढ़कर समझा जा सकता है। यज्ञादि में वास्तु पूजन पृथिवी के समष्टि सौख्य के अभिप्राय से और गृहवास्तु का पूजन व्यष्टि सौख्य (व्यक्तिगत सौख्य) के अभिप्राय से करने का विधान है। जो इससे इतर अभिप्राय का ग्रहण कर यज्ञादि करते होंगे वे अनभिज्ञ हो सकते हैं।

नाटक में चार प्रकार के नायकों के उल्लेख साहित्य दर्पणकार श्रीविश्वनाथ कविराज ने किये हैं—१. धीरप्रशान्त, २ धीरोदात्त, ३. धीरललित और ४. धीरोद्धत। इन चारों नायकों के अलग-अलग लक्षण इस प्रकार किये गये हैं—

नायक लक्षण—

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजो वैदग्ध्यशीलवान्नेता।। (सा.द.)

जो त्यागी (दानशील) कुशल, कुलीन (उच्चकुल प्रसूत), सुश्रीक (सम्पदाओं से सम्पन्न), रूपयौवन और उत्साह से सम्पन्न, दक्ष (क्षिप्रकारी), अनुरक्तलोक (जिसमें लोक अनुरक्त हो) अर्थात् लोगों के प्रिय, प्रतापी, निपुण और सच्चरित्र हो उसे नायक कहते हैं।

नायक भेदः—

धीरोदात्तो धीरोद्धतस्तथा धीरललितश्च।
धीरप्रशान्त इत्ययमुक्तः प्रथमश्चतुर्भेदः।। (सा.द.)

धीरोदात्त-धीरोद्धत-धीरललित और धीरप्रशान्त ये चार भेद नायक के हैं—

(क) धीरोदात्त— अविकल्पनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान्निगूढ़मानो धीरोदात्तो दृढ़व्रत कथितः।। (साहित्यदर्पण ३/३२)

अट्टमन्नं समाख्यातं, शिवो वेदः प्रकीर्तितः।
केशो भग इति ज्ञेयः, शूलो विक्रय उच्यते।। (भा.मा.टी.)

अपनी प्रशंसा स्वयं नहीं करनेवाले, सहनशील, अत्यन्त गम्भीर, महासत्त्व अर्थात् हर्ष शोकादि से अनभिभूत (विकाररहित), स्थिरतर, नम्र स्वभाव से आच्छान्न मानवाला, नम्रता से गर्वाच्छादित, दृढ़व्रत पुरुष नायक (नेता) को धीरोदात्त कहते हैं। जैसे—राम और युधिष्ठिर हैं।

(ख) धीरोद्धत— **मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहंकारदर्पभूयिष्ठः।**
आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः।। (साहित्य द. ३/३३)

छल कर्म में तत्पर, अत्यन्त क्रोधी, चञ्चल प्रकृति वाला, अहंकार तथा दर्प से युक्त, अपनी प्रशंसा स्वमुख करने वाला, ऐसे पुरुष नायक धीरोद्धत होते हैं। जैसे भीम हैं।

(ग) धीर ललित— **निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्।**
(सा.द. ३/३४)

निश्चिन्त स्वभाववाला, कोमलस्वभाववाला, निरन्तर नृत्यादि कलाओं में तत्पर, ऐसे मानव नायक धीरललित प्रकृति के होते है। जैसे—रत्नावली नाटकादि में वत्सराज और उदयन आदि हैं।

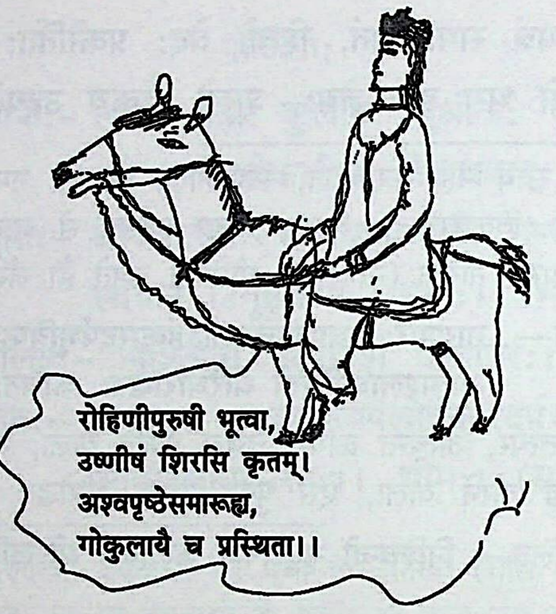
(घ) धीरप्रशान्त— **सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात्।**
(साहित्यदर्पण ३/३४)

त्यागी कृती आदि जो ऊपर में नायक के सामान्यगुण कहे गये हैं उन गुणों से सम्पन्न, द्विजकुल में उत्पन्न, मानव नायक धीरप्रशान्त के श्रेणी के हैं। जैसे—मालतीमाधव नाटक में माधव हैं।

भागवत्माहात्म्य के कलियुग के वर्णन प्रसंग में कहा गया है कि—

अट्टशूला जनपदाः शिवशूला द्विजातयः।
कामिन्यः केशशूलिन्यः सम्भवन्ति कलाविह।। (श्रीमद्भाग. माहात्म्य)

अर्थ है जनपद अट्टशूल से ग्रस्त, द्विजाति वर्ण शिवशूल से ग्रस्त तथा कामिनियाँ (स्त्रियाँ) केशशूल से कलियुग में ग्रस्त होगें। उपर्युक्त अट्टशूलादि शब्दों के अर्थ को सुस्पष्ट करने के लिये किसी टीकाकार ने यह श्लोक लिखा है—अट्टमन्नंसमाख्यातम् = अट्ट अन्न को कहते हैं। शिवोवेदः प्रकीर्तितः = शिव वेद को कहते हैं। केशोभग इति ज्ञेयः = केश भग (स्त्री के जननेन्द्रिय) को कहते हैं। शूलो विक्रय उच्यते = शूल विक्रय को कहते हैं। इस प्रकार समागत अर्थ यह है कि कलियुग में जनपद के किसान अन्न बेचेगें। ब्राह्मण-क्षत्रिय और वैश्य जो वेद अध्ययन के अधिकारी हैं वे वेदमन्त्र को बेचेगें अर्थात् वैदिक लोग इस वेद को व्यापार का साधन बनायेंगे, और कलियुग की स्त्रियाँ अपने जननेन्द्रिय को व्यापार का साधन बनायेगीं।

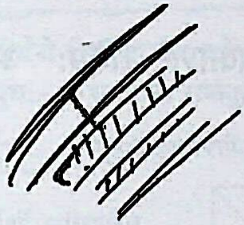


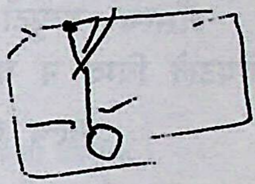
ये सारे के सारे हीन कर्म को करेंगे। अन्न बेचना भी गृहस्थों के लिये पाप है, क्योंकि पृथिवी माता के सम्पूर्ण पुत्रों (सभी जीवों) को उस पर अधिकार है। वेद का बेचना भी पाप है क्योंकि वेद ज्ञान को कहते है तथा ज्ञान किसी के द्वारा स्वयं मात्र से अर्जित नहीं है। वह घर के सदस्यों-समाज के लोगों गुरुओं तथा ईश्वर की इच्छा से किसी बालक में आधान होता है इसलिये वह बालक (मानव) सम्पूर्ण जगत् समाज से ज्ञान संग्रह कर उसे बेचने का अधिकारी कैसे हो सकता है? किसी को स्वयं ज्ञान उत्पन्न होता हुआ नहीं देखा गया है। जंगल में जन्म लेने वाले बालक को अगर वहीं छोड़ दिया जाय और किसी से सम्पर्क न हो तो ज्ञान शून्य ही होगा। इस पर जीव विज्ञानियों के बहुत से शोध भी अङ्गीकरणीय है। स्त्री को भी अपने कामस्थान (भग) को नहीं बेचना चाहिये। कम से कम भारत वर्ष के लिये यह कलंक का ही विषय है। क्योंकि—

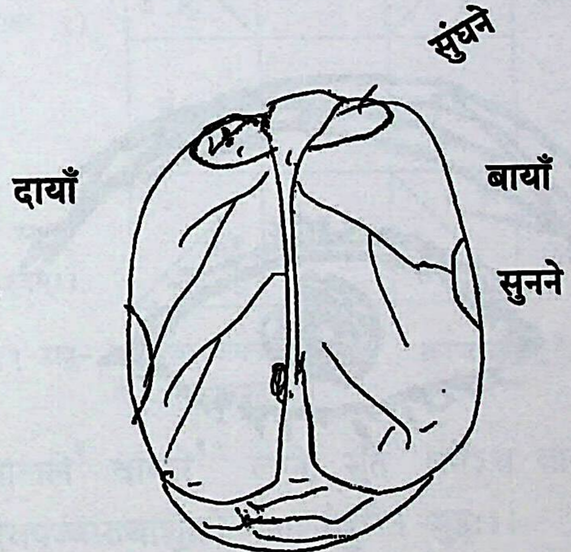
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।। (मनु. २/२०)

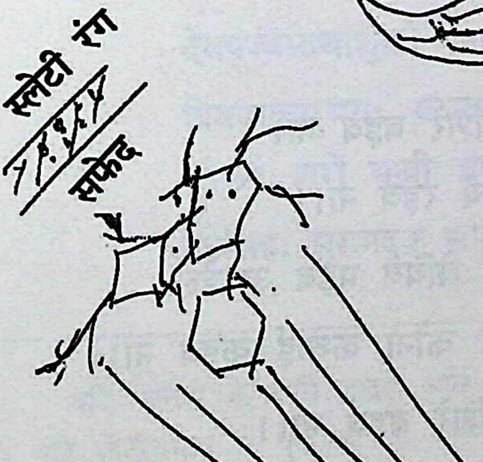
जिस देश ने सदा ही विश्व को उनके संस्कार-धर्म-चरित्र-वैज्ञानिक ज्ञान-पहनावा-भोजन आदि मानव जीवन क्षेत्र के सम्पूर्ण विद्या को पढ़ाया आज उस देश के लिए वर्तमान जीवन-चरित्र-धर्म-नीति का दूषित होना और स्वयं शिक्षक से शिष्य की स्थिति को प्राप्त हो जाना दुःखद है। इस देश में बचे-खुचे राष्ट्रवादी-मानववादी गण को उठ खड़ा होकर पुनः उस गौरव को प्राप्त करने और कराने का महत्प्रयत्न करना चाहिये। (भा.मा.टी.)

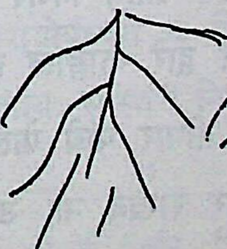
एक समय कृष्णप्रिया रोहिणी श्रीकृष्ण के अन्वेषण में कुर्त्ता-टोपी आदि पुरुषों के वस्त्रों को धारण कर तथा अश्व पर सवार होकर गोकुल में आ गयी।






सूंघने
दायाँ
बायाँ
सुनने


स्लेटी रंग
सफेद
हो जाती है
हो आती है





मुक्ता विन्दुः

लैंसस्य सम्पुटो अपारदर्शी भवति। येन प्रकाश रश्मिः अवरुद्ध्यते। दृष्टिपटले बिम्वं न वनति।

शल्य कर्म– १. अन्तः सम्पुटी।

२. वाह्य सम्पुटी।



बाङ्गला बोली–

आर आमाय आमि निजेर शिरे बइव ना।
आर निजेर द्वारे काङ्गाल हये रइब ना।।
एई बोझा तोमार पाये फेले वेयिये पड़ब अवहेले।
कोनो खबर राखब ना, उर कोनो कथाई कहब ना।।
आर आमाय आमि निजेर शिरे बइव ना।।
वासना मोर जारेपाश करे से आओर रे तार निविये फेले निमेषे।।

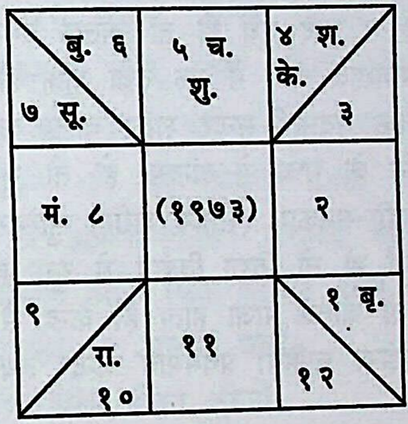
लैंस के सम्पुट (परत) अपारदर्शी होता है जिससे प्रकाश रश्मि अवरुद्ध (रोका) होता है, इसलिए दृष्टिपटल पर विम्ब नहीं बनता है। लैंस के दो प्रकार के शल्य क्रिया (आपरेशन) होते हैं—१. अन्तः सम्पुटी शल्यक्रिया, २. वाह्य सम्पुटी शल्यक्रिया।

१२. शनिः-निर्धनो भिक्षुकश्चैव धर्मेणापवर्जितः।।
बुधः- २-धनधान्य समाकुलः।
३ गृहबन्धुजनप्राप्तिः, शीतरोगैर्विनश्यति।। चन्द्रान्नवमेजीवे,

स्वर्णार्थी शुचिश्चैव,
राजतुल्यो भवेन्नरः।
(मा.सा. १)

↓
४-भौमः
↓

सुखभङ्गो दरिद्रः स्यात्,
पुंसःस्त्री म्रियते ध्रुवम्।।



धर्मिष्ठो धनपूरितः।
सुमार्गे सुगतश्चैव,
देवगुरोंश्च सेवकः।
(मानसा. १)

तनुगतकुमुदेशे,
वित्तपूर्णः सुखीस्यात्।

३,६,११-राहु- स राजाराजमन्त्री वा,
धनधान्यसमाकुलः।।

धनगतशशिसूनौ, सर्वकालप्रवासी।

पाताले[४] वाम्बरे[१०] लग्ने, सुते[५] धर्मेऽथ वायगे[११]।
देवपूज्यस्तथाशुक्रो, नाशयेद्दुरितं मुहुः।।
प्रियवाक्सुभगः कान्तः, प्रवृत्तमो यदि सुकृतवान्नृपतिः।
सौख्यं शूरो मन्त्री ज्ञमन्दयोर्मध्यगे च हिमकिरणे।।
सर्वसहः सुसमदृक् समकायः सुस्थिरो निपुणः सत्त्वः। (मा.सा. ४)

यदि जातक के शनि द्वादश भाव में हो तो निर्धन, भिक्षुक और धर्म से हीन होता है। यदि द्वितीयभाव में बुद्ध हो तो धन-धान्य से युक्त होता है। तृतीय स्थान में सूर्य होने पर गृह-बन्धुजन की प्राप्ति, लेकिन शीतरोग से उसकी मृत्यु होती है। यदि चन्द्रमा से नवमे भाव में वृहस्पति हो तो धार्मिक एवं धन से परिपूर्ण होता है। सत्य मार्ग पर चलने वाला, देवता तथा गुरु का भक्त होता है। यदि मंगल चतुर्थ में हो तो स्वर्णार्थी और पवित्र होता है तथा राजा के तुल्य वैभवादि सम्पन्न होता है, अथवा जातक का सुख नष्ट होता है— दरिद्र होता है। पुरुष जातक की स्त्री निश्चित मर जाती है। यदि लग्न में चन्द्रमा हो तो जातक धनधान्य से पूर्ण सुखी होता है। यदि तीसरे-छठे और ग्यारहवे भाव में राहु हो

भवेदुभयचर्याम्।। एकः शुक्रः केन्द्रजातः विद्याविज्ञान युक्तो भवति। दशम भवननाथे केन्द्रकोणे धनस्थे स भवति नरनाथः।

तो वह जातक राजा या राजा का मन्त्री होता है एवं धन-धान्य से परिपूरित होता है। यदि द्वितीय भाव (धन भाव) में यदि बुध हो तो जातक हमेशा प्रवासी होता है। चतुर्थ-दशम-लग्न-पंचम-नवम तथा ग्यारहवें भाव में गुरु तथा शुक्र हो तो सभी दुर्योगों का नाश करता है। इस तरह का जातक मृदुभाषी-सुन्दर शरीर वाला कर्मठ, सुकृतित्व सम्पन्न राजा होता है। यदि बुध और शनि के मध्य में चन्द्रमा हो तो सुखी-वीर तथा मन्त्री (मन्ता) होता है। वह सर्वसह-समान दृष्टि-समकाय (समान शरीर) सुस्थिर-निपुण तथा सात्त्विक होता है। एक शुक्र भी यदि केन्द्रस्थ हो तो विद्या विज्ञान से युक्त होता है। यदि दशमेश केन्द्र कोण अथवा धनभाव में हो तो जातक राजा होता है। केन्द्र से १,४,७,१० तथा त्रिकोण से पाँच और नवम भाव समझना चाहिये। प्रथमभाव केन्द्‌ तथा त्रिकोण दोनों में परिगणि होता है।

भजन

नारायण-पद-१

मरबि डरौ न विधिहि बस, पंचभूत करिवास।
पी बापी मारग मुकुर, बीजन अँगन अवास।।
मिलौ न तिनसो भूल, अब जौलौं जीवन जियो।
सहौं बिरह को सूल, वरु ताकी ज्वाला जरौ।।
मैं अब अपने मन यह ठानी। उनके पय पिऊँ नहि पानी।।
कबहूँ नैन न अँजन लाऊँ। मृगमद भूलि न अंग चढ़ाऊँ।
सुनौ न स्त्रवननि अलि पिक वानी। नील जलज परसौं नहि पानी।।
सखि नन्दलाल न आवन पावैं।
भीतर चरन धरन जिन दीजो,
चाहै जिते ललचावैं।
ऐसन को विश्वास कहा री,
कपट बैन बतियावैं
'नारायण' इक मेरे भवन तजि,
अनत चहैं जहँ जावैं।।

सूरपद-२

इतो आय बाहिन तबहुँ भयो।
सुनु राधिका! जितो आय मोकों ते यह मानु दियो।।
धरनीधर विधि वेद उधारो मधु सो शत्रु हयो।
द्विज नृप किए दुसह दुःख मेटे, बलि को राज लयो।।
तोरयो धनुष सुयंवर कीनो, रावन अजित जयो।
अघ बक बच्छ अरिष्ट केसि, मथि दावानल अँचयो।।
तिय बपु धरयो असुर सुर मोहे, को जग जो न द्रयो।
गुरूसुत मृतक श्याम वेकारण, सागर सोधि लयो।।
जानौं नाहि कहा या रस में, सहजहि होत नयो।
सूर स्याम बल ताहि मनावत, मोहि सब विसरि गयो।।

भजन-३

संसार के करतार का आकार न होता।
तो उसका ये संसार भी साकार न होता।।
साकार से जाहिर है निराकार की हस्ती।
साकार न होता तो निराकार न होता।।
हम मान भी लेते कि ये दृष्टि से परे हैं।
आँखों में मगर उसका चमत्कार न होता।।
व्यापक भी सही सब में वो रहता मगर कहाँ।
रहने को अगर जिस्म का आधार न होता।।
आँखों से निकलते न कभी बि॰॰ के मोती।
निर्गुण का सगुण से जो बँधा तार न होता।।

❖❖❖

भजन-४

कैद दुनिया किस अजब जाद की है टोने की है।
जिससे कैदी जीव को नफरत नहीं होने की है।।
मोह के हाते में काली कोठरी अज्ञान की।
इस अन्धेरे में ही सारी जिन्दगी खोने की है।।
साह मुल्जिम पैरों में दोनों ने पहनी बेड़ियाँ।
फर्क इतना कि एक लोहे की एक सोने की है।।
काल पहरेदार ने कैसा दिया है सख्त काम।
टोकरी कर्मों की सर पर रात-दिन ढ़ोने की है।
मौज के झोंकों ने घेरकर बिन्दु को सागर से दूर।
बस यही एक बात पछताने की है-रोने की है।।

❖❖❖

भजन-५

हमसे रींझे न जो भक्तवत्सल प्रभु,
सत्य है साधना में कमी रह गयी।
कैसे कह दें कि उनकी दया में कमी,
कुछ मेरी अर्चना में कमी रह गयी।।

१. है विना तर्क समझे न मायापते,
इतनी माया प्रबल विश्व में।
ज्यों ज्यों चाहा सुलझना उलझता गया,
जीव आराधना में कमी रह गयी।।

२. सुनते हैं ऐसी सरकार की मूर्ति है,
कामशतकोटि जिन पर न्यौछावर हुए।
खींच पाया न कोई उनकी तस्वीर को,
वह सुकवि कल्पना में कमी रह गयी।।

३. कर भ्रमण योनि अगणित अमित कष्ट सह,
तूने पाया है मंगल मनुज देह को।
व्यर्थ सारी की सारी उम्र खो गयी,
जबकि हरि प्रार्थना में कमी रह गयी।।

४. आपका सार रस तो बरसता सदा,
जीव सत्ता न वाला है जिसके विना।
पूर्ण में अपूरण रह गया गर तो,
उसकी पहचान में कहीं कमी रह गयी।।

❖❖❖

भजन-६

कबीर साखी

गुरु हमारा गगन में, चेला है चित माहि।

शब्द सुरति में लीन है, विछुरत कबहूँ नाहि।।

मेदी लीह्ना साथ करि, दीन्हीं वस्तु बनाय।
कोटि जनम का पन्थ था, पल में पहुँचा जाय।।

एक समाना सकल में, सुकल समाना ताहि।
कबीर समाना बूझ में, तहाँ दूसरा नाहि।।

आदि हती सब आप में, सकल हती ता माँहि।
ज्यों तरवर के बीज में, डार पात फल छाँहि।।

निर्बन्धन बँधा रहै, बन्ध्या निरबन्ध होय।
कर्म करै कर्ता नहीं, दास कहावै सोय।।

या तन को दीवलकरौं, वाती मेलों जीव।
लो ही सींचू तैल ज्यूँ, कब मुख देखूँ पीव।।

विरहा कहै कबीर को, तू मत छाँड़े मोहि।
पारब्रह्म के तेज में, जहाँ ले राखूँ तोहि।।



❖❖❖

भजन-७

जो निज मन परिहरय विकारा।
तौ कत द्वैत जनित संसृति दुःख, संसय शोक अपारा।।
शत्रु, मित्र, मध्यमस्थ, तीन ये, मन कीन्हें वरियाईं।
त्यागन, गहन, उपेच्छनीय, अहि, हाटक तृन की नाईं।।
असन, वसन, पशु, वस्तु विबिधविधि, सब मनि मँह रह जैसे।
सरग, नरक,चर-अचर लोकबहु, बसत मध्य मन तैसे।।
विटप-मध्य पुतरिका, सूत मँह कंचुकि विनहि बनाये।
मन मँह तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाये।।

रघुपति-भगति-वारि छालित चित, बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कह चिदविलासजग, बूझत-बूझत बूझै।।

(विनय-पत्रिका-१२४)

❖❖❖

भजन-८

दादू सन्त का दोहा

तन में मन में नैन में ताकू कहा सन्देश।
रोम-रोम पिवु पिण्ड करै, दादू दूसर नाहि।।

❖❖❖

भजन-९

रघुपति भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार, जानै सोई जेहि बनि आई।।१।।
जो जेहि कला कुशल ताकँह सोइ, सुलभ सदा सुखकारी।।
सफरी सन्मुख जलप्रवाह, सुरसरि वहै गज भारी।।२।।
ज्यों सर्करा मिलै सिकता महँ, बल तें न कोउ बिलगावै।
अति रसमय सूच्छम पिपलिका, बिनु प्रयास ही पावै।।३।।
सकल दृश्य उदर निज मेलि, सोवै निद्रा तजि योगी।
सोइ हरि पद अनुभवै परम सुख, अतिशय द्वैत वियोगी।।४।।
शोक मोह भय हरष दिवस-निसि, देस काल तहँ नाहीं।
तुलसिदास यहि दसाहीन, संसय निरमूलन जाहीं।।५।।

(विनय पत्रिका-१६७)

❖❖❖

भजन-१०

औचक अगाध सिन्धु स्याही कौ उमड़ि आयो,
तामें तीनि लोक बूड़ि गये एक संग में।
कारे-कारे आखर लिखे जू कारे कागद में,
न्यारे-न्यारे बाँचे कौन जाँचे चित्त भंग में।
आँखिन में तिमिर अमावस की रैन जिमि,
जम्बूनद बूँद जमुना जल तरंग में।
यों ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यो माई,
श्याम रंग ह्वैकरि समानो श्याम रंग में।। (देव कवि)

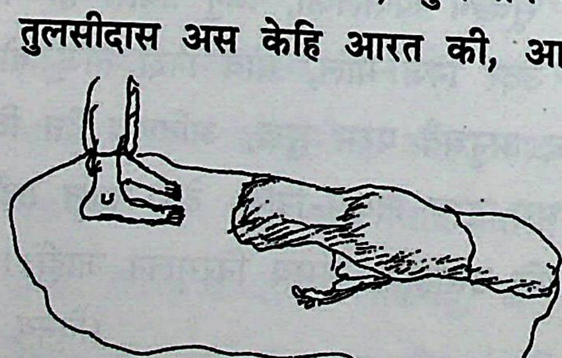
❖❖❖



भजन-११

रामपदपदुम पराग परी।
ऋषि तिय तुरत पाहन तनु, छविमय देहधरी।।
प्रबलपाप प्रतिशात दुसह दव, दारून जरनि जरी।
कृपा सुधा सिंचि बिवुध वेलि ज्यों, फिरि फिरि फरनि करी।।
निगम अगम मूरति महेशमति, युवति वराय बरी।।
सोइ मूरति भइ जानि नयन पथ, इक टक ते न टरी।।
वरनत हृदय सरूप शील, गुण प्रेम प्रमोद भरी।
तुलसीदास अस केहि आरत की, आरति प्रभु न हरी।।

(कवितावली)



❖❖❖



।।श्री गणपतये नमः।।

यह ग्रन्थ नव-नव ज्ञान-विज्ञान सदुक्तियों से युक्त परन्तु परमात्मलक्ष्यैक कथनप्रभा से जिज्ञासुओं के अन्तःकरणान्तर्गत अज्ञानध्वान्त-निवारणक्षम होगा, यह हमें पूर्ण विश्वास है। सुधी पाठकजन लेखनी के अन्यथा स्खलन, अथवा टंकणजन्य असुद्धियों के अंकन को क्षमा करते हुए हमें दिशा निर्देश देकर अनुगृहीत करेंगे, यह पूर्ण विश्वास है।

यद्यपि विभिन्न शास्त्रों के रसों को निचोड़ कर एकत्र संग्रहीत इस हस्त पुस्तिका (डायरी) गत तत्त्वाभिप्राय की व्याख्या करने के लिए मैं सक्षम नहीं था, फिर भी यथा बाल, श्रेष्ठानुकरण कर, उस-उस अभिप्राय को जानने का स्वाभाविक प्रयास करता है तथा मेरे द्वारा भी उसी प्रकार अनुकरण करने का प्रयास किया गया है।

पूज्य स्वामी जी लक्ष्येश्वराश्रम जी महाराज के आर्शीवाद और भूतभावन-भगवान् काशीपति विश्वनाथ श्री शिव की कृपा से महाशिवरात्रि के पावन पर्व पर इस चिन्तामणि ग्रन्थ की मणिप्रभा व्याख्या शिव को अर्पित करते हुए महद्धर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

भद्र नारायण पाठकः
प्रधानाचार्यः
श्रीमहावीर पाठक संस्कृत महाविद्यालयस्य
असवारी-राजातालाब, वाराणस्याम्।
मो. ९४१५९९७२८१



सम्पर्क सूत्र

पवन कुमार

498/28 साउथ सिविल लाइन,
मुज्जफरनगर, उत्तर प्रदेश

पिनकोड - 251001

फोन नं. : 09359984709

काशी मुमुक्षु भवन सभा, विट्ठौ चौक
अस्सी, वाराणसी

फोन नं. : 09359984709